ओ३म्

गंगा प्रसाद उपाध्याय

अभिनन्दन ग्रंथ

ओम्

गंगाप्रसाद उपाध्याय अभिनन्दन ग्रन्थ

*

मुख्य-सम्पादक

महेन्द्रप्रताप शास्त्री, एम. ए., एम. ओ. एल.

*

प्रकाशक

प्रेमचन्द शर्मा, एम. एल. सी.

मन्त्री आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश

दिसम्बर १६५६]

मूल्य १०)

सम्राट् प्रेस, पहाड़ी धीरज, देहली—६

वैदिक धर्म, वैदिक संस्कृति, वैदिक सभ्यता
के पुनरुद्धारक, आधुनिक भारत के युग-
पुरुष, आर्यसमाज के संस्थापक; मानव-
समाज-सेवियों के प्रेरणा-स्रोत, आदर्श
महापुरुष ऋषि दयानन्द ।

पश्येम शरदः शतम् जीवेम शरदः शतम्
शृणुयाम शरदः शतम् प्रब्रवाम शरदः शतम्
अदीनाः स्याम शरदः शतम् भूयश्च शरदः शतात्

समर्पण

आर्यसमाज के लब्ध-प्रतिष्ठ विचारक एवं विद्वान्,
कलम के धनी, तन-मन-धन से
समाज सेवा में रत,
समाज-सेवियों के आदर्श

श्री पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय एम. ए.

के कर-कमलों में
आर्यसमाज के लिये की गयी
उनकी बहुमूल्य सेवाओं के उपलक्ष्य में

आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश

की ओर से

सादर सप्रेम भेंट

मथुरा
दयानन्दाब्द १३५
पौष कृष्णा दशमी, २०१६ वि०
शुक्रवार २५ दिसम्बर १९५९

हरिशंकर शर्मा
प्रधान
आर्य प्रतिनिधि सभा (उत्तर प्रदेश)

श्री पं० गङ्गाप्रसाद जी उपाध्याय एम. ए.

दो शब्द

अपने से बड़ी शक्ति के लिये श्रद्धा, भक्ति अनुभव करना मनुष्य का एक स्वाभाविक गुण है। जिस में यह न हो उसके हृदय में कुछ कमी होनी चाहिये। देव-पूजा का रहस्य मनुष्य की इसी भावना में निहित है। अपने उपकारक, अपने को कुछ देने वाले के प्रति कृतज्ञता प्रकट न करना कृतघ्नता कहलाती है, जो एक जघन्य पाप है। कृतज्ञता-प्रकाशन से हमारे उपकारक का कोई भला नहीं होता, उसके बिना उसका कुछ घटता नहीं; उससे लाभ और हानि हमारी ही होती है। उपकारक के प्रति श्रद्धा अनुभव करना, उसकी स्तुति करना, अपने आपको उठाने या उस जसा बनने की यात्रा में पहिला पग है। जो इस पग को न उठाये वह उठ नहीं सकता, जहां का तहां रह जावेगा। इसलिये मनुष्य में यह गुण प्रकृति ने दे दिया है। वीर-पूजा की जड़ इसी में छिपी हुई है। मनुष्य स्वाभाविक रूप से वीरों के लिये श्रद्धा, भक्ति और प्रेम अनुभव करता है। इससे हमारा और हमारे साथियों का भला होता है। हमारे अन्दर भी 'वीर' बनने की भावना जागृत हो जाती है।

इस ग्रन्थ का निर्माण इसी प्रकार की वीर-पूजा का एक पुष्प है। आजकल अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पण करने की एक परिपाटी चल गयी है; पर चाहे वह कितनी भी अधिकता में चल रही हो, उसके महत्त्व में कोई कमी नहीं आ सकती। वह उन प्रथाओं अथवा कार्यों में से है जिन के बार-बार करने पर भी उनका मूल्य कम नहीं होता। वह ऐसा सौन्दर्य है जिस में क्षण-क्षण में नवीनता है। अन्य लाभों के साथ इससे साहित्य में भी तो वृद्धि होती है। यदि अन्य लाभों पर ध्यान न देकर केवल इसी लाभ के लिये यह कार्य किया जावे तो भी यह एक स्तुत्य प्रयास है। फिर, इससे वीर-पूजा भी तो होती है, जो एक आवश्यक कार्य है। वीर-पूजा करने के अनेक प्रकार हो सकते हैं— वीरों की स्मृति को बनाये रखने के लिए उनका प्रयोग किया जाता है। विभिन्न प्रकार के वीरों के लिये विभिन्न प्रकार से कृतज्ञता प्रकट की जा सकती है, पर लेखनी के वीरों के प्रति, जिन्होंने सत्साहित्य देकर मानव-मस्तिष्क को स्वस्थ और परिष्कृत बनाने में सहयोग दिया है, आदर एवं कृतज्ञता प्रकट करने का कदाचित् यही सर्वोत्तम प्रकार है। यह कार्य सर्वसाधारण के लिये लाभदायक होने के साथ-साथ उन सज्जनों के लिये भी, जिनकी प्रशंसा में ग्रन्थ तैयार किया जाता है, प्रीतिकर होगा, क्योंकि उनके जीवन का मुख्य प्रयत्न साहित्य-सृजन रहा है और इस प्रकार से उन की प्रिय वस्तु में वृद्धि होगी। जिसे जो वस्तु प्रिय हो उसे उसी का देना उचित है। इससे देने वाले और पाने वाले दोनों को प्रसन्नता होती है।

उत्तर प्रदेश के आर्य यह अनुभव करते आ रहे थे कि श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय ने आर्यसमाज की आदर्श सेवा की है। उन्होंने सभासद्-पद से सार्वदेशिक सभा के मन्त्री के पद तक पहुँच कर आर्यसमाज के कार्य को संगठित करने और उसे प्रगति देने में अपने जीवन का अमूल्य समय लगाया है। आर्यसमाज की एक शिक्षा संस्था का प्रमुख रहकर नवयुवकों और प्रौढ़ों में वैदिक भावनाओं के भाव भरे हैं और इस सबसे बढ़ कर उन्होंने आकार में बहुत अधिक और प्रकार में बहुत श्रेष्ठ आर्यसमाज सम्बन्धी साहित्य का निर्माण किया है। ये सब कार्य करके उन्होंने सामाजिक कार्यकर्त्ताओं के लिए एक प्रशस्त मार्ग निर्धारित किया है और एक आदर्श उपस्थित किया है जो अन्य कार्यकर्त्ताओं के लिए प्रकाश-स्तम्भ का कार्य कर सकता है। उनके इन कार्यों के लिए सभी के अन्दर प्रशंसा के भाव थे। जब प्रश्न उठा कि इस प्रशंसा को किस रूप में प्रकट किया जावे तो प्रायः सभी का सुझाव था कि उनकी सेवा में एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जाय।

इसमें जहाँ उनका जीवन-परिचय हो, उनके कार्यों और रचनाओं का वर्णन हो, उनके प्रति सुहृज्जनों के उद्गार और श्रद्धाञ्जलियों का समर्पण हो, वहाँ अन्य लेखकों के लेख भी हों, जिससे ग्रन्थ की उपादेयता बढ़ सके। विचार सर्व-सम्मति से तय हुआ और उसको क्रियात्मक रूप देने का प्रयत्न प्रारम्भ हो गया। सोचा गया कि यह समारोह 'आर्य-मित्र' की हीरक जयन्ती के अवसर पर किया जावे। संयोगवश हीरक जयन्ती के साथ अन्य समारोह भी जुड़ गये और उसका करना स्थगित होता रहा। १५ अक्तूबर १६५६ को अन्तिम रूप से निश्चय किया गया कि ये सब समारोह दिसम्बर १६५६ के अन्तिम सप्ताह में किये जावें। उसी के अनुसार ग्रन्थ का मुद्रण प्रारम्भ कर दिया गया और अब वही ग्रन्थ पाठकों के हाथ में है।

हमें यह लिखने में कोई संकोच नहीं कि लेखों के एकत्रित करने में बहुत कठिनाई हुई। दस-बारह वर्ष पूर्व पूज्य महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज को सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा-द्वारा भेंट किये गये 'नारायण अभिनन्दन ग्रन्थ' के सम्पादन का कार्य भी हमें सौंपा गया था। उसके लिए लेखों को प्राप्त करने में इतनी कठिनता न हुई थी। इससे हमें आशंका हो रही है कि आर्य विद्वानों में स्वाध्याय और लेख लिखने की प्रवृत्ति कम हो रही है। यदि ऐसा है तो क्या हम लोग उपाध्याय जी की प्रशंसा करने के साथ उनके जीवन से स्वाध्याय करने और लिखने का पाठ नहीं पढ़ सकते। वीर-पूजा का अभिप्राय तो पूजा करने वाले के अन्दर वीरता आने का है। यदि नहीं आती तो पूजा व्यर्थ है।

लेख समय से भी न मिले, जिसके कारण हम ग्रन्थ को अपना चाहा हुआ रूप न दे सके। हम यह अनुभव करते हैं कि यदि लेखकों का सहयोग मिल गया होता तो ग्रन्थ का आकर्षण और उसकी उपादेयता कहीं अधिक हो गई होती। फिर भी जो हो सका है किया है। आशा है, ग्रन्थ इस रूप में भी अपने उद्देश्य को पूरा करेगा और पाठकों को लाभप्रद होगा।

यदि लेख समय से मिल गये होते तो उनके रखने में कोई क्रम भी हो सकता था—चाहे तो विषयानुसार और चाहे अन्य किसी प्रकार का, पर अब तो लेखों का क्रम यही है कि उनका कोई

क्रम नहीं। उनके क्रम के बारे में कोई अनुमान लगाना उचित न होगा। कुछ लेख विलम्ब से प्राप्त होने के कारण ग्रन्थ में स्थान न पा सके।

यह स्वाभाविक ही था कि ग्रन्थ के निर्माण में अपने सहयोगियों का सहयोग लिया जाता। प्रसन्नता है कि वह सहयोग मिला और यह भी सत्य है कि उस सहयोग के अभाव में यह ग्रन्थ तैयार न हो सकता था। इसके लिए हम उन सभी सहयोगियों के कृतज्ञ हैं। डाक्टर हरिशंकर शर्मा जी ने ग्रन्थ की रूपरेखा निर्धारित करने में सुझाव दिये। श्री उमेशचन्द्र स्नातक ने लेखों के संग्रह में, श्री रघुवीरसिंह शास्त्री ने लेखों के सम्पादन एवं प्रूफ संशोधन में, श्री विश्वम्भर सहाय प्रेमी ने चित्र-संकलन, मुद्रण-प्रबन्ध आदि में, श्रीमती अक्षयकुमारी ने ग्रन्थ सम्बन्धी सामान्य कार्यों में विशेष सहयोग तथा सत्परामर्श दिये। हम इन सब को धन्यवाद देते हैं।

लेखक महानुभावों के लेखों के बिना तो ग्रन्थ बन ही न सकता था। वे हमारे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

हम सम्राट् प्रेस, देहली के संचालकों एवं कार्यकर्ताओं के भी कृतज्ञ हैं, जिन्होंने अनेक असुविधायें उठा कर समय पर ग्रन्थ तैयार करके दे दिया।

महेन्द्रप्रताप शास्त्री

विषय-सूचि

वेद की दो समस्याएँ

स्वामी आत्मानन्द जी सरस्वती

अथर्ववेद में दो मन्त्र आये हैं, वे दोनों मन्त्र दो आध्यात्मिक समस्याओं का प्रकाश कर रहे हैं। वेद का स्वाध्याय करने वाले स्वाध्यायशील विद्वानों के लिये इन मन्त्रों में अध्यात्म की सूक्ष्म विवेचना बड़ी रुचिकर और लाभप्रद सिद्ध हो सकती है। समस्यायें इस प्रकार हैं—

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नैव दृश्यते।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया॥ (अथर्व १०।४।८)

एक तत्त्व है जो बाल से भी सूक्ष्म है, और एक ऐसा है जो दिखाई देता ही नहीं, परन्तु जो बाल से भी सूक्ष्म मेरा प्यारा देवता है, वह उसका आलिंगन किये हुए है।

यह बाल से भी सूक्ष्म तत्त्व क्या है? वह तत्त्व कौन सा है जो है परन्तु दिखाई नहीं देता। और यह बाल से भी सूक्ष्म प्यारा देवता उसका आलिंगन किस प्रकार किये हुए है। यह त्रिमुखी समस्या है जिसका समाधान हम करना चाहते हैं।

मन्त्र में आये हुए दो तत्त्वों में से यदि एक का भी नाम जान लें तो दूसरे के नाम को जानने और इसके पारस्परिक आलिंगन का स्वरूप जानने में कोई कठिनाई न होगी। इनमें से एक का नाम जानने के लिए हम उपनिषद् का एक प्रसंग पाठकों के सामने उपस्थित करते हैं।

वालाग्रशतभागस्य, शतधा कल्पितस्य च।
जीवो भागः स विज्ञेयः, स चानन्त्याय कल्पते॥

बाल के अग्र भाग के सौ टुकड़े करो और उनमें से भी एक टुकड़े के सैंकड़ों भाग कर दो। उस अत्यन्त सूक्ष्म भाग को जीव का परिमाण समझो, और इस प्रकार के जीव हैं भी असख्य और हैं भी अविनाशी।

उपनिषद् के इस मन्त्र ने अथर्व के मन्त्र में आये हुए "बाल से भी सूक्ष्म" तत्त्व का नाम स्पष्ट शब्दों में प्रकट कर दिया है और वह नाम है जीव।

जीव का नाम सुनते ही हमें इसके उस साथी का नाम जानने में कोई कठिनाई न होगी जिसे वेद ने 'न दीखने वाला' कहा है और जिसका आलिंगन किये हुए है। यह उसका आलिंगन तो किये हुए है परन्तु उसे देख नहीं पाता। यह एक विचित्र समस्या है। जीव का प्रकृति के साथ भी सम्बन्ध है, परन्तु उसे यह देखता भी है और उसका उपभोग भी करता है।

"तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति"

उन दोनों में से एक उस प्रकृति रूप वृक्ष के कर्मफल रूप फलों का उपभोग करता है। परन्तु इसमें प्रकृति का नहीं एक ऐसे तत्त्व का वर्णन किया जा रहा है, जिसका कि वह आलिंगन अवश्य किये हुए है, परन्तु न तो उसके रस का आस्वादन कर पाया है और न उसे देख पाया है।

उपनिषदों में प्रकृति के स्वादु फल का वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त एक दूसरे रसवान् तत्त्व का भी वर्णन किया है।

"रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति"

वह रस रूप है, इसको प्राप्त कर ही यह जीव आनन्दी होता है।

उपनिषत्कार ने यहां आनन्द रस रूप तत्त्व का नाम लिया है। "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" नित्य विज्ञान-रूप आनन्द-रूप ब्रह्म है। इस वाक्य में आनन्द का सम्बन्ध ब्रह्म से जोड़ा गया है। जिस प्रकार आत्मा के कर्मों का एक फल प्रकृति रूप वृक्ष के अनेक फलों का उपभोग है, इसी प्रकार ब्रह्मानन्द रूप फल की प्राप्ति भी उसके कुछ विशिष्ट कर्मों का फल मानी गई है। यह वह ही ब्रह्म तत्त्व है जिसका आलिंगन तो जीव ने किया हुआ है, परन्तु, उसके आनन्द रूप फल का उपभोग तो दूर की बात है, अभी तो वह उसका दर्शन करने में भी समर्थ नहीं हो पाया है। हमने यह जान लिया है कि इस मन्त्र में बाल से भी सूक्ष्म जिसे कहा गया है वह जीव है और यहां जिसे न दीखने वाली शक्ति कहा गया है वह ब्रह्म है। ब्रह्म व्यापक है और जीव एकदेशी, इसलिए इस एकदेशी का व्यापक ब्रह्म के साथ संयोग अर्थात् आलिंगन भी अनिवार्य ही है। अब प्रश्न यह ही शेष है कि "जब यह उससे संयुक्त हीं है तो उसे देख क्यों नहीं रहा ?" समस्या के इस एक अंश का समाधान ही हम एक दूसरी समस्या को उपस्थित करना चाहते हैं।

वह समस्या निम्नलिखित है :—

पंचवाही वहत्यग्रमेषां, पृष्ठयो युक्ता अनुसंवहन्ति।
अयातमस्य वहशे न यातं, परं नेदीयो अवरं दवीयः॥ (अथर्व कां० अ० ४ सूत्र ८)

एषाम् इन गाड़ियों में से "अग्रम्" प्रधान इंजन रूप गाड़ी "पंचवाही वहति" पांच शक्तियों के समुदाय रूप गाड़ी को लिये जा रहा है। "पृष्ठयो युक्ताः" पीछे चलने वाली जुड़ी हुई "अनुसं-वहन्ति" इसके पीछे-पीछे भार लिये जा रही है, "अस्य" इसका न तो न चलना दिखाई देता है और न चलना। "परं नेदीयः अवरं दवीयः" इतना अवश्य है कि जो परे था वह समीप आ रहा है और जो समीप था वह दूर हो रहा है।

यह है दूसरी समस्या जिसमें अपना भी और पहली समस्या का भी समाधान है।

हमारा प्रधान अन्तःकरण रूप इंजन पाँच ज्ञान इन्द्रियों से गाड़ी को लिये जा रहा है, कर्मेन्द्रियाँ और पांच प्राण रूप गाड़ियां इनके पीछे जुड़ी हुई पीछे-पीछे चल रही हैं। इसके चलने न चलने का कुछ भी पता नहीं चल रहा। इतना अवश्य है कि जो दूर था वह समीप आ रहा है और जो समीप था वह दूर जा रहा है।

वेद में जिस आलंकारिक गाड़ी का वर्णन किया गया है, पंचवाही शब्द के सामने आते ही उस गाड़ी का पता लगाने में कोई कठिनाई नहीं होती। इसका स्पष्ट वर्णन ऊपर के भावार्थ में हम कर ही आये हैं। अब शेष रह जाती हैं दो बातें, एक तो यह कि उसके चलने और न चलने का कुछ पता नहीं चलता। और दूसरी यह कि दूर वाले समीप आ रहे हैं और समीप वाले दूर जा रहे हैं।

चलती हुई गाड़ी के चलने और न चलने का पता न लगाने का केवल यह ही कारण हो सकता है कि गाड़ी हमारी आँखों से ओझल हो। हमारी यह आलंकारिक गाड़ी आध्यात्मिक गाड़ी है, और आध्यात्मिक गाड़ी की चाल का पता लगाने में आँखें तो समर्थ हैं नहीं। आँखों का काम भौतिक पदार्थों का देखना है। आध्यात्मिक पदार्थों का देखना उनका काम नहीं है। ज्ञान आदि आध्यात्मिक पदार्थ उन की पहुँच से बाहर हैं। हमारी आन्तरिक आँखें अन्तःकरण की आँखें हैं। परन्तु मन्त्र के भाव से प्रकट है कि वह भी इस यात और अयात को देखने में असमर्थ है, क्योंकि यदि देख सकता है तो मन्त्र में 'न दहशे'—नहीं दिखाई देता—ऐसा न कहा जाता। इस समस्या को सुलझाने वाला वाक्य मन्त्र में आगे पढ़ा गया है।

"परं नेदीयो अवरं दवीयः"

"दूर वाले समीप आ रहे हैं और समीप वाले दूर जा रहे हैं।"

इस वाक्य का यदि हम सीधा सा अर्थ यह ले लें कि दूर के पदार्थ समीप आ रहे हैं, और समीप वाले दूर जा रहे हैं तो गाड़ी की चाल का पता लगाना हमारे लिये कठिन न रह जावेगा। क्योंकि गाड़ी यदि चलती होती तो जो पदार्थ आगे दूर थे वे समीप आ ही जाते हैं, और जो हमारे पास थे वे पीछे दूर रह ही जाते हैं। फिर तो "इसके जाने-आने का पता नहीं लग रहा" इस वाक्य का कोई मूल्य ही न रहगा। इसलिए "परं नेदीयो अवरं दवीयः"—दूर के समीप आ रहे हैं और समीप के दूर जा रहे हैं—इस वाक्य का भाव कुछ और ही है, और वह ही इस मन्त्र की और पहिले मन्त्र की भी समस्या का समाधान है।

प्रकृति का जीव से भोग्य और भोक्ता का सम्बन्ध तो है परन्तु गौणिक सम्बन्ध है। जीव का चैतन्य गुण है और प्रकृति जड़ है, इसलिए प्रकृति से जीव का गुण की समता वाला सम्बन्ध नहीं है। जिस प्रकार प्रकृति से उसका सम्बन्ध है उसी प्रकार जीव का ब्रह्म से भी सम्बन्ध है, परन्तु ब्रह्म से उसका गुण के द्वारा सम्बन्ध है। ब्रह्म भी चेतन है और जीव भी। ब्रह्म ज्ञान का भंडार है और जीव अल्प ज्ञान वाला है। ज्ञान की शक्ति उसे ब्रह्म से ही मिल सकती है प्रकृति से नहीं। जीव की

वास्तविक गति है उसका ब्रह्म की ओर जाना। उसके शरीर, इन्द्रिय प्राण, मन आदि यदि उसे ब्रह्म की ओर ले जा रहे हैं, तब तो समझो कि उसकी गाड़ी चल रही है। परन्तु यहाँ तो स्थिति ही और है। हम अपने एक मात्र साधन अन्तःकरण के ऊपर प्रकृति के अनेक चित्र बनाते चले आ रहे हैं। इसलिए पाठ यह हम पढ़ रहे हैं, "परं नेदीयः" जो प्रकृति और प्राण हम से सर्वथा दूर है वह ही संस्कारों के रूप में हमारे अन्तःकरण में इकट्ठी होती जा रही है। और इस प्रकृति का पर्दा पड़ जाने से हमारी समीपी ब्रह्म सत्ता हमारी अन्तःकरण की आँखों से ओझल होती जा रही है। यह ही कारण है कि इस प्रकृति अथवा अज्ञान के पर्दे के कारण हमें अपने ज्ञान की गाड़ी की चाल का पता नहीं लग रहा है। जिस प्रकार हम अंधेरे में कुछ नहीं देख सकते, इसी प्रकार अज्ञान के अन्धकार में भी कुछ नहीं देख सकते हैं। इसलिए अपनी गति को देखने के लिए हमें प्रकृति के प्रभाव को दूर कर ब्रह्म के प्रभाव की छाप अन्तःकरण पर लगानी होगी।

पहिले मन्त्र की समस्या का भी इस मन्त्र का यह वाक्य ही समाधान है। ब्रह्म का हमारे साथ सम्बन्ध है, उसके साथ जीव का ज्ञानी होने के कारण संयोग है, परन्तु अब जीव ने अपने चारों ओर अन्तःकरण में प्रकृति के संस्कारों का जाल बिछा दिया है। इसलिये इस अज्ञान के अन्धकार के कारण वह अपने पास होते हुए भी ब्रह्म के स्वरूप को नहीं देख सकता। ब्रह्म के स्वरूप को देखने के लिये हमें अविद्या के सस्कारों से पिण्ड छुड़ा कर ब्रह्म की ओर जाना होगा।

"इन्द्रो विश्वस्य राजति" ॥ यजु० अ० ३६।८ ॥
परमात्मा सारे संसार का स्वामी है।

जीवन और मृत्यु

प्रिंसिपल दीवानचन्द जी एम० ए०

कठ उपनिषद् की पहली वल्ली हमारा परिचय "यम" और "नचिकेता" से कराती है। "यम" "नचिकेता" को तीन वर प्रदान करना स्वीकार करता है, तीसरा और अन्तिम वर जो नचिकेता मांगता है, वह यह है :—

"कुछ लोग कहते हैं मृत्यु के पीछे आत्मा का अस्तित्व बना रहता है। कुछ अन्य कहते हैं, अस्तित्व बना नहीं रहता। मुझे बताओ सत्य क्या है? यम ने नचिकेता को इस कठिन प्रश्न का उत्तर माँगने के स्थान में कोई अन्य वर माँगने की प्रेरणा की, परन्तु नचिकेता अपनी बात पर स्थिर रहा, क्योंकि यह प्रश्न ही प्रश्नों का प्रश्न है, और इसके उत्तर के लिए "यम" से अच्छा कोई शिक्षक भी नहीं मिल सकता था।

नचिकेता का अर्थ है "न जानने वाला"। हम सब का ज्ञान सीमित ही होता है। कुछ लोगों में अधिक जानने की इच्छा बहुत प्रबल होती है। नचिकेता ऐसे लोगों में से था, वह सच्चा जिज्ञासु था। आत्मा के अमर होने न होने की बाबत पूछना हो, तो किससे पूछें? नचिकेता के विचार से "यम" से बढ़कर इस प्रश्न का उत्तरदाता कोई नहीं। इसका अर्थ यह है कि प्रश्न के उत्तर के लिए हमें मृत्यु के तत्त्व को समझना चाहिए। मृत्यु क्या है? विनाश है, अथवा परिवर्तन है?

सापेक्षता

मृत्यु और जीवन सापेक्ष शब्द हैं। साधारण मनुष्य कहता है जहां जीवन है वहां मृत्यु नहीं, जहां मृत्यु है वहाँ जीवन नहीं। यदि ऐसा ही हो तो भी नचिकेता का प्रश्न तो बना ही रहता है। जीवन के बाद मौत आती है। मौत के बाद भी जीवन होता है वा नहीं होता? जीवन जन्म के साथ आरम्भ होता है। जन्म से पूर्व भी कोई मृत्यु हुई है वा यह निरपेक्ष आरम्भ है? हम जीवन को

स्वतन्त्र कहीं नहीं देखते। प्राकृत पदार्थों में कुछ जीवित दीखते हैं और कुछ जड़, जीवित पदार्थों में कुछ चेतन प्रतीत होते हैं और कुछ अचेतन। जड़, जीवित और चेतन तीनों प्रकार के पदार्थों को अलग-अलग देखें। पृथ्वी पर जो जीवन है, वह इसकी सतह पर ही है। सतह पर भी जीवित पदार्थ प्रकृति का बहुत थोड़ा अंश है। जड़ प्रकृति की बाबत हम क्या देखते हैं ? दो बातें प्रमुख रूप में हमें दीखती है। एक तो पदार्थों की विभिन्नता, और दूसरे परिवर्तन की व्यापकता। कहीं स्थिरता दिखाई नहीं देती। प्रतीत तो ऐसा होता है कि छोटे-मोटे पदार्थों में गति होती है और पृथ्वी खड़ी है। मैं मकान के बरांडे में बैठा लिख रहा हूँ। पिछले घण्टे में सूर्य के गिर्द चक्कर लगाते हुए पृथ्वी अपने साथ मुझे भी आकाश में ६०,००० मील आगे ले गई है। मेरे शरीर का प्रत्येक परमाणु इतनी तेज गति से घूम रहा है जिसकी जांच कल्पना की शक्ति से परे है। पहाड़ों को अचल पर्वत कहते हैं, वह भी प्रतिक्षण बनते और टूटते हैं। मुझे एक कल्पित प्रदर्शिनी की बाबत पता लगा, जहाँ संसार में होने वाले परिवर्तन छोटे पैमाने पर दिखाए जा रहे थे। मैं वहां पहुँचा और देखा कि एक ही प्रकार के परमाणुओं से मिट्टी, सोना, चांदी, पृथ्वियां, सूर्य, चांद, सितारे बन रहे थे। मैंने इधर-उधर घूमकर सारी प्रदर्शिनी को देखा, परन्तु "उत्पत्ति" और "विनाश" को कहीं न देखा। बीच में एक बड़े तख्ते पर लिखा था।

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः"

"जिसका अस्तित्व नहीं, उसका होना असम्भव है, जिसकी सत्ता है उसका विनाश नहीं हो सकता। तत्त्व जानने वाले ज्ञानी पुरुषों ने इन दोनों में यही भेद निश्चित किया है। आजकल विज्ञान का युग है। विज्ञान परिवर्तन को जानता है, "उत्पत्ति" और "विनाश" को नहीं जानता है।

मनुष्य की आयु

अब संसार के दूसरे भाग जीवित पदार्थों को लें, मेरा अपना शरीर इसका अच्छा उदाहरण है। कोई मित्र पूछता है कितनी आयु है ? मैं कहता हूं जो बीत गई है, उसकी बाबत पूछते हो, वा जो बाकी रहती है ? जो बीत गयी है, वह तो बीत ही गयी है। जो बाकी है उसका कुछ पता ही नहीं। भूत और भविष्य के मध्य में वर्तमान तो एक बिन्दु है, जिसका कोई आकार नहीं।

वास्तव में मेरे शारीरिक जीवन की कथा क्या है ? यह जीवन एक घटक से आरम्भ हुआ, एक घटक से दो बने, दो से चार, चार से आठ, और यह क्रम जारी रहा है। परन्तु यही होता तो संसार में मेरा शरीर ही होता अन्य किसी पदार्थ के लिए स्थान ही न रहता। जब से शरीर का बनना आरम्भ हुआ, शरीर का टूटना भी जारी है। स्नान के समय जब मैं पांव धोता हूं तो अगणित घटक जो मर चुके हैं, पाँव से अलग करता हूं। शरीर की हालत में जीवन और मृत्यु ऐसे मिले हैं कि दोनों में भेद करना ही कठिन है। मृत शरीर सड़ने लगता है, दूसरी ओर से देखें, तो अगणित कीड़े उसमें प्रकट होने लगते हैं। बकरी घास खाती है, समय आने पर वह घास की खुराक बनती है, इसीलिए उपनिषद् में कहा है। "ए" जीवन मृत्यु ही है।

जो कुछ जड़ पदार्थों की प्रदर्शिनी में देखा था, वही जीवित पदार्थों की हालत में दीखता है। परिवर्तन तो हर ओर दिखाई देता है, विनाश का कहीं पता नहीं चलता।

जीवन के प्रमुख चिह्न

नचिकेता को तो भूलने लगे थे, अब उसके साथ "यम" से पूछें कि आत्मा अमर है किंवा मृत्यु के साथ इसका भी विनाश हो जाता है। ऊपर जो कुछ कहा है, वह नचिकेता के प्रश्न से असंगत तो नहीं, पर उसके प्रश्न का उत्तर भी नहीं। जीवन प्रकृति और आत्मा के मध्य में है, जीवन के प्रमुख चिन्ह क्या हैं?

बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है : "प्राणो वा उक्थं" जीवन बढ़ने का नाम है।

"प्राणो वै यजुः" जीवन संघटन का नाम है।

"प्राणो वै साम" जीवन अपने आप में विलीन कर लेने, अपने समान बना लेने का नाम है।

"प्राणो वै क्षत्रं" जीवन अपनी रक्षा करने, मृत्यु से युद्ध करने का नाम है।

यह चारों चिह्न जड़ पदार्थों में नहीं पाये जाते, आत्मा में पाये जाते हैं। किन्तु आत्मा में उनके साथ चेतना भी पायी जाती है, जो वृक्षों और वनस्पति में नहीं पायी जाती। जीवन के स्वरूप की बाबत मतभेद है। कुछ लोग इसके स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। कुछ इसे प्रकृति की गति का परिणाम बताते हैं और कुछ इसे नीचे घसीटने के स्थान पर, ऊपर उठाते हैं और आत्मा का एक प्रकटन समझते हैं।

आत्मा का स्वरूप

आत्मा के अमरत्व का प्रश्न केन्द्रीय प्रश्न है। इसे दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और नैतिक दृष्टिकोणों से विचारा जा सकता है। दर्शन के लिए प्रश्न यह है कि आत्मा द्रव्य है वा केवल प्रकटन है? बौद्धों का ख्याल था कि केवल ज्ञान धारा का अस्तित्व है, इसके अतिरिक्त कोई ज्ञानी नहीं। धारा अस्थिरता वा परिवर्तन की मूर्ति है। परिवर्तन निरा बहुत्व नहीं, इस बहुत्व के नीचे एकता का होना आवश्यक है। जैसा जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक कांट ने कहा, "किसी नित्य वस्तु में ही परिवर्तन हो सकता है"। जहां तक हम देख सकते हैं मृत्यु विच्छेद ही है और विच्छेद मिश्रित पदार्थ का ही हो सकता है! आत्मा मिश्रित पदार्थ नहीं, इसलिये इसके विच्छेद का प्रश्न ही नहीं उठता। आत्मा अमिश्रित द्रव्य है. इस लिए अमर है।

मानसिक जीवन

मनोविज्ञान वास्तव में प्रकटनों का ही अध्ययन करता है। मानसिक जीवन के दो भाग हैं एक वृत्तियां जो प्रतिक्षण बदलती रहती हैं, और दूसरा वह संस्कार जिसे ये वृत्तियां अपने पीछे छोड़ जाती हैं। जिस बच्चे को बार-बार भयभीत किया जाय, वह कायर बन जाता है। कायरता कोई वृत्ति विशेष नहीं, यह एक झुकाव है, जो विशेष अनुभवों का परिणाम है। ये संस्कार कैसे

बनते हैं। साधारण अनुभव हमें बता देता है। इसके साथ ही हम यह भी देखते हैं कि कुछ संस्कार वर्तमान जीवन में नहीं बनते, अपितु इसके साथ आते हैं। एक बच्चा ४-५ वर्ष की आयु में अपूर्व रोगी बन जाता है। दूसरा गणित में करतब करके लोगों को चकित कर देता है। कवि "पहली भेंट पर प्रेम" का वर्णन करते हैं। अनुभवों और इन जैसे अन्य अनुभवों का समाधान यह है कि सारे संस्कार एक रीति से बने हैं। जो संस्कार हम वर्तमान जन्म के साथ लाये हैं, वह हमारे पूर्व जन्मों में बने थे। विज्ञान विश्वास करता है कि कोई कार्य कारण के बिना नहीं हो सकता। जन्मजात संस्कार अकारण वा हेतुरहित नहीं हो सकते। समाधान के सम्बन्ध में विज्ञान इस नियम पर चलता है कि जहाँ एक समाधान से काम चल सके, वहां एक से अधिक समाधानों के पीछे भागना नहीं चाहिए। जहां सरल समाधान से काम चल सके वहां असरल समाधान का ख्याल न करना चाहिये।

श्रेय और प्रेय

आजकल आत्मा के अमरत्व के सम्बन्ध में प्रायः नीति से पूछा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कठ उपनिषद् के रचयिता का विचार भी ऐसा ही था। पहली वल्ली के अन्त मे यम ने नचिकेता को इस विषय में बताना स्वीकार कर लिया। दूसरी वल्ली का आरम्भ यों होता है :—

श्रेय धर्म का मार्ग एक वस्तु है, और प्रेय भोग का मार्ग दूसरी वस्तु है। ये दोनों दो विभिन्न उद्देश्यों को रखते हुये मनुष्य को बांधते हैं। जो मनुष्य श्रेय को ग्रहण करता है, उस का कल्याण होता है, जो प्रेय को ग्रहण करता है, वह अपने उद्देश्य को प्राप्त नहीं करता।

इसे पढ़कर पहले तो ख्याल आता है कि प्रश्न आत्मा के अमर होने की बाबत था, और उत्तर में यम ने एक असंगत विषय श्रेय और प्रेय पर कहना आरम्भ कर दिया है। विचार करने पर पता लगता है कि यह विषय प्रश्न से असंगत नहीं। आत्मा का अमरत्व नीति के साथ गहरा सम्बन्ध रखता है। यदि श्रेय और प्रेय में कोई भेद नहीं तो मनुष्य और अन्य चेतन प्राणियों में कोई भेद नहीं। सारे अपनी प्रकृति से विवश प्रेय के पीछे तो भागते ही हैं। यदि मनुष्य अपने लिए आदर्श बना सकता है और उन आदर्शों की पूर्ति के लिए यत्न कर सकता है, तो वह पशु-पक्षियों से ऊंचे स्तर पर है। श्रेय का ध्यान और उसकी भक्ति मनुष्य को पाशव स्तर से उठाकर नैतिक स्तर पर ले जाती है। आधुनिक काल में कांट का दृष्टिकोण कठ के दृष्टिकोण से मिलता है। कांट के विचार में आत्मा के अमरत्व का प्रश्न नीति से बधा है। हमारा नैतिक बोध हमारे समक्ष एक आदर्श रखता है। यह आदर्श सम्पूर्णता है। हमारे लिए दो ही मार्ग हैं या तो हम नैतिक बोध को भ्रम मान लें और आदर्शों की ओर से विमुख हो जायें या इस बोध की आवाज को स्वीकार करें। दूसरी हालत में हमें यह मानना होता है कि आदर्शों की सिद्धि के लिये हम आवश्यक शक्ति रखते हैं और इसके लिए हमें पर्याप्त समय मिलता है। यदि हम स्वाधीन नहीं तो आदर्श बोध एक मजाक है। कांट के शब्दों में तुम्हें करना चाहिए, इस लिये तुम कर सकते हो। जहाँ तक अवकाश का सम्बन्ध है, कांट कहता है कि हमारे लिए करने का काम अनन्त है। इस लिए इसके लिए समय भी अनन्त मिलना चाहिए। इस तरह कांट आत्मा की स्वाधीनता और इसके अमरत्व को नैतिक बोध

में निहित देखता है। कठ उपनिषद् में यम भी नीति से आरम्भ करके इस आत्मा के अमरत्व तक जा पहुंचता है।

जीवन यात्रा

जीवन यात्रा की पूर्णतया प्रगति ही नहीं होती। कभी हम ठीक चलते हैं, कभी इधर-उधर भटकते हैं, कभी ऊपर चढ़ते हैं, कभी नीचे गिरते हैं; प्राकृत जगत् में कारण-कार्य का नियम व्यापक है। नैतिक जीवन में कर्म नियम व्यापक है। जो कुछ हम बोते हैं वही काटना होता है। संसार में नैतिक नियम का राज्य है, परमात्मा इस नियम का नियन्ता है। मुसलमान और ईसाई नैतिक नियम की व्यापकता को स्वीकार करते हैं। और इसी नींव पर आत्मा के अमरत्व को मानते हैं; परन्तु उनके विश्वास की दो बातें साधारण मनुष्य की समझ में नहीं आतीं। वह यह मानते हैं कि कर्मयोनि एक ही है और इसके फल के भोगने के लिए अनन्त काल तक स्वर्ग वा नरक में रहना होगा। यदि कर्म करने का अवसर मिलता है, तो कोई कारण नहीं कि यह अवसर इतना सीमित हो। और यदि इतना सीमित है तो इसका फल भी इसके अनुसार सीमित होना चाहिए। दूसरी कठिनाई इन मतों में यह है कि एक ओर देखते हैं। दूसरी ओर नहीं देखते। यह तो मानते हैं कि अच्छे-बुरे कर्मों का फल मिलना न्याय की मांग है। जब वही न्याय यह मांग करता है कि जिन भेदों के साथ यह जन्म आरम्भ होता है, उन का भी कोई कारण होना चाहिए, तो इस मांग की ओर ध्यान नहीं देते। श्री ईसा के जीवन में एक अवसर पर यह कठिनाई अपने पूरे जोर से उनके सामने आई। एक जन्म का अन्धा उन के पास लाया गया। कुछ लोगों ने उनसे पूछा, यह अन्धा अपने बुरे कर्मों का फल भोग रहा है वा अपने माता-पिता के कर्मों का? श्री ईसा यह नहीं कह सकते थे कि उसका अन्धा पैदा होना उसके कर्मों का फल है, क्योंकि वह पूर्व जन्म में विश्वास न करते थे। वे यह भी न कह सकते थे कि वह माता-पिता के कुकर्मों के कारण अन्धा पैदा हुआ है, क्योंकि ऐसी व्यवस्था न्याय के प्रतिकूल है। उन्होंने इतना ही कहा कि उसका अन्धापन उसके अपने कर्मों का फल न था, यह तो परमात्मा के महत्त्व को दिखाने के लिए हुआ। इसका अभिप्राय यही है कि श्री ईसा के पास ऐसी घटना का कोई समाधान न था। यदि संसार में न्याय का राज्य है तो पूर्वजन्मों का मानना भी आवश्यक हो जाता है। नवीन दार्शनिकों में मेक्टेगार्ट आस्तिक नहीं, किन्तु वर्तमान जन्म को दोनों ओर फैलने वाली जंजीर की एक लड़ी समझता है। इसका अर्थ यह है कि धर्म को एक ओर रखें और केवल नीति पर ध्यान जमायें, तो भी आत्मा का अमरत्व पक्की नींवों पर आलम्बित दिखाई देता है। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ठीक कहा :—

आत्मा न कभी पैदा होता ह, न मरता है। यह अजन्मा है, शरीर के टूट-फूट जाने पर भी इसका नाश नहीं होता।
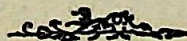
धर्म क्या है क्या नहीं

इन्द्र जी विद्यावाचस्पति

सुख, स्वाधीनता और धर्म ये शब्द ऐसे हैं कि प्राय: प्रत्येक व्यक्ति इनका प्रयोग आदर पूर्वक करता है; परन्तु यदि विवेचनात्मक दृष्टि से देखें, तो प्रतीत होगा कि सब वक्ताओं का अभिप्राय एक सा नहीं होता। जो व्यक्ति धन की प्राप्ति में सुख अनुभव करता है, वह बहुत सा धन प्राप्त होने पर कहेगा कि "मैं सुखी हूँ' परन्तु जिस व्यक्ति की प्रवृत्ति त्याग की ओर है वह धन, का परित्याग करके सुख और सन्तोष का अनुभव करता हुआ कहेगो कि आज मैं अत्यन्त सुखी हो गया, मुझे कोई चिन्ता नहीं रही।"

इसी प्रकार स्वाधीनता शब्द के व्यवहार पर भी वक्ताओं की मनोवृत्ति और परिस्थिति की छाप रहती है। स्वाधीनता शब्द का जो अर्थ एक अमेरिका का निवासी समझता है, वह एक रूसी के लिये पहेली है। और अंग्रेज जिसे स्वाधीनता कहता है, उसे स्पेन का रहने वाला शायद लाइसेन्स के नाम से पुकारेगा।

कुछ शब्द सिक्के बन जाते हैं। रुपया, पौंड, डालर, सेन्ट आदि नाम विविध देशों के सिक्कों के हैं। सामान्यरूप से प्रतीत होता है कि किसी देश का सिक्का उसका सब से स्थायी अंग है, परन्तु वस्तुत: सिक्के से अधिक परिवर्तनशील वस्तु कोई नहीं। रुपया घिस गया तो भी रुपया है, रुपया में मिलने वाली वस्तुओं के सस्ता हो जाने से रुपये की कीमत बढ़ गई, तो भी रुपया है, और सरकार ने उसमें चांदी का अनुपात घटा या बढ़ा दिया, तो भी वह रुपया ही रहेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि जो शब्द अत्यन्त आवश्यक हैं, और जिनका प्रयोग बहुत ही अधिक किया जाता है, उनका न अर्थ निश्चित रहता है, और न मूल्य। वह प्राय: देश तथा जाति और कभी-कभी व्यक्ति के भेद से ही भिन्न हो जाता है।

धर्म शब्द ऐसा ही है। धर्म शब्द संस्कृत का है। शब्द स्तोम महानिधि में उसके निम्नलिखित अर्थ लिखे हैं:—

शुभ अदृष्ट, श्रौत और स्मार्त कर्म, आत्मा, जीव, सदाचार, वस्तु के गुण और रूप, स्वभाव, उपमा, यज्ञादि, अहिंसा, न्याय, उपनिषद्, यम, सत्संग, धनुष, दानादि।

धर्म शब्द के अर्थों की इस लम्बी सूची पर दृष्टि डालिए, तो आपको आश्चर्य होगा। शुभ कर्म भी धर्म है, उनका करने वाला जीव भी धर्म है, और जीव का स्वभाव भी धर्म है। ऐसा प्रतीत होता है कि अभिधा, लक्षणा और व्यंजना की सहायता से धर्म शब्द के जितने असली अथवा काल्पनिक अर्थ हो सकते हैं, कोषकार ने उन सब का संग्रह कर दिया है। जब कोषकार की यह दशा है तो सर्व साधारण की बात ही क्या हैं, जो रुपया ही कहते हैं। धर्म शब्द के साथ भी मनुष्य जाति ने यही व्यवहार किया है। इस शब्द का इतना दुष्प्रयोग हुआ है कि आज उसके मौलिक अर्थ का ढूंढ निकालना दुःसाध्य हो गया है।

धर्म की शास्त्रीय परिभाषा

"धर्म" हमारे देश में आदर और सत्कार की उच्चतम चोटी पर पहुंचने का पासपोर्ट बना हुआ है, इस कारण यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि वस्तुतः 'धर्म' का मौलिक अर्थ क्या है। यह कार्य इतना कठिन है कि जब हम प्रचलित लोक व्यवहार से आगे बढ़ कर शास्त्र ग्रन्थों में धर्म की परिभाषा ढूंढते हैं तब भी कुछ कम कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। शास्त्रों में धर्म का लक्षण अनेक प्रकार से किया गया है।

(१) कुछ लक्षण धर्म के कारण सूचक लक्षण हैं : यथा—

चोदनालक्षणार्थो धर्मः। मीमांसा

'चोदना' कार्य में प्रवृत्त कराने वाले वचन को कहते हैं। आचार्यों ने आज्ञा दी कि यह कार्य करो, शिष्य करने लगता है। श्रुति ने आदेश दिया 'यज्ञ करो', यजमान यज्ञ करने लगा, दोनों ने धर्म का पालन किया। यह कारण लक्षण है।

इस कोटि का दूसरा लक्षण मनुस्मृति में दिया गया है—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः, स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधम्प्राहुः, साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

स्मृतिकार का कहना है कि वेद, स्मृति, सदाचार और अपनी आत्मा को प्रिय इन चारों से ही धर्म विदित हो सकता है।

(२) दूसरी प्रकार के लक्षण परिणाम सूचक लक्षण हैं : यथा—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। वैशेषिक

जिससे इस जीवन में अभ्युदय और उसके पश्चात् मोक्ष की प्राप्ति हो, वह धर्म है।

(३) तीसरे प्रकार के लक्षण, स्वरूप सूचक लक्षण हैं : यथा—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं, श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषान्न समाचरेत् ।। व्यास

धर्म का सार यह है कि मनुष्य दूसरों की आत्मा को दुखाने वाले कार्य न करे।

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात्, एष धर्मः सनातनः ।।

सत्य बोले, प्रिय बोले, अप्रिय सत्य न बोले और असत्य प्रिय न बोले, यह प्राचीन धर्म ह।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो, दशकं धर्मलक्षणम् ।।

धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शुद्धता, इन्द्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध ये धर्म के दस लक्षण हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शास्त्रों और स्मृति ग्रन्थों में धर्म की व्याख्या उसके कारण, कार्य और स्वरूप के निदर्शन द्वारा की गई है।

अब हमें देखना है कि क्या इन तीनों प्रकार की व्याख्याओं में कोई विरोध है ?

व्याख्याओं का समन्वय

देखने में ये व्याख्याएँ विविध हैं, परन्तु वस्तुतः उनमें परस्पर विरोध नहीं है। एक दृष्टांत से यह बात समझ में आ सकती है। देवदत्त नाम के व्यक्ति के पिता का नाम ब्रह्मदत्त है, और लड़के का नाम यज्ञदत्त है। उसे आप ब्रह्मदत्त का पुत्र कहें, यज्ञदत्त का पिता कहें, या देवदत्त कहें; इनमें कोई विरोध नहीं है। इसी प्रकार धर्म की तीनों प्रकार की व्याख्याओं में भी कोई विरोध नहीं है।

पहली व्याख्या कारण सूचक है। मीमांसाकार ने धर्म का जो लक्षण किया है उसका अर्थ यह है कि शास्त्र में जिस कार्य के करने का आदेश दिया गया है, वह धर्म है। आदेश है "सत्यं वद", सच बोलना धर्म है। "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" कर्म करता हुआ ही सौ साल तक जीने की इच्छा रखे, यह आदेश है। मनुष्य का धर्म है कि कर्म करता हुआ जिये। "मा मा हिंसीः" हिंसा मत करो, अहिंसा धर्म है, यह कारणपरक लक्षण है।

जहां धर्म के साक्षात् लक्षण बतलाए हैं वहाँ भी अभिप्राय धर्म के सूचक कारणों से है। श्रुति में धर्म के मूल सिद्धान्त बतलाए हैं। स्मृतियों में उन मूल सिद्धान्तों के आधार पर नियमों का निर्माण किया गया है। सदाचार से नियमों मे समय-समय पर आने वाली कठिनाई हल होती है, और जब अकस्मात् कोई धर्म सकट आ जाए या नई परिस्थिति पैदा हो जाये, तब अपनी अन्तरात्मा के सच्चे शब्द से धर्माधर्म का निर्णय हो सकता है। हम अपने रखे हुए फल को सूर्य की रोशनी में देख सकते हैं, बिजली की रोशनी में देख सकते हैं, गैस की रोशनी में देख सकते हैं, और दिये की रोशनी में भी देख सकते हैं। दिखाने वाली वस्तु भिन्न हो सकती है, परन्तु यदि वस्तु एक है तो एक ही रहेगी। धर्म को पहचानने के चार साधन बतलाए हैं, परन्तु उसका परिणाम एक ही होना

चाहिये। अपनी आत्मा को प्रिय होने से कौनसा कर्म उचित है, इसमें सन्देह होने पर सदाचार, सदाचार के सम्बन्ध में सन्देह होने से स्मृति और स्मृतियों में विरोध रहने से श्रुति यह धर्म का बोध कराने वाले साधनों की परम्परा है। यह स्पष्ट है कि भेद जानने के साधनों में है, उनका साध्य धर्म एक है।

मनु भगवान् ऋषियों के सामने धर्म की व्याख्या प्रारम्भ करने से पूर्व कहते हैं:—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत ॥

इस श्लोक में चारों साक्षात् लक्षणों में से केवल अन्तिम दो का निर्देश है। स्मृतिकार ने अपने आपको श्रुति और स्मृति का प्रतिनिधि मान कर केवल दो का निर्देश करना ही पर्याप्त समझा है। सत्य और अक्रोध धर्म है यह साध्य है, उनकी उपादेयता सिद्ध करने के साधन अनेक हैं। साधनों के सम्बन्ध में विवाद हो सकता है, साध्य के सम्बन्ध में नहीं, साध्य सर्वसम्मत है।

अब धर्म के परिणाम सूचक लक्षणों पर विचार कीजिए। वैशेषिक दर्शन का पूर्वोद्धृत सूत्र इसका दृष्टान्त है। कणाद मुनि का मत है कि जो इस जीवन में अभ्युदय और दूसरे जीवन में निःश्रेयस अर्थात् परम कल्याण सिद्धि का साधन है, वह धर्म है, देखने में यह लक्षण केवल वर्णनात्मक प्रतीत होता है। प्रत्यक्ष में तो बस इतना ही कहा है कि जिस से इस लोक में सुख और परलोक में आनन्द मिले वह धर्म है। परन्तु इसमें अन्तर्हित बात यह भी है कि जो मनुष्य को इस लोक और परलोक दोनों में कल्याण देने वाला हो वह धर्म है। वह धर्म नहीं है जो वर्तमान में सुख परन्तु परिणाम में दुःखदायी हो। धर्म वह है जो इस जीवन में और उस जीवन में दोनों में कल्याणकारी हो।

कभी-कभी अभाव से भाव का लक्षण करना बहुत प्रभावजनक रहता है। इसका एक दृष्टान्त निम्नलिखित है। नीतिकार ने अधर्म का वर्णन इन शब्दों में किया है :—

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ॥

मनुष्य कभी-कभी अधर्म द्वारा बढ़ता दिखाई देता है। वह सुखी होता जाता है और शत्रुओं पर विजय पा लेता है। परन्तु अन्त में समूल नष्ट हो जाता है। इस वर्णन को पलट कर आप कह सकते हैं कि धर्म वह है जिस पर चलने से प्रारम्भ में संभव है मनुष्य पर कष्ट आ पड़े, उस पर कठिनाइयों की वृष्टि हो जाय और उसके शत्रु प्रबल हो जायें, परन्तु अन्त में वह सफल और विजयी हो जाता है। यह धर्म का बहुत स्पष्ट परिणाम सूचक लक्षण है।

तीसरे प्रकार का लक्षण स्वरूप लक्षण कहलाता है। पहले दोनों लक्षणों का आधार दार्शनिक है, परन्तु स्वरूप लक्षण का स्वरूप सर्वथा व्यावहारिक और विश्वजनीन है। धर्म वस्तुतः क्या है, इसका उत्तर यदि अपने संपूर्ण साहित्य में तलाश किया जाए तो परिणाम निकलेगा कि सत्कर्म

और कर्तव्य इन दो के लिये धर्म शब्द का प्रयोग होता है। यथा—मनुस्मृति के पूर्व उद्धृत श्लोक के अनुसार ये धर्म हैं—

१. धृति, २. क्षमा, ३. दम, ४. अस्तेय, ५. शौच=शुद्धि, ६. इन्द्रियनिग्रह, ७. धी=बुद्धि, ८. विद्या, ९. सत्य तथा १०. अक्रोध। "सत्यं ब्रूयात्" प्रियं ब्रूयात् इत्यादि स्मृति वाक्य में सत्य और प्रिय बोलने को प्राचीन धर्म बतलाया गया है।

अब हम बौद्ध साहित्य में वर्णित धर्म के स्वरूप पर दृष्टि डालें तो हमें ऊपर बतलाए हुए श्रौत-स्मार्त धर्म से कोई भेद नहीं दिखाई देगा। संपूर्ण 'धम्मपद' में इसी व्यावहारिक धर्म का प्रतिपादन है। बौद्धों के अन्य धर्म ग्रन्थों में भी धर्म का यही स्वरूप वर्णित है। बुद्ध वग्ग में धर्म की निम्नलिखित शिक्षा दी गई है।

अनुपवादो अनुपघातो, पाति मोक्खे च संवरो।
मतं ञुवाचं मतास्मिन्, पतश्चवे यनासनम्॥
अधि चिते च आयोगो, एवं बुद्धान शासनम्।

निन्दा न करना, अहिंसा, संयम, मित भोजन, ब्रह्मचर्य और चित्त की एकाग्रता बुद्ध का यही अनुशासन है। बौद्धों के 'धम्मं शरणं गच्छामि' का यही अभिप्राय है कि साधक महात्मा बुद्ध के बतलाये हुए सदाचार सम्बन्धी नियमों के पालन की प्रतिज्ञा करता है।

धर्म का सर्वसम्मत रूप

यदि धर्म के स्वरूप लक्षण को दृष्टि में रखें तो हम इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि वह सर्व-सम्मत है। उसमें देश या जाति का भेद नहीं आता। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस तथ्य को अपने मुख्य ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के ११ वें समुल्लास में निम्नलिखित वार्तालाप द्वारा बड़ी स्पष्टता से प्रकट किया है।

जिज्ञासु आप्त विद्वान् से पूछता है कि सत्य धर्म क्या है ? आप्त उत्तर देता है। (आप्त) "तू जाकर इन बातों को पूछ सब की मति एक हो जाएगी।" तब वह जिज्ञासु उन सहस्रों सम्प्रदायवादियों की मंडली के बीच खड़ा होकर बोला—सुनो सब लोगो ! सत्यभाषण में धर्म है या मिथ्या में ? सब एक स्वर होकर बोले कि सत्य भाषण में धर्म और असत्य भाषण में अधर्म है। वैसे ही विद्या पढ़ने, ब्रह्मचर्य करने, पूर्ण युवावस्था में विवाह, सत्संग, पुरुषार्थ, सत्य व्यवहार आदि में धर्म और अविद्या ग्रहण, ब्रह्मचर्य न करने, व्यभिचार, कुसंग, असत्य व्यवहार, छल कपट, हिंसा, परहानि आदि कर्मों में सब ने एक मत होकर कहा कि अधर्म है। तब जिज्ञासु ने सब से कहा कि तुम इसी प्रकार सब जने एक मत होकर सत्य धर्म की उन्नति और मिथ्या मार्ग की हानि क्यों नहीं करते हो।

स्वामी जी के इन वाक्यों में एक बहुत गहरा तथ्य भरा हुआ है। धर्म के असली रूप के सम्बन्ध में सभी विचारक लगभग एक मत हैं। मतभेद है, अवान्तर बातों में। कहीं धर्म और अधर्म के जानने के साधनों पर मतभेद है तो कहीं उनके परिणामों की रूपरेखा का झगड़ा है। ऊपर के

खोल को लेकर सम्प्रदाय पैदा होते हैं। और सामाजिक रूढ़ियों की रक्षा के लिए भिन्न-भिन्न मतों तथा मठों की स्थापना होती है। जो अन्दर की सार वस्तु है वह धर्म है और वह सब जगह समान है।

धर्म के सर्वसम्मत अंगों की काफी लम्बी सूची बनाई जा सकती है।

यथा १. सत्य, २. दया, ३. दान, ४. अक्रोध, ५. संयम ब्रह्मचर्य, ६. शुद्धता ७. विश्वास, पति पत्नी की परस्पर वफादारी आदि।

अधर्म अर्थात् त्याज्य कर्मों की सर्वसम्मत सूचि बनाना भी कठिन नहीं है यथा—

१. झूठ, २. क्रूरता ३. स्वार्थ, ४. चोरी, ५. जूआ, ६. दुराचार, ७. गन्दगी, ८. मद्यपान आदि।

सचमुच यह आश्चर्यजनक बात है कि मनुष्य धर्म के आवश्यक कर्तव्यों के सम्बन्ध में एक मत होते हुए भी उसके बाह्य आवरणों के सम्बन्ध में इतना लड़ते झगड़ते और उत्पात मचाते हैं। स्पष्ट है कि मनुष्य के जीवन को ऊँचा बनाने वाले कर्तव्य कर्मों के सम्बन्ध में मतभेद न होने पर भी भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों और मतों की उत्पत्ति का कारण यह है कि असली वस्तु हमारे मन से निकल गई है। और सामने रह गई है उसकी केवल छाया जिसका दूसरा नाम रूढ़ि है। वस्तुतः रूढ़िवाद ही मतवाद और सम्प्रदायवाद की उत्पत्ति का कारण है।

धर्म क्या नहीं है ?

इतने विचार के अनन्तर अब हमारे लिए इस प्रश्न का उत्तर देना बहुत आसान हो गया है कि धर्म क्या नहीं है। धर्म के आवरणों और रूढ़ियों को धर्म मानने के कारण अनेक मत-मतान्तरों का जन्म हुआ है। धर्म वस्तुतः सत्कर्म है : भगवद्गीता में धर्म के लिये प्रायः कर्म शब्द का ही प्रयोग किया गया है। मनुस्मृति में भी वर्णों के प्रसंग में कर्म और धर्म का पर्यायवाची के रूप में प्रयोग हुआ है। वस्तुतः मनुष्य के अच्छे या बुरे कर्म ही धर्म और अधर्म हैं। उनके प्रेरक कारणों या कल्पित परि- णामों के बारे में मतभेद हो सकता है। जो वास्तविक धर्म है उस पर सब लोग सहमत हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं, कि केवल मन्तव्यों का एक समुदाय धर्म नहीं है। "रिलिजन" या मजहब शब्दों को धर्म का पर्यायवाची मानना शब्द-शास्त्र से अनभिज्ञता प्रकट करना है। अंग्रेजी भाषा के कोषों के अनुसार रिलिजन शब्द का अर्थ है, होलीनेस, हम उसे पवित्रता कहेंगे;डिवीशन, हम उसे भक्ति कहेंगे तथा स्पिरिच्युएलिटी, हम उसे आध्यात्मिकता कहेंगे।

ये तीनों धर्म के अंग या दृश्यमान रूप हो सकते हैं। परन्तु इन्हें धर्म का पर्यायवाची कहना एक किरण को सूर्य कहने के समान होगा। धर्म और सत्कर्म शब्द पर्यायवाची हो सकते हैं, क्योंकि दोनों का अभिप्राय एक ही है।

मत, क्रीड या सम्प्रदाय, सैक्ट को भी धर्म नहीं माना जा सकता। किन्हीं विषयों पर विशेष प्रकार के विचार रखना एक बात है, सदाचारी या धार्मिक होना दूसरी बात। क्या इससे इन्कार किया जा सकता है कि प्रत्येक देश और प्रत्येक जाति में, प्रत्येक मत और सम्प्रदाय में धर्मात्मा लोग भी हुए हैं और पापी भी। धर्मात्मा या अधर्मात्मा भौतिक अथवा मनोवैज्ञानिक विषयों के सम्बन्ध में किसी मन्तव्य परम्परा तक सीमित नहीं हैं।

यह मानना पड़ेगा कि किसी वर्ग में भ्रम पूर्ण या अन्याय पर आश्रित विचार परम्परा का गहरा प्रभाव पड़ता है। जैसे बाल विवाह, बहु विवाह, छूआछूत, विलासी जीवन की उच्चता में विश्वास, मद्यपान आदि प्रथाएँ जब समाज में धर्म का अंग मानकर चालू हो जाती है, तब समाज का धार्मिक स्तर बहुत नीचा हो जाता है। जो धर्म के वास्तविक रूप को न पहिचानने का परिणाम होता है। "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" यदि धर्म को कसौटी पर कसकर देखा जाए तो प्रतीत होगा कि सामाजिक कुरीतियों का जन्म धर्म सम्बन्धी भ्रान्त धारणाओं के कारण ही होता है।

यह मानना या कहना सर्वथा भ्रममूलक है कि संसार में अनेक धर्म प्रचलित हैं, संसार में अनेक मत हैं, अनेक सम्प्रदाय है, और अनेक वाद हैं। परन्तु धर्म एकसा है। सत्य बोलना, चोरी न करना, सब पर दया करना, मनुष्य को मनुष्य समझना, स्त्रियों, निर्बलों या गरीबों पर अत्याचार न करना, सभी जगह अच्छा समझा जाता है और इनके विपरीत सब जगह बुरा समझा जाता है। मनुष्य जब अपने बुद्धि बल से अपनी निर्बलताओं और कुप्रवृत्तियों का समर्थन करना चाहता है, तब वह मतमतान्तरों की कल्पना करता है, और उस पर धर्म का बिल्ला लगा देता है।

समाज सेवा और आध्यात्मिक साधना

श्री रंगनाथ रामचन्द्र जी दिवाकर भूतपूर्व राज्यपाल, विहार

आध्यात्मिक साधना का सनातन उद्देश्य है, आभ्यन्तरिक उस परमोच्च निर्विकार स्थिति को प्राप्त करना जहाँ व्यक्तिगत चेतना समष्टि चेतना में लीन हो जाती है। यह स्थिति हमारी साधना का वांछित फल है। यह एक प्रकार का शाश्वत आत्यन्तिक परमानन्द है एवं परम शान्ति की स्थिति है, जिसमें शरीर एवं जीव को स्पर्श करने वाली घटनाओं तथा प्रभावों से विकार नहीं उत्पन्न होता। यही "समाधि" अथवा परमानन्द की प्राप्ति है। ऐसी स्थिति केवल कभी कभी न प्राप्त होकर यदि लगातार बनी रहे तो उसे सहज समाधि कहते हैं। इस दशा में व्यक्ति एक प्रकार से उभयमुख चेतनाशील हो जाता है। आभ्यन्तर शान्ति के निरन्तर स्थिर रहते हुए व्यक्ति को अपने शरीर और मन की क्रियाओं का भी ज्ञान बना रहता है, किंतु इनसे विचलित हुए बिना वह केवल द्रष्टा रूप से इन्हें केवल दर्पण स्थित प्रतिबिम्ब के समान देखता है।

इसे मनुष्य के द्वारा लभ्य मानव चेतना की सबसे ऊँची स्थिति कह सकते हैं। इसे चरम चेतन अवस्था भी कह सकते हैं, जहां पहुँचकर मनुष्य मार्ग में मिले हुए चेतना के विभिन्न स्तरों पर एक प्रकार का अधिकार सा पा जाता है।

अनादिकाल से चेतना की इस स्थिति को पाने के लिए उपासना या साधना नाम के जो उपाय काम में लाये गये हैं वे सुविख्यात मार्ग जिनकी स्पष्ट व्याख्या तथा निरूपण हुआ है; योग के हठ, राज, कर्म, भक्ति और ज्ञान ये पांच प्रकार हैं। यहां मैं यह देखने की चेष्टा करूंगा कि किस रूप में किन परिस्थितियों में और कितनी दूर तक समाज-सेवा मनुष्य की इस सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त करने में सहायक बन सकती है।

उपर्युक्त प्रश्न के अन्तर में प्रवेश करने से पहले यह कह देना उचित होगा कि किसी भी व्यक्ति के द्वारा प्राप्त की जा सकने वाली पूर्वकथित सर्वोच्च स्थिति के दो स्वरूप हैं। एक तो व्यक्तिगत और दूसरा सामाजिक। व्यक्तिगत स्वरूप तो इस नाते स्पष्ट ही है, कि मनुष्य को प्राप्त

हो सकने वाली वही सर्वोच्च स्थिति है। अतएव हम में से सर्वाधिक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति के लिये भी वह सन्तोष की वस्तु है। किन्तु ऐसा व्यक्ति जहां जन्म लेकर बड़ा होता है, और जो उपर्युक्त वातावरण से उसकी साधना में सहयोग प्रदान करता है उस समाज का भी उस पर कुछ अधिकार है। समाज को यह कहने का पूरा अधिकार है कि उस व्यक्ति को चाहिये, कि उसने जिससे जो पाया है, उसको वह भर दे। समाज अथवा मानवजाति उससे न्याय पूर्वक यह मांग कर सकती है, कि उस व्यक्ति को दो रूप से सेवा करने में समर्थ होना चाहिए। चाहे तो जहां तक वह स्वयं पहुंचा है, उसी ध्येय तक दूसरे अधिकारी व्यक्तियों को ले चले, अथवा साधारण मनुष्य की दृष्टि से नहीं वरन् सिद्ध पुरुषों की दृष्टि से जो सामाजिक भार उस पर आता है उसको वहन करे। सिद्ध को उसके कर्त्तव्य बताना कुछ अटपटी-सी बात लगती है, क्योंकि वह स्वय ही नियमों का मूर्तिमान् स्वरूप होता है। फिर भी इस प्रकार की स्थिति का दिग्दर्शन करा देना आवश्यक है, क्योंकि यहाँ एक प्रकार का यह भ्रम फल रहा है, कि सिद्ध का कोई समाजिक स्वरूप है ही नहीं। समाज कह सकता है कि यदि कोई व्यक्ति आभ्यन्तरिक एकतानता का आनन्द लेता है, परन्तु जिस समाज ने उसके लिए यह आनन्द प्राप्त करना सम्भव किया है, उसकी सुधि वह नहीं लेता, तो समाज को उससे क्या लाभ, वह तो अपनी समस्त पूंजी का स्वयं उपयोग करने वाले धनी के समान है। अथवा वह एक अफीम खाने वाले के तुल्य है, जो अपनी पिनक में पड़ा हुआ इस कल्पना में ही मस्त रहता है, कि वह दिव्य आनन्द लूट रहा है। जो कुछ भी हो, मनुष्य है एक सामाजिक प्राणी और वह जो कुछ करता है या नहीं करता, उसके सामाजिक स्वरूप का विधि निषेध की नीति पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इस दृष्टिकोण से देखने पर व्यक्ति और समाज सेवा का दोनों के लिये आध्यात्मिक साधना के रूप में समाज सेवा का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। इसी से लोकसंग्रह के लिए भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं कर्तव्य के प्रति सावधान रहने की बात गीता के तीसरे अध्याय में कही है। देखिये गीता ३: २० से २५।

समाज सेवा पद का बड़ा व्यापक अर्थ है। सम्बन्धित व्यक्ति और व्यक्तियों को शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक लाभ पहुँचाने की दृष्टि से एवं अर्थोपार्जन की भावना से शून्य, समाज के लोगों के प्रति की गई किसी भी सेवा को हम इसमें गिन सकते हैं। शुद्ध प्रेम से ही ऐसी सेवा की प्रेरणा मिलती है और बिना किसी बदले की आशा से यह सेवा केवल सेवा के लिए ही होती है। समाज सेवा के उच्चतम रूप की तुलना उस सेवा से की जा सकती है, जो माता शिशु को प्रदान करती है। ऐसा हो सकता है, कि ऐसे व्यक्तियों को कभी कुछ दिया भी जाता हो, किन्तु उनका उद्देश्य तो केवल सेवा ही करना होता है पारिश्रमिक लेना नहीं। श्रमिक अपनी मजदूरी का सदा ही अधिकारी है, और सबसे बड़ी बात तो यह है कि सेवा के लिए उसे जीवित तो रहना है। अतः व्यक्ति को कुछ पारिश्रमिक मिलता है या नहीं, इसकी अपेक्षा इस प्रसंग में अधिक महत्व की बात यह है कि वह किस भावना या वृत्ति से समाज सेवा करता है। निस्संदेह यदि कोई व्यक्ति ऐसी स्थिति में है कि वह बिना पारिश्रमिक लिये समाज सेवा कर सकता है तो काम बहुत सरल हो जाता है, और असदिग्ध रूप से यह बात सिद्ध हो जाती है कि वह व्यक्ति बदले में

धन पाने का इच्छुक नहीं हैं, किन्तु यह सम्भव भी है कि कोई व्यक्ति धन के अतिरिक्त अन्य उद्देश्यों से सेवा करता हो। कुछ नाम और यश के लिए कर सकते हैं, कुछ अधिकारप्राप्ति के लिए और कुछ दूसरे अन्य बाह्य उद्देश्यों की सिद्धि के लिये। कुछ लोग चलन या प्रथा के प्रवाह में पड़कर भी सेवा में लग जाते हैं या कुछ समाज का ऋण उतारने के लिए। कहना नहीं होगा कि ऐसी कोई भी सकाम सेवा आध्यात्मिक साधना की सहायक नहीं हो सकती।

यदि समाज सेवा को सेवा करने वाले की आध्यात्मिक उन्नति का एक द्वार बनाना है तो यह नितान्त आवश्यक है कि उसमें कोई और सूत्र न बंधे हों। ऐसी सेवा का प्रवाह समग्र मानवता के साथ एकात्मता के बोध और प्रेम से होना चाहिए। वास्तव में ऐसी स्थिति में तो प्रेम एकात्मता से भी बहुत कुछ अधिक है। उदाहरणार्थ माता शिशु के लिए अपने सोलहों आने बलिदान कर सकती है, किन्तु अपने लिये नहीं। मनुष्य अपने ही लिये अपना जीवन उत्सर्ग नहीं कर सकता। क्योंकि फिर तो बलिदान के उद्देश्य पर ही पानी फिर जाता है। किन्तु प्रेम प्रेरित सेवा में मनुष्य दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों के लिये अपना जीवन तक दे सकता है। अतः ऐसी स्थितियों में एकात्मता के बोध से भी कुछ अधिक विशेषता रहती है। जो हो इतना स्पष्ट है और इसकी दृष्टि से कोई भी मूल्य चुकाना मंहगा नहीं, चाहे वह पूर्णोत्सर्ग हो सब कुछ स्वाहा कर देना ही क्यों न हो।

मां के सम्बन्ध में शिशु के लिये एकात्मता की भावना स्वाभाविक होती है, वह किसी साधना की अपेक्षा नहीं रखती, पर किसी और को तो दूसरे के प्रति प्रेम जागृत करना पड़ता है, और धीरे-धीरे इस बात को सीखना और हृदयगम करना होता है कि सभी जीव एक हैं। मानवता के साथ एकात्मता का बोध केवल ऐसी ही साधना का परिणाम हो सकता है। बस, इसी अवस्था में मनुष्य का समाज के साथ एकीकरण हो जाता है। तथा वह यह अनुभव करने लगता है कि समाज और वह दो भिन्न सत्ता नहीं हैं। यह स्थिति फिर स्वार्थ की एकता को जन्म देती है, और इस ऊँची अवस्था को प्राप्त पुरुष जो कुछ भी करता है वह स्वयमेव उच्चतम दृष्टि से आध्यात्मिक होता है।

गीता ऐसे व्यक्ति को सब प्राणियों का, सारे संसार का भला करना बताती है। 'सर्वभूत-हिते रतः" इस प्रकार सबके साथ अपनी एकता स्थापित करने वाले व्यक्ति की दो अवस्थाओं का वर्णन ईशावास्योपनिषद् करता है। जो पुरुष सब प्राणियों को आत्मा में देखता है, और आत्मा को सब प्राणियों में देखता है, वह निर्भय हो जाता है, और अपनी रक्षा करने की कोई भी चिन्ता नहीं करता। *दूसरी अवस्था उस व्यक्ति की है, जिसने पूर्ण एकता स्थापित कर ली है। जिस महापुरुष की दृष्टि में सब भूत प्राणी उसी के अपने स्वरूप हो चुकते हैं और जो केवल एक को ही देखता है, उसके लिए कौन सा मोह और शोक रह जाता है। अर्थात् वह समस्त भ्रमों तथा दुःखों से परे पहुँच गया है।

---

*यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ ई० उ० ६.

यह वास्तव में आध्यात्मिक अनुभूति की चरम सीमा है। दूसरे की प्रेमजन्य निःस्वार्थ सेवा से आरम्भ करके यह स्थिति क्रमशः प्राप्त की जा सकती है। निःस्वार्थ समाज सेवा के मार्ग में मनुष्य जितना ही आगे बढ़ता है, उतनी ही समस्त मानव समाज के साथ एकता की अनुभूति भी उसके निकट होती जाती है।

क्रमशः व्यक्तित्व का लोप होकर विश्वैकात्मता की झलक मिलने लगती है। फिर तो जो कुछ किया जाता है वह हमें एक पग उस ओर ले चलता है जहां सर्वव्यापी की सर्वकालीन उपस्थिति का भान होता रहता है, तथा उसके प्रति समर्पण होता रहता है। मानवता को परमात्मा के प्रतिबिम्ब के रूप में देखकर इसी क्रम से कोई भी उस उच्च स्थिति को प्राप्त कर सकता है। परमात्मा हमसे इस बात की अपेक्षा रखता है कि प्रीतियुक्त सेवा तथा पूर्ण बलिदान करते-करते हम अपने को मिटा दें। तब हमारा अपना अस्तित्व एकदम विलीन हो जायेगा, पर हम सच्चिदानन्दमय परमात्मा के रूप में अपने को पायेंगें। साधारण समाज सेवा के कार्यों से आरम्भ होकर उचित पथ-प्रदर्शन मिलने पर ऐसी वस्तु बन सकती है, जो मनुष्य को ऊँचा चढ़ाते-चढ़ाते उस स्तर तक ले जा सके, जो मनुष्य द्वारा प्राप्य ऊँची से ऊंची आध्यात्मिक स्थिति है।
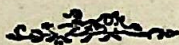
'वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु' (यजु० ३०।१)

हे वाणी के पति हमारी वाणी को मधुर बनाओ।

शिक्षा और स्वाध्याय

बाबू पूर्णचन्द्र जी एडवोकेट प्रधान सार्वदेशिक सभा

श्रीयुत गंगाप्रसाद जी, चीफ जज व श्रीयुत पं० गंगा प्रसाद जी उपाध्याय के जीवन की विशेषता स्वाध्याय की लग्न और साहित्य प्रकाशन रहा है। इन का अभिनन्दन मेरी दृष्टि में इसी प्रकार हो सकता है कि शिक्षा और स्वाध्याय की समस्या पर हम सब गम्भीरता से मनन करें और इन दोनों महानुभावों के जीवन से शिक्षा लेकर स्वाध्याय की प्रणाली ठीक करें और शिक्षा के स्वरूप को समझकर शिक्षा के उचित रूप को प्रचलित कराने का यत्न करें। महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में ईश्वर के नामों की विवेचना के पश्चात् जब दूसरे सम्मुल्लास में मानव निर्माण और समाज निर्माण की विधि पर विचार करना आरम्भ किया तो सब से पहले शिक्षा की समस्या पर ही विचार प्रकट किये। मैंने भी इस लेख में शिक्षा और स्वाध्याय के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत किये हैं। राष्ट्र के संचालकों के सम्मुख प्रचलित शिक्षा की पद्धति में आवश्यक परिवर्तन करने का प्रश्त विचाराधीन है। इस लेख में शिक्षा संचालकों के लिए भी सामग्री प्रस्तुत की गई है।

विचारणीय प्रश्न यह है कि वर्तमान समय में भी शिक्षा की पद्धतिमें जो सुधार दृष्टि-गोचर होते हैं उन पर महर्षि दयानन्द की छाप है। शिक्षा का अनिवार्य और निःशुल्क होना, मातृ-भाषा का माध्यम होना, शिक्षा का सर्वांग पूर्ण होना, धार्मिक शिक्षा का आवश्यक होना, शिक्षा का माता के गर्भ से आरम्भ होना, यह सब परिवर्तन महर्षि के प्रचार के पश्चात् के हैं और इन पर महर्षि की छाप है। जहाँ तक इनका पालन किया गयाहै थोड़ा सा सुधार दिखाई देता है। एक आवश्यक अर्थात् सहशिक्षा के सम्बन्ध में ऋषि की चेतावनी की अवहेलना की जा रही है और इस का परिणाम बड़ा भयंकर दिखाई दे रहा है।

इन सब समस्याओं पर ऋषि के आदेश के अनुसार निष्पक्ष भाव से विचार होना चाहिए। ऋषि दयानन्द दीक्षा शताब्दी से भी इस विषय का घनिष्ठ सम्बन्ध है। विद्यार्थियों में अनुशासन

लाने की भावना ही इस से सम्बन्धित है।

स्वाध्याय

जीवात्मा को उन्नत बनाने के लिये और ज्ञान प्राप्ति के लिए स्वाध्याय के प्रश्न को समझ लेना बड़ा आवश्यक है। स्वाध्याय का सम्बन्ध शिक्षा से है। शिक्षा सम्बन्धी निम्नलिखित प्रश्न विचारणीय हैं।

(१) शिक्षा का अभिप्राय क्या है।
(२) शिक्षा कब आरम्भ होनी चाहिए।
(३) शिक्षा का माध्यम क्या हो।
(४) शिक्षा के कौन-कौन से आवश्यक अंग हैं।
(५) शिक्षा-प्राप्ति के दिनों में विद्यार्थियों की दिनचर्या कैसी होनी चाहिये।
(६) शिक्षा-प्राप्ति की अवधि कब तक है।
(७) शिक्षा के प्रबन्ध में क्या बालक और बालिकाओं की शिक्षा का प्रबन्ध अलग-अलग होना चाहिये या साथ-साथ ?
(८) शिक्षा में यह प्रश्न भी आवश्यक है कि क्या पढ़ना है और क्या नहीं पढ़ना है।
(९) शिक्षा किसी आयु पर समाप्त हो जाती है या इसका किसी न किसी रूप में जीवन पर्यन्त जारी रहना आवश्यक है।
(१०) शिक्षा पर राज-सत्ता का कितना अधिकार है।
(११) शिक्षा का जीवन के अन्य विभागों से क्या सम्बन्ध है।
(१२) शिक्षा देते समय शिक्षकों का लक्ष्य क्या होना चाहिए।

इसी प्रकार के शिक्षा-सम्बन्धी अनेक प्रश्न विचारणीय हैं। शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य की शक्तियों को विकसित करना है। मनुष्य के अन्दर पूर्व जन्म के पुरुषार्थ के अनुसार ज्ञान-प्राप्ति के लिए गुप्त शक्तियां रहती हैं। शिक्षा का अभिप्राय उन शक्तियों को प्रकट कर देना है। शिक्षा कोई बाहर से ठूंसी जाने वाली चीज नहीं है। शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थी की अप्रकट शक्तियों को प्रकट कर देना है। मनुष्य का सारा जीवन शिक्षा के लिये है। जीवात्मा का स्वाभाविक गुण ज्ञान है, और ज्ञान का विकास शिक्षा से हो सकता है।

मनुष्य को बुद्धि समझने के लिए दी गई है और ज्ञानेन्द्रियां ज्ञान-प्राप्ति के लिये। जब तक जीव और शरीर का सम्बन्ध है, यह ज्ञान-प्राप्ति और ज्ञान वृद्धि की शृंखला बराबर जारी रहनी चाहिए। यदि यह शृंखला बन्द हो जाय तो समझ लो कि मृत्यु के चिह्न हैं।

शिक्षा के आरम्भ का समय

संसार के सब विचारक इस बात पर सहमत हैं, कि शिक्षा जल्दी से जल्दी आरम्भ हो जानी चाहिये। बिना शिक्षा बालक की आयु के दिन जितने कम व्यतीत हों उतना ही अच्छा है।

बाल-अवस्था में बालक का हृदय कोमल और मस्तिष्क पवित्र होता है। उस समय उस पर शिक्षा और दीक्षा का प्रभाव शीघ्र और स्थायी होता है। जब अवस्था बढ़ने लगती है तो संसार के बाहर के पदार्थ उसके मस्तिष्क और हृदय पर अपना प्रभाव डालने लगते हैं, और फिर इन बाहरी आवरणों के कारण उसकी स्वाभाविक शक्तियों को विकसित करना कठिन होता है।

पहले शिक्षा पाठशालाओं और मकतबों से आरम्भ होती थी, अब किन्डर गार्डन सिस्टम प्रचलित हो चला है, अर्थात् छोटे-छोटे बच्चों को चित्रों और खिलौनों के आधार पर मनोरंजन की दृष्टि से शिक्षा दी जाती है। परन्तु सब से पूरा शिक्षा का नियम वह है जब शिक्षा माता के गर्भ से ही आरम्भ हो जावे। प्राचीन वैदिक प्रणाली के अनुसार माता के लिए ऐसे आदेश हैं, जिनके पालन करने से बालक की गर्भ में ही शिक्षा आरम्भ हो जाती है। माता के विचार, आचार और व्यवहार का गर्भ-गत बालक पर प्रभाव पड़ता है। ऋषि दयानन्द ने इस सचाई की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया और अब शिक्षा जगत् के बहुत से विचारक ऋषि दयानन्द से सहमत हैं। मनुष्य बनाने की योजना माता के गर्भ से ही आरम्भ हो जानी चाहिये।

जब माता के गर्भ से ही बालकों को उन्नत बनने का कार्य आरम्भ होगा, तब वे बालक वास्तविक रूप में सच्चे पुरुषार्थी बनेंगे और अपने पुरुषार्थ से अपने भाग्य का निर्माण कर सकेंगे। बालक के गर्भ में होने की दशा में माता को बहुत सचेत होने की आवश्यकता है। उसे काम, क्रोध लोभ, मोह और मद के विचारों से बचे रहना चाहिये तथा शौच और तप से अपने जीवन को पवित्र रखना चाहिए। साथ ही अपने व्यवहार में ब्रह्मचर्य और अहिंसा का पालन करना चाहिये।

शिक्षा और उसका माध्यम

शिक्षा और भाषा का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। भाषा शिक्षा प्राप्ति का साधन है। Language is the vehicle of thought अर्थात् भाषा विचारों का वाहन है। बिना भाषा के कोई भी विचार हमारे अन्दर नहीं पहुंच सकते। हम एकान्त में बैठे हुए भी बिना भाषा के विचार नहीं कर सकते। जिन्होंने भाषा सम्बन्धी विज्ञान पर विचार किया है, वे भाषा के महत्त्व को जानते हैं। सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने ज्ञान प्रदान करने के लिए न केवल विचार दिये, बल्कि भाषा भी दी।

इस प्रश्न पर हमने अपनी "ज्ञान की उत्पत्ति" नाम की छोटी सी पुस्तक में विचार किया है। यहाँ इस सम्बन्ध में केवल संकेत मात्र देना पर्याप्त है।

भाषा विचारों को एक व्यक्ति से दूसरे तक पहुँचाने का साधन है। साधन का सुगम और सरल होना आवश्यक है। यदि साधन कठिन और क्लिष्ट हुआ, तो शक्ति साधन के उपयोग में ही व्यय हो जायगी और लक्ष्य तक पहुंचने में बाधा पड़ेगी। बालक के लिये शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा होनी चाहिये, क्योंकि हर एक बालक उसको सबसे अधिक सरलता से सीख सकता है। जब मातृभाषा के सहारे बालक की शिक्षा आरम्भ हो और वह कुछ विचारों को अन्दर धारण कर

सके, तब वह आगे चलकर अपने ज्ञान की वृद्धि के अभिप्राय से अन्य भाषाएँ भी सीख सकता है, और उसको सीखनी भी चाहिये। अब सब विद्वान् इस पर सहमत हैं कि मातृ भाषा द्वारा शिक्षा होनी चाहिये। अनेक प्रकार की शिक्षा प्रणालियों में इस प्रथा की परीक्षा की जा रही है। आर्य समाज ने भारतवर्ष में सबसे पहले इस आवाज को उठाया और आज दूसरे लोग भी इसका अनुमोदन कर रहे हैं। सरकारी विद्यालयों में भी दसवीं कक्षा तक कई विषयों में शिक्षा का माध्यम मातृभाषा मान ली है और नवीन बाड़ी Scheme में इस बात पर बहुत अधिक बल दिया गया है।

शिक्षा और उसके अंग

शिक्षा जीवन भर की तैयारी के लिए है वह सर्वांग पूर्ण होनी चाहिए। सदाचार और ब्रह्मचर्य शिक्षा के आवश्यक अंग हैं। शिक्षा की Scheme में शारीरिक उन्नति, मानसिक उन्नति, सामाजिक उन्नति और आत्मिक उन्नति इन सब पर ध्यान रखना चाहिये। शिक्षा के समय में शरीर भी पुष्ट और बलवान् हो तथा मन भी शुद्ध एवं पवित्र हो।

व्यावहारिक जीवन को सफल बनाने के लिए भी शिक्षा मिलनी चाहिये। शिक्षा का और गृहस्थाश्रम का घनिष्ठ सम्बन्ध है। गृहस्थाश्रम को सुखी बनाना भी शिक्षा की सफलता पर निर्भर है। गृहस्थाश्रम की सफलता आर्थिक प्रश्न के समाधान पर निर्भर है। आर्थिक प्रश्न का और व्यवसाय का सम्बन्ध है। इसलिये व्यवसाय सम्बन्धी शिक्षा भी होनी चाहिये।

धार्मिक शिक्षा के बिना कोई शिक्षा की Scheme परिपूर्ण नहीं हो सकती। धार्मिक जीवन का सम्बन्ध हमारे विचार, आचार और व्यवहार सब से है। शिक्षा के समय धार्मिक शिक्षा के सम्बन्ध में उदासीन रहना अत्यन्त हानिकारक है। Secular Education अर्थात् केवल दुनिया सम्बन्धी शिक्षा अधूरी ही नहीं हानिकारक भी है। इसलिये शिक्षा सर्वांगपूर्ण होनी चाहिये। जिससे जीवात्मा पूर्ण रुप से विकास प्राप्त करने के योग्य बने। शिक्षा में किसी भी आवश्यक अंग की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। आज पश्चिमी जगत् में "Intellectual devils" अर्थात् दिमागी शैतान बहुत दृष्टिगोचर होते हैं। पढ़े लिखे हैं, परन्तु उनके आचार और विचार अपवित्र एवं भ्रष्ट हैं। शिक्षा एक हथियार है वह दूसरों के और अपने उपकार के लिये भी उपयोग में आ सकता है और अपने और दूसरे के प्रतिकूल भी उसका प्रयोग किया जा सकता है। तलवार से मित्र की रक्षा भी हो सकती है और शत्रु का गला भी काटा जा सकता है।

कहते हैं कि प्राचीन काल में रावण बहुत विद्वान् था। उसमें दस आदमियों के बराबर मानसिक शक्ति या विद्या थी, इसलिये उस के दस सिर माने जाते हैं, परन्तु आचार भ्रष्ट होने के कारण उसको राक्षस की उपाधि मिली। एक नहीं ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। व्यवसाय में भी धार्मिक विचारों की आवश्यकता है। बिना धार्मिक विचारों के हमें जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती।

दिमाग और शरीर की साथ-साथ उन्नति होनी चाहिये। रोगी शरीर और अच्छे दिमाग

का मेल ठीक नहीं चलता। पहलवानों का सा शरीर और मूर्खों का सा मस्तिष्क भी बेमेल रहते हैं। स्वस्थ शरीर और स्वस्थ मस्तिष्क सफल जीवन के लिये दोनों ही आवश्यक हैं। सदाचार की वृत्ति के लिये शिक्षा प्राप्त करने के समय में ब्रह्मचर्य का पालन करना परम आवश्यक है। ब्रह्मचर्य पालन के लिए एकान्तवास और सादा जीवन आवश्यक है। ब्रह्मचर्य पालन की दृष्टि से बालक और बालिकाओं की शिक्षा का प्रबन्ध पृथक्-पृथक् होना चाहिये।

शिक्षा और विद्यार्थी की दिनचर्या

इस प्रश्न का समाधान इससे पहले प्रश्न के समाधान में बहुत कुछ हो चुका है।

ब्रह्मचर्य पालन, शारीरिक व्यायाम, सादा जीवन, एकान्तवास, ईश्वर की उपासना और परस्पर का प्रेम यह शिक्षा के समय पालन करने के लिये मुख्य-मुख्य बातें हैं। इन में एक की भी अवहेलना करनी हितकर नहीं है।

शिक्षा प्राप्ति की अवधि

शिक्षा प्राप्ति की अवधि का समय आश्रम मर्यादा के प्रश्न से सम्बन्धित है।

बालक और बालिकाओं के जीवन का उद्देश्य भिन्न-भिन्न है। इस प्रश्न पर आगे विचार होगा यहां अवधि के विषय में यह लिख देना पर्याप्त है कि बालक और बालिकाओं के लिये अवधि भी भिन्न है। बालकों के लिये २५ साल की अवधि है और बालिकाओं के लिए १६ साल की।

यह अवधि विशेष रूप से शिक्षा प्राप्त करने के लिये है। वैसे तो जीवन भर शिक्षा प्राप्त करते रहना है, जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं। यह अवधि जीवन भर के लिये पर्याप्त शक्ति संचयन के लिये है।

Co-education अर्थात् क्या बालक और बालिकाओं की शिक्षा साथ-साथ होनी चाहिये

यह प्रश्न बहुत आवश्यक है। पश्चिमी जगत् में (Co-education) की प्रणाली के अनुसार शिक्षा का प्रबन्ध किया गया है, और आज इसका भयंकर परिणाम वह भुगत रहे हैं। (Justice Lindsay) की किताब पढ़ने से वहां का पता चलता है।

भारतवर्ष में भी अब यह प्रथा चल पड़ी। इस प्रथा से जो हानियां होने की सम्भावना है, उन्हें हम नीचे लिखते हैं—

(१) ब्रह्मचर्य पालन में बाधा होगी।
(२) काम सम्बन्धी बुरे विचार बाल्यकाल से ही उत्पन्न होंगे।
(३) बालक और बालिकाओं के जीवन का क्षेत्र भिन्न-भिन्न है, इसलिये उनकी शिक्षा भी भिन्न-भिन्न प्रकार की और पृथक्-पृथक् होनी चाहिये। बालिकाओं को गृह-निर्माण का कार्य करना है और बालकों को बाहर की दुनिया में सफलता प्राप्त करनी है।
(४) बालिकायें कोमलता और दयालुता की प्रतिनिधि हैं। बालक तप और पराक्रम उपार्जन करने के लिये हैं।

(५) इनमें छोटे बड़े का प्रश्न नहीं है, अपने-अपने स्थान में स्त्री और पुरुष दोनों ही अपना-अपना महत्व रखते हैं। भिन्नता उद्देश्य की पूर्ति के दृष्टिकोण से हैं।

(६) इस समय भी वकील, डाक्टर और इन्जीनियरों की शिक्षा का प्रबन्ध पृथक्-पृथक् है और वह इसलिये कि उनके कार्य क्षेत्र भिन्न हैं। इसी प्रकार जब लड़के और लड़कियों के कार्य-क्षेत्र भिन्न रहते हैं, तो उनकी शिक्षा भी पृथक्-पृथक् होनी चाहिये।

Co-education स्वयं एक लम्बा प्रश्न है। इस पर एक पृथक् पुस्तक लिखी जा सकती है। यहां तो इस पर थोड़ा-सा विचार इसलिये किया गया है कि शिक्षा के प्रश्न से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

लड़के और लड़कियों के साथ-साथ पढ़ने से बालक की पुरुषार्थ की शक्ति अवश्य हीन होगी, और उनके भाग्य निर्माण के प्रश्न पर इसका बुरा प्रभाव पड़ेगा।

शिक्षा और पाठ्य विधि

शिक्षा और पाठ्य विधि का भी बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। दुनिया में जितने प्रकार के विचार और आचार हैं, उतने ही प्रकार के साहित्य या भाषा का ज्ञान हो जाता है तो मनुष्य अपने बुरे और भले दोनों प्रकार के विचार उस भाषा द्वारा प्रकट कर सकता है। मां-बहन की गाली भी भाषा की सहायता से दी जाती है और ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना भी भाषा की सहायता से होती है। संसार में ऐसी भी पुस्तकें हैं, जिन में काम, क्रोध, लोभ, मोह और मद सम्बन्धी बातें इतिहास के रूप में भरी पड़ी हैं, और ऐसी भी पुस्तकें हैं, जिन में शौच, तप, ब्रह्मचर्य और अहिंसा पर विचार किया गया है।

सदाचार को बढ़ाने वाली पुस्तकें भी हैं और दुराचार को बढ़ाने वाली भी। धर्म का उत्साह पैदा करने वाली पुस्तकें भी हैं और अधर्म की रुचि बढ़ाने वाली भी। पुस्तकें सत्य के विस्तार के लिये भी हैं और असत्य के प्रचार के लिये भी। साहित्य हर प्रकार का है। शिक्षा के लक्ष्य को दृष्टि में रखकर पाठ्य विधि निर्धारित होनी चाहिये।

मनुष्यों के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में बहुत सी बातें याद रखने और अनुकरण करने के योग्य होती हैं। और बहुत सी बातें भुला देने योग्य हैं। जो बातें अनुकरणीय और याद रखने योग्य हैं, उनको इतिहास द्वारा सुरक्षित रखने की आवश्यकता है, जो भूलने योग्य हैं, उनका उल्लेख इतिहास में नहीं होना चाहिये। समाचार पत्र इतिहास का दैनिक सस्करण हैं, अर्थात् जो रोज समाचारपत्रों में बातें छपती हैं, उनके ही आधार पर इतिहास बन सकता है। सम्प्रति समाचार पत्रों की भरमार है। समाचार पत्र पढ़ना और प्रकाशित करना वर्तमान सभ्यता के उच्च चिह्नों में से है। परन्तु यदि विचार की दृष्टि से देखा जाय तो इन समाचारपत्रों ने लाभ के साथ-साथ हानि भी बहुत की है। एक पाप जो एक छोटे से ग्राम में होता है, उसे यह देश भर में फैला देते हैं, न केवल पाप का विस्तार करते हैं, बल्कि उस पाप के करने की विधि को भी विस्तृत कर देते हैं। एक नवयुवक ने एक लड़की कैसे भगाई, यह समाचार पत्र फैला देते हैं।

उपन्यास, गल्प, कहानियाँ, सिनेमा और थियेटर इस प्रकार की त्रुटियों से भरे हुए हैं। दुनिया में प्रकाशन के लिये मशीनों का आविष्कार होने से हर प्रकार के साहित्य की वृद्धि में बड़ी सुगमता हो गई है। शिक्षा के काल में उन्हीं बातों को पढ़ने पढ़ाने का प्रबन्ध होना चाहिये जिनका सम्बन्ध धर्म, सदाचार, तप, ब्रह्मचर्य और अन्य सद् गुणों से हैं। जिस प्रकार के साहित्य द्वारा इन विचारों से प्रतिकूल परिणाम उत्पन्न होने की सम्भावना है, उसको शिक्षा में स्थान नहीं मिलना चाहिये। आजकल के विद्यार्थी उपन्यास बहुत पढ़ते हैं और सिनेमा इत्यादि में बहुत जाते हैं। इस का जो बुरा प्रभाव उनके जीवन पर पड़ता है, उसको कौन नहीं जानता। शिक्षा और गायन विद्या का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु गायन विद्या में भी उपर्युक्त विचारों को लक्ष्य में रखना आवश्यक है। कृत्रिम प्रेम सम्बन्धी काम उत्पादक गायन बहुत हानिकारक है। शिक्षा के समय में मनोरंजन का अर्थात् Recreation का प्रश्न भी एक आवश्यक प्रश्न है। शिक्षा प्राप्त करने में जिस प्रकार की शक्ति का ह्रास होता है, मनोरंजन की विधि में उसकी पूर्ति का प्रबन्ध होना चाहिये।

विद्यार्थी कहते हैं कि जब हम पढ़ते-पढ़ते थक जाते हैं तो Recreation के लिये Cinema में जाते हैं। पढ़ने में दिमाग की शक्ति काम में आती है। मनोरंजन के लिये वहाँ जाना चाहिये, जहाँ खर्च की हुई शक्ति पुनः उत्पन्न हो सके, जैसे शुद्ध स्थान में सैर हो, दरिया के किनारे घूमना हो और पर्वत की यात्रा हो अथवा पुष्टिकारक भोजन करना हो। अब होता यह है कि दिमाग की शक्ति पढ़ने में व्यय होती है, तो उसके स्थान में ऐसी बातें भरते हैं जिससे दिमाग और भी खराब हो। यदि किसी गाय और भैंस का दूध लेने के बाद उसे चारा और दाना न दिया जाकर उसका ही गोबर उसके अन्दर भर दिया जाये, तो क्या वह फिर दूध दे सकेगी।

यदि दूध निकाल कर विष दे दिया जावे, तो भैंस से दुबारा दूध मिलने की तो क्या आशा रहेगी, भैंस का ही अन्त हो जायगा। सम्प्रति विद्यार्थी जीवन में काम, क्रोध मोह रूपी विष का संचार Injection इन उपन्यासों, समाचारपत्रों और सिनेमा इत्यादि से होता है।

हम विद्यार्थी को कूप मण्डूक नहीं बनाना चाहते। हम उनमें अच्छी से अच्छी शिक्षा और दीक्षा प्रचलित करना चाहते हैं, परन्तु उनको उन विषैली बातों से सुरक्षित रखना है जिनका उल्लेख हमने ऊपर किया है।

शिक्षा और राज्य सत्ता

शिक्षा का उद्देश्य बालकों को योग्य बनाना है और मनुष्य बनाने की प्रथा का आरम्भ यहाँ से होता है। राज्य सत्ता का यह कर्तव्य है कि वह बालकों की शिक्षा की व्यवस्था करे। इसलिये शिक्षा Compulsory होनी चाहिये अर्थात् अनिवार्य हो। एक भी देश का बालक अथवा बालिका ऐसी न हो जो शिक्षा से वंचित रह जावे। शिक्षा के अनिवार्य होने के साथ-साथ उसका निःशुल्क Free होना भी आवश्यक है। बालकों की शिक्षा के व्यय का भार उनके माता-पिता और संरक्षकों पर नहीं पड़ना चाहिये। इससे शिक्षा के विस्तार में बड़ी कठिनाई उत्पन्न हो जाती है।

शिक्षा के समय में रहन-सहन इत्यादि के सम्बन्ध में एक समान व्यवहार सब श्रेणी के छात्रों के साथ होना चाहिये। आगामी जीवन में भेद-भाव मिटाने की यह सबसे उत्तम औषधि है।

यदि गरीब और अमीरों के बालक विद्यार्थी अवस्था में साथ-साथ प्रेम पूर्वक रहकर पढ़ेंगे तो आगामी जीवन में उनके हृदयों में एक दूसरे के प्रति घृणा के भाव स्थान न पा सकेंगे। रहन-सहन के प्रबन्ध में सादगी और ब्रह्मचर्य पालन पर ध्यान रखना चाहिये।

शिक्षा और जीवन के अन्य विभाग

शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को जीवन के प्रत्येक विभाग में सफल बनाने का है। इसलिये सर्वाङ्गपूर्ण शिक्षा वही होगी, जिसमें अर्थशास्त्र की दृष्टि से अर्थ प्राप्ति के साधनों पर भी बल दिया जायेगा। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष जीवन के चार उद्देश्य हैं। शिक्षा द्वारा मनुष्य को इन चारों के प्राप्त करने योग्य बनाना है। त्याग और भोग दोनों का समन्वय विद्यार्थी जीवन के समय से ही आरम्भ हो जाना चाहिये। त्याग उदासीनता उत्पन्न करने वाला न हो। धन उपार्जन करने की इच्छा उत्पन्न हो, परन्तु वह इच्छा लोभ और मोह के लांच्छन से परे हो। धन कमाने के लिये उत्साह उत्पन्न किया जावे, परन्तु साथ ही दान की रुचि भी उनके हृदय में उत्पन्न कर देनी चाहिये। धन और दान राष्ट्र को उन्नत बनाते हैं।

शिक्षा और शिक्षकों का लक्ष्य

शिक्षकों का यह कर्तव्य है कि वह शिक्षा के आरम्भ होते समय से लेकर शिक्षा के समाप्त होते समय तक विद्यार्थी की रुचि और उसके स्वभाव को समझने का यत्न करें। इस रुचि के समझने में उसके पूर्व जन्म के संस्कारों पर भी दृष्टि रखनी होगी। यदि बालक में स्वाध्याय का प्रेम है, और विद्या के अध्ययन में उसको विशेष सुगमता है, तो समझना चाहिये कि वह बालक ब्राह्मण का जीवन व्यतीत करने के लिये तैयार हो सकता है। यदि उसकी रुचि लड़ने-भिड़ने और प्रदर्शन में है, तो वह क्षत्रिय का जीवन व्यतीत करेगा। इसी प्रकार अन्य वर्णों के सम्बन्ध में समझना चाहिये।

शिक्षकों का लक्ष्य बालकों की रुचि को दृष्टि में रख कर उसके लिये अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न कर देना है। यदि शिक्षकों ने अपना लक्ष्य आरम्भ से ठीक बनाये रक्खा, तो मनुष्यों के पुरुषार्थ मर्यादा के अन्दर रहेंगे और उनके भाग्य का निर्माण ठीक-ठीक हो सकेगा। शिक्षकों का लक्ष्य बालकों को सफल और राष्ट्र को उन्नत बनाना है।

शिक्षा का कार्य बड़ा उच्च और पवित्र है। जैसे माता-पिता के स्वभाव और संस्कारों का प्रभाव पुत्र और पुत्रियों पर पड़ता है, इसी प्रकार आचार्य और गुरु के स्वभाव और व्यवहार का प्रभाव उनके शिष्यों पर पड़ता है। इसलिये शिक्षा का प्रश्न एक जटिल प्रश्न है। राष्ट्र को अच्छे अध्यापक और गुरुओं की महती आवश्यकता है। ये मनुष्य बनाने के सर्वोत्तम साधन हैं।

जीवन-मन्त्र के द्रष्टा

श्री नरेन्द्र जी भूतपूर्व प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा हैदराबाद

कठोपनिषद् का एक सूक्त-वचन है,

कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्

अर्थात् कोई बिरला, विलक्षण और बुद्धिमान् मनुष्य ऐसा होता है, जो आत्मसमीक्षण अथवा आत्म-पथ पर अग्रसर होता है।

इस सूक्त-वचन के सजीव, सहज, सरल प्रतीक अभिनन्द्य श्री पूज्य गंगाप्रसाद जी को मैं अपनी श्रद्धा की विनम्रतम और स्निग्धतम अंजलि प्रथमतः ही अर्पित करता हूँ।

वे आज आर्य सामाजिक जगत् में बहुत वयोवृद्ध व्यक्ति हैं। नव्वे वर्ष की ओर उनकी आयु अग्रसर है। उत्तर प्रदेशीय आर्य प्रतिनिधि सभा उनका अभिनन्दन आयोजन करके, अपने आप में ही गौरवान्वित हो रही है। जो व्यक्ति जीवन के परिशुद्ध पथ का क्रान्तदर्शी पथिक है, वह अपने युग और अपने समाज का भी न केवल स्रष्टा ही बनता है, अपितु युग और समाज की श्रद्धा का वह स्वयं पात्र भी होता है। कोई भी हो, चाहे वह व्यक्ति हो, संस्था, अथवा समाज हो, ऐसे गरिमाशाली व्यक्ति का सम्मान करके वह अपने आपको ही गौरवान्वित करता है।

अभिनन्द्य श्री बाबू गंगाप्रसाद जी का जीवन आरम्भ से ही और मानो जन्म से ही, एक आदर्श, नैष्ठिक आर्य पुरुष का जीवन रहा है। पाठशाला के बाल्य-काल से लेकर, इस अति वयोवृद्ध काल तक आपको आर्य समाज और आर्य धर्म के प्रति जितनी आस्था और लगन रही है और अभी भी है, उसका दूसरा उदाहरण सम्पूर्ण आर्य-जगत् में कदाचित् ही कोई हो।

इस अत्यन्त दीर्घावधि में बाबू जी ने पूर्ण एकान्त तापस भाव से, मनसा, वाचा, कर्मणा अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को आर्य धर्म का प्रतीक होने में प्रवृत्त किया है।

मैंने बाबू जी को बहुत सान्निध्य के साथ नहीं देखा है। मैं उनके विषय में व्यक्तिगत रूप से शायद कुछ भी तो नहीं जानता, पर इससे क्या होता है? और मैं तो कहूँगा कि व्यक्तिगत

परिचय अपने आप में कुछ भी महत्त्व नहीं रखता और इस सम्बन्ध में मेरी धारणा है कि व्यक्तिगत परिचय को परोक्ष में ही रहना चाहिए। मैंने बाबू जी को समष्टि रूप में, संस्थागत आधार पर, आर्य समाज की आधार भूत अनुप्रेरणा का एक स्तम्भ ही पाया है, और स्वयं मैं भी, उनकी इस चरितार्थता से अपने आपको अनेकानेक अंशों तथा दिशाओं में अनुप्रेरित कर सका हूं। मैंने अभी अभी व्यक्तिपत परिचय के प्रति अपनी वर्जना प्रकट की है, लेकिन बाबूजी के जीवन में जो एक सबसे बड़ा आर्य-सूत्र एकाकार हुआ है, वह यह है कि उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन को, अपनी एक-एक गति, एक-एक विधि और एक-एक भावना में नैष्ठिक आर्य के जीवन के अनुरूप ही व्यक्तिगतरूप में बना डाला है और कहीं भी रंच मात्र भी विकृति, विपरीतता अथवा गुंजाईश नहीं छोड़ी है। वे व्यक्तिगतरूप में कितने तपे हुए आर्य हैं, क्या कोई भी, आर्य समाजी इसकी ठीक-ठीक कल्पना भी कर सकेगा ? और कदाचित् इसी लिये वे आर्य समाज के मंच पर, आर्य समाज के जोर-शोर वाले आन्दोलनों में न के बरबर अग्रसर हुए हैं। पर यह नहीं कि वे आर्यसमाज की आन्दोलनात्मक प्रवृत्तियों के प्रति किसी प्रकार की दुराव भावना रखते हों, इस सम्बन्ध में उचित जो भी हो, इतना तो असंदिग्धभाव से कहा जा सकता है कि आन्दोलनात्मक प्रवृत्ति में अग्रसर होने से पूर्व तद्-विषयक आधार और गन्तव्य पर अपने आपको परिपुष्ट कर लेना चाहिए। प्रश्न होता है बड़े-बड़े आन्दोलनात्मक आयोजनों और उनके आयोजन कर्त्ताओं में आधारभूत कितनी निष्ठा होती है अथवा उनकी तद्विषयक आधारभूत उपलब्धियां क्या होती हैं ?

मैं उन बाबू जी के व्यक्तित्व और जीवन को पुनः-पुनः और हार्दिक भाव से अपनी आस्था, श्रद्धा, भावना, अर्पित करता हूँ जिन्होंने आर्यत्व के मूल मन्त्र को निर्लिप्त हो, नैष्ठिक भाव से अपने जीवन और व्यक्तित्व में ही साकार रूप में चरितार्थ कर दिखाया है।

और यह जो ऐसा व्यक्ति-जीवन है, मेरी बहुत-बहुत कामना है, हम सब आर्य बन्धु ही नहीं प्रत्येक व्यक्ति उससे अनुप्रेरित और अनुप्राणित हो और उस पर अग्रसर हो। यही तो किसी के अभिनन्दन का मर्म दर्शन है।

ईश्वर सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण भी है

श्री जगदेवसिंह जी शास्त्री सिद्धान्ती

महर्षि दयानन्द ने प्राचीन तत्ववेत्ता ऋषियों की आदर्श शैली पर ही दार्शनिक मन्तव्यों पर स्वतन्त्र विचार किया है। सत्यार्थ प्रकाश आदि ग्रन्थों में इस विचार की पुष्टि में कई स्थल उपलब्ध होते हैं। उन्हीं मन्तव्यों में से एक दार्शनिकतत्त्व पर आगे की कुछ पंक्तियों में विचार किया जाता है। विद्वज्जन सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करें।

परम्परा से यह सुना जाता है और नवीन दार्शनिक ग्रन्थों में पढ़ने को भी मिलता है कि ईश्वर की सिद्धि केवल अनुमान और शब्द प्रमाण से ही की जा सकती है, परन्तु ऋषि दयानन्द ने स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि ईश्वर सिद्धि में प्रत्यक्ष भी है।

ऋषि दयानन्द का मन्तव्य

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥ न्या० द० १।१।४॥

न्याय दर्शन के इस सूत्र का अर्थ सत्यार्थप्रकाश में दो स्थलों पर निम्नप्रकार से किया गया है—

(क)—"जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के साथ अव्यहित अर्थात् आवरण रहित सम्बन्ध होता है, इन्द्रियों के साथ मन का और मन के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है ··किन्तु जो अव्यपदेश्य, अव्यभिचारि और निश्चयात्मक ज्ञान हो उसको प्रत्यक्ष कहते हैं।"—३ समु०

(ख)—"जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण और मन का शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सुख, दुःख सत्यासत्यादि विषयों के साथ सम्बन्ध होने से ज्ञान उत्पन्न होता उसको प्रत्यक्ष कहते हैं, परन्तु वह निर्भ्रम हो।"—७ समु०

इन अर्थों को देते हुये ऋषि दयानन्द लिखते हैं—

१—"अब विचारना चाहिये कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है, गुणी का नहीं। जैसे चारों त्वचादि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथ्वी उस का आत्मा युक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है वैसे प्रत्यक्ष सृष्टि में रचना विशेष आदि ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है।"—समु०

२—"भूमि के रूपादि गुण ही को देख जान गुणों से अव्यवहित सम्बन्ध से पृथ्वी प्रत्यक्ष होती है वैसे इस सृष्टि में परमात्मा की रचना विशेष लिङ्ग देख के परमात्मा प्रत्यक्ष होता है।"—१२ समु०

सत्यार्थप्रकाश के अन्य स्थलों को भी देखिये—

३—"जब जीवात्मा शुद्ध हो के परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है तो उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं। जब परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है तो अनुमानादि से परमेश्वर के ज्ञान होने में क्या सन्देह है ?"—७ समु०

४—"अष्टाङ्ग योग से परमात्मा के समीपस्थ होने और उसको सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी रूप से प्रत्यक्ष करने के लिये जो-जो काम करना होता है वह वह सब करना चाहिये।"—७ समु०

५—" 'अयमात्मा ब्रह्म' अर्थात् समाधि दशा में जब योगी को परमेश्वर प्रत्यक्ष होता है तब वह कहता है कि यह जो मेरे में व्यापक है वही ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है।"—७ समु०

६—"अनादि परमात्मा को देखने का साधन शुद्धान्तःकरण, विद्या और योगभ्यास से पवित्रात्मा परमात्मा को प्रत्यक्ष देखता है।"- १२ समु०

७—"जो पापाचरणेच्छा समय में भय, शङ्का, लज्जा उत्पन्न होती है वह अन्तर्यामी परमात्मा की ओर से है, इस से भी परमात्मा प्रत्यक्ष होता।"—१२ समु०

८—"जीव और परमात्मा का विज्ञान गुण द्वारा होता है।"—७ समु०

इन उपर्युक्त स्थलों से अत्यन्त स्पष्ट है कि ऋषि दयानन्द ईश्वर सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण को मानते हैं।

वेद-वचन

१—तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ॥ ऋ० १।२२।२०

अर्थ—(सूरयः) महाविद्वान् योगी जन (विष्णोः) सर्वव्यापक ईश्वर के (तत्) उस (परमम्) अत्यन्त पवित्र (पदम्) मोक्षस्वरूप को (सदा) निरन्तर (पश्यन्ति) प्रत्यक्ष करते हैं। "पश्यन्ति" क्रिया से ईश्वर की प्रत्यक्षता सुस्पष्ट है।

२—यो विद्यात्'''ब्रह्म प्रत्यक्षम् ॥ अथर्व ६।६।१॥

अर्थ—(यः) जो समाधिस्थ योगी महात्मा (ब्रह्म) ईश्वर को (प्रत्यक्ष) प्रत्यक्ष=साक्षात् (विद्यात्) जानता है॥ इसी कारण ऋषि दयानन्द ने लिखा है कि जीव और ईश्वर का विज्ञान गुण द्वारा होता है। इस बात को "विद्यात्" क्रिया स्पष्ट करती है।

३—वेदाहमेतं पुरुषमादित्यवर्णम् ॥ यजु० ३१।१८॥

अर्थ—(अहम्) ईश्वरोपासक मैं (आदित्यवर्णम्) अखण्डज्ञान प्रकाशस्वरूप (एतम्) इस प्रत्यक्ष (पुरुषम्) सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापक परमात्मा को (वेद) जानता हूं। 'एतद्' पद से ईश्वर की प्रत्यक्षता सुलक्षित है।

४—यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।। यजु० ४०।६

अर्थ—(यः) जो तत्त्वद्रष्टा वैज्ञानिक योगी पुरुष (सर्वाणि-भूतानि) सम्पूर्ण चर+अचर जगत् को (आत्मनि-एव) परमेश्वर में ही व्याप्य रूप से स्थित (अनुपश्यति) अपने आत्मा सहित साक्षात् करता है। "अनुपश्यति" से स्पष्ट है कि प्रकृति, जीव और ईश्वर तीनों को जीव प्रत्यक्ष करता है।

उपनिषद्-वचन

ब्रह्म का साक्षात्कार=प्रत्यक्ष प्रतिपादन करने वाले आर्ष ग्रन्थों में उपनिषदों का स्थान बहुत ऊँचा है। इन में स्थल के स्थल इस विषयक भरे हुये हैं। साक्षी रूप केवल एक प्रमाण दिया जाता है—

१—त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ।। तै० उप०

अर्थ—हे परमेश्वर! (त्वम्-एव) तू ही (प्रत्यक्ष) प्रत्यक्ष रूप (ब्रह्म) सब से महान् (असि) हो। यहाँ प्रत्यक्ष पद का प्रयोग प्रत्यक्ष ही है।

शङ्का-समाधान

प्रश्न—पृथ्वी आदि पदार्थों में रूपादि गुण होते हैं, अतः चक्षु आदि इन्द्रियों से गुणों का ग्रहण हो कर पृथ्वी आदि गुणी का प्रत्यक्ष हो सकता है, परन्तु ईश्वर में रूपादि गुण न होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

उत्तर—श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। इन को ज्ञान के बाह्य करण कहा जाता है, क्योंकि इन से शब्दादि बाह्य गुणों का प्रत्यक्ष किया जाता है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को अन्तः करण कहते हैं, क्योंकि इनसे सुखादि आन्तरिक गुणों का प्रत्यक्ष होता है। इन चारों को एक नाम मन से भी कहा जाता है। त्वचा आदि बाह्य इन्द्रियों से आन्तरिक गुणी=सुख-दुःख, संकल्प-विकल्प, सत्य-असत्य आदि का ग्रहण नहीं हो सकता, इसीलिये अन्तःकरण मन की भी आवश्यकता है। इंद्रिय शब्द से मन का ग्रहण हो जाता है, केवल धर्म भेद होने से पृथक् ग्रहण किया जाता है। न्याय सूत्र में प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण में 'इंद्रिय' पद से बाह्य और अन्तः दोनों करणों=त्वचा आदि पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मन का ग्रहण होता है, इसीलिये मन शब्द का पृथक् वर्णन सूत्र में नहीं है। सुख, दुःख आदि आन्तरिक गुणों के प्रत्यक्ष को मानस प्रत्यक्ष कहा जाता है। ईश्वर के रचना विशेष, ज्ञानादि गुणों का भी मानस प्रत्यक्ष करके परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है। जीव और ईश्वर के प्रत्यक्ष को आत्मप्रत्यक्ष भी कह सकते हैं।

प्रश्न—ऋषि दयानन्द ने लिखा है कि "इस सृष्टि में परमात्मा की रचना विशेष लिङ्ग देखके परमात्मा प्रत्यक्ष होता है।" इस वाक्य में "लिङ्ग" पद के प्रयोग से यह प्रकट होता है कि लिङ्ग द्वारा लिङ्गी का ज्ञान अनुमान प्रमाण का विषय है, प्रत्यक्ष प्रमाण का नहीं। अतः परमात्मा के रचना विशेष ज्ञान लिङ्ग से परमात्मा लिङ्गी का अनुमान होता है, प्रत्यक्ष नहीं, जैसे घड़ी से घड़ीसाज़ का अनुमान होता है। घड़ी लिङ्ग है और घड़ीसाज लिङ्गी।

उत्तर—यह ठीक है कि लिङ्ग से लिङ्गी का अनुमान होता है, परन्तु यह अनिवार्य नहीं कि अनुमान ही हो, किन्तु लिङ्ग से प्रत्यक्ष भी होता है। जैसे किसी ने पूछा कि रामसिंह का मकान कौन सा है। उत्तर देने वाले ने कहा कि वह सामने वाला मकान, जिस पर 'ओम्-पताका' फहराती है, रामसिंह का ही है। यहां ओम् पताका लिङ्ग है और रामसिंह का मकान लिङ्गी है। पूछने वाले को दोनों प्रत्यक्ष हैं। पूछने वाले को "रामसिंह का मकान यही है"—इतना ही जानना था, जिस का ज्ञान उसको पताका से हो गया। लिङ्ग के पर्यायवाची शब्द लक्षण, चिह्न, अनुमान, हेतु, कारण, बीज, निदान आदि हैं। इस उदाहरण में लिङ्ग से अभिप्राय चिह्न का है। पताकाचिह्नित मकान प्रत्यक्ष है। अतः लिङ्ग द्वारा ज्ञान की प्राप्ति में अनुमान और प्रत्यक्ष प्रमाण दोनों रहते हैं। इस में कुछ विवाद नहीं। अब घड़ी लिङ्ग और घड़ीसाज लिङ्गी के उदाहरण को लीजिये। इस उदाहरण के भी दो रूप हैं। (१) घड़ीसाज घड़ी को बना कर बाजार में भेज देता है, तब प्रत्यक्ष लिङ्ग घड़ी को देखकर, अप्रत्यक्ष लिङ्गी-निमित्त कारण-घड़ीसाज का अनुमान प्रमाण से बोध होता है, क्योंकि लिंग घड़ी और लिंगी घड़ीसाज दोनों एक जगह नहीं हैं। (२) घड़ीसाज घड़ी को बना रहा है, तब, प्रत्यक्ष लिंग घड़ी से प्रत्यक्ष निमित्त कारण घड़ीसाज का प्रत्यक्ष प्रमाण से बोध होता है, क्योंकि दोनों एक साथ हैं। अतः लिंग शब्द के प्रयोग मात्र से प्रत्यक्ष प्रमाण का मार्ग बन्द नहीं हो जाता। जैसे घड़ी की प्रत्यक्ष रचना को करते हुये देख कर घड़ी साज को भी प्रत्यक्ष करता है। इसी भान्ति सृष्टि लिंग और निमित्त कारण ईश्वर लिङ्गी है। इसमें भी दोनों प्रमाण, अनुमान और प्रत्यक्ष, काम में आते हैं। सृष्टि की रचना बाह्य कार्य को प्रत्यक्ष देख कर निमित्त कारण ईश्वर का अनुमान होता है, क्योंकि ईश्वर का बाह्य प्रत्यक्ष नहीं होता—अर्थात् जैसे सृष्टि कार्य को चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष करते हैं वैसे ईश्वर को बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं कर सकते, क्योंकि ईश्वर में बाह्य इन्द्रियों से ग्रहण होने वाले रूपादि गुण नहीं हैं, अतः वह अनुमान प्रमाण का विषय है। इस अवस्था में ईश्वर के गुणों के साथ आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है। दूसरी अवस्था में सृष्टि की रचना विशेष ज्ञानादि गुणों का जब जीव आन्तरिक रूप में मानस प्रत्यक्ष करता है, तब ईश्वर का भी प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि गुण और गुणी का नित्य सम्बन्ध होने से दोनों एक जगह हैं। ईश्वर के रचना विशेष ज्ञान गुण से गुणी ईश्वर का अव्यवहित सम्बन्ध है। ईश्वर सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी है, अतः इस उदाहरण में ईश्वर

अप्रत्यक्ष नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष है। सार यह है कि कार्य रूप जगत् लिंग के बाह्य प्रत्यक्ष से निमित्त कारण ईश्वर लिंगी का अनुमान होता है और जगत् की रचना विशेष ज्ञान गुण-लिंग के मानस प्रत्यक्ष होने से निमित्त कारण ईश्वर—लिंगी का (गुण से अव्यवहित गुणी के नियम द्वारा) प्रत्यक्ष प्रमाण से साक्षात् हो जाता है।

प्रश्न—लिंग से लिंगी ज्ञान को सब दार्शनिकों ने अनुमान प्रमाण का विषय माना है, जैसे धूम लिंग से अग्नि लिंगी का अनुमान किया जाता है।

उत्तर—इस प्रश्न का उत्तर यद्यपि पूर्व प्रश्न के उत्तर में आ चुका परन्तु पुनः स्पष्ट करते हैं। जब लिंग और लिंगी दोनों द्रव्य होते हैं और उन दोनों में समवाय सम्बन्ध न हो, तो लिंग द्रव्य से लिंगी द्रव्य का अनुमान होता है, परन्तु इस में भी लिंग द्रव्य और लिंगी द्रव्य की व्याप्ति का ज्ञान भी होना अनिवार्य है। हम बार-बार भोजनशाला में देखते हैं कि धूम और अग्नि एक साथ एक जगह रहते हैं। जब हमें अन्यत्र भी धूम उठता हुआ दिखाई देता है, तब हम धूम लिंग के प्रत्यक्ष और धूम और अग्नि की व्याप्ति—सहचार सम्बन्ध के ज्ञान की स्मृति से दूर अप्रत्यक्ष अग्नि का अनुमान कर लेते हैं। यह एक पक्ष हुआ। दूसरा पक्ष आगे दिया जाता है। जब लिंग गुण होता है और उस गुण से अव्यवहित गुणी लिंग द्रव्य होता है, तब गुण के प्रत्यक्ष होने पर गुणी का भी प्रत्यक्ष होता है। जैसे पृथ्वी गुणी लिंगी द्रव्य के लिंग गुण रूपादि के प्रत्यक्ष होने पर पृथ्वी गुणी का प्रत्यक्ष होता है वैसे ही सुख-दुःख गुण लिंग के प्रत्यक्ष होने पर गुणी लिंगी जीव का प्रत्यक्ष होता है और सृष्टि की रचना विशेष ज्ञानादि गुण के प्रत्यक्ष होने पर गुणी लिंगी ईश्वर का प्रत्यक्ष होता है। बाह्य गुणों का इन्द्रिय प्रत्यक्ष और आन्तरिक गुणों का मानस प्रत्यक्ष होकर गुण से अव्यवहित गुणी का प्रत्यक्ष हो जाता है। जिस द्रव्य में ज्ञान, सुख, सत्यादि आन्तरिक गुण नहीं होते और रूप, स्पर्श आदि बाह्य गुण होते हैं, उन बाह्य गुणों का इन्द्रिय प्रत्यक्ष हो कर गुणों से अव्यवहित गुणी का प्रत्यक्ष हो जाता है जैसे प्राकृतिक पदार्थों का प्रत्यक्ष। जिस द्रव्य में बाह्य गुण रूपादि नहीं होते और आन्तरिक गुण ज्ञानादि होते हैं, तब उन गुणों का मानस प्रत्यक्ष होकर उन आन्तरिक गुणों से अव्यवहित गुणी द्रव्य का प्रत्यक्ष हो जाता है। इसी प्रत्यक्ष को आत्मप्रत्यक्ष भी कहा जाता है, जैसे जीव और परमेश्वर का प्रत्यक्ष। अतः लिंग से लिंगी का ज्ञान केवल अनुमान का ही विषय नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय भी है।

विशेष-ज्ञातव्य

अनुमान प्रमाण प्रत्यक्ष प्रमाणपूर्वक ही होता है। न्याय दर्शन १।१।५ में अनुमान प्रमाण का लक्षण यह दिया है—

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टञ्च ॥

इसके अर्थ में ऋषि दयानन्द लिखते हैं—"जो प्रत्यक्षपूर्वक अर्थात् जिस का कोई वा सम्पूर्ण

पदार्थ किसी स्थान वा काल में प्रत्यक्ष हुआ हो, उस का दूर देश से सहचारी एक देश के प्रत्यक्ष होने से अदृष्ट अवयवी का ज्ञान होने को अनुमान कहते हैं।"—३ समु०

जब हम वार-बार रसोई आदि में धूम और अग्नि को एक जगह देख कर यह निश्चय करते हैं कि जहाँ धूम उठता दिखाई देवे, वहाँ अग्नि अवश्य होता है। हम जब कहीं किसी स्थान पर दूर से उठते हुये धूम को देखते हैं, तब धूम और अग्नि की व्याप्ति—सहचार सम्बन्ध की स्मृति हो जाती है और धूम दर्शन तथा धूम-अग्नि की व्याप्ति स्मृति से अदृष्ट अग्नि का अनुमान कर लेते हैं। इस उदाहरण में व्याप्ति विशिष्ट धूम लिंग का प्रत्यक्ष होना अनिवार्य है, अतः अदृष्ट लिंगी अग्नि का दृष्ट लिंग धूम से अनुमान हो जाता है। इसलिये अनुमान प्रमाण को तत्पूर्वक—प्रत्यक्ष पूर्वक-कहा जाता है। यदि हमें पूर्व ही धूम-अग्नि के व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप में न होवे तो धूम को देख कर भी अदृष्ट अग्नि का अनुमान नहीं हो सकता। अनुमान प्रमाण में व्याप्ति-ज्ञान पूर्वक ही लिंग ज्ञान कारण होता है। यह लिंग ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय है, इस लिये अनुमान का विषय प्रत्यक्ष प्रमाण पूर्वक ही होता है। इसी से ईश्वर द्वारा रचित सृष्टि रूप लिंग कार्य को प्रत्यक्ष करके लिंगी ईश्वर का अनुमान होता है। सामान्यतोदृष्ट का यह उदाहरण है।

परन्तु गुणों के प्रत्यक्ष द्वारा गुणों से अव्यवहित गुणी का ज्ञान अनुमान का विषय नहीं है, किन्तु प्रत्यक्ष का विषय है। क्योंकि गुण और गुणी का सम्बन्ध अविनाभाव रूप—समवाय—नित्य—अयुतसिद्ध वृत्ति होता है।

यदि ईश्वर के गुणों का प्रत्यक्ष किसी भी व्यक्ति को कहीं भी, किसी भी काल में न होवे, तो ईश्वर का अनुमान भी नहीं हो सकता। ईश्वर के गुणों के प्रत्यक्ष से ईश्वर का प्रत्यक्ष उपर्युक्त हेतुओं से सिद्ध है।

प्रमाणों की पूर्ति प्रत्यक्षपरा है। पदार्थ के प्रत्यक्ष हुये बिना जिज्ञासा की शान्ति नहीं हो सकती। अतः ईश्वर की प्रत्यक्ष प्राप्ति से ही मानव ज्ञान की पूर्त्ति हो सकती है।
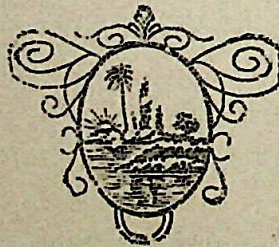
ज्ञान की उत्पत्ति और उपाध्याय

प्रोफेसर रत्नसिंह जी, एम० ए०, गाजियाबाद,

ज्ञान-मीमांसा वा संवित्-शास्त्र (Epistemology) दर्शन-शास्त्र की एक मुख्य शाखा है। ज्ञान का स्वरूप क्या है ? उसकी उत्पत्ति कैसे होती है ? उसकी प्राप्ति के साधन क्या हैं ? सत्य ज्ञान की कसौटी क्या है ? मानवीय ज्ञान की सीमा क्या है ? आदि समस्याओं का अध्ययन इसके अन्तर्गत किया जाता है। इन सब समस्याओं में प्रमुख समस्या है ज्ञानोत्पत्ति अर्थात् यह प्रश्न कि ज्ञान की उत्पत्ति हमारे मन में किस प्रकार होती है। इसी प्रश्न को इस रूप में भी रक्खा जा सकता है कि ज्ञान जन्मजात (innate) है या अर्जित (acquired)।

आर्य जगत् के वर्त्तमान प्रसिद्धतम, सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय ने अपनी अमर-कृति Philosophy of Dayanand (फिलासफी आफ दयानन्द) में इस समस्या का विवेचन किया है। वहाँ पर महर्षि दयानन्द के सिद्धान्त की परीक्षा करने के अभिप्राय से आपने ज्ञानोत्पत्ति सम्बन्धी पश्चिमी दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं अनुभववाद (Empiricism) और बुद्धिवाद (Rationalism) का उल्लेख किया है। इन विचारधाराओं का खंडन करते हुए और दयानन्द के तत्सम्बन्धी विचारों का औचित्य प्रकट करते हुए श्री उपाध्याय जी ने अपने निजी विचारों को अति संक्षेपतः प्रस्तुत किया है। उपाध्याय जी के विचारों का मूल्याङ्कन हम उपर्युक्त दो विचार-धाराओं के प्रकाश में ही कर सकते हैं। अतः प्रारम्भ में इन दो मतों पर संक्षेपतः विचार कर लेना असंगत न होगा।

अनुभववाद (Empiricism) के मुख्य प्रवर्त्तक जान लाक हुए हैं। उनके अतिरिक्त बर्कले और ह्यूम ने भी इस मत का प्रतिपादन किया है। अनुभववाद के अनुसार समस्त ज्ञान की उत्पत्ति अनुभवमूलक है, जन्मजात (innate) नहीं है। ज्ञान हमारे मस्तिष्क या मन में बाहर से आता है। स्वयं उसके भीतर जन्म के पूर्व ही निहित नहीं होता है। अनुभव के बिना कोई ज्ञान सम्भव नहीं है।

लाक के अनुसार मन एक श्वेत कागज़, कोरे पटल (Tabularasa) के समान है और उस

पर कुछ भी पूर्वांकित नहीं होता है। हमारे मन में ज्ञान दो प्रकार से पहुँचता है। (१) संवेदना (Sensation) और (२) चिन्तन (Reflection) द्वारा। इस प्रकार ज्ञान प्राप्ति का एकमात्र साधन इन्द्रियाँ हैं। बुद्धि का इसमें कोई योग नहीं है।

इस सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध सिद्धान्त बुद्धिवाद (Rationalism) है जिसके अनुसार बुद्धि ही समस्त ज्ञान की जननी है, अनुभव नहीं। बुद्धि हमें जन्म से प्राप्त होती है और उसीके द्वारा समस्त ज्ञान प्राप्त करते हैं। ज्ञान प्रत्यय के रूप में होता है और हमारे ये प्रत्यय जन्मजात होते हैं। हमारा ज्ञान संवेदनों का परिणाम नहीं है अपितु वह अनुभव से पूर्व (a priori) है। डैकार्ट, स्पिनोज़ा और लाइबनिज इस विचार धारा के प्रमुख प्रवर्त्तक हुए हैं।

श्री उपाध्याय जी को उपयुक्त दोनों मत अमान्य हैं। 'लाक' द्वारा प्रतिपादित अनुभववाद के सम्बन्ध में 'फिलासफी आफ दयानन्द' पृष्ठ ३९ पर लिखते हैं "If mind is a blank-paper, it becomes too passive"—अर्थात् यदि मन एक कोरे कागज के समान है तो पूर्णतः निष्क्रिय बन जाता है। उपाध्याय जी का यह आक्षेप सर्वथा उचित है, क्योंकि मन को निष्क्रिय समझना एक मनोवैज्ञानिक भूल है। हमारा मन सदैव सक्रिय गतिशील रहता है। प्रत्यक्षीकरण, स्मृति, कल्पना व तर्क करने के समय तो यह गतिशील रहता ही है, परन्तु संवेदना के समय भी यह गतिशील होता है, क्योंकि तब भी इसे चयन और ध्यान की आवश्यकता पड़ती है। अपनी पुस्तक में अगले पृष्ठ पर उपाध्याय जी लाक का एक उद्धरण देकर उसके द्वारा "मन एक कोरे कागजके समान है" का खंडन करना चाहते हैं। आप लिखते हैं "That the mind of man is not a blank paper (I avoid using white purposely) is quite evident from even Locke's description of it" अर्थात् लाक के वर्णन से भी बिल्कुल स्पष्ट है कि मानवीय मन एक कोरा कागज नहीं है। इसके आगे लॉक का उद्धरण देकर उपाध्याय जी लिखते हैं "Here Locke has endowed his 'white paper, void of all character' with the power of reflecting". अर्थात् यहाँ लाक ने अपने निर्विशेष श्वेत पत्र को चिन्तन शक्ति से युक्त माना है। मेरी सम्मति में उपाध्याय जी ने यहाँ लाक के साथ पूर्ण न्याय नहीं किया है। साध्य की सिद्धि के लिये प्रस्तुत हेतु ठीक प्रतीत नहीं होता। लाक के इस कथन का "कि मन एक कोरे कागज के समान है" अर्थ केवल यह है कि मन में जन्मजात प्रत्ययों का सर्वथा अभाव है। किन्तु यह अर्थ कदापि नहीं कि मन में ज्ञानार्जन की जन्मजात शक्ति का अभाव है, और मन में ज्ञानार्जन की जन्मजात शक्ति को स्वीकार करने से यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि मन कोरे कागज के समान नहीं है। इस सम्बन्ध में लॉक के स्वयं के शब्द ये हैं। "मैंने केवल जन्मजात प्रत्ययों के विषय में कहा था, जन्मजात शक्ति के विषय में नहीं।"

बुद्धिवादियों का खंडन उपाध्याय जी इन शब्दों में करते हैं "Thus those who give no value to sense-data come to absurdity". अर्थात् इन्द्रियजन्य अनुभव के महत्त्व को स्वीकार न करने वालों का कथन वदतोव्याघात के तुल्य होता है। उपाध्याय जी ने उपर्युक्त

शब्दों का प्रयोग नवीन वदांतियों के खंडन के प्रसंग में किया है, परन्तु यही आलोचना पश्चिमी बुद्धिवादियों पर भी पूर्णतः लागू होती है। अनुभववादियों की भाँति बुद्धिवादियों का मत भी एकांगी है। बुद्धिवादी जन्मजात प्रत्ययों की सत्ता पर बड़ा बल देते हैं परन्तु उन्हें सिद्ध नहीं किया जा सकता।

प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कान्ट ने उपर्युक्त दोनों परस्पर विरोधी सिद्धांतो में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उसने मनुष्य में ज्ञान की दोनों शक्तियों के अस्तित्व को स्वीकार किया। उसके मत में इंद्रियशक्ति हमें ज्ञान की सामग्री या संवेदना प्रदान करती है और बुद्धि हमारे संवेदन जन्य प्रत्ययों में सम्बन्ध स्थापित करती है। इंद्रियों द्वारा प्राप्त संवेदनाएँ असम्बद्ध होती हैं, जिन्हें बुद्धि अपनी जन्मजात बारह संज्ञाओं (categories) द्वारा सम्बद्ध करती है। दिक् और काल इन बारह संज्ञाओं (categories) के अंतर्गत ह।। कांट इनकी वस्तुगत सत्ता स्वीकार न कर उनकी आत्मगत-सत्ता मानता है।

श्री उपाध्याय जी कान्ट के इस विचार से सहमत हैं कि ज्ञानोपार्जन में इन्द्रिय और बुद्धि दोनों का योग है परन्तु उन्हें कान्ट की यह विचार धारा कि दिक्कालादि का आत्मगत अस्तित्व हैं वस्तुत नहीं, सर्वथा अस्वीकार है।

अतः सारांश रूप में उपाध्याय जी के अनुसार ज्ञान की उत्पत्ति न केवल अनुभव से होती है और न केवल बुद्धि से। वस्तुतः ज्ञान की उत्पत्ति अनुभव और बुद्धि दोनों क सहयोग से होती है, परन्तु यह भी सत्य है कि दिक काल की सत्ता आत्मगत नहीं अपितु वस्तुगत है।

श्रद्धा और तर्क का समन्वय

हमारा तर्क श्रद्धा के पीछे पीछे चले, न कि श्रद्धा स्वयं तर्क के पीछे मारी मारी घूमे।

आचार्य श्री नरदेव जी शास्त्री वेदतीर्थ, कुलपति महाविद्यालय ज्वालापुर

जब हम किसी व्यक्ति विशेष को कट्टर कहते हैं तब हमको यह भान होता है कि जिसको हम कट्टर कहते हैं वह व्यक्ति इतना विचारशील नहीं है। वह तो जितना भी एक बार किसी से जो कुछ समझ बैठा है उसी को, उसी स्वरूप में, उसी अंश में मानता है, उसी पर अड़ा रहता है; न आगे बढ़ता है न पीछे हटता है। कट्टर कहलाने में अपनी शोभा समझता रहता है। अपनी बात पर जमे रहना इतना बुरा नहीं है, पर विवेकशील बनना भी तो आवश्यक है। जिस पुरुष में विवेक ही न हो उसको चाहिये कि वह किसी विद्वान् धार्मिक व्यक्ति के पीछे हो लेवे। मत-मतान्तर के प्रचलित होने का यही बीज है और यहीं बीज हैं—जितने सम्प्रदाय हैं इसी प्रकार चले हैं और उस उस पुरुष के, महानुभाव के, आचार्यों और धर्माचार्यों के नाम से चल पड़े हैं। यह तो हुई साधारण जनता के विषय में बात। जो जिसका एक बार अनुयायी हो बैठा वह और उसकी वंशपरम्परा उसी की अनुयायी होकर चलती रही है। मैं मतमतान्तर और सम्प्रदाय में बड़ा भेद देख रहा हूं। मतमतान्तर वह है जो व्यक्तिविशेषों द्वारा चलाया गया है, चाहे उसके मत का कोई शास्त्रीय आधार हो या न हो। कोई तो केवल भौतिक तपस्या के बल पर हीं मत संचालक हो गये। अज्ञ पुरुष को जिसकी बात एक बार लगी, बस वह उसका हो गया। सम्प्रदाय तो एक विशिष्ट शास्त्रीय विचार धारा को मानने वालों का सम्प्रदाय है—यह सम्प्रदाय भी महापुरुषों के नाम से चलते आये हैं। महापुरुष किसी शास्त्रीय विचारधारा पर प्रकाश डालते हैं और उस विचार धारा को लेकर आगे बढ़ते हैं तब उनका अनुयायी वर्ग बढ़ने लगता है, तब वह सम्प्रदाय प्रवर्तक महापुरुष के नाम से चल पड़ता है। जैसे शंकराचार्य का अद्वैत सम्प्रदाय, रामानुजाचार्य का विशिष्टा-द्वैत सम्प्रदाय, निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैत सम्प्रदाय, मध्वाचार्य का द्वैत—इत्यादि। सम्प्रदाय कोई

घृणा करने की वस्तु नहीं है। उसकी विचार धारा का समादर रहना चाहिये। चाहे आप उसको मानें या न मानें, यह और बात है।

हमारे हिन्दू धर्म में

एक विशिष्ट उदारता अनन्त काल से चली आ रही है। वह यह कि इस धर्म में विचार-स्वातन्त्र्य सदैव से चला आया है। आप जैसा चाहे विचार रखिये पर आप आचार (शास्त्रानुसारी) में बंधे रहिये और आनन्द से हिन्दू धर्म में पड़े रहिए। कोई आपको निकालने वाला नहीं है। चार्वाक्, योगाचार्य (एक प्रकार के नास्तिक) आदि शास्त्रीय विचार धारा वालों को भी कभी किसी ने कुछ नहीं कहा है, वेदनिन्दक रहने पर भी, ईश्वर के अस्तित्व को न मानने पर भी वे हिन्दुओं के विचारकों में पड़े रहे। विचारकों में माने गये। एक प्रकार के विचारकों का यह भी सम्प्रदाय चल पड़ा जो कि मनुस्मृति के "नास्तिको वेदनिन्दकः" इस वाक्य के आधार पर चल पड़ा था, अर्थात् नास्तिक वह है जो वेद को न माने। ईश्वर को न मानने वाला नास्तिक नहीं है। पर यह मत चल न सका, क्योंकि जो वेद को मानेगा उसको ईश्वर का अस्तित्व भी स्वीकार करना पड़ेगा।

इस ऊहापोह की दृष्टि से

देखा जाय तो प्रश्न उठता है कि क्या आर्यसमाज भी कोई सम्प्रदाय है। यदि आर्यसमाज कोई सम्प्रदाय होता तो आज आर्यसमाज का स्वरूप ही और दिखलाई पड़ता। स्वामी जी ने अपना कोई नया मत नहीं गढ़ा। कोई नया धर्म भी नहीं चलाया। वेद अनन्त काल से चले आ रहे हैं, वही वेद प्रतिपादित धर्म स्वामी जी को अभिप्रेत है। वर्तमान समय में वैदिक धर्म का जो पंचमेल धान हो गया है स्वामी जी उसको नहीं मानते। उसमें जो सिद्ध स्वरूप है, सिद्ध पक्ष है, स्वामी जी उसी को मानते हैं। उन्होंने स्वमन्तव्यामन्तव्य में अपने मन्तव्यों को स्पष्ट प्रकट किया है और अपने अनुयायियों को खुली छुट्टी दे रखी है कि सत्य के ग्रहण करने में और असत्य के परित्याग में सदैव तत्पर रहना चाहिए। यद्यपि स्वामी जी की विचारधारा भी स्पष्ट पृथक् दिखलाई पड़ती है तथापि वे प्रत्येक बात में वेदों के साथ बँधे हुए हैं और वे व्यापक धर्म को मानते हैं। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि ने व्यापक वैदिक धर्म को मानते हुए भी वैदिक धर्म की एक एक विचार धारा पर ही शास्त्र पद्धति से सिद्धान्त प्रतिपादन किया है, इसलिए वे विशिष्ट सम्प्रदाय हैं। सम्प्रदाय शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थों में न कर विशिष्ट शास्त्रीय विचारधारा वाला समुदाय कहना चाहिए।

इस दृष्टि से गांधी विचार धारा भी एक शास्त्रीय विचारधारा ही है जो कि वैदिक धर्म के दो अंग सत्य और अहिंसा को लेकर प्रवृत्त हुई। इसलिए मतमतान्तर वे हैं जो धर्म के नाम पर प्रचलित हैं। सम्प्रदाय वे हैं जो शास्त्रीय विचार धारा पर प्रकाश डालते हैं। मतमतान्तर और सम्प्रदाय के इस सूक्ष्म अन्तर को नहीं भूलना चाहिए। सम्प्रदाय का सम्बन्ध अधिकतर तत्वज्ञान से रहता है।

हमारे आर्य भाई यदि अपने आपको कट्टर दयानन्दानुयायी कहते हैं तो, आर्य रहने, बनने, आर्यसमाजी कहलाने के लिए, स्वामी जी कथित अथवा लिखित एक-एक अक्षर मानना आवश्यक, अपरिहार्य हो तो आर्यसमाजी भी फिर दयानन्दी बनेंगे। इस दृष्टि से फिर व्यक्ति के साथ जुड़ने से वही आपत्ति उठेगी जिस आपत्ति को हम दूसरों पर उठाते हैं। यदि स्वामी जी के कथन अथवा प्रतिपादित मन्तव्यों को साधारणतया मानते हैं और सत्य के ग्रहण करने तथा असत्य के परित्याग करने का द्वार खुला रखते हैं तो हम सच्चे अर्थों में वैदिक कहला सकते हैं, क्योंकि हम उस व्यक्ति को चाहे वह कितना ही महान् हो अपना मार्गदर्शक समझते हुए भी हम वैदिक सिद्धान्त से निगडित रखते हैं। हां, हम वेदों का एक-एक अक्षर मानते हैं पर किसी व्यक्ति विशेष का एक-एक अक्षर नहीं मानेंगे। हम सत्य ज्ञान की दृढ़ता रखते हैं पर अज्ञान अथवा अल्पज्ञान से उत्पन्न कट्टरता को ठीक नहीं समझते—यही विवेचना है—हम तर्ककर्कश भी नहीं होना चाहते। हमारा तर्क श्रद्धा पर आधारित रहे न कि हमारी श्रद्धा तर्क के पीछे मारी मारी फिरे।

हम सत्य का ग्रहण करने में सदा तत्पर रहेंगे, पर वेदों को छोड़ कर संसार के किसी ग्रन्थ का अक्षर अक्षर न मानेंगे। हम आप्त पुरुषों का समादर करेंगे, पर वेदानुकूल होने से ही हम उन का अक्षर अक्षर मानेंगे। वेद विरुद्ध नहीं मानेंगे। हम—"यान्यस्माकँ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि" ऐसा परम्परा से सुनते चले आये हैं, हमारी गुरुपरम्परा शिष्यों को उपदेश देने के पश्चात् इस वाक्य को बराबर कहती चली आयी है।

हमारे सामने एक ही कठिनाई है। वह यह कि कौन सी बात वेदानुकूल है और कौन सी वेदविरुद्ध है, इसका निर्णय हम कैसे करें। इस कार्य में हमारा श्रद्धानुविद्ध तर्क ही सहायता दे सकता है। महात्मा तर्क भी एक ऋषि हैं जो कि इस प्रकार की संशयात्मक स्थिति में हमारी सहायता कर सकते हैं। पर उस तर्क ऋषि की भी अपनी सीमित शक्ति है। वह हमारे सिर माथे, पर हमारे सिर पर

श्रद्धत्स्व सौम्य !

कह कर कोई प्रेरक महापुरुष भी होना चाहिए। यदि हमारी भावना शुद्ध हो तो हमारी विशुद्ध अन्तःकरण की प्रवृत्ति भी हमारी उलझनों को सुलझाने में सहायक हो सकती है। पाठक इस निगूढ तत्त्व को समझ सकें तो मेरा परिश्रम सफल।

"यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः"

यह जो कहा गया है वह कुतर्कियों के तर्कों के लिए नहीं, तर्ककर्कश जनों के लिए नहीं, अज्ञों के तर्कों के लिए नहीं, धर्मभावशून्य, अन्तःकरणशुद्धिशून्य कोरे तार्किकों के लिए नहीं—अपितु सात्विक-श्रद्धा-समन्वित शुद्धान्तःकरण प्रवृत्तिपरक पुरुषों के तर्क के लिये है। मैं आशा ही नहीं, दृढ़ विश्वास करता हूं कि विचक्षण वाचकवृन्द इस विषय में मुझ से पूर्ण सहमत होंगे।
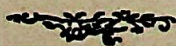
ऋषि की ऐतिहासिक दूरदर्शिता

श्री रघुवीरसिंह जी शास्त्री, मंत्री सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, देहली

महर्षि दयानन्द गम्भीर विद्वत्ता तथा अखण्ड ब्रह्मचर्य के दो महान् शस्त्रों से सुसज्जित होकर कार्यक्षेत्र में उतरे और शतियों से अवनति के गर्त में गिरे एवं जर्जरित समाज के उद्धार में लग गये। उन्होंने इस समाज के प्रत्येक रोग का ठीक निदान किया तथा उसके मूल पर कुठाराघात किया। इस दीर्घकालीन दैन्यावस्था में यद्यपि समय-समय पर अनेक सुधारक महात्मा उत्पन्न हुए, परन्तु वे इसके पुराने रोगों की जड़ न पकड़ सके। ऋषि दयानन्द ही पहले ऐसे महापुरुष जन्मे जिन्होंने इसकी सारी व्याधियों, त्रुटियों अथवा दुर्बलताओं का यथार्थ तथा स्थायी प्रतिकार प्रस्तुत किया।

यहाँ मैं केवल राष्ट्रयिता के सम्बन्ध में उस ऋषि की देन की ओर संकेत करना चाहता हूं। लगातार कई सौ वर्ष तक विदेशियों का प्रभुत्व रहने के कारण भारतवासी दासता के गाढ़े रंग में रंगे जा चुके थे। अशिक्षित लोगों की बात छोड़िये, शिक्षित वर्ग के मस्तिष्क एवं हृदय दोनों पर भी दासता के संस्कार इतनी गहरी छाप लगा रहे थे कि उनमें अपनी कोई सूझ-बूझ न रह गयी थी; अपनी संस्कृति तथा साहित्य से उनका सम्बन्ध सर्वथा टूट चुका था, अतः विदेशियों द्वारा प्रचलित धारणाओं से ऊपर उठने की क्षमता उनमें न रह गयी थी। इधर मुसलमानों के पश्चात् आने वाले विदेशी अंग्रेज प्रभु बड़े ही कूटनीतिक तथा व्यापारिक बुद्धि वाले थे। उन्होंने भांप लिया कि कदाचित् कालान्तर में भारतवासियों के मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि अंग्रेज विदेशी हैं और हमारी जन्मभूमि का शोषण कर रहे हैं इसलिये अंग्रेज शिक्षाशास्त्रियों तथा इतिहासकारों ने पहले ही सावधानी करली और एक विचार धारा ऐतिहासिक सत्य के नाम पर फैलायी कि आर्य लोग भी इस देश के आदिवासी नहीं हैं, ये भी हमारी ही भांति विदेशी आक्रान्ता तथा शोषक हैं। आर्यों ने भी ईरान से चल इस भूखण्ड पर हमला किया और यहाँ की द्रविड़, सन्थाल आदि जातियों को मार-पीट कर दक्षिण की ओर धकेल दिया। यहीं तक नहीं, उन्हें सामाजिक दृष्टि

से सदा के लिये पतित, नीच, राक्षस आदि की संज्ञाएं देकर घृणित जीवन बिताने के लिये विवश कर दिया।

क्रान्तदर्शी दयानन्द भारत की राष्ट्रियता पर इस निर्मम प्रहार को देखकर तिलमिला उठे। उन्होंने विदेशियों की इस कूटनीति के दूरगामी दुष्परिणामों को भाँप लिया और देशवासियों में सच्ची राष्ट्रियता के जगाने के लिये बड़े ही विश्वास पूर्ण शब्दों में घोषणा की—"आर्यावर्त इस देश का नाम इस लिये है कि सबसे पहले आर्यों ने ही इसे बसाया था और इससे पहले इस देश का कोई अन्य नाम नहीं था।" कितना बड़ा ऐतिहासिक सत्य है और उसके सिद्ध करने के लिये तर्क भी कितना अकाट्य उपस्थित किया कि "आर्यावर्त से पहले इस देश का कोई अन्य नाम नहीं था।" सचमुच बात बिलकुल सीधी-सादी है, यदि आर्यों से पहले इस देश में कोई अन्य जातियां बसती थीं तो इस देश का कोई नाम तो होना चाहिये था।

आज हमारे देश के जो नाम प्रचलित हैं उनमें से आर्यावर्त' सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक नाम है। भारतवर्ष राजनीतिक नाम है जो कुरु वंश के एक राजा 'भरत' के नाम पर पड़ा। यहाँ यह ऐतिहासिक तथ्य भी ध्यान में रखना चाहिये कि 'भारतवर्ष' की सीमा 'आर्यावर्त' के क्षेत्र से कहीं अधिक विस्तृत थी। तीसरा नाम 'हिन्दुस्तान' है, यह नाम विदेशियों ने रखा है। संस्कृत साहित्य में कहीं भी हमारा नाम 'हिन्दु' नहीं मिलता, इसलिये देश का नाम हिन्दुस्तान होने का तो कोई प्रसंग ही नहीं। खेद है कि ऋषि के आगमन से पहले हम अपने लिये ये दोनों विदेशी नामकरण इस प्रकार स्वीकार कर चुके थे कि मानो सदा से हमारे ये ही नाम हैं। किसी को यह ध्यान रहा होगा कि हमारा वास्तविक नाम 'आर्य' तथा 'आर्यावर्त' है, यह नहीं कहा जा सकता। मुसलमान शासकों ने 'हिन्दुस्तान' तथा अंग्रेजों ने 'इण्डिया' हमारे देश का नाम रखा और हम इन्हीं दोनों नामों का साभिमान प्रयोग करते हैं। कितनी दयनीय दशा में हमारी मस्तिष्क गत दासता ने हमें धकेल दिया है।

आश्चर्य तो उन ऐतिहासिकों पर है जो यह समाधान करते हैं कि क्योंकि अफगानिस्तान तथा मध्य एशिया की भाषा में हमारी भाषा के 'स' का उच्चारण 'ह' होता है जैसे 'सप्ताह' के स्थान में 'हप्ताह' आदि उच्चारण होते हैं। इसीलिये जब उधर से आक्रान्ता हमारी सीमाओं में घुसे तब उन्हें सब से पहले 'सिन्धु' नदी मिली और उसके तट पर बसने वालों को भी उन्होंने 'सिन्धु' अर्थात् हिन्दू ही कह कर पुकारा और उनके देश को हिन्दुस्तान कहने लगे। परन्तु उन ऐतिहासिकों के पास इस प्रश्न का क्या उत्तर है कि सिन्धु नदी तो आज तक सिन्धु ही कहलाती है, उस के 'स' को 'ह' नहीं हुआ। उसका प्रदेश भी आज तक 'सिन्धु' कहलाता है, उसका 'स' भी ज्यों का त्यों बना है तो फिर हजारों मील आगे चल कर गंगा, ब्रह्मपुत्र अथवा नर्मदा, कावेरी के किनारे बसने वाले लोगों का नाम 'हिन्दु' अथवा इन प्रदेशों का नाम कैसे 'हिदुस्तान' हो गया। यहाँ मानना पड़ेगा कि ऋषि दयानन्द की खोज ही यथार्थ है। जब वे कहते हैं कि विदेशी भाषा में 'हिन्दू'

शब्द काफिर, पतित लोगों के लिये प्रयुक्त होता था, इसीलिये विदेशियों ने हमारा यह घृणास्पद नाम रखा जिसे हम बड़े गर्व के साथ आत्मसात् किये बैठे हैं। विदेशियों द्वारा दिये गये इस प्रकार के एक अपमान जनक शब्द को किसी जाति ने यदि स्वीकार किया है तो वे हम भारतवासी ही हैं जो अपनी प्राचीनता का भी दम साथ ही भरते हैं। यद्यपि अंग्रेज तथा उनका साम्राज्य यहाँ से चला गया, परन्तु उनका यह षड्यन्त्र आज हमारे राष्ट्र के शरीर को क्षत-विक्षत कर रहा है। दक्षिण के बहुसंख्यक लोग अपने को आर्येतर मान कर हमारे शत्रु हो गये हैं। वे आर्यों को आक्रान्ता, शोषक तथा अत्याचारी मानने लगे हैं। साथ ही प्राचीन वैदिक साहित्य को भी लाञ्छित कर रहे हैं। इधर भी अछूत कही जाने वाली जातियों में इसी प्रकार की भावना राजनीतिक-स्वार्थ भरने में लगे हैं। दक्षिणी बिहार, उड़ीसा, मध्य-प्रदेश तथा आसाम के जंगलों में रहने वाली जातियों के लिये 'आदिवासी' शब्द का सरकारी स्तर पर प्रयोग हो रहा है जिसका सीधा अर्थ यही है अन्य सब लोग पीछे आने वाले विदेशी हैं। इस प्रकार राष्ट्र में वैमनस्य तथा बटवारे के घृणित बाज अंकुरित हो रहे हैं। भारत-भूमि के खण्ड-खण्ड होने का खतरा मुंह बाये खड़ा दीख रहा है।

ऋषि की दूरदर्शी प्रतिभा ने यह खतरा पहले ही देख लिया था और इसीलिये इस भ्रम पूर्ण ऐतिहासिक दुरभिसन्धि का उन्होंने भंडा फोड़ किया। उन्होंने समझ लिया था कि जब तक प्रत्येक भारतवासी में यह भावना जागृत न होगी कि यह देश आदि काल से हमारे पूर्वजों की क्रीड़ा-स्थली रहा है; यह वही हिमालय है जो आदि सृष्टि से हमारी जन्म-भूमि का प्रहरी तथा प्राणप्रद बना खड़ा है; ये वही सिन्धु, गङ्गा, यमुना, ब्रह्मपुत्र आदि हैं जो सदा से इसी प्रकार इस भारत भूमि को सस्यश्यामला बनाने में लगी हैं, तब तक सच्ची राष्ट्रियता या देशाभिमान पैदा नहीं हो सकता। जब देश के प्रति ही ममता बुद्धि नहीं तो फिर अभिमान की क्या चर्चा ?

ऋषि देश को एक, अखंड तथा स्वतन्त्र देखने की अदम्य साधना मन में लेकर चल रहे थे और इसीलिये उन्होंने जहाँ सारे देश के लिये एक भाषा, एक वेश, एक धर्म, एक देव, एक ग्रन्थ का विचार प्रस्तुत किया, वहीं एक जाति, एक उद्गम, एक नस्ल, एक ही सस्कृति का सिद्धान्त स्थापित किया। यही कारण था कि उन्होंने जाति का पुराना नाम 'आर्य' तथा देश का पुराना नाम 'आर्यावर्त' प्रचलित करने का यत्न किया। खेद है कि ऋषि द्वारा उद्घाटित यह ऐतिहासिक सत्य अभी तक पूरी तरह स्वीकार नहीं हो सका है और आज भी इतिहास के नाम पर दूषित भावनायें हमारी सन्तति में भरी जा रही हैं। आर्य विद्वानों का कर्त्तव्य है कि वे इस ऋषिसम्मत मन्तव्य को स्वीकार कराने के लिये और अधिक अनुसन्धान तथा परिश्रम करें। उससे जहाँ वे ऋषि ऋण से अनृण होंगे, वहाँ अपने राष्ट्र की एक ठोस सेवा करने का श्रेय प्राप्त कर सकेंगे।

महर्षिदयानन्दस्य प्रादुर्भाववृत्तम्

आचार्य पं० द्विजेन्द्रनाथ जी विद्यामार्त्तण्ड, मेरठ

(स्वराज्यविजयन्नाममहाकाव्यतः)

भारतस्य किल पश्चिमे लसन् मौरवीप्रथितराज्यमण्डले ।
ध्वान्ततान्तपटलावृतेऽम्बरे ज्योतिरेकमुदियाय भासुरम् ॥१॥

भारतवर्ष के पश्चिम भाग में सुप्रसिद्ध मौरवी राज्य-मण्डल में महाअन्धकार से घिरे हुए आकाश में एक दिव्य ज्योति (बालक का) प्रादुर्भाव हुआ ।

तं विलोक्य भुवि दिव्यतेजसं बालभास्करमिव प्रभास्वरम् ।
कृष्णशर्मगृहमंगलांगणे धन्यं धन्यमिति देवता जगुः ॥२॥

बाल भास्कर के समान प्रभास्वर उस तेजस्वी बाल को विप्रवर किसन जीं शर्मा के मङ्गलमय गृहाङ्गण में दृष्टिगोचर कर देवताओं ने धन्य-धन्य की गूंज की ।

लक्षितास्य च विलक्षणा गतिः सा चमत्कृतिमयीं च तन्मतिः ।
दिव्यता नवलता स्फुरत्प्रभा प्रव्यनक्ति तदनन्यरूपताम् ॥३॥

उस बाल ज्योति की देखी गई विलक्षणगति और चमत्कारमयी बुद्धि, उसकी दिव्यता, नव्यता और फड़कती हुई प्रतिभा से उसका असाधारण व्यक्तित्व प्रकट होता था ।

विप्रगेहयजनाऽनलार्चिषामुच्चयप्रतिम एष कोऽपि वा ।
गाढमन्धतिमिरं विपाटयन् भासयन् दशदिशोऽन्तरालकम् ॥४॥

या यह, विप्रगेह के यज्ञाग्नि से उठती हुई ज्योतियों के सञ्चय के समान कोई तेज पुञ्ज था जो अपने तेज से आकाश में फैले हुए गाढ़ अन्धकार को नष्ट करता हुआ सा (प्रतीत होता था) ।

सत्कवेर्मधुरकल्पनोपमः कल्पवृक्षकुसुमोदयो नवः ।
योगिनां स्मितमयसमाधिषु ह्लाद एव सशरीर उत्थितः ॥५॥

अथवा सत्कवि की मधुर कल्पना के समान या कल्पवृक्ष के नवीन कसुमोदय की तरह अथवा योगिजनों की समाधि में प्राप्त मधुर मुस्कान युक्त मानो मूर्तिमान् साक्षात् आह्लाद रूप ही (बाल रूप में) प्रस्तुत हुआ।

ऋत्विजामिव समिद्धपावकः सामगानमधुरस्वरोऽपरः।
विश्वस्वर्गवसुधाञ्जलिः सार एव किमुवैष संसृतेः ॥६॥

अथवा ऋत्विजों की प्रज्वलित अग्नि के समान ही यह बालक है, अथवा सामगान के मधुर स्वर स्वरूप ही है, अथवा स्वर्ग तथा मर्त्य लोक की यह सुधाञ्जलि के समान ही प्रतीत होता था। अथवा विश्व की उत्तमता का यह बालक साररूप ही प्रतीत होता है।

भास्करो नवलरश्मिराशिभिर्गन्धभृत्कुसुमरेणुभिर्मरुत्।
पक्षिणो मृदुलकूजितैरमुं लालयन्ति परिपालयन्ति च ॥७॥

मानो स्वयं भगवान् भास्कर अपनी नवीन रश्मिराशियों से, वायु अपने सुगन्धित कुसुम रेणुओं से और पक्षिगण अपने मधुर कलरवों से इसका लालन-पालन करते थे।

मातृमानसभवप्रचेतनैः साऽमृतैर्मृदुलपाणिपल्लवैः।
लालितः प्रियजनैश्च पोषितः, प्रत्यपद्यत स शैशवश्रियम् ॥८॥

मातृ मानस में उत्पन्न हुई विविध प्रचेतनायुक्त अमृतमय करपल्लवों से उपलालित और प्रिय जनों से सन्तोष को प्राप्त करता हुआ शैशव अवस्था को प्राप्त हो गया।

आविलोक्य शिशुममुं बुधेश्वरा आसमीक्ष्य च तदान्तरं महः।
मूलशङ्कर इति स्वभिख्यया ऽख्यापयन्नहह ! लोकशङ्करम् ॥९॥

विद्वानों ने इस शिशु को और उसके आन्तरिक (अन्तर्निहित) तेज को देखकर लोक के कल्याण करने वाले इस बालक का यथार्थ नाम मूलशङ्कर रखा।

बाल एष कृतविद्यतार्किकः, स्वल्पकल्पवयसि प्रियङ्करः।
वाग्विलासजिततार्किकेश्वरः तारकेषु च बभौ निशाकरः ॥१०॥

यह बालक मूलशङ्कर सबका प्रिय करने वाला छोटी ही अवस्थामें विद्वान् तथा बड़ा तार्किक हो गया। (शास्त्रार्थ में) अपने वाग् विलास से उसने बड़े-बड़े तार्किकों को भी जीत लिया था। तारों में चन्द्रमा सा चमकने लगा।

एकदा स शिवरात्रिपर्वणि सव्रतः शिशुरपि प्रतापवान्।
मन्दिरेऽपि शिवदर्शनेच्छया, सञ्जगाम जनकेन बोधितः ॥११॥

एक बार शिवरात्रि के पर्व पर प्रतापी बालक मूलशंकर शिवजी के दर्शन करने की इच्छा से पिता जी की प्रेरणा से उनके साथ मन्दिर में गया।

आनिशीथमभवन्न दर्शनं पश्यतोऽपि सततं कपर्दिनः
अभ्यर्चितान् मधुसुगन्धिमोदकानाजहार पृथुतुन्दिलोन्दुरः ॥१२॥

किन्तु जब आधी रात तक भी निरन्तर देखते हुए बाल मूलशंकर को शिवजी के दर्शन न हुए

और (भक्तों से) पूजा के लिए चढ़ाए हुए मोदकों को एक बहुत मोटा उन्दिर (चूहा) शिवलिङ्ग पर चढ़ कर खा गया।

एष एव किमु शङ्करः शिवः, उन्दिरानपि न वारयेत्तु यः
तर्कतीक्ष्णमनसि व्यचिन्तयत्, निश्चिकाय च न चैष शङ्करः ॥१३॥

तब बालक ने अपने तर्कतीक्ष्ण मन में चिन्तन किया, क्या यह वही शिव है? (यह तो कोई कल्पित शिव है)

उत्थितः सपदि मन्दिरात्ततः आजगाम निजमातृसन्निधौ,
देहि किञ्चिदपि भोक्तुमादरात् व्याजहार च वचः स तार्किकः ॥१४॥

तत्काल मूलशङ्कर उठा और मन्दिर से बाहर आकर माता से बोला, "माता जी कुछ भोजन दीजिये।" यह कहकर तार्किक बोला—

व्यर्थमेव हि मया कृतं व्रतम्, आनिशीथमपि जागृतिः कृता,
लब्धमेव न च ततः फलं श्रुतम्, वास्तवं निखिलं प्रपञ्चितम् ॥१५॥

माता जी मैंने व्यर्थ ही व्रत किया और आधीरात तक व्यर्थ ही जागरण किया। जैसा सुना था वैसा कुछ भी फल नहीं पाया। वस्तुतः यह सब गप्प है। यह केवल एक प्रपञ्च मात्र है।

व्याजहार जननी ततः सुतं पालयमेव प्रमुदा व्रतं त्वया
भंग एष न शुभो व्रतस्य ते न त्यजन्ति कृतिनः कृतं व्रतम् ॥१६॥

तब माता ने प्रिय पुत्र को समझाकर कहा, "हे पुत्र! तुम्हें धारण किये हुए व्रत का पालन करना ही चाहिये। महान् पुरुष अपने लिए हुए व्रत का कभी भङ्ग नहीं करते।

किं व्रतेन यदि नास्ति तत्फलं किं फलेन यदि नास्ति शान्तिभृत्।
इत्युदीर्य जननीमुवाच स तेजसःक्व तिमिरेण संगतिः ॥ १७ ॥

तब मूलशंकर बोले, हे मातः! उस व्रत से क्या लाभ जिसका कोई फल न हो। उस फल से भी क्या जो आत्म-शान्ति न देवे। जननी से यह कहकर वह बोला कि प्रकाश और तिमर की संगति (सामानाधिकरण्य) किस प्रकार हो सकता है?

अथ प्रपन्नः प्रविहाय मोहं, गेहेन साकं स परावरज्ञः।
नीडं परित्यज्य सुजातपक्षपतत्रिवद्व्योमतलञ्जगाहे ॥ १८॥

तदनन्तर ज्ञानी मूलशंकर ने मोह सहित घर को छोड़कर निकल जाने पर जिस प्रकार पक्षी स्वतन्त्र होकर आकाश में उड़ जाता है, इसी प्रकार परावरज्ञ बालक मूलशंकर भी स्वतन्त्र वायुमंडल में विहार करने लगे।

मुधा प्रयासो विहितः पितृभ्यां समुत्सुकाभ्यां निगृहीतुमेनं।
मायामये मञ्जुलमोहजाले किं बध्यते क्वापि पटे पतगः ॥ १९ ॥

मूलशंकर को आकर्षित कर दुनिया के मायामय जाल में फँसाने के लिए उसके माता पिता ने व्यर्थ ही प्रपञ्च किया, क्योंकि अग्नि स्फुल्लिंग क्या कभी कपड़े में बांधा जा सकता है? (कदापि नहीं)।

समस्तसारस्वतपारगेऽस्मिन्, विपश्चितां नूनमपश्चिमे च।
गुरुव्रजानन्दयतिप्रभावाद्, हेम्नः परामोद इवाविरासीत् ॥ २० ॥

समस्त ज्ञान सागर के पारदृश्वा तथा विद्वानों में अग्रसर मूलशंकर रूपी स्वर्ण में गुरु व्रजानन्द जी महाराज के सम्पर्क से सुगन्धि उत्पन्न हो गई थी।

एष एव किल मूलशंकरः, बालभास्कर इव स्वरोचिषा।
सम्बभार च दयापुरस्सरानन्द इत्यनुपदं पदं पुनः ॥ २१ ॥

इसी मूलशंकर ने पीछे से (संन्यास लेने के पश्चात्) बालभास्कर के तेज के समान अपने तेज से, दया है आदि में जिसके ऐसे आनन्द (दयानन्द) पद को धारण किया।

केचिद्बुधाः शङ्कर एव साक्षादयं स्वयं विग्रहवान् हि वेदः।
पुम्भावमाप्ता हि सरस्वतीत्थं, बुधा अमुं ते बहुधा शशंसुः ॥ २२ ॥

मूलशंकर की अद्भुत विद्या को देखकर कोई-कोई विद्वान् तो इन्हें साक्षात् शंकर ही कहने लगे, या यह स्वयं शरीर धारी वेद ही है, अथवा पुरुषरूप धारण करके साक्षात् सरस्वती है। इस प्रकार विद्वान् इसकी बहुत-बहुत प्रशंसा करने लगे।

अतर्क्यतर्कोऽश्रुतपूर्वयुक्तिः प्रयुक्तिशैली च विलक्षणास्य।
वाङ्माधुरी रीतिरवर्णनीया व्यनक्ति सर्वं तदलौकिकत्वम् ॥ २३ ॥

महर्षि दयानन्द का तर्क अतर्क्य एवं युक्ति अश्रुतपूर्व और तर्क एवं युक्ति को प्रयोग करने की शैली विलक्षण तथा वाणी माधुर्य अवर्णनीय था, जिससे उसका अलौकिकत्व स्पष्ट प्रकट होता था।

विद्याऽनवद्या विमलास्य वाणी साक्षाद्वपुष्मानिव दिव्यतेजः।
लोकोत्तरः कोऽपि गिरां प्रभावः, स्वर्गावतीर्णः स तु कोऽपि देवः ॥२४॥

जिसकी विद्या निर्दोष और वाणी विमल थी। ऐसा प्रतीत होता था जैसे साक्षात् स्वयं तेज ही शरीर धारण करके आ गया हो। उनकी वाणी या उपदेशों का प्रभाव भी असाधारण था। उन्हें देखने से ऐसा प्रतीत होता था जैसे स्वर्ग से उतर कर कोई देव आ गया हो।

विशालभालः परिफुल्लनेत्रः, प्रलम्बनासः स्मितचुम्बिवक्त्रः।
हेमद्रवालेपिशरीरयष्टिः स वेधसो नूनमनन्यसृष्टिः ॥२५॥

विशाल भाल, (कमल के समान) प्रफुल्ल नेत्र, सुन्दर लम्बी नाक, सदा मुस्कराता वदनारविन्द, मानो सुवर्ण के द्रव से आलिप्त शरीरयष्टि (ऋषि दयानन्द का सुवर्ण के समान कान्तिमान् शरीर) मानो ब्रह्मा की कोई अपूर्व ही सृष्टि सी भासित होती थी।

गुरुव्रजानन्दयतेर्निदेशं हृदोररीकृत्य मुदा यतीशः।
वेदान् विलुप्तान् पुनरुद्धरेति समस्तदेशे विचचार धीरः ॥२६॥

गुरु विरजानन्द यति के इस आदेश को कि विलुप्त वेदों का पुनः उद्धार करो, हृदय से स्वीकार कर समस्त देश में धीरवृत्ति (स्वामी दयानन्द जी) वेद प्रचार के लिए भ्रमण करने लगे।

पाखण्डिनां खण्डनकेसरीन्द्रः गीर्वाणवाङ्मण्डितमण्डनञ्च ।
आखण्डलः पण्डितमण्डलस्य मार्त्तण्डवञ्चारुरुचा बभासे ॥२७॥

पाखण्डियों के खण्डन में शेर के समान पराक्रमी, संस्कृतविशेषज्ञों में अलङ्कार के समान, देदीप्यमान पण्डित मंडल में इन्द्र के समान। मानो सूर्य की भाँति वह अपनी प्रखर ज्ञान किरणों से चमकता था।

परिभ्रमन् यस्तु समग्रदेशे उज्ज्वालयन् वेदविभाप्रदीपम् ।
प्रबोधयामास सुषुप्तलोकान् तेषां स्वरूपं विमलं पुराणम् ॥२८॥

तत्पश्चात् ऋषि ने समग्र देश में भ्रमण करते हुए वेद के ज्योतिमय प्रदीप को जलाकर प्रसुप्त लोगों को अपने पुनीत प्राचीन स्वरूप का बोध कराया।

जगद्गुरुर्भारतवर्षदेश आसीत्पुरा योऽखिलविश्ववन्द्यः ।
प्राज्यञ्च राज्यं किल चक्रवर्ती भुञ्जान एष प्रथितप्रभावः ॥२९॥

जो देश (भारत) कभी जगत् गुरु और विश्ववन्द्य था और विशाल सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य का उपभोग करता था और बड़ा प्रभावशाली था।

स एव देशो विधिदुर्विलासात् जातः पराधीनतमः स्वदोषात् ।
विप्राः प्रलोभेन हि विप्रलब्धाः ये क्षत्रियास्तेऽपि विलासमुग्धाः ॥३०॥

वही देश भारत दुर्भाग्य से और अपने ही दोषों से आज पराधीन हो गया। विप्रों को प्रलोभन ने ठग लिया और क्षत्रिय भी भोग विलास में मुग्ध हो गए।

दशा विशाञ्चापि च शोचनीया क्षुद्रा पुनः शूद्रजनादिकिकथा ।
इत्थं विपर्यासमिताः समस्ताः ते ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः ॥३१॥

इसी प्रकार वैश्यों की दशा भी शोचनीय हो गई फिर शूद्रादि जैसों की क्षुद्र कथा का क्या कहना। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सभी विगलित पथ हो गए।

वर्णाश्रमाचारविधिः प्रणष्टः नष्टा समस्ता श्रुतिधर्मगाथा ।
भूपाश्च ते भोगविलासमुग्धाः प्रजाजनद्वेषदवाग्निदग्धाः ॥३२॥

वर्णाश्रम धर्म प्रायः नष्ट हो गया, वैदिक धर्म की भावना विलुप्त हो गई, राजा लोग भोगविलास में मदान्ध हो गये और प्रजाजन भी द्वेषाग्नि में दग्ध हो गए।

यद्भारतं विश्वगुरोरुपाधिं बभार सर्वत्र च सुप्रतिष्ठाम् ।
एकातपत्रञ्च शशास विश्वं तदद्य दास्यं समवाप हन्त ॥३३॥

जो भारत कभी विश्व गुरु होने का गर्व करता था और विश्व में सर्वत्र प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाता था, वह आज दासता के फन्दे में फंस गया है, कितने शोक की बात है!

सा विश्ववारार्यसुसंस्कृतिर्नः स्वर्गोपमं वैभवमात्मनीनम् ।
सर्वं विलीनं निजकर्मदोषात् दास्यात्परः कोऽस्ति महाभिशापः ? ॥३४॥

वह विश्ववारा (संसार से वरण करने योग्य) हमारी आर्यसंस्कृति नष्ट हो गई है, अपना स्वर्ग तुल्य समस्त वैभव जाता रहा और अशुभ कर्मों के दोष से हम दास बन गये।

अतः प्रयत्नेन पुनः स्वराज्यं प्राप्यं स्वसर्वात्मभवैः प्रयत्नैः।
सर्वैश्च सम्भूय कृतः प्रयासः विधास्यति क्षिप्रतरं स्वराज्यम् ॥३५॥

अतः सर्वोत्तम भाव से पुनः स्वराज्य प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। सबका सम्मिलित प्रयास हमें शीघ्र ही स्वतन्त्र बना देगा।

स्वराज्यतुल्यं न हि किञ्चिदस्ति सौभाग्यकृत् शान्तिकरं नराणाम्।
यावत्स्वराज्यं लभते न राष्ट्रं समुन्नतिस्तावदसम्भवैव ॥३६॥

मनुष्यों के लिये स्वराज्य के समान कोई भी वस्तु सौभाग्यकारक तथा शक्तिदायक नहीं है। जब तक स्वराज्य न मिले, राष्ट्र की उन्नति असम्भव ही है।

स्वातन्त्र्यकल्पद्रुम आफलन्ति, फलानि पीयूषरसाञ्चितानि।
आस्वाद्य यानि प्रभवन्ति लोकाः सौभाग्यसद्बुद्धिसमृद्धिशीलाः ॥३७॥

स्वतन्त्रता के कल्पवृक्ष में पीयूष, रस-सम्पन्न (अमृतमय) फल फलते हैं, जिनका आस्वादन करके लोग सौभाग्य, सुबुद्धि तथा समृद्धि से युक्त बन जाते हैं।

इत्यादिकं तद्वदनारविन्दात् रसं गिरां निर्गलितं हि दिव्यम्।
निपीय पीयूषनिभं श्रुतिभ्यां को नाम कौतूहलवान्नवासीत् ॥३८॥

इत्यादि ऋषि के वदनारविन्द से निर्गलित वेदरूपी अमृतरस को श्रवणपुट से पान करके कौन व्यक्ति ऐसा था जो आश्चर्यचकित न हो गया हो? (अर्थात् सभी श्रोता अत्यन्त प्रभावित होकर ऋषि के भक्त बन गये।)

प्रभासनाद्भास्वरवेदभासा रतं सुरम्यं रमणीयभावात्।
प्रवर्षणाच्चैवमनन्तशान्तेर्बुधा इदं भारतवर्षमाहुः ॥३९॥

वेद रूपी प्रभा से भासित होने से, सौन्दर्य से मनोहर लगने वाले तथा अनन्त शान्ति की वर्षा करने से ही महापुरुषों ने इसका 'भारत-वर्ष' यह नाम रक्खा। (अतः फिर से उसी वैदिक प्रभा को सर्वत्र प्रज्ज्वलित करना चाहिए।)

इत्थं यतिर्जागरणप्रदीपं प्रदीपयन् सांस्कृतिकीं द्युतिञ्च।
वव्राज योगी स समस्तदेशे, महापरिव्राडिति सुप्रसिद्धः ॥४०॥

इस प्रकार यतिवर्य ऋषि दयानन्द जागृति के प्रदीप और सांस्कृतिक द्युति को प्रदीप्त करते हुए महान् परिव्राट् इस नाम से प्रसिद्ध हो गये।

सर्वस्वं यन्मनुजजनुषः संसृतेस्तत्त्वभूतम्, मोक्षानन्दं परमरमणं तं गतार्थं समाधिम्।
त्यक्त्वा येन प्रवरमुनिना सर्वलोकोपकृत्यै, यावज्जीवं प्रयतितवताऽकारि किन्नि कृत्यम् ॥४१॥

इस प्रकार मनुष्य जीवन के सर्वस्व, संसार के सारभूत मनोविकारहीन समाधि सुख को ही नहीं अपितु परम रमणीय मोक्षानन्द को भी समस्त लोकोपकार के लिये जिस ने त्याग दिया उस महामानव ने लोकोद्धार करने के लिये क्या-क्या त्याग तथा प्रयत्न नहीं किये?

विज्ञानज्ञान् विगलितपथान् वेदमार्गाच्च्युतांश्च, दृष्ट्वा तेभ्यः श्रुतिदिनकरोद्भूतमालोकमग्र्यम् ।
दत्वा संस्थापयितुममलां स्वर्ग्यसाम्राज्यलक्ष्मीं सोऽयं स्वामी जगति निखिले यावदायुः प्रयेते ।।४२।।

जिसने वेदमार्ग से च्युत हुए, विगलित पथ, विज्ञ और अज्ञ दोनों को वेद भास्कर का उत्तम प्रकाश देकर समस्त विश्व में स्वर्ग्यस्वतन्त्रसाम्राज्य-लक्ष्मी को पुनः स्थापित करने के लिये जीवन भर भारी त्याग और प्रयत्न किये ।

स वेदज्ञानांशून् दिशि दिशि किरन् भास्कर इव, विनेता सञ्जातः सकलजगतां धर्मविषये ।
य ईशस्यास्तित्वं मरणघटनातः प्रथितवान्, दयानन्दः स्वामी यतिपतिवरोऽसौ विजयताम् ।।४३।।

जो भगवान् भास्कर के समान वेदज्ञानरूपी किरणों को दिग्दिगन्तरों में फैलाते हुए विशद धर्मक्षेत्र में सब धर्माचार्यों में नेता कहलाये, वे यतीश्वर महर्षि दयानन्द स्वामी शाश्वत विजय को प्राप्त करते रहें ।

महर्षि का स्वर्ण स्वप्न—

एकच्छत्रं विलसतुपुनश्चक्रवर्त्तिस्वराज्यं धर्मश्चैकः स्फुरतु जगतीमण्डलेऽखण्डरूपः ।
लोकाः सर्वेऽप्यनुजसदृशाः बन्धुभावं दधानाः राजन्तां ते दिविषदुपमाः शान्तिसौख्यं लिहन्तः ।।४४।।

समस्त जगतीमण्डल में अखंड रूप से एकच्छत्र साम्राज्य की स्थापना हो और सब का एकच्छत्र (सार्वभौम) धर्म भी एक ही हो। समस्त विश्व अनुजसदृश-बन्धुभावनाओं से आप्लुत होकर रहे और सब पूर्ण शान्ति-सुख-सुधा को पान करते हुए देवताओं के तुल्य जीवन यापन करने वाले हों ।

टिप्पणी—ये पद्य लेखक ने स्वरचित 'दयानन्दोदय' महाकाव्य से संकलित किये हैं ।

ओंकार-माहात्म्य

विद्यामार्तण्ड डा० मङ्गलदेव जी शास्त्री, ज्योतिराश्रम, बनारस

वेदादि-शास्त्रों में ओंकार के अद्भुत माहात्म्य का वर्णन किया गया है। उस माहात्म्य को अतिशयोक्ति न समझना चाहिए। उसका आधार निश्चय ही ऋषि-मुनियों का अपना अनुभव था। उस माहात्म्य को पढ़कर यही मानना पड़ेगा कि एक सच्चे श्रद्धालु के लिए ओंकार ऐसा चिन्तामणि है जिसके द्वारा मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर सकता है—"एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्" (कठोपनिषद् १।२।१६), अर्थात्, ओंकार को जानकर कोई भी जिस पदार्थ को चाहता है उसको पा सकता है।

छान्दोग्योपनिषद्, माण्डूक्य-उपनिषद्, कठ-उपनिषद्, श्वेताश्वतर-उपनिषद्, भगवद्गीता, मनु-स्मृति आदि में अनेकानेक स्थलों में ओंकार का वर्णन है। उससे स्पष्ट है कि ओंकार ब्रह्म-प्राप्ति का एक अद्वितीय साधन है।

पातञ्जल-योग -सूत्रों में कहा है कि परमेश्वर का मुख्य वाचक शब्द ओंकार ही है और ओंकार के जप और अर्थ के चिन्तन से अध्यात्म-मार्ग पर चलने वाला सरलता से एकाग्रता तथा अन्त-र्मुखता को प्राप्त कर सकता है और उसके मार्ग में आने वाले सब प्रकार के विघ्न स्वयं नष्ट हो जाते हैं।

इसी ओंकार का एक आकर्षक, साथ ही वास्तविक वर्णन, माहात्म्य के रूप में अपने शब्दों में, हम नीचे देते हैं। निश्चय ही जिज्ञासु लोगों को वह अत्यन्त प्रिय लगेगा। साथ ही हम आशा करते हैं कि पाठक इस को, कविता के रूप में नहीं, किन्तु आध्यात्मिक भावना के रूप में ही पढ़ेंगे और प्रत्येक विचार-धारा को अपने मन में सजीव देखने का यत्न करेंगे।

[१] ओंकार का दोला या झूले के संगीत के रूप में वर्णन—

प्रेमकारुण्ययोर्धाम तत्त्वं विश्वनियामकम् ।
यत्, तेन निर्मितामेतां तेनैवान्दोलितां तथा ॥१॥
श्वासप्रश्वासयोर्दोलामारुढो मोदनिर्भरम् ।
गायाम्योंकारसंगीतं मधुरं मधुराक्षरम् ॥२॥

अर्थात्, प्रेम और कारुण्य के स्थान तथा सारे विश्व के नियन्ता भगवान् ने श्वास और प्रश्वास की दो डोरियों वाली एक दोला (भूला) मेरे लिए बनायी है और स्वयं ही उस दोला को आन्दोलित कर रहे हैं। उन्हीं के द्वारा मैं उस दोला में बैठा हुआ आनन्द-विभोर होकर मीठे स्वर में मधुराक्षर ओंकार रूपी संगीत को गा रहा हूँ। ठीक उसी तरह, जैसे कोई बालक अपने पिता द्वारा झूले में बैठाया और झुलाया जाकर आनन्द-मग्न होकर गीत गाता है।

[२] माता को बुलाने के लिए बच्चे के आह्वान के रूप में वर्णन—

यासौ सर्वजगन्माता सर्वदेवनमस्कृता ।
ऋषिभिर्मुनिभिर्गीता सर्वशास्त्रोपवर्णिता ॥३॥
नानासन्तापसन्त्रस्तस्तस्या आह्वानमुत्तमम् ।
ओंकारमाश्रये नित्यं भक्तिप्रवणमानसः ॥४॥

अर्थात्, समस्त देवताओं से नमस्कृत, ऋषियों और मुनियों से गाई गई, तथा सब शास्त्रों से वर्णन की हुई जो सारे जगत् की माता है। ओंकार उसके आह्वान का, अपनी ओर आकृष्ट करने का, उत्कृष्ट साधन है। अनेकानेक सन्तापों से त्रस्त होकर मैं भक्ति में लगा हुआ सर्वदा उसी ओंकार का आश्रय लेता हूँ।

अभिप्राय यह है कि डरे हुए बच्चे की तरह मैं भी नाना संतापों से डरा हुआ ओंकार द्वारा ही विश्व की माता को बुलाना चाहता हूं। उनके बुलाने के लिए यही ओंकार सर्वोत्तम आह्वान है।

[३] भगवत्पद की प्राप्ति के लिये सोपान के रूप में वर्णन—

योगिनामपि दुर्गम्यं भक्तानामपि दुर्लभम् ।
ज्ञानिनामपि दुश्चिन्त्यं जगतः प्रभवाप्ययम् ॥५॥
कूटस्थं शाश्वतं दिव्यं विष्णोर्यत् परमं पदम् ।
ओमित्युद्गीथिनः प्राहुस्तस्य सोपानमद्भुतम् ॥६॥

अर्थात्, ओम् का गान करने वाले आचार्यों का कहना है कि ओंकार ही उस कूटस्थ शाश्वत और दिव्य भगवत्पद की प्राप्ति के लिये एक अद्भुत सीढी है, जो योगियों के लिए भी दुर्गम्य है, भक्तों के लिये भी दुर्लभ है, ज्ञानियों के लिए दुश्चिन्त्य है और जहाँ से जगत् की उत्पत्ति होती है और जिस में प्रलय होता है।

[४] आत्मरक्षार्थ कवच के रूप में वर्णन—

आन्तराणामरातीनां विजयव्रतधारिणाम् ।
भवबन्धविनाशार्थं मुनिनां धर्मचारिणाम् ॥७॥
ओंकारं परमं प्राहुराश्रयं तद्विदो बुधाः ।
तमेनं सुहृदं मन्ये "ब्रह्मवर्म ममान्तरम्" ॥

अर्थात्, काम, क्रोध, मद, मत्सर, आदि आभ्यन्तर शत्रुओं को विजय करने का व्रत लेने वाले

और भव-बन्ध अर्थात् सांसारिक जीवन की त्रुटियों और अपूर्णताओं की निवृत्ति के लिये धर्माचरण में रत मुनियों का ओंकार ही एक मात्र उत्कृष्ट सहारा है, ओंकार के तत्त्व को जानने वालों का ऐसा मत है। उसी ओंकार को मैं ब्रह्मरूप में अपना सुदृढ आध्यात्मिक कवच समझता हूँ।

"ब्रह्म वर्म ममान्तरम्" यह अथर्ववेद (१।१९।४)का मन्त्र है। उसी की ओंकार-परक व्याख्या यहाँ की गयी है। अभिप्राय यह है कि ईश्वर-भक्त के लिए ओंकार ही एक सुदृढ़ कवच का काम करता है।

[५-९] सुगन्धित पुष्प, परमज्योतिः, अमृत, परमौषध तथा ब्रह्मास्त्र के रूप में वर्णन-

ज्ञानाविज्ञानवृक्षस्य सुगन्धि कुसुमं शुभम्।
ज्योतिषामपि यज्ज्योतिरात्मनो भोज्यममृतम्॥९॥
नानासन्तापतप्तानां यच्चाप्यौषधमुत्तमम।
पापौघं भस्मसात्कर्तुं ब्रह्मास्त्रं ब्रह्मवादिनाम्॥१०॥

अर्थात् ओंकार ज्ञान-विज्ञान-रूपी वृक्ष का सुन्दर, सुगन्धित पुष्प है, अर्थात् जैसे किसी फूलने वाले पौदे का उत्कृष्ट सौंदर्यमय सारांश पुष्प-रूप में विकसित होना है, इसी तरह समस्त ज्ञान और विज्ञान का अन्तिम निचोड़ या परम ध्येय या पर्यवसान ओंकार है। ओंकार समस्त प्रकाशमय पदार्थों का भी प्रकाश है।

ओंकार ही वास्तव में आत्मा का अमृतमय भोज्य है। अभिप्राय यह है कि मनुष्यमात्र में अपने को पूर्ण की ओर ले जाने की जो भूख है उसकी सदा के लिए तृप्ति ओम् से ही हो सकती है।

नानाविध सन्तापों से सन्तप्त प्राणियों के लिए ओंकार ही सर्वोत्तम अचूक औषध है।

मनुष्यों के अन्दर जो पापों की राशि घर किए हुए है उस को आमूल भस्मसात् करने के लिए ओंकार को ही ब्रह्मज्ञानी लोग अत्यन्त शक्तिशाली ब्रह्मास्त्र समझते हैं।

[१०] सर्व-देवात्मक, सर्वत्र व्यापक मूल-तत्त्व के रूप में वर्णन—

सर्वदेवात्मकं शान्तं तत्त्वमेकरसायनम्।
अथवा बहुनोक्तेन कोऽर्थं एवं विचिन्त्यताम्॥११॥
त्रिलोक्यामपि यत्किञ्चित् तदादाय समन्ततः।
तिष्ठन्तं प्रणवं ध्यायन् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥१२॥

अर्थात्, समस्त देव जिसके अंग हैं ऐसा, सदा एक स्वरूप में रहने वाला (अथवा अद्वितीय रसायन भूत) शान्त तत्त्व ओंकार ही है।

अथवा अधिक कहने से क्या लाभ है, यही समझना चाहिए कि तीनों लोकों में जो कुछ भी विद्यमान है उस सबको अपने में लेकर जो स्थित है, उसी ओंकार का ध्यान करता हुआ मनुष्य ब्रह्मभाव को प्राप्त कर सकता है।

उपर्युक्त ओंकार-माहात्म्य के माहात्म्य का वर्णन

एतदोंकारमाहात्म्यं प्रातः प्रातः पठन्नरः ।
सावधानेन मनसा शान्त एकांतसंस्थितः ॥१३॥
गुरूपदिष्टमार्गेण प्रव्रजन् ब्रह्मणोऽध्वनि ।
प्रणवस्य जपेनार्थभावनेन च नित्यशः ॥१४॥
उत्तरोत्तरमुत्कृष्टं स्थानं प्राप्य, परं पदम् ।
अक्षय्यममृतं दिव्यं लब्ध्वा तिष्ठत्यनामयम् ॥१५॥

अर्थात्, उपर्युक्त ओंकार-माहात्म्य का एकान्त में बैठ कर प्रत्येक दिन प्रातःकाल शान्तचित्त और सावधान होकर जो मनुष्य पाठ करता है वह गुरु द्वारा बतलाये हुए मार्ग से ब्रह्मप्राप्ति की ओर चलता हुआ नित्य अर्थ-विचार के साथ ओंकार के जप से क्रमशः आध्यात्मिक उन्नति करता हुआ निश्चय ही अन्त में अक्षय्य, अमृत, अनामय (सब पीड़ाओं से रहित) आनन्दमय परम पद को प्राप्त कर लेता है।

उपसंहार

स एष सरलो मार्गः सर्वकण्टकवर्जितः ।
अत एव सदा सद्भिः सम्प्रदायैः समर्हितः ॥१६॥

अर्थात्, ओंकार-उपासना का उपरिनिर्दिष्ट मार्ग सीधा सादा है। इसमें किसी प्रकार के कण्टकों या विघ्न-बाधाओं या जटिलताओं का डर नहीं है। इसी लिए समस्त सत्-सम्प्रदाय इस मार्ग का आदर करते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि वैदिक मार्ग की तरह जैन, बौद्ध आदि सम्प्रदाय भी ओंकार के माहात्म्य को मानते हैं।

ओम् इत्येकाक्षरं ब्रह्म ॥

'ओम्' यह एक ही पद ब्रह्म (परमात्मा) का रूप है।

धर्म्म और राजनीति

श्री पं० हरिशंकर जी शर्मा, कविरत्न, आगरा

जब राजनीति से धर्म हटाया जाता है,
बढ़ता अधर्म, अन्धेर-अँधेरा छाता है।

जो लोक और परलोक सिद्धि का साधक है,
'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस' का आराधक है।
जिसमें संकीर्ण भावना कभी न आती है,
जिसकी प्रभुता प्रतिक्षण पीयूष पिलाती है।
वह परम तत्त्व सर्वथा भुलाया जाता है,
जब राजनीति से धर्म हटाया जाता है।

सद्धर्म सदा सुख-शान्ति-सुधा बरसाता है,
नय-न्याय-नीति का शुभ सन्मार्ग सुझाता है।
मानवता में वर बन्धु-भाव उमगाता है,
वसुधा का बृहत् कुटुम्ब रूप दरसाता है।
उस विधि-विधान में सार न पाया जाता है,
जब राजनीति से धर्म हटाया जाता है।

अत्याचारों से भूमि काँपने लगती है,
सोती सुनीति दुर्नीति दानवी जगती है।
तब स्वार्थ-असुर दुर्दम्भ-दर्प दिखलाता है,
निजता परता का क्षुद्र भाव भर जाता है।
मानव मानवता पर विष-वज्र गिराता है,
जब राजनीति से धर्म हटाया जाता है।

मत-पन्थ, सम्प्रदायों को धर्म्म बताते हैं,
वे अज्ञ 'दीप' को 'दिनकर' कह भरमाते हैं।
क्या कभी धर्म्म-ध्रुवता ने युद्ध रचाए हैं,
कब सत्य-अहिंसा ने नर-रक्त बहाए हैं।
विपदा-वारिधि में विश्व डुबाया जाता है,
जब राजनीति से धर्म्म हटाया जाता ।

संग्राम-भूमि में तोपें आग उगलती हैं,
अगणित लोगों की देहें जीती जलती हैं।
हो कर अनाथ लाखों जन घुट-घुट रोते हैं,
भूखों मर-मर कर प्राण करोड़ों खोते हैं।
दुर्भिक्ष दुष्ट दानव मानव-दल खाता है,
जब राजनीति से धर्म्म हटाया जाता है।

शासन-सत्ता जब धर्म्म युक्त हो हो जाती है,
बन कर विनीत अति सौम्य रूप सरसाती है।
जनता भी नैतिकता को ही अपनाती है,
तब शान्ति-कान्ति नित सुख-समृद्धि बरसाती है।
सद्भाव-स्नेह का दृढ़ गढ़ ढाया जाता है,
जब राजनीति से धर्म्म हटाया जाता है।

अग्ने नय सुपथा राये ।।

हे ज्ञानरूप भगवन् ! ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये
हमें अच्छे मार्ग से ले चलिये ।

वेद और नवीन वेदान्त

जीवेश्वर-भेद-विषयक वैदिक सिद्धान्त

पं० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति, विद्यामार्तण्ड,
श्री श्रद्धानन्द प्रतिष्ठान, गुरुकुल काङ्गड़ी

जीव और परमेश्वर के भेद और सम्बन्ध विषयक वैदिक सिद्धान्त को वैदिक धर्मोद्धारक-शिरोमणि महर्षि दयानन्द जी ने अपने अमर ग्रंथ सत्यार्थप्रकाश के अन्त में दिये 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' में निम्न शब्दों में प्रकट किया है—

मन्तव्य ५—जीव और ईश्वर, स्वरूप और वैधर्म्य से भिन्न और व्याप्यव्यापक और साधर्म्य से अभिन्न हैं। अर्थात् जैसे आकाश से मूर्तिमान् द्रव्य कभी भिन्न न था, न है, न होगा और न कभी एक था, न है, न होगा, इसी प्रकार परमेश्वर और जीव को व्याप्य-व्यापक, उपास्य-उपासक और पिता-पुत्र इत्यादि सम्बन्ध युक्त मानता हूँ।"

इन तथा अन्य मन्तव्यों के विषय में महर्षि दयानन्द जी ने स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश में स्पष्ट लिख दिया है कि "अब जो वेदादि सत्य शास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्तों के माने हुए ईश्वरादि पदार्थ हैं जिनको कि मैं भी मानता हूँ। सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूँ। मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूँ कि जो तीन काल में सब को एकसा मानने योग्य है।"

महर्षि दयानन्द जी द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त मन्तव्य पर मुख्यतः वेदों के आधार पर कुछ विचार इस लेख में करना चाहता हूँ, क्योंकि कोई भी आस्तिक वेदों के प्रामाण्य से इन्कार नहीं कर सकता। निम्नलिखित वेद मन्त्र इस विषय पर उत्तम प्रकाश डालते हैं—

(१) सब से पूर्व मैं उस सुप्रसिद्ध वेद मन्त्र का उल्लेख एतद्विषयक वैदिक सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिये करता हूँ जिसको महर्षि दयानन्द जी ने विशेष रूप से उद्धृत किया है तथा जो सर्वथा स्पष्ट है। वह मन्त्र निम्नस्थ है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ ऋ० १।१६४।२०

इस का महर्षि दयानन्द जी ने अपने वेद भाष्य में निम्नस्थ अर्थ किया है:—हे मनुष्याः ! यौ (सुपर्णा) शोभनानि गमनागमनादीनि कर्माणि वा ययोस्तौ (सयुजा) यौ समानसम्बन्धौ—व्याप्य-व्यापकभावेन सदैव युक्तौ (सखाया) मित्रवद् वर्तमानौ द्वौ जीवेशौ (समानम्) एकम् (वृक्षम्) यो वृश्च्यते छिद्यते तं कार्यकारणाख्यं वा (परिषस्वजाते) सर्वतः आश्रयतः (तयोः) जीवब्रह्मणोरनाद्योः (अन्यः) जीवः (पिप्पलं) परिपक्वं फलं पापपुण्यजन्यम् सुखदुःखात्मकभोगं वा (स्वादु) (अत्ति) भुंक्ते (अन्यः) परमेश्वरः (अनश्नन्) उक्तभोगमकुर्वन् (अभिचाकशीति) अभिपश्यति ।

महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदभाष्य भाग ३

सत्यार्थप्रकाश में इस मन्त्र का भाषानुवाद इस प्रकार दिया गया है:—"(द्वा) जो ब्रह्म और जीव दोनों (सुपर्णा) चेतनता और पालनादि गुण से सदृश (सयुजा) व्याप्य-व्यापक भाव से संयुक्त (सखाया) परस्पर मित्रता युक्त अनादि हैं और (समानम्) वैसा ही (वृक्षम्) अनादि मूल रूप कारण और शाखा रूप कार्य युक्त वृक्ष, अर्थात् जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न-भिन्न हो जाता है, वह तीसरा अनादि पदार्थ, इन तीनों के गुण कर्म स्वभाव भी अनादि हैं (तयोः अन्यः) इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है वह इस वृक्ष रूप संसार में (पिप्पलम्) पापपुण्यरूप फलों को (स्वाद्वत्ति) अच्छे प्रकार भोगता है और (अन्यः) दूसरा—परमात्मा (अनश्नन्) न भोगता हुआ (अभिचाकशीति) चारों ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है। जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव, और दोनों से प्रकृति भिन्न स्वरूप तीनों अनादि हैं।" (सत्यार्थ प्रकाश समु० सप्तम)

मन्त्र का अर्थ स्पष्ट है और वह जीवेश्वर-प्रकृति-भेद का प्रतिपादक है। यह मन्त्र मुण्डकोपनिषद् और श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी उद्धृत किया गया है जिन पर अद्वैतमतप्रतिपादक श्री शङ्कराचार्य जी का भाष्य विद्यमान है।

मुण्डकोपनिषत् तृतीय मुण्डक प्रथम खण्ड म० १ का भाष्य करते हुए श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—

"तत्र सूत्रभूतो मन्त्रः परमार्थवस्त्ववधारणार्थमुपन्यस्यते—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया···अभिचाकशीति ॥ (द्वा) द्वौ (सुपर्णा) सुपर्णौ शोभनपतनौ सुपर्णपक्षिसामान्याद् वा सुपर्णौ सयुजा) सयुजौ सहैव सर्वदा युक्तौ (सखाया) सखायौ समानाख्यानौ समानाभिव्यक्तिकारणावेवंभूतौ सन्तौ (समानम्) अविशेषम् उपलब्ध्यधिष्ठानतया (एकं वृक्षम्) वृक्षमिवोच्छेदसामान्याच्छरीरं वृक्षं (परिषस्वजाते) परिष्वक्तवन्तौ सुपर्णाविवैकं वृक्षं फलोपभोगार्थम्। अयं हि वृक्ष ऊर्ध्वमूलोऽवाक्-शाखोऽश्वत्थोऽव्यक्तमूलप्रभवः क्षेत्रसंज्ञकः सर्वप्राणिकर्मफलाश्रयस्तं परिष्वक्तौ सुपर्णाविवाविद्याकामकर्मवासनाश्रयलिंगोपाध्यात्मेश्वरौ। तयोः परिष्वक्तयोः (अन्य): एकः क्षेत्रज्ञो लिंगोपाधिवृक्षमाश्रितः (पिप्पलम्) कर्मनिष्पन्नं सुखदुःखलक्षणं फलं (स्वादु) अनेकविचित्रवेदनास्वादरूपं

स्वादु (अत्ति) भक्षयति उपभुंक्तेऽविवेकतः । (अनश्नन्) (अन्यः) इतर ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सर्वज्ञः सर्वसत्त्वोपाधिः ईश्वरो नाश्नाति प्रेरयिता ह्यसौ उभयोर्भोज्यभोक्त्रोर्नित्यसाक्षित्वसत्तामात्रेण स तु अनश्नन् अन्यः (अभिचाकशीति) पश्यत्येव केवलम् । दर्शनमात्रं हि तस्य प्रेरयितृत्वं राजवत् ॥" इस संस्कृत भाष्य का अर्थ अपने शब्दों में न करके मैं 'गीताप्रेस' गोरखपुर में छपे अनुवाद को उद्धृत कर देना पर्याप्त समझता हूं जो निम्न प्रकार है :—

"परमार्थवस्तु को समझने के लिये पहले इस सूत्रभूत मन्त्र का उपन्यास (उल्लेख) करते हैं द्वा सुपर्णा । सयुजा—समानवृक्ष पर रहने वाले दो पक्षी—(जीव और ईश्वर रूप) दो सुपर्णा—सुन्दर पर्ण वाले अर्थात् (नियम्य-नियामक भाव की प्राप्ति रूप) शोभन पतन वाले अथवा पक्षियों के समान (वृक्ष पर निवास तथा फल भोग करने वाले) होने से सुपर्ण-पक्षी तथा सयुज— सर्वदा साथ-साथ ही रहने वाले और सखा यानी समान आख्यान वाले अर्थात् जिनकी अभिव्यक्ति का कारण समान है, ऐसे दो सुपर्ण समान—सामान्यरूप से (दोनों की) उपलब्धि का कारण होने से एक ही वृक्ष-वृक्ष के समान उच्छेद में समान होने के कारण शरीर रूप वृक्ष पर आलिगन किये हुए हैं, अर्थात् फलोपभोग के लिये पक्षियों के समान एक ही वृक्ष पर निवास करते हैं । अव्यक्त रूप मूल से उत्पन्न हुआ सम्पूर्ण प्राणियों के कर्मफल का आश्रयभूत यह क्षेत्रसंज्ञक अश्वत्थ वृक्ष ऊपर को मूल और नीचे की ओर शाखाओं वाला है । उस वृक्ष पर अविद्या, काम, कर्म और वासना के आश्रयभूत लिंगदेह रूप उपाधि वाले जीव और ईश्वर दो पक्षियों के समान आलिंगन किये निवास करते हैं । इस प्रकार आलिंगन करके रहने वाले उन दोनों में एक—लिंगोपाधिरूपवृक्ष को आश्रित करने वाला क्षेत्रज्ञ, पिप्पल यानी अपने कर्म से प्राप्त होने वाला सुख-दुःख रूप फल, जो अनेक प्रकार से विचित्र अनुभव रूप स्वाद के कारण स्वादु है खाता—भक्षण करता यानी अविवेकवश भोगता है । किन्तु अन्य— दूसरा, जो नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वरूप सर्वज्ञ मायोपाधिक ईश्वर है, उसे ग्रहण न करता हुआ नहीं भोगता । यह तो साक्षित्वरूप सत्तामात्र से भोक्ता और भोग्य दोनों का प्रेरक ही है । अतः वह दूसरा तो फल भोग न करके केवल देखता ही है—उसका प्रेरकत्व तो प्रजा के समान केवल दर्शन मात्र ही है ।"

(मुण्डकोपनिषत् सानुवाद शाङ्कर भाष्य सहित पृ० ८५-८६ गीता प्रेस, गोरखपुर)

श्वेताश्वतरोपनिषत् के चतुर्थ अध्याय में जहां इसी 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' मन्त्र को उद्धृत किया गया है, उस का भाष्य भी श्रीशंकराचार्य जी ने उपर्युक्त प्रकार से ही किया है । अन्तर केवल इतना है कि मुण्डकोपनिषद् भाष्य में प्रयुक्त अध्यात्मेश्वरौ के स्थान पर वहां उन्होंने 'विज्ञान-परमात्मानौ' अर्थ किया है । आगे भी 'तयोरन्यः' में 'अन्यः' से 'अविद्याकामवासनाश्रयलिङ्गोपाधि-विज्ञानात्मा' ऐसा अर्थ किया है । यह शब्द मात्र का अन्तर है । अर्थ में कोई भेद नहीं आता ।

इस शाङ्करभाष्य से भी मन्त्र द्वारा जीवेश्वर का भेद अत्यन्त स्पष्टतया सिद्ध होता है । जीवात्मा भोक्ता है और ईश्वर भोक्ता नहीं साक्षी है । यह अन्तर भी स्पष्ट है । लिङ्गोपाधि, मायोपाधि इत्यादि शब्द मन्त्र में कहीं नहीं और न उन का कहीं भाव है । वे श्री शंकराचार्य जी ने अपनी

ओर से घड़ लिये हैं जिन को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

वेदों को अद्वैतवादप्रतिपादक बताने वाले भाष्यकारों में सायणाचार्य से पूर्ववर्ती विक्रमादित्य की चौदहवीं शताब्दी के स्वा० आत्मानन्द का नाम उल्लेखनीय है, जिन का ऋग्वेद १।१६४ पर भाष्य 'अस्यवामीयभाष्यम्' के नाम से पुस्तक रूप में श्री मोतीलाल बनारसीदास का लाहौर में छपवाया हुआ उपलब्ध होता है। उन के कट्टर अद्वैतवादी होने का पाठक महानुभाव इस से पता लगा सकते हैं कि वे ऋ० १।१६४।२६ के 'उपह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम्।' इस मन्त्र का भाष्य करते हुए 'सुहस्तो गोधुक्' का अर्थ "सुखहस्तः सुखकरः शंकराचार्यः स गोधुक् सूत्रवाचां तात्पर्यज्ञः भाष्यकारो व्यासादिसूत्रव्याख्यानद्वारा यथा गां श्रुति दोग्धि तथैव तदर्थानाचार्यं इत्यर्थः॥" अर्थात् शंकराचार्य जी द्वारा किया हुआ अर्थ ही श्रुति का वास्तविक अर्थ है, और कोई नहीं, ऐसा करते हैं।

प्रसंगवश उनके किये इस 'द्वा सुपर्णा सयुजा' वाले मन्त्र का अर्थ तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हुए उद्धृत करना भी उचित प्रतीत होता है। स्वा० आत्मानन्द जी इस मन्त्र के भाष्य में लिखते हैं:—'अतो ब्रह्मविद्यैवाश्रयणाया। सा चाविद्यासिद्धं जीवमनूद्य तत्पदार्थप्रतिपादकममुमर्थमभिप्रेत्य जीवपरमात्मानावाह। द्वौ साधून् अभ्युदयनिःश्रेयसपक्षान् बिभ्रतौ जीव-परमात्मानौ (सयुजा) अन्योन्यममुं च (सखाया) परस्परोपकारिणौ (समानम्) (एकम्) (वृक्षम्) व्रश्चनीयं देहं (परिषस्वजाते) परित आलिङ्ग्य तिष्ठतः। तयोर्मध्ये (एकः) जीवः (पिप्पलम्) पिप्पलफलसमं बहुदोषयुक्तमपि कर्मफलं स्वादु कृत्वा (अत्ति) स्वदिति। (अन्यः) परः परमात्मा (अनश्नन्) अभुञ्जानोऽपि अभितः अत्यर्थं प्रकाशते। कल्पस्तु—

जीवः परश्च प्रतिपादनीयो जीवः परात्मेति विवक्तुकामैः।
एकस्तयोः कर्मफलं तु भुंक्ते, चकाशतेऽन्योऽनशनः परात्मा॥

(अस्यवामीयभाष्यमात्मानन्दकृतम्। पृ० २६)

स्वा० आत्मानन्द के इस भाष्य के द्वारा भी यहाँ जीवात्मा-परमात्मा का भेद स्पष्टतया प्रमाणित होता है, इस में अणुमात्र भी संदेह नहीं हो सकता। सायणाचार्यकृत भाष्य भी लगभग श्री शंकराचार्य व आत्मानन्दकृत भाष्य के समान है। यद्यपि 'ननु सम्बन्धो दिष्टः स च पक्षिणोरिव भेदमपेक्षते अतः कथमैकात्म्यमिति। न, औपाधिकं वास्तवाभेदं चापेक्ष्य प्रवृत्तः। अनेन वास्तवभेदोऽपि निरस्तः।' इत्यादि रूप से जिन्होंने इस तथा अन्य मन्त्रों में प्रतिपादित जीवेश्वर-भेद को यह लिखकर उड़ाने का प्रयत्न किया है कि यह औपाधिक भेद है, वास्तविक नहीं इत्यादि। यह उनकी अपनी कल्पना मात्र है जो अमान्य है। इस मन्त्र के जीवेश्वर-सम्बन्ध-विषयक सिद्धान्त की दृष्टि से अत्यावश्यक होने के कारण मैंने तुलनात्मक दृष्टि से मन्त्रार्थ का विवेचन किया है जिस से महर्षि दयानन्द जी द्वारा प्रतिपादित अर्थ की ही पुष्टि होती है, इस में सन्देह नहीं। अद्वैतवादी भाष्यकारों को लिंगोपाधि, मायोपाधि, औपाधिक भेद आदि की अनेक कल्पनाएँ खैंचातानी से करनी पड़ती हैं, जिनके लिये मन्त्रों में कोई आधार नहीं।

मुण्डकोपनिषत् के तृतीय मुंण्डक में इस वेद मन्त्र को उद्धृत करके इसी की व्याख्या के रूप में निम्न वचन दिया है जो बड़ा महत्त्वपूर्ण है—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्, अस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

अर्थात् अनादि नित्य होने से अपने समान प्रकृति रूप वृक्ष में फँसा हुआ जीव शरीर, इन्द्रिय, मन आदि पर अपने स्वामित्व को खोकर मोह अज्ञान वश शोक करने लग जाता है। किन्तु जब वह अपने से अन्य अर्थात् भिन्न आनन्दमय ईश्वर के दर्शन करता है और उसकी महिमा का चिन्तन करता है तब वह शोक रहित हो जाता है।

यहां भी जीव-ईश्वर-प्रकृति-भेद का स्पष्ट प्रतिपादन है। इतना होने पर भी श्री शंकराचार्य और सायणाचार्यादि ने उपर्युक्त वेद मन्त्र और इस उपनिषद् वचन को जिस खेंचातानी से जीवेश्वर-अभेद-परक लगाने का यत्न किया है उसे देख कर किसी भी निष्पक्षपात विद्वान् को आश्चर्य हुए विना नहीं रह सकता। 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्' की व्याख्या में श्री शंकराचार्य जी लिखते हैं-

"(जुष्टम्) सेवितं अनेकैर्योगमार्गैः कर्मभिश्च (यदा) यस्मिन् काले पश्यति ध्यायमानः (अन्यम्) वृक्षोपाधिलक्षणाद् विलक्षणम् ईशम्-असंसारिणम् ईशम्-सर्वस्य जगतोऽयमहमस्यात्मा सर्वस्य समः सर्वभूतस्थः नेतरः अविद्याजनितोपाधिपरिच्छिन्नो मायात्मेति विभूतिं महिमानं च जगद्रूपम् अस्यैव मम परमेश्वरस्येति यदैवं द्रष्टा तदा वीतशोको भवति।" (मुण्डकोपनिषद् मुण्डक ३ भाष्ये) 'यहाँ मैं सारे जगत् का आत्मा और सब प्राणियों में स्थित हूँ न कि अविद्याजन्य उपाधि से परिच्छिन्न मायात्मा। यह जगत् मुझ परमात्मा का ही रूप है' इत्यादि व्याख्या उपर्युक्त वेद मन्त्र और उपनिषत् के वचन के सर्वथा प्रतिकूल और कपोलकल्पित है। श्री सायणाचार्य ने 'द्वा सुपर्णा सयुजा' की व्याख्या में यह भी लिखा है कि "न च जीवस्य वस्तुत ईश्वरत्वे कथं जीवबुद्धया संसार-शोकाविति वाच्यं तयोर्मोहकृतत्वात् तस्माद् वस्तुत एक एव भेदस्तु मोहकृत इति प्रसिद्धम्। अनुभवदशायाँ लौकिकबुद्धया भेदम् अभ्युपेत्योच्यते तयोरन्यः इति। तस्माद् अवास्तवभेदमुपजीव्य तयोरन्य इत्युक्तम्।" इत्यादि। अर्थात् इस मन्त्र में अवास्तविक वा लौकिक बुद्धि से कल्पित जीव और ईश्वर के भेद को मान कर 'तयोरन्यः' इत्यादि कहा गया है। ईश्वर के अन्दर शोकादि, मोह के कारण हैं। वास्तव में जीव ईश्वर ही है, इत्यादि।

जो पाठक निष्पक्षपात दृष्टि से उपर्युक्त वेद मन्त्र और उसी भाव के व्याख्यान रूप मुण्डकोपनिषत् के वचन को पढ़ेंगे उन्हें स्पष्टतया ज्ञात हो जायगा कि वैदिक सिद्धान्त जीव, ईश्वर और प्रकृति के भेद का है। यहाँ उपाधि आदि की कल्पना का कहीं विधान नहीं जो नवीन वेदान्त के ग्रन्थों में पीछे से की गई, पर जो शंका का समाधान करने में सर्वथा असमर्थ है। यदि वस्तुतः जीव परमात्मा से भिन्न नहीं हैं तो उस सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमात्मा को मोह, अज्ञान, शोक, दुःख आदि कैसे प्राप्त हो सकते हैं? वह माया ब्रह्म से भिन्न है वा अभिन्न? यदि भिन्न हैं तो अद्वैत न रहा; ब्रह्म और माया दो वस्तुएँ माननी पड़ीं। यदि भिन्न नहीं है तो वह ब्रह्म

पर आक्रमण करके उसे शोक मोहादि में कैसे फँसा लेती है ? क्या वह ब्रह्म की अपेक्षा अधिक शक्तिशालिनी है। उस माया का स्वरूप क्या है ? अनिर्वचनीय कह कर टालमटोल करने से कभी किसी निष्पक्ष विचारक का समाधान नहीं हो सकता। निम्नलिखित वेद मन्त्र भी इस जीवेश्वर-भेद तथा उनके सम्बन्ध का स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं।

(२) न तं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ।।ऋग् १०।८२।७।।

अर्थात् हे जीवो ! तुम उस परमात्मा को नहीं जानते जिसने इन सब पदार्थों को उत्पन्न किया है। वह ब्रह्म तुमसे (अन्यत्) भिन्न किन्तु साथ ही (युष्माकम् अन्तरं बभूव) तुम्हारे अन्दर है। तुम (नीहारेण प्रावृताः) अज्ञानान्धकार से आवृत स्वार्थी तथा कपटी, दम्भी होने के कारण उस ब्रह्म को नहीं जानते; ऐसा मन्त्र के उत्तरार्ध में बताया गया है। इस प्रकार मन्त्र में जीवों का, जिन्हें सम्बोधन किया जा रहा है, परमात्मा तथा साँसारिक पदार्थों से भेद सर्वथा स्पष्ट रूप में बताया गया है। यह मन्त्र यजु० १७।३१ में भी आया है। इस की उपर्युक्त रीति से व्याख्या करते हुए महर्षि दयानन्द ने भावार्थ में लिखा है "यद् ब्रह्म जीवादिभ्यो भिन्नम् अन्तर्यामि सकलनियन्तृ सर्वत्र व्याप्तमस्ति तज्ज्ञातुं पवित्रात्मान एवार्हन्ति नेतरे ।।" (यजुर्भाष्ये भाग २ पृ० १७५३)

अर्थात् जो ब्रह्म जीवादि से भिन्न अन्तर्यामी, सकल विश्व का नियामक, सर्वत्र व्याप्त है उसे पवित्रात्मा ही जान सकते हैं अन्य नहीं। अद्वैतवादी होते हुए भी सायणाचार्य, उवट, महीधर सबको इस मन्त्र की व्याख्या में जीवेश्वर-भेद को स्वीकार करना पड़ा है। सायण ने 'हे नराः तं विश्वकर्माणं न जानीथ य इमानि भूतानि उत्पादितवान्। यूय नीहारसदृक्षेनाज्ञानेनाच्छन्नाः अतो न जानीथ। ईदृशाज्ञानेन सर्वे जीवाः प्रावृताः। युष्माकम् अहं प्रत्ययगम्यानां जीवानाम् अन्तरम् अन्यत् अहं प्रत्ययगम्यादतिरिक्तं सर्ववेदान्तवेद्यम् ईश्वरतत्त्वं भवति विद्यते।' इत्यादि काण्वसहिता भाष्य और ऋग्वेद भाष्य में लिखा है जिसको महीधर ने अक्षरशः अपने यजुर्वेद भाष्य में उद्धृत किया है। उवटाचार्य ने 'इदानीं विश्वकर्मा मनुष्याणामुपदेशं ददाति। न (तं विदाथ) न जानीथ तं परं पुरुषम्। य इमानि भूतजातानि जनयति उपसंहरति च। अतः कारणात् युष्माकं च तस्य च पुरुषस्य अन्यत् महत् अन्तरं बभूव। पुरुषो जनको यूयं जन्याः। पुरुषो भ्रामको यूयं भ्राम्याः।' इत्यादि विस्तार-भय से भाष्यानुवाद की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इसमें जीवात्माओं के परमात्मा से भेद को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में सब भाष्यकारों को स्वीकार करना पड़ा है, क्योंकि 'अन्यद् युष्माकमन्तरं बभूव' आदि भेद-सूचक शब्द सर्वथा स्पष्ट हैं।

इसी मन्त्र की व्याख्या शतपथ १४।६।७ में की गई है कि—

'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्।
य आत्मनि तिष्ठन्नन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।।
(शतपथ ब्राह्मण १४।६।७ अच्युताश्रम संस्करण खण्ड २ पृ० १४)

अर्थात् जो आत्मा के अन्दर स्थित होता हुआ भी आत्मा से भिन्न है, जिसको अज्ञानी आत्मा

नहीं जानता, आत्मा जिसके शरीर के समान है, आत्मा के अन्दर स्थित होकर जो आत्मा का नियमन करता है वह तेरा अन्तर्यामी आत्मा परमेश्वर है। इससे बढ़कर जीवेश्वर-भेद अथवा द्वैत का प्रतिपादन और क्या हो सकता है ?

(३) तीसरा मन्त्र जिससे जीवों की अनेकता और उनका ईश्वर से भेद अत्यन्त स्पष्टतया सूचित होता है और कट्टर अद्वैतवादी भाष्यकार भी जिसका अपलाप नहीं कर सके, वह निम्न-लिखित सामवेद का मन्त्र है—

इन्द्र क्रतुं न आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा।
शिक्षा णो ऽस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥ साम म० २५९। ऐन्द्र पर्व।

इसमें इन्द्र के नाम से परमेश्वर को सम्बोधित करते हुए कहा है कि हे (इन्द्र) परमैश्वर्य-सम्पन्न प्रभो (नः क्रतुम् आभर) तू हमें ज्ञान दे (पिता पुत्रेभ्यो यथा) जिस प्रकार पिता पुत्र को देता है। हे (पुरुहूत) अनेक भक्तों द्वारा पुकारे गये परमेश्वर (अस्मिन् यामनि) इस संसार मार्ग में अथवा मन को रोकने के कार्य में (नः शिक्ष) तू हमें शिक्षा दे जिससे हम (जीवाः) जीव (ज्योतिः अशीमहि) ज्ञान ज्योति प्राप्त कर सकें।

सायणाचार्य ने इसका भाष्य करते हुए लिखा है—

"हे (इन्द्र) भूतानि प्रकाशयितः इन्द्र परमात्मन् त्वं (क्रतुम्) कर्म स्वविषयज्ञानं वा (नः) अस्मभ्यम् (आभर) आहर प्रयच्छेत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः (पिता पुत्रेभ्यो यथा) लोके विद्यां धनं वा प्रयच्छति तथा नोऽस्मभ्यं विद्यां धनं वा प्रयच्छ। हे (पुरुहूत) बहुभिराहूतेन्द्र (यामनि) सर्वैः प्राप्तव्येऽस्मिन् प्रकृते ब्रह्मणि जीवा वयं (ज्योतिः) परं ज्योतिः (अशीमहि) सेवेमहि।" (साम० सायण-भाष्यम्—जीवानन्दविद्यासागरसम्पादितम् पृ० १३७)

माधव ने भी पूर्वार्द्ध का सायण की तरह भाष्य करते हुए उत्तरार्द्ध का अर्थ इस प्रकार किया है। "हे (पुरुहूत) पुरुभिर्यजमानैः आहूत त्वद्दत्तया च प्रज्ञया जीवाः--जीवन्तो वयम् (ज्योतिः) ज्ञानम् (अशीमहि) प्राप्नुयामेत्यर्थः।" पृ० १९०। भरतस्वामिकृतभाष्य में पूर्वार्द्ध का अर्थ सायण के अनुसार है। उत्तरार्द्ध का इस प्रकार है—"हे पुरुहूत अस्मिन् (यामनि) यज्ञे जीवा वयम् (ज्योतिः) सूर्यम् (अशीमहि) प्राप्नुयाम प्रतिदिनम्।"

(सामसंहिता डा० कुन्हनराजसम्पादिता ऐड्यारपुस्तकालय पृ० १९०)

इन दोनों भाष्यों से भी प्रार्थना करने वाले जीवों का इन्द्रपदवाच्य परमेश्वर से भेद अत्यन्त स्पष्ट है। ज्योति की प्रार्थना भेद में ही संभव है न कि अभेद में।

(४) जीवेश्वर सम्बन्ध पिता और पुत्र का है, ऐसा जो महर्षि दयानन्द ने लिखा है, उसका आधार निम्नस्थ प्रकार के मन्त्रों पर है:—

यो नो दाता स नः पिता महां उग्र ईशानकृत् ॥ ऋग्० ८।५२।५।

अर्थात् जो परमात्मा हमें अनेक प्रकार के दान देने वाला है वही हमारा पिता है। वह सबसे (महान्) बड़ा है। वह दुष्टों के लिए कठोर है और सारे संसार का स्वामी और कर्ता है।

यो नः पिता जनिता यो विधाता। ऋग् १०।८२।३। त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। ऋग्० ८।९८।११ साम ११७० अथर्व २०।१०८।२ इत्यादि सैंकड़ों मन्त्रों में भी जीवों और ईश्वर के पुत्र-पिता सम्बन्ध का प्रतिपादन है।

(५) महर्षि दयानन्द ने जीव-ईश्वर का सम्बन्ध जो उपासक-उपास्य का लिखा है, उसका आधार वेदों के निम्नस्थ प्रकार के सैंकड़ों मन्त्रों पर है:—

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ यजु० ११।५

इसमें कहा गया है कि (विप्राः) बुद्धिमान् लोग (बृहतः विपश्चितः) सबसे बड़े बुद्धिमान्—सर्वज्ञ भगवान् के साथ अपने (मनः युंजते) मन को मिलाते हैं (उत) और (धियः युंजते) अपनी बुद्धियों को मिलाते हैं। वह (एकः इत्) एक ही परमेश्वर (वयुनावित्) जीवों के सब कामों को जानने वाला (होत्रा विदधे) सब पदार्थों को बनाता और उन्हें धारण करता है उस (सवितुः देवस्य) सब को पैदा करने वाले सर्वप्रकाशक परमेश्वर की (मही परिष्टुतिः) बड़ी भारी स्तुति वा महिमा है। यहां सविता का अर्थ सायणाचार्य ने काण्व संहिता अ० १२ के भाष्य में 'सविता—सर्वस्य प्रेरकः परमेश्वरः, उबट और महीधर ने शुक्ल यजुर्वेद संहिता ११।४ के भाष्य में "सविता—सर्वस्य प्रेरकः प्रजापतिः सवितृशब्देन श्रुतौ प्रजापतिरुक्तः।" लिख कर परमेश्वर ही किया है अतः इस मन्त्र के द्वारा जीवों का परमेश्वर से भेद और उनका उपासक-उपास्य सम्बन्ध स्पष्टतया सूचित होता है।

(६) ऋग्० ८।९५।३ के निम्नस्थ मन्त्र में परमेश्वर को जीव-रूप सनातन प्रजाओं का स्वामी बताया गया है जो उनके परस्पर भेद को स्पष्ट सिद्ध करता है :—

त्वं हि शश्वतीनां पती राजा विशामसि ॥

अर्थात् हे परमेश्वर (त्वं हि) तू ही निश्चय से (शश्वतीनां प्रजानाम्) जीव रूप नित्य प्रजाओं का (पतिः असि) स्वामी है। इस प्रकार जीवों की ईश्वर से भिन्नता, नित्यता और जीवेश्वर का सेवक-स्वामि-सम्बन्ध स्पष्टतया सिद्ध होता है इसमें सन्देह नहीं।

(७) ऋग् ८।९६।६ का निम्नस्थ मन्त्र भी जीव, ईश्वर और प्रकृति तथा प्रकृति से बने जगत् के भेद को स्पष्टतया प्रतिपादित करता है—

तमु ष्टवाम य इमा जजान विश्वा जातान्यवराण्यस्मात्।
इन्द्रेण मित्रं दिधिषेम गीर्भिरुपो नमोभिर्वृषभं विशेम ॥

इस मन्त्र में कहा है कि हम जीव (तम् उ स्तवाम) उस ईश्वर की ही स्तुति करें (यः इमा जजान) जिसने इन सब सूर्यादि पदार्थों को बनाया है (विश्वा जातानि अस्मात् अवराणि) ये उत्पन्न सब पदार्थ इस परमेश्वर की अपेक्षा बहुत ही हीन हैं। इस पर यदि यह कहा जाये कि ये जगत् के पदार्थ दिखाई तो अवश्य देते हैं पर माया वा अविद्या के कारण ये सत्य प्रतीत होते हैं, वस्तुतः ये सत्य नहीं; तो यह बात भी वेदों की शिक्षा के विरुद्ध है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद के निम्नस्थ मन्त्रों को

देखिये जहां परमात्मा को सत्यस्वरूप बताते हुए उसके कार्यों को सत्य बताया गया है—

(८) प्र घा न्वस्य महतो महानि सत्या सत्यस्य करणानि वोचम् ॥ ऋग्० २।१५।१

अर्थात् (अस्य महतः सत्यस्य) इस महान् सत्यस्वरूप ईश्वर के (करणानि) कार्य भी (महानि घा सत्या) महान् और सत्य हैं, यह मैं (अनुवोचम्) प्रकृष्टता से स्पष्टतया वेदों के अनुसार कथन करता हूँ।

(९) ऋग्० ४।१७।६ में भी इस बात को स्पष्टतया बताया गया है कि—

सत्रा सोमा अभवन्नस्य विश्वे सत्रा मदासो बृहतो मदिष्ठाः ॥

अर्थात् (अस्य) इस परमेश्वर के (विश्वे सोमाः) सब उत्पादित पदार्थ और ऐश्वर्य 'षु-प्रसवैश्वर्ययोः' (सत्रा अभवन्) सत्य हैं—वास्तविक हैं। 'सत्रा इति सत्यनाम' निघण्टु ३।१०। (अस्य बृहतः) इस परमेश्वर के (मदासः) आनन्द (मदिष्ठाः) अत्यन्त तृप्तिकारक हैं, 'मदी—तृप्तियोगे'।

(१०) ऋग्० १०।५५।६ में भी कहा है—

"यच्चिकेत सत्यमित् तन्न मोघं वसु स्पार्हमुत जेतोत दाता॥" अर्थात् यह परमेश्वर (यत् चिकेत) जिस पदार्थसमूह वा जगत् को (चिकेत) सम्पूर्णतया जानता है वह (सत्यम् इत्) सत्य ही है (न मोघम्) व्यर्थ वा असत्य नहीं है। वह परमात्मा (स्पार्हं वसु) वाञ्छनीय उत्तम ऐश्वर्य को (जेता उत दाता) जीतने वाला और देने वाला है।

(११) सामवेद मं० १७५८ के 'प्रासावीद् देवः सविता जगत् पृथक्' इस भाग से यह स्पष्ट है कि सर्व प्रेरक परमेश्वर ने इस जगत् को (प्रासावीत्) उत्पन्न किया जो उससे पृथक् है।

(१२) कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ यजु ४०।८ इस मन्त्र में भी भगवान् ने अपनी (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) जीवरूप सब सनातन प्रजाओं के लिये (याथातथ्यतः) यथार्थ व सत्य रूप से (अर्थान् व्यदधात्) पदार्थों को बनाया ऐसा स्पष्ट बताया है, जो जीव, ईश्वर और जगत् के भेद का समर्थन करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जगत् को मिथ्या वा असत्य मानने का नवीन वेदान्त का सिद्धान्त भी सर्वथा वेद विरुद्ध है।

(१३) यजु० अध्याय ४० का 'ओं क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतं स्मर'। यह मन्त्र भी जो अक्षरशः ईशापनिषत् से उद्धृत किया गया है— जीवेश्वर-भेद का स्पष्ट प्रतिपादक है। यहां यह कहा गया है कि (क्रतो) हे कर्मशील पुरुषार्थी जीव तू (ओ३म् स्मर) सर्वरक्षकपरमेश्वर का स्मरण कर (क्लिबे स्मर) शक्ति की प्राप्ति के लिये उस सर्वशक्तिमान् का स्मरण कर (कृतं स्मर) साथ-साथ अपने किये कर्मों का आत्मनिरीक्षण द्वारा स्मरण कर।

(१४) यजु० ३२।१५ का "सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्। सनिं मेधामयासिषम्॥" यह मन्त्र भी जीवेश्वर भेद का स्पष्ट प्रतिपादक है। इसमें कहा गया है कि मैं (अद्भुतम्) आश्चर्य जनक (सदसः पतिम्) संसार के स्वामी (इन्द्रस्य प्रियं काम्यम्) जीव के प्रिय और वाञ्छनीय परमेश्वर से (सनिम्) सत्यासत्य का भेद करने वाली (मेधाम् अयासिषम्) शुद्ध बुद्धि माँगता हूं।

इस प्रकार वेद मन्त्र जीव, ईश्वर और जगत् के भेद का बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित करते हैं जबकि नवीन वेदान्त का मूल सिद्धान्त ही इन शब्दों में बताया गया है कि "ब्रह्म सत्यं जगन् मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः ॥" अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या वा असत्य हैं और जीव ब्रह्म ही है उस से भिन्न नहीं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सिद्धान्त ऊपर उद्धृत तथा अन्य हजारों वेद मन्त्रों की (जिन्हें विस्तार भय से इस एक लेख में उद्धृत करना असंभव है) शिक्षा के सर्वथा विरुद्ध है।

वस्तुतः महर्षिव्यासप्रणीत वेदान्तदर्शन के 'नेतरोऽनुपपत्तेः (१।१।१६) भेदव्यपदेशाच्च (१।१।१७) भेदव्यपदेशाच्चान्यः (१।१।२१) अधिकं तु भेदव्यपदेशात् (२।१।२२) शारीरश्चोभयेऽपि भेदेनैनमधीयते (१।२।२०) इत्यादि सूत्र स्पष्टतया जीवेश्वर भेद का प्रतिपादन करते हैं।

(१५) नवीन वेदान्ती लोग ब्रह्म को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानते हैं किन्तु वेदों के 'एषा सनत्नी सनमेव जाता एषा पुराणी परि सर्वं बभूव। मही देव्युषसो विभाती सैकेनैकेन मिषता वि चष्टे।' अथर्व १०।८।३०इत्यादि मन्त्रोंमें स्पष्टतया प्रकृति का वर्णन है और उसे ही सब पदार्थों की उत्पत्ति में उपादान कारण माना गया है। इसी प्रकृति का वेदों में अविः, स्वधा, सलिलम्, आपः आदि नामों से भी वर्णन करते हुए, उसे जगत् का उपादान बताया गया है, जो सर्वथा युक्तियुक्त है। 'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः,' इस दार्शनिक सिद्धान्तानुसार कि जैसे कारण में गुण होते हैं वैसे ही कार्य में देखे जाते हैं यदि चेतन ब्रह्म जगत् का उपादन कारण है तो जगत् भी वैसा ही चेतन होना चाहिये, अतः ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है उपादान कारण नहीं। यही वैदिक सिद्धान्त है। लेख पहले ही पर्याप्त दीर्घ हो गया है अतः इस को यहीं समाप्त किया जाता है। जो विस्तार से इस विषय में जानना चाहते हैं उन्हें मान्य पं॰गंगाप्रसाद जी उपाध्याय कृत "अद्वैतवाद" "शाङ्कर भाष्यालोचन" (जिसकी भूमिका में मैंने संक्षेप से वेदों की दृष्टि से अद्वैतवाद का विवेचन किया है) तथा 'I and my God' के अतिरिक्त मेरी पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा, जालन्धर नगर द्वारा गुरुकुल कांगड़ी मुद्रणालय में प्रकाशित 'वेदों का यथार्थ स्वरूप' नामक पुस्तक का चतुर्थ वैदिक-एकेश्वरवाद विषयक अध्याय, जिस में 'वेद अद्वैतवाद के प्रतिपादक नहीं' इस विषय का पृ॰ २२५ से २४० तक सप्रमाण निरूपण किया गया है, तथा ऋग्वेद के नासदीय सूक्त (१०।१२९) आदि पर जिन्हें अद्वैतवाद प्रतिपादक समझा जाता है अधिक विस्तृत विचार किया गया है, देखना चाहिये।

य ईशे अस्य द्विपदः चतुष्पदः ॥

जो परमात्मा इस दो पैर वाले (मनुष्यादि) और चार पैर वाले (पशु) जगत् का स्वामी है (हम उसी की उपासना करें)।

वैदिक ज्योति

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पी-एच. डी., काशी विश्वविद्यालय, वाराणसी

१. एक और बहुधा—

एको वेदो बहुशाखो ह्यनन्तस्त्वामेवैकं बोधयत्येकरूपम् ।

एक वेदतत्त्व है । वही बीज अव्यक्तभाव से व्यक्त सृष्टि के रूप में आता है । एक तत्त्व मूल में बहुधा या अनेक तूल है । उसी एक का विस्तार विश्व है । एक 'तत्' है । बहुधा' इदं सर्वम्' है । एक अव्यक्त भाव है । उस अदृश्य के लिए वेदों में तत् संकेत है । बहुधा को व्यक्त, स्थूल या दृश्य कहते हैं, जो 'एतत्' या विश्व या भूत है ।

'एतद् वै तत्'

२. एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति—

यही सृष्टि का सूत्र है जिस में सारे भूत और प्रजाएं ओत-प्रोत हैं । विश्व का मूल एक शक्ति तत्त्व है जो अनेक भूत और प्रजाओं के रूप में दृश्य बन रहा है । भूत और प्रजाएँ एक शक्ति के अनेक या बहुधा रूप हैं । उस एक महासत्तावान् शक्ति की संज्ञा ब्रह्म है । एक और अनेक दोनों ब्रह्म के रूप हैं जो स्वयं अविकारी रहता हुआ इस विकारवान् भूतमय जगत् की सृष्टि करता है वह तत्त्व-ब्रह्म है । वह अपने एक अंश से स्वय ही इस विश्व के रूप में अभिव्यक्त होता हैं ।

एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ।

यही उस ब्रह्मतत्त्व की प्रतिस्विक या निजी शक्ति है । वह एक होते हुए भी बहुधा प्रकट होता है—

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'

एक रूप में वह अस्ति या सत्ता है। जैसे ही वह 'भवति' या होता है वह 'बहु' बन जाता है। बहुभाव को ही परोक्षभाषा में भूमाभाव या ब्रह्म कहते हैं।

३. जीवन की आधार शिला–

जो एक है वह गणित की भाषा में 'एकमेवाद्वितीयम्' है—ऐसा एक जिस में दो, तीन, चार, पाँच आदि खण्ड या संख्या का स्पर्श नहीं है। एक और एक दो होते हैं। इसी प्रकार सारी संख्याएँ एक का ही बहुधाभाव है। किन्तु जिस स्थिति में एक केवल एक, है वही अद्वितीय सत्ताभाव निर्गुणों से अतीत ब्रह्म का रूप है। जिस एक में बलग्रन्थियों के जुड़ने से दो, तीन आदि की कल्पना है वह ब्रह्म का त्रिगुणमय रूप है। संख्यातीत एक अव्यक्त है, संख्यायुक्त एक, जो दो-तीन-चार आदि का जनक है, व्यक्तरूप है। गणित के उदाहरण से यह तथ्य स्पष्टतः समझा जा सकता है। केन्द्ररूपी एक बिन्दु अव्यक्त है। उसकी सत्ता ध्रुव है, वह स्थितिवान् है, किन्तु वह अव्यक्त है। आकार-विकार-परिमाण की कोई कल्पना उसका स्पर्श नहीं करती। किन्तु उसी एक बिन्दु की देश और काल में बहुधा अभिव्यक्ति कई बिन्दुओं से बनने वाली रेखा को जन्म देती है। एक और अनेक का यही पारस्परिक विरोध और सामंजस्य भी है। अव्यक्त और व्यक्त की यह द्विविरुद्ध मीमांसा विश्व का रहस्य है। वेदों में और कालान्तर के भारतीय दर्शन में इस मूलभूत तथ्य की उन्मुक्त स्वीकृति और अनुभूति पाई जाती है। 'एक' और 'बहुधा' का अनादि अनन्त संघर्ष और प्रभाव दर्शन और जीवन की आधार शिला है। 'एक' अव्यक्त महाकाल है। 'बहुधा' उसी का व्यक्त कालात्मकरूप है।

४. अनिरुक्त प्रजापति–

एक और अनेक दोनों प्रजापति के रूप हैं। जो एक और अव्यक्त है वह अनिरुक्त प्रजापति कहा जाता है, एवं जो अनेक और व्यक्त है वह अनिरुक्त प्रजापति का रूप है। वैदिक परिभाषाओं में अनिरुक्त प्रजापति की कितनी ही संज्ञाएँ हैं। वही गर्भ प्रजापति है।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर्जायमानो बहुधा विजायते। (यजु० ३१।१९)

ब्रह्म के बृंहण से विश्व में जो उसका अनुप्रविष्ट रूप है, जिसे विश्वचररूप कहेंगे, वही प्रजापति है। जब तक वह गूढ या गर्भित दशा में है वह अजायमान है। बीज वृक्ष का अजायमानरूप है। बीज ही वृक्षरूप में बहुधा जन्म लेता है। यही प्रजापति का रूप है। जिस की सृष्टि ही सब यज्ञ है। यज्ञ से पूर्व प्रजापति का अव्यक्तरूप 'तूष्णीम्' या अनिरुक्त होता है। वही सृष्टि या यज्ञ में निरुक्त या दृश्य-श्रव्य बनता है।

प्रजापतिर्वा एष यज्ञो भवति। उभयं वा एतत्प्रजापतिर्निरुक्तं चानिरुक्तं च परिमितं चापरिमितं च। तद् यद् यजुषा करोति यदेवास्य निरुक्तं परिमितं रूपं तद् अस्य तेन संस्करोति। अथ यत् तूष्णीं यद् एवास्यानिरुक्तम् अपरिमितं रूपं तद् अस्य तेन संस्करोति। स ह वा एवं सर्वं कृत्स्नं प्रजापतिः।

(शतपथ १४।१।२।१८)

गणित, विज्ञान, दर्शन, अध्यात्म, सृष्टिविद्या सब क्षेत्रों में ये परिभाषाएँ सरल और स्पष्ट हैं। शक्ति का जो महासमुद्र है वह अपरिमित है। उसका जो अंश भूतरूप में परिणत हो गया, या भूतों से परिगृहीत और परिच्छिन्न हो गया, वह परिमित है। शक्ति अपने निजी रूप में अनिरुक्त है। वही भतरूप में निरुक्त है। समुद्र अखण्ड है। किन्तु उससे ही जो जलपूर्ण अनेक पात्र या कमण्डलु हैं वे परिमित और स्थूल या दृश्य होते हैं। यही प्राण और भूत-सृष्टि का हेतु है।

अनिरुक्त या गर्भ प्रजापति को ही गुहा कहा जाता है। जो पुराणपुरुष है वह गुहानिहित है, उसे ही 'गह्वरेष्ठ' कहा जाता है। अग्नि को सर्वत्र 'गुहहित' कहा गया है। विश्व का प्रत्यक्ष भूत शक्तितत्व सृष्टि से पूर्व गुहा में विद्यमान रहता है। उसी गर्भ में वह बहुधा जन्म लेता है। जो 'गुहा' था वही 'आविः' या प्रकट रूप में आता है [यदाविर्गुहासत्]। महाकाल अव्यक्त गुहातत्त्व है। व्यक्तकाले 'आविः' रूप है।

५. ऊर्ध्व और अधः—

अव्यक्त, अनिरुक्त, गर्भ, गुहा ये सार्थक संकेत हैं। इन्हें ही ऊर्ध्व और परोक्ष भी कहा जाता है। इस महान् संसार को अश्वत्थवृक्ष कहा गया है, जिस का मूल भाग किसी ऊर्ध्व स्रोत से जुड़ा है और शाखाएँ अधः या नीचे की ओर प्रवृत्त हैं।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।

ऊर्ध्व और अधः सापेक्ष शब्द हैं। अव्यक्त महाकाल ऊर्ध्व है। व्यक्तकाल प्रवाह अधः है। केन्द्र की संज्ञा ऊर्ध्व है, परिधि की अधः। अन्तर ऊर्ध्व है, बाह्यरूप अधः है। प्रजापति की अजायमान अवस्था 'ऊर्ध्व' है, बहुधा विजायमान 'अधः' है। यहाँ सृष्टिक्रम का पौर्वापर्य है, देश पर निर्भर ऊपर-नीचे की कल्पना नहीं है।

अनिरुक्त आदि प्रजापति के सब वैदिक संकेत एक ही मूल तथ्य की ओर ध्यान दिलाते हैं— वह है उसका अव्यक्त गुणातीत रूप। उसे श्रुतियों में 'कः' कहा गया है। बीजगणित के अपज्ञात संकेत की भाँति 'क' गुहानिहित अनिरुक्त, अमूर्त, अव्यक्त, नभ्य परोक्ष प्रजापति का संकेत है—

कस्मै देवाय हविषा विधेम।

'क' प्रजापति के लिये जो आहुति दी जाती है उसे तूष्णीम् या मौनभाव से उद्दिष्ट करके ही समर्पित करते हैं।

६. गतितत्त्व—

विश्व का अव्यक्त मूल स्थिति तत्त्व है। उसे ही रस कहा जाता है। रस के धरातल पर बलों का आविर्भाव ही सृष्टि का क्षोभ है। बलों की नाना ग्रन्थियाँ ही बहुभाव या सृष्टि है। बल-तत्त्व ही गति है। गति स्पन्दन है। गति-आगति रूप द्वन्द्व का नाम ही प्राण है। प्राण शक्ति का स्पन्दन है। शतपथ के अनुसार प्राण की वैज्ञानिक परिभाषा यह है—

प्राणो वै समंचनप्रसारणम्। (शत० ८।१।४।१०)

फैलना और सिकुड़ना, गति और आगति यही प्रजापति का निरुक्त, व्यक्त, मूर्त, प्रत्यक्ष, प्रकट

रूप है। इसी स्पन्दन को प्रजापति का तैजसरूप कहा जाता है। गति का उत्थान केन्द्र से परिधि की ओर होता है। परिधि तक पहुँच कर वही गति पुनः केन्द्र की ओर लौटती है तब उसे आगति कहते हैं। केन्द्र से परिधि तक प्रसारण और परिधि से केन्द्र तक समंचन— यही गति-आगति का स्वरूप है। इनमें गति या प्रसारण को इन्द्र और आगति या समंचन को विष्णु कहते हैं। इन्द्र और विष्णु की सतत स्पर्धा का भाव ही सृष्टि है :—

उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे न पराजिग्ये कतरश्चनैनोः।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्॥ [ऋग्वेद ६।६९।८]

प्रत्येक अभिव्यक्त केन्द्र में इन्द्र और विष्णु का यह गति-आगतिरूप या प्रसारण-समंचन रूप द्वन्द्व निरन्तर चलता रहता है। यही प्राणन-अपानन क्रियाशक्ति का जागरण या द्विविरुद्धभाव है। विष्णु को इन्द्र का सहयुक्त सखा कहा गया है—'इन्द्रस्य युज्यः सखा'। पौराणिक भाषा में इन्द्र का छोटा भाई विष्णु का यह संघर्ष अर्थात् गति-आगति का स्पन्दन बिना किसी शान्त धरातल के सम्भव नहीं। उसे ही स्थिति तत्त्व या ब्रह्मा कहा जाता है—

ब्रह्मा वै सर्वस्य प्रतिष्ठा।

७. हृदयविद्या—

प्रतिष्ठा तत्त्व की संज्ञा ब्रह्मा है। स्थितिभाव से ही गति का जन्म होता है। स्थिति मानो जल की घनीभूत निश्चेष्ट अवस्था है। उसी का द्रुतिभाव गति है। स्थिति निद्रा है, गति जागरण है। गति-आगति का प्रादुर्भाव केन्द्र में प्रसुप्त शक्ति का जागरण है। ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु के इस समन्वित भाव की संज्ञा हृदय है। स्थिति गति-आगति की व्याख्या वेद की हृदयविद्या है। अनिरुक्त अमृत अमूर्त नम्य प्रजापतिरूप को ही हृदय कहा जाता है। केन्द्र की संज्ञा हृदय है। यही हृद्देश है। अभिव्यक्त पदार्थ का अव्यक्त केन्द्र उसका हृदय है। वहीं से देवतत्व या शक्ति का विकास होता है।

ब्राह्मणग्रन्थों में प्रायः प्रश्न किया जाता है कि हृदय-तत्त्व क्या है? उत्तर में प्रतीक शैली से व्याख्या की जाती है कि हृदय में तीन अक्षर हैं हृ-द-य। तीन अक्षर तो प्रकट ही हैं, वस्तुतः ऋषि-की दृष्टि स्थिति-गति-आगति रूप प्राणन या स्पन्दन की ओर है। उसे ही अक्षर-तत्त्व कहते हैं। प्राण ही अक्षर शक्ति है। इन तीन अक्षर देवों में 'हृ' आहरण या आगति का, 'द' विकिरण प्रसारण या गति का, और 'य' गति-आगति के नियमन या स्थिति का प्रतीक है। 'हृ' विष्णु 'द' इन्द्र, 'य' ब्रह्मा या प्रतिष्ठा-तत्त्व का संकेत है। ये ही तीन अक्षर देवता हैं। इन्हीं तीन अक्षरदेवों की हलचल या प्राणात्मक स्पन्दन से प्रत्येक प्राणी का जन्म, वृद्धि, विकास और ह्रास सम्भव होता है। प्रत्येक बीज या अंकुर में प्रसुप्त प्राणशक्ति जब जागरणभाव में आती है तभी वह बाहर से भूतों को खींच कर अपने केन्द्र में लाती है और स्वस्वरूप में परिणत कर लेती है। यही प्रक्रिया प्राण, गति, तेजस, अग्नि आदि कितने ही संकेतों या नामों से प्रकट की जाती है।

स्थिति-गति-आगति के त्रिक का वैदिक नाम हृदयविद्या है। हृदय का सामान्य लौकिक अर्थ वह अवयव है जो रुधिर का अभिसरण करते हुए नित्य स्पन्दित रहता है और जब तक उसका स्पन्दन है तभी तक आयुष्य है। स्पन्दन ही आयुष्य है अथवा आयुर्बल ही स्पन्दन है। दोनों एक ही तथ्य हैं। आयुष्य ही अमृत है। अतएव शक्ति का स्पन्दन ही अमृत तत्त्व है। अमृत का ही दूसरा नाम अक्षरतत्त्व या प्राणतत्त्व है। स्थिति-गति-आगति के प्रतीक तीन प्राणदेवता क्रमशः ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु वैदिक परिभाषा में अक्षर देवता कहलाते हैं। अक्षर अविनाशी प्राणतत्त्व है। विनाशी भूततत्त्व को क्षर कहा जाता है, जैसा गीता में स्पष्ट कहा है—

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।

कूट का अर्थ ढेर है। ढेर, राशि, कूट, स्तोम एक ही अर्थ के वाचक हैं। एक ही बहुभाव में अभिव्यक्ति कूट या स्तोम के नियम के अनुसार होती है। नाना कलाओं या संख्याओं की समष्टि से कूट बनता है। प्रत्येक भूत कूट है अर्थात् शक्ति की अनेक कलाओं के राशी-भूत होने से बनता है। जो शक्ति अभिव्यक्त नहीं हुई वह अखण्ड या निष्फल होती है। उसकी अभिव्यक्ति की एक-एक इकाई जब कूट या समूह बनती है उसे ही भूत या क्षर कहा जाता है। शक्ति अक्षर, अखण्ड, अविनाशी प्राणतत्त्व है। वही भूत या कूट की विधृति है, अतएव अक्षर को गीताकार ने कूटस्थ कहा है। अस्यवामीय सूक्त के अनुसार—

ततः क्षरत्यक्षरं ततो विश्वमुपजीवति। १।१६४।४२।

८. इन्द्र के दो अश्व—

प्राणात्मिका शक्ति का जो महासमुद्र है वही अक्षरतत्त्व है। उसी के क्षरण या निर्झर से क्षर अर्थात् भूतों का जन्म होता है। अक्षर तत्त्व स्पन्दन या गतितत्त्व ही है। गति-आगतिरूप स्पन्दन से ही विश्व का उपजीवन है। प्राणिमात्र का जीवन गति-आगति या प्राणापान के स्पन्दन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसे ही पूर्व में इन्द्र और विष्णु की नित्य विद्यमान स्पर्धा कहा गया है। जीवन के क्षण से मृत्यु पर्यन्त यह स्पर्धा होती रहती है। इसी स्पर्धा का फल हृदय की गति है जिसकी शक्ति पाकर रुधिर रूपी भौतिक प्राण बल समस्त शरीर में निरन्तर व्याप्त रहता है। एक शब्द में शरीर के भौतिक संस्थान की समस्त प्रक्रिया गतितत्त्व पर ही निर्भर है।

इस गति-तत्त्व को और समझने का प्रयत्न करें। इसका स्रोत कहां है? गति का स्रोत स्थिति भाव में है। स्थिति से ही गति का जन्म होता है। केन्द्र-गुहा-गर्भ-हृदय आदि जो नभ्य प्रजापति के पर्याय पहले कहे गये हैं वे स्थिति के प्रतीक हैं। वे शान्ति या स्थिति के रूप हैं। उनकी उस अक्षोभ्य अवस्था को ही रसावस्था कहते हैं। वैज्ञानिक भाषा में रस स्थिति-भाव है। गति या क्षोभ बलभाव है। स्थिति अव्यक्त केन्द्र है। गति अभिव्यक्त विष्कम्भ और परिधि है। केन्द्र-विष्कम्भ-परिधि की समष्टि से एक-एक संस्थान बनता है। इसी संस्थान की पूरी छाप हृदय [हृ-द-य] इन तीन अक्षरों के संकेत द्वारा बताई गई है। इसमें 'य' का अर्थ है यमयति अर्थात् नियमन

करने वाला प्रतिष्ठातत्त्व या ब्रह्मा। ब्रह्मा यज्ञ में स्वयं कोई कर्म न करते हुए सब का प्रेक्षण या नियमन करता है। 'द' का संकेत 'दो अवखण्डने' धातु है। अवखण्डन अर्थात् शक्ति का क्षरण, या केन्द्र से बाहर की ओर प्रवाह। इसे ही इन्द्र देवता का कार्य कहा जाता है। इन्द्र अपने दो अश्वों के वाहन पर विचरता है।

योजान्विन्द्रस्य ते हरी।

ऋग्वेद में इन्द्र के रथ के दो अश्वों का अनेक बार उल्लेख आया है। 'ऋक्सामे वै इन्द्रस्य हरी' अर्थात् ऋक् और सामतत्त्व की संज्ञा इन्द्र के दो अश्व हैं। वृत्त का विष्कम्भ या व्यास ऋक् है जिससे मूर्ति का आकार-परिणाम नियन्त्रित होता है। वृत्त की परिधि उसका मंडल, घेरा या साम है। ये ही इन्द्र के वाहन हैं। मध्यप्राण की संज्ञा इन्द्र है—

९. इन्ध और इन्द्र—

"यन्मध्यत: ऐन्ध तस्माद् इन्धः, तम् इन्धं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षप्रिया वै देवाः प्रत्यक्षद्विषः।" (श० ६।१।१।१) जो प्राणतत्त्व केन्द्र या वृत्त के मध्यबिन्दु में अव्यक्त अवस्था से व्यक्त भाव में आने के लिए दहकता है वही इन्ध कहलाता है। उस इन्धनधर्म्मा प्राणतत्त्व को परोक्ष या प्रतीक भाषा में इन्द्र कहते हैं। केन्द्र में प्रसुप्त गतितत्त्व प्राण या शक्ति का गतिशील होना ही उसका इन्धन, स्पन्दन, चारण, द्रवण आदि अनेक शब्दों से कहा जाता है। मूलभाव वही है। गति के साथ आगति का संतत सम्बन्ध है। गति-आगति द्विविरुद्धभाव है। यही इन्द्र-विष्णु की स्पर्धा है। इन्द्र का सम्बन्ध अश्व से और विष्णु का गौ से है। गति-तत्त्व का प्रतीक अश्व और आगति का गौ है। अश्व और गौ दोनों ही गतिके रूप हैं। आगति-गर्भित गति अश्व है। गति-गर्भित आगति गौ है। केन्द्र की शक्ति का बाहर की ओर विक्षेप इन्द्र का धर्म्म है। बाहर की शक्ति का केन्द्र में संचरण विष्णु का धर्म्म है। इन्द्र की संज्ञा रुद्र है, क्योंकि केन्द्रीय शक्ति का विक्षेप या विकिरण ही ध्वंस है। यदि ध्वंस ही होता रहे तो केन्द्रस्थ प्रजापति रिक्त हो जायगा और वस्तु के स्वरूप का लोप हो जायगा। अतएव इन्द्र के कार्य का पूरक उसका अवरज या उपेन्द्र विष्णु हैं जो परिधि से प्राण-तत्त्व को पुन: केन्द्र में आहुत करता है। विष्णु यज्ञ का स्वरूपरक्षक है। विष्णु यज्ञमय है। विष्णु की गौएं दिन भर विचरण करके, तृणादि भक्षण करती हुई दुग्ध से भर कर अपने स्थान को लौटती हैं। सृष्टि में कोई भी अन्य प्राणी इस प्रकार दुग्ध से सम्पन्न नहीं है जिस प्रकार गौ। गौ साक्षाद् वैष्णव पशु है। वह सर्वथा यज्ञिय या यज्ञ का आधार है। गौ विष्णु की शक्ति का लोक में साक्षात् निदर्शन है। सूर्य भी विष्णु है। उसकी गतिशील रश्मियाँ ही सहस्र गौएँ हैं, जो त्रिभुवन में विचरण करके सर्वत्र रसाहार लेती हुई सायंकाल के समय पुन: अपने स्रोत में लीन हो जाती हैं।

१०. गति और बल—

मूलकेन्द्रस्थ प्राण की जब कभी अभिव्यक्ति होगी उसे ऋक्-साम का माध्यम अवश्य चाहिए। गणित की भाषा में केन्द्र, विष्कम्भ और परिधि ये तीन तत्त्व ही वृत्त का स्वरूप है।

केन्द्र बिन्दु में केवल सत्ता है। वह जब तक देश-काल से संस्पृष्ट नहीं होता तब तक अव्यक्त या अनिरुक्त या अमूर्त ही बना रहता है। इसे ही गणित की भाषा में कहा जाता है कि केन्द्र में न लम्बाई है, न चौड़ाई है, न मोटाई। केन्द्र बिन्दु सत्तावान् है, केवल इतना ही कहा जा सकता है।

वह परोक्ष है। उसे प्रत्यक्ष भाव में जाने के लिए देश-काल की सापेक्षता चाहिए। मध्य इन्द्र-प्राण की गति रूप में अभिव्यक्ति को ही उसका बल कहा जाता है। बल-तत्त्व ही इन्द्र का वास्तविक रूप है। माया, जाया, धारा, अप: आदि सोलह बल है। गति सब बलों की समष्टि है।

११. वेद और अग्नि सोम–

वैदिक परिभाषाओं में त्रयीविद्या का स्वरूप महत्त्वपूर्ण है। वेद तत्त्व क्या है? ऋक्-यजु-साम का क्या स्वरूप है? त्रयीविद्या और चौथे अथर्व वेद का क्या सम्बन्ध है? इन प्रश्नों को जितना ही स्पष्टता से परिज्ञात किया जायगा, वेदार्थ के परिचय में उतनी ही सुविधा होगी। अग्नि और सोम के सम्मिलन का नाम सृष्टि है। अग्नि में सोम की आहुति यज्ञ है। समस्त विश्व अग्नीषोमात्मक यज्ञ का परिणाम है। अग्नि अन्नद है, सोम उसका अन्न है। अग्नि मूल तत्त्व है, सोम उसी का सहकारी है। शीत और उष्ण धाराओं की समष्टि ही विश्व है। ये ही शक्ति के ऋण और धन अथवा एक ही मौलिक प्राण के प्राण और अपान नामक दो भेद हैं। हमारे सौर ब्रह्मांड में सूर्य और चन्द्र इन्हीं दो धाराओं के प्रतीक हैं। इस ब्रह्मांड में कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है जो शीत और उष्ण के इस नियमन से बाहर हो। प्राण के स्पन्दन का हेतु शीत और उष्ण का परस्पर में टकराने वाला ही है।

१२. असत् प्राणतत्त्व–

ब्राह्मणग्रंथों में कहा गया हैं कि सृष्टि के मूल में असत् तत्त्व था। प्रश्न है वह असत् क्या था?

उत्तर—ऋषि-तत्त्व को ही असत् कहते हैं।

प्रश्न—वे ऋषि कौन थे?

उत्तर—प्राणों की संज्ञा ऋषि थी।

प्रश्न——प्राणों को ऋषि क्यों कहा गया?

उत्तर—क्योंकि उन्होंने गति की, अतएव 'रिष् गतौ' धातु के अनुसार प्राणों को ही ऋषि कहा गया।

वस्तुत: बात यह है कि सृष्टि के पीछे शक्ति का एक अखंड महासमुद्र था। वह स्वयम्भू-तत्त्व था। उसका हेतु और कुछ नहीं कल्पित किया जा सकता, अन्यथा तर्क की अप्रतिष्ठा हो जाती है। उस महासमुद्र के रूप में शक्ति सर्वत्र समभाव से वितरित थी। उस में सिसृक्षा या सृष्टि की कामना हुई। उससे प्राण-शक्ति में कम्पन हुआ। उसे ही गति कहा गया है। मौलिक, अविभक्त शक्ति-तत्त्व को 'ऋषि' प्राण संज्ञा दी गई।

१३. मौलिक ऋषिप्राण और त्रयीविद्या–

मौलिक ऋषि-तत्त्व ही मौलिक वेद-तत्त्व है। उसे ही ब्रह्म निश्वसित वेद कहा जाता है। एक मूलभूत ऋषि-प्राण को सिसृक्षा या सृष्टि कामना के वशीभूत हो कर पितृ-तत्त्व में विपरिणमित हो जाना पड़ता है। पितृ तत्त्व द्विधा विभक्त प्राण है, अर्थात्, पितृ-तत्त्व मातृतत्त्व को 'पितरौ' (माता च पिता च पितरौ) कहा जाता है। हमारे इस सौर मंडल या रोदसी ब्रह्मांड में कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है जिसके जन्म के लिये माता और पिता की आवश्यकता न हो। छोटे से छोटे तृण, वनस्पति, एवं कीट-पतंग, पशुपक्षी से लेकर मानव तक सब इस नियम के अधीन है। एक ही मूलभूत शक्ति प्राणियों के लिये माता-पिता, या नर-नारी के रूप में विशिष्ट बन जाती है। इन्हें ही द्यावा-पृथ्वी का युग्म कहा गया है। 'द्यौः पिता पृथ्वी माता' यही रोदसी ब्रह्मांड के विराट् जननी-जनक हैं। इस सौर जगत् को रोदसी क्यों कहते हैं ? रोदसी सृष्टि का अर्थ है वह प्राणमयी सृष्टि जहाँ जीवन रुद्र तत्त्व के अधीन है। रुद्र का अर्थ है अशनाया तत्त्व अर्थात् जहाँ मध्यग प्राण या अग्नि जिस क्षण माता-पिता के शुक्र शोणित का संयोग होता है, उसी क्षण से वह प्राण जाग्रत् हो जाता है, अर्थात् वर्धित होने लगता है। आत्मपोषण के लिये बाहर से भूतों को खींच कर केन्द्र में लाना चाहता है। स्वयं प्राण रुद्र या अग्नि का स्वरूप है। उसे आत्मपोषण के लिए अन्न या सोम चाहिए। अन्नाद अग्नि का अन्नरूप सोम के लिये व्याकुल होना ही 'रुदन' है। जो रुदन करता है वही रुद्र है।

अग्निर्वै रुद्रो यदरोदीत् तस्माद्रुद्रः। शतपथ ६।१।३।१०

बालक का रोना उसकी भूख या अन्नेच्छा का संकेत है। द्युलोक और पृथ्वी के बीच की जितनी प्राणमयी सृष्टि है सब रुद्र सृष्टि है, सब अन्न, अन्नादमयी या अग्नि-सोमात्मक सृष्टि है। इसी कारण द्यावापृथ्वी रूपी विश्व को रोदसी ब्रह्मांड कहा जाता है। रोदसी सृष्टि क्षरात्मिका भूतमयी सृष्टि है।

१४. अधामच्छद प्राण–

रोदसी ब्रह्मांड या सौर जगत् में अभिव्यक्त होने वाले प्राण को भूत सम्पृक्त होना पड़ता है। प्राण अधामच्छद तत्त्व है। स्थान नहीं घेरता, न उसका कोई भार या वर्ण है। इसक विपरीत भूत धामच्छद तत्त्व है, वह स्थान घेरता है और भौतिक विशेषताओं से संयुक्त होता है। प्राण प्रथम देव है। भूत देव है भूत अवर हैं। प्रथमच्छद प्राण का अवर-भूतों में समाविष्ट होना ही सृष्टि है—

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवरां आविवेश।।

(ऋ० १०।८१।१)

१५. देवसृष्टि और भूत सृष्टि—

यहां विश्व, भुवन या सृष्टि की चार कोटियों का स्पष्ट उल्लेख है। पहला ऋषि-तत्त्व है जिसे

ऊपर असत् या प्राण कहा गया है। वह मूल अविभक्त प्राण या शक्ति-तत्त्व है। दूसरा पितृतत्त्व या माता-पिता के रूप में एक स्वयम्भू प्राण का द्विधा विभक्त हो जाना है। तीसरा देवरूपी प्राण-तत्त्व है जो छन्दमयी सृष्टि का वितान करता है। इसे ही प्रथमच्छद तत्त्व कहा गया है। चौथा अवर स्थानीय भूत-भौतिक तत्त्व है जो प्राणात्मक देवों के अनुप्रवेश से यज्ञात्मक शरीर के रूप में संचित होता है। तृण से ब्रह्स्तम्भ पर्यंत रोदसी सृष्टि का यही ध्रुव नियम है। सर्वप्रथम एक मूलभूत शक्तितत्त्व गतिसंयुक्त बन कर ऋषित्वभाव में आता है; उसमें माता-पिता के रूप में शक्ति के दो पृथक् विभाग बन जाते हैं। उसके बीज या शुक्रभाग से गर्भाधान होता है। गर्भित शुक्र, शोणित प्राणात्मक स्पन्दन से बढ़ने लगता है। वह अपने संस्थान के बाहर से अन्न या सोम खींचकर स्वयं पुष्ट होने लगता है। यही देवसृष्टि है। मन, प्राण, श्रोत्र, चक्षु, वाक् ये पाँच देवता अथवा प्राण अपान, व्यान, समान, उदान आदि पृथक्-पृथक् विशिष्ट प्राण, अथवा एकादश इन्द्रियाभिमानी शक्तियाँ उसी गर्भित कलिल में निश्चित क्रम या छन्द के अनुसार यथासमय अपना स्वरूप प्रकट करती हैं। यही देव-सृष्टि है। स्पन्दनशील प्राणतत्व ही देव है। वही भूतभाग को बाहर से लेकर शरीर का निर्माण और सम्वर्धन करता है। यही चौथी अवर या भूतमयी सृष्टि है। मनु ने इस क्रम का स्पष्ट उल्लेख किया है—

> ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः।
> देवेभ्यश्च जगत्सर्वं यथावदनुपूर्वशः॥ (मनु० ३।२०१)

प्राणमयी और भूतमयी सृष्टि के इस संस्थान में प्राणमयी सृष्टि जिस मूलभूत नियम पर आश्रित है वह त्रयीविद्या का नियम है। त्रयीविद्या के संस्थान द्वारा ही प्राण भूतों का आकर्षण करते हैं स प्राण अग्नि का रूप है। वह अग्नि बीच में धकधक करती हुई अपने चारों ओर के भूत भाग से जितना अंश अपनी अशनाया के अनुसार खींच लेती है उसे अपने स्वरूप में परिणत करने लगती है। भूतों का प्राणरूप में परिवर्तन यज्ञ है। प्राणों की प्रक्रिया से पुनः भूतों का निर्माण उसी यज्ञचक्र का शेषांश है। यह चक्र प्रत्येक प्राणिकेन्द्र में प्रवर्तित है। किसी विटप को देखो उसका बीज जब अंकुरित होता है तब बीज में निहित प्राणकेन्द्र जाग्रत् या स्पन्दित हो जाता है और वह स्पन्दन या मन्थन पृथिवी में व्याप्त रसों को अपने भीतर खींचता है। उसी अन्न से विटप का संवर्धन होता है।

१६. अग्नित्रयी और सोम—

स्पन्दन करने वाला प्राण अग्नि है और उसके चारों ओर भरा हुआ रस या जल-तत्व आपोलोक है। समंचन और प्रसारणशील प्राण या अग्नि का संस्थान ही त्रयीविद्या का रूप है। इसी को पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक कहा जाता है; एवं इसके चारों ओर व्याप्त शक्ति का समुद्र चौथा आपोलोक है। उसी से द्यावापृथिवी रूप रोदसी का स्वरूप बनता रहता है। गर्भस्थ शिशु स्पन्दनशील प्राण या जागरणशील अग्नि का रूप है। वह माता के रसों से पुष्ट होता है। रस ही

उसके लिए अन्न या सोम है। इस प्रकार तीन अग्नि के लोक हैं और चौथा सोम का लोक है। अग्नि के तीन लोक ही त्रिकसंस्थान या त्रयीविद्या है।

१७. मूर्ति, गति, मण्डल और त्रयीविद्या

इसमें बीच का केन्द्र यजुर्वेद है। उस केन्द्र से ही विकसित होने वाला व्यास या निष्कम्भ ऋग्वेद है। व्यास की तिगुनी परिधि होती है। तीन ऋचाओं से साम बनता है (तृचं साम)। परिधि या मण्डल साम है। व्यास जितना बड़ा होगा उसी अनुपात से मण्डल का आयतन बनता है। व्यास और परिधि से बना हुआ आयतन एक छन्दमात्र है। वह एक आकार है। उस पात्र में जो रस भरा जाता है वही वास्तविक पदार्थ है। छन्द अर्थात् विष्कम्भ और मण्डल को वयोनाध कहते हैं। जो वय या रस या पदार्थ उस छन्द या वयोनाध में छन्दित, सीमित या नद्ध हो जाता है वही भूतसमन्वित प्राण-तत्व है जिसे 'वयः' भी कहा जाता है। वही 'यजुः' है। वस्तुतः यजुः ही वह तत्त्व है जो अव्यक्त केन्द्र में पहले प्रसुप्त रहता है और फिर गतिशील बन जाता है। इस स्वरूप को ध्यान में रखकर ऋक्-यजुः-साम की निम्नलिखित व्याख्या की गई—

> ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
> सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत् सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्॥ (तैत्तिरीय ब्राह्मण)

ऋक्तत्त्व से मूर्ति या पिण्ड के विस्तार का निर्म्माण होता है। गतितत्त्व यजुः है। तेज या मंडल साम है। इन तीनों के सम्मिलित रूप वेदत्रयी से 'इदं सर्वम्' या विश्व की सृष्टि होती है। इसमें ऋक्-साम क्रमशः व्यास और परिधि हैं। उस आयतन का निर्म्माण करने वाला अर्थात् केन्द्र को वृत्तरूप में विकसित करने वाला गतितत्त्व है, वही यजुः है। ऋषियों ने यजुः को संकेत भाषा में गति और स्थिति का प्रतीक माना है। उसका 'यत्' भाग वायु या गति का संकेत है, एवं 'ज्' भाग आकाश या स्थिति का सूचक है। आकाश सर्वत्र व्यापक है, वह अखंड स्थिति तत्व है। उसी आकाश के गर्भ में सब गतियां सम्भव होती हैं जिनका प्रतीक वायु है। अतएव यत्-ज् कहें, या वायु-आकाश कहें, या गति-स्थिति कहें, वैज्ञानिक तथ्य एक ही रहता है। जिस केन्द्र बिन्दु में लम्बाई-चौड़ाई-मोटाई नहीं है, उसमें व्यक्त आकाश की कोई कल्पना नहीं है, वह तो अव्यक्त अमूर्त सत्तामात्र है। उसमें काल के सम्पर्क से गति एवं दिग्देश का आविर्भाव होता है। गतितत्त्व एवं उसके सहकारी आगतितत्त्व के छन्दोमय रूप को ही वायु या याजुष पुरुष कहा गया है। ऋक्-साम तो याजुषपुरुष के विस्तार के लिए आयतन मात्र प्रस्तुत करते हैं। पुरुष वही जो पुर में निवास करता है (पुरि शेते इति पुरिशयः, तं पुरिशयं सन्तं पुरुष इत्याचक्षते परोक्षेण)। ऋक्-साम या व्यास और परिधि अथवा विष्कम्भ-परिणाह से जो आयतन बनता है वही पुर है। यजुतत्त्व या याजुष पुरुष की व्याख्या उसके अन्तराल में जिस प्राण तत्त्व का संचरण होता है वही शक्ति का एकांश अग्नि या याजुषपुरुष कहलाता है। प्रत्येक प्राणवन्त केन्द्र में यह याजुषाग्नि दहक रही है। सूर्य इस याजुष-पुरुष या गति-स्थिति के स्पन्दन का सबसे स्फुट रूप है। उसमें ऋक्-यजु-साम का समन्वित संस्थान क्रियाशील है। यही गतित्व सूर्य का जीवन है। सूर्य के लिए कहा जाता है कि उसमें जो हिरण्मय

पुरुष या तेज है वह साक्षात् त्रयीविद्या का रूप है। यह सूर्य तो एक प्रतीक है। इसकी अक्षपरम्परा में अनन्त सूर्य पिरोए हुए हैं। प्रत्येक अपने-अपने ब्रह्माण्ड का केन्द्र है। उसी अक्षछिद्र से शक्ति का स्रोत प्रत्येक मंडल या ब्रह्माण्ड में उत्तरोत्तर के महामहिम स्रोत से क्षारित होता हुआ प्रवाहित हो रहा है। प्रत्येक सौर मण्डल के गर्भ में जितने पदार्थ हैं सबका सुषिरात्मक आकाश सूर्य केन्द्र-वर्ती आकाश से मिला हुआ है। गति-स्थिति का नियामक सूत्र सब में ओत-प्रोत रहता है। प्राण का यह दुर्धर्ष स्पन्दन ही सूर्य के देवरथ का संचरण है। रथ की गति उसके चक्र की परिधि या नेमि में अभिव्यक्त होती है। चक्रनेमि उसे अपने विष्कम्भ या व्यास से प्राप्त करती है। जितना व्यास का विस्तार है उतना ही नेमि का परिभ्रमण होता है। चक्र के व्यास की भी स्फुट गति का स्रोत उसके अक्ष-परिभ्रमण पर निर्भर है। अक्ष का परिभ्रमण तभी संभव है जब अक्ष बिन्दु में सुषि-रात्मक आकाश हो। यह सुषिर भाग ही ब्रह्म है। इसका स्रोत भी नम्य प्रजापति या अव्यक्त, अनि-रुक्त प्रजापति है जिसे पूर्व में 'क' या 'क ब्रह्म' कहा गया है। अन्ततोगत्वा समस्त गति या प्राणात्मक कम्पन-स्पन्दन का स्रोत कोई अखण्ड ध्रुव स्थिति-बिन्दु है। वही प्रत्येक गति का हृदय है। वही याजुष पुरुष, चाक्षुष पुरुष, अखंड पुरुष, मध्यस्थ वामन पुरुष, नम्य ऐन्द्र प्राण, या आग्नेय पुरुष दुर्धर्ष गति के रूप में प्रकट हो रहा है।

१८. सृष्टि का मूल तत्त्व अग्रि या अग्नि—

सृष्टि का मूल कारण या उपक्रम उसी अग्नितत्त्व या गतितत्त्व से उद्गत होता है। प्राणन क्रिया ही सृष्टि है। प्राणन ही गति है। सृष्टि के प्रारम्भ में अभिव्यक्त होने के कारण इसे 'अग्रि' (यदग्रे श्रास) कहा जाता है। वही परोक्ष भाषा में 'अग्नि' है। अग्नि शब्द की कई व्युत्पत्तियाँ ब्राह्मण ग्रन्थों और निरुक्त में मिलती हैं। उनमें से एक यह भी है। विभिन्न दृष्टिकोणों से वे सभी संगत हैं। अर्वाचीन व्युत्पत्ति शास्त्र या शब्द निरुक्ति की कसौटी इस प्रकार के प्रयत्नों को सदेह की दृष्टि से देखती है, किन्तु सृष्टि विज्ञान के तत्त्वात्मक अर्थों की दृष्टि से उनमें भारी सार है। वही उनकी चरितार्थता भी है। दर्शनार्थक इदन्द्र से भी इन्द्र, एवं इन्धनार्थक इन्ध से भी इन्द्र दोनों व्युत्पत्तियां अर्थदृष्ट्या समीचीन हैं। इसे परोक्ष निर्वचन शैली कहा जाता है, जिसकी संगति ध्वनिमूलक न होकर अर्थमूलक थी। अतएव सृष्टि के अग्रिम गतितत्त्व को अग्रि और प्रतीक भाषा में अग्नि कहा गया है।

१९. अभीद्ध तप या ऊष्मा—

सृष्टि का विकास अभीद्ध तप से माना जाता है। उसे ही अर्वाचीन वैज्ञानिक भाषा में महान् ऊष्मा कहते हैं। किसी अज्ञात कारण से सर्व प्रथम एक अतिशय तापधर्मी ऊष्मा का जन्म होता है। उसी के अनेक खण्ड सूर्य आदि कोटि-कोटि नक्षत्रों के रूप में आकाश देश या ब्रह्माण्ड में बिखर गए हैं। उन्हें ही वैदिक प्रतीक-भाषा में अंगारे कहा गया है। ये अंगिरा अग्नि के रूप में हैं। अग्नि ही अंगिरा ऋषि है।

त्वमग्ने प्रथमो अंगिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा।
(ऋग्० १।३१।१, यजु ३४।१२)

ऋषि का तात्पर्य उसी मौलिक अविभक्त प्राण से है जिसे पूर्व में असत् कहा गया है। वही आद्य अंगिरा ऋषि है जिससे यह सृष्टि होती है। अंगिरा ही अग्नि है। मूलभूत किसी दुर्धर्ष अग्नि के अनन्त अंगार या विस्फुलिंग ब्रह्मांड में छा गए हैं, जिन्हें हम विभिन्न तैजस नाक्षत्रिक रूपों में प्रकट देख रहे हैं। महाभारत में स्पष्ट ही अग्नि को मूलभूत ताप या ऊष्मा रूप कहा गया है—

ऊष्मा चैवाष्माणो जज्ञे सोऽग्निर्भूतेषु लक्ष्यते।
अग्निश्चापि मनुर्नाम प्राजापत्यमकारयत्॥ (आरण्यक पर्व ३।४)

सृष्टि के आरम्भ में मूलभूत एक ऊष्मा थी। उसी से अनन्त ऊष्माओं की शृंखला उत्पन्न हुई। ऊष्मा का वह सूत्र सर्वत्र भूतों में पिरोया हुआ है। उसे ही अग्नि कहते हैं। वही जब प्राजापत्य या प्रजननं कर्म्म में लक्षित होती है तब उसे मनु कहते हैं। भौतिक शक्ति और जीवनी प्राण-शक्ति दोनों अग्नि के रूप हैं "एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः"—एक ही मूलभूत अग्नि को बहुत से रूपों में समिद्ध या प्रदीप्त देखा जाता है, जिसे भौतिक धरातल पर केवल ऊष्मा या ताप कहा जाता है, वही शक्ति प्रजनन कर्म्म में प्रवृत्त होने पर मनु संज्ञा से अभिहित होती है। यह शक्ति की विश्व व्यापिनी अभिन्नता और एकता की स्वीकृति है। परमाणु की कुक्षि में ऋण-धनात्मक स्पन्दन, तृणवनस्पति में रसात्मक संधमन, एवं कीटपतंग मानवादि प्राणियों में श्वास-प्रश्वासात्मक प्राणन-अपानन प्रक्रिया में धरातल का भेद है, मूलशक्ति एक है। वही मर्त्य भूतों में समाया हुआ अमृत-देव तत्त्व अग्नि है। जितनी रोचना या ज्योतियाँ हैं अग्नि उनमें उत्तम हैं (अग्निर्भवन्नुत्तमो रोचनानाम्, ऋ० ३।५।२०) सब ज्योतियाँ अग्नि के रूप हैं। अव्यय-अक्षर-क्षर तीन ही तो ज्योतियाँ हैं। तीनों के ही रूप हैं। अव्यय मन है। अक्षर प्राण है। भूत क्षार है। पंच भूतों को वैदिक में वाक भी कहते हैं, क्योंकि पंच भूतों में आकाश सबसे सूक्ष्म हैं, और आकाश का गुण शब्द है, अतएव शब्द या वाक् को सब भूतों का प्रतीक मान लिया जाता है। मन-प्राण-वाक् ये ही तीन ज्योतियाँ हैं।

२०. तीन सृष्टियाँ—

इन तीन से तीन प्रकार की सृष्टि होती है। केवल वाक् से मिट्टी पत्थर आदि असंज्ञ भौतिक क्षर सृष्टि हैं। वाक् और प्राण के सम्मिलन से अर्थात् पंचभूतात्मक क्षर पुरुष के साथ प्राण रूपी अक्षर पुरुष के संयोग से वृक्ष-वनस्पति आदि की अन्तः संज्ञ सृष्टि होती है। इसे ही तैजस सृष्टि भी कहते हैं, क्योंकि तेज या ताप का अर्थ है विकास या प्राण का स्पन्दन जिससे वनस्पतियों में एक घटक कोष से दूसरे का विकास और वृद्धि होती है। तीसरी ससंज्ञ प्राणियों की सृष्टि है, जिसमें वाक् और प्राण के अतिरिक्त मन का भी विकास स्फुट हो जाता है। प्रज्ञा या मन ही संज्ञा या चेतना का हेतु है। इस रूप में प्राणतत्त्व प्रज्ञात्मक बन जाता है। इसे ही इन्द्र कहते हैं। "प्राणोऽस्मि

प्रज्ञात्मकः" यही इन्द्र का लक्षण है। कीट, पतंग, पशु-पक्षी, मानव इसी ससंज्ञ प्राज्ञ सृष्टि के रूप हैं।

२१. त्रिक ही त्रयी विद्या है–

क्षर-अक्षर-अव्यय, वाक् (या भूत)-प्राण-मनं, असंज्ञ-अन्तः, संज्ञ-ससंज्ञ, अग्नि-वायु-आदित्य (जिसका पर्याय इन्द्र भी है जैसा 'द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी' से प्रकट है), पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः ऋक-यजु-साम, त्रिष्कम्भ-केन्द्र-परिणाह (व्यास-बिन्दु-मण्डल), वसु-रुद्र-आदित्य इत्यादि अनेक त्रिकों से समन्वित प्राणात्मक स्पन्दन से युक्त संस्थान ही त्रयी विद्या है।

२२. दो अरणियों का मन्थन–

त्रयी विद्या अग्नि का रूप है। अर्थात् स्थिति के धरातल पर गति-आगति रूप स्पन्दन यही अग्नितत्त्व या शक्ति का यथार्थ रूप है। गति-आगति एति च-प्रति च कहा जाता है। धन विद्युत् की धारा केन्द्र से परिधि तक जाती है और ऋण विद्युत् के रूप में परिधि से केन्द्र तक लौट जाती है यही प्राणन-अपानन क्रिया दो अरणियों का मन्थन है। अग्नि अरणि-मन्थन से ही उत्पन्न होता है। (अरण्योर्निहितो जातवेदा)ऋक् ३।२९।२। अरणि-मन्थन का अर्थ है ऋण धन बलों की पारस्परिक टक्कर, या प्राण-अपान रूप दो शिलाओं का पारस्परिक घर्षण, जो मध्यस्थित व्यान प्राण के आधार पर होता है। अतएव व्यान को अश्माखण प्राण कहा जाता है। इसे ही ध्रौव विद्युत् या अविचाली आकर्षण बल कहेंगे। इसी पर एक ओर से सौर विद्युत् और दूसरी ओर से सौम्य विद्युत (गर्म और ठंडी) शक्ति धाराएँ टकराती रहती हैं। यही प्राणापान का स्पन्दन या जीवन है। इसका मूल याजुष गतितत्त्व है—

अग्निर्यजुर्मुख्यतमः स वेदस्तमाश्रयेते अपि साम ऋक् च।

(पं० मधुसूदन ओझा कृत जगद्गुरुवैभव, पृ० ४०)

२३. ऋक्-साम का छन्द और छन्दित यजु–

यजुस्तत्त्व मुख्य है, वह केन्द्र या नम्य ध्रौव प्राण है। ऋक्-साम उसके आयतन मात्र हैं जो अपने विस्तार-विकास के लिए उसी मुख्य प्राण का आश्रय लेते हैं। किसी वृक्ष का व्यास और मण्डल कितना बढ़ेगा, यह उसके हृद्देशीय मुख्य प्राण की स्पन्दन शक्ति पर निर्भर है। यही प्रत्येक प्राणी के जीवन का नियम है। ऋक्-साम केवल छन्द हैं। उनमें छन्दित तत्व यजु है। सृष्टि का मूल निमित्त कारण यही छन्दित प्राण है जिसे देवतत्व भी कहते हैं। यही अग्नि है—'अग्निः सर्वा देवताः।' बृहद्देवता के अनुसार अग्नि 'अग्रज तप' है (बृ० दे० २।५३) वह महत् है। वही इस ब्रह्माण्ड का नित्य होता (ऋ० २०।६।४) या प्रत्न ऋत्विज (ऋ० २०।७।५) हैं जहाँ अध्वर या यज्ञ का वितान हैं, अग्नि निश्चय रूपेण वहाँ विद्यमान है। यह अग्नि अपने मूल रूप से श्वेत है, जब महिमाभाव या विश्व सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त होता है तब अरुष या रक्त वर्ण हो जाता है (श्वेतं जज्ञानमरुषं महित्वा, ऋ० ३।२।४)। यही नियम सब नक्षत्रों की जन्मकुण्डली है। एक-एक चिनगारी के चमकने और बुझने में यही सहज नियम परिलक्षित हो रहा है।

२४. सूर्य त्रयी विद्या का प्रतीक है—

अग्नि मूर्तिमती त्रयीविद्या है। ऋक्-यजु-साम का त्रिकात्मक संस्थान अग्नि का सम्पूर्ण रूप है। अग्नि का ही विशिष्ट प्रतिनिधि सूर्य है। इस सौर ब्रह्माण्ड में सूर्य ही प्रतिष्ठा और केन्द्र है। सूर्य के लिए कहा गया है—

सैषा त्रयी विद्या तपति।

त्रयी विद्या के साक्षात् दर्शन करना चाहें तो सूर्य उसकी स्फुट मूर्ति है। उसका अभिप्राय यही है कि त्रिकात्मक स्पन्दन या घर्षण से उत्पन्न। जो तप, ऊष्मा या प्राण विश्व में व्याप्त हैं उसका सब बलिष्ठ ओजिष्ठ महिष्ठ रूप सूर्य है। "निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च" मर्त्य भूत और अमृत प्राण तत्त्व को देशकाल में निविष्ट करता हुआ सूर्य का हिरण्मय देवरथ संतत गतिशील है (ऋ० १।३५।२) उसी की संज्ञा व्यक्त कालात्मक संवत्सर हैं। केन्द्र-व्यास-परिधि के अर्बुद-खर्बुद उदाहरण हैं। एक-एक परमाणु में यही संस्थान व्याप्त है, किन्तु इस सौर मंडल में उसका सबसे विशिष्ट रूप सूर्य की रश्मियों में जो गति तत्व या तरंगात्मक कम्पन है उसे ही सहस्र गौओं का ब्रह्माण्डव्यापी विचरण कहा जाता है। सूर्य रश्मियाँ आती हैं, सीधे 'ऊर्ध्व स्थिति' या विजडित आकार में नहीं। वे क्रीड़ा करती हुई, आगे बढ़ती और पीछे हटती हुई, दाएँ बाएँ झूमती हुई जाती हैं।

क्रीडन्तो रश्म आभुवः।

२५. ऋत-सत्य—

ऊपर जिस त्रयी विद्या का उल्लेख हुआ है वह सृष्टि की आंगिरसी धारा है। यह आग्नेय प्राण तत्त्व है। जिस में केन्द्र हो वह प्राण का आग्नेय रूप है। जिस में केन्द्र का विकास न हुआ हो वह ऋतात्मा सौम्य रूप होता है। केन्द्र का ही नाम सत्य या हृदय है। स-हृदय स-शरीर तत्त्व सत्य कहा जाता है। अ-हृदय स-शरीर तत्त्व ऋत कहा जाता है। हिम रूप में घनीभूत जल सत्य का रूप है। सत्य का एक देश पकड़ कर खींचा जाय तो सम्पूर्ण पदार्थ खिंच जायगा। जल ऋत है उसका नियत केन्द्र नहीं है। उसे पकड़ना चाहें तो एक देश से उसका सम्पूर्ण शरीर आकृष्ट नहीं होगा। वृक्ष के भीतर का रस गति-आगति के आघात-प्रत्याघात से घनीभूत होता हुआ जब काष्ठ बन जाता है तब सत्यात्मक हो जाता है। इस दृष्टि से सूर्य की मूर्ति है। वह सत्यनारायणदेव है। जितने पिण्ड हैं सब सत्य के रूप हैं। वस्तुतः जो अग्नि जल में व्याप्त है वह ऋताग्नि कहलाती है। जल में कम या अधिक जो कुछ तापमान है वह अग्नि का रूप है। वह ऋताग्नि है। जिस के कण बिखरे हुये हैं, वह ऋताग्नि है। वे ही अग्नि-कण जब घनीभूत होकर एक केन्द्र में संचित हो जाते हैं तब ऋताग्नि सत्याग्नि में परिणत हो जाती है और अग्नि-सत्ता का स्पष्ट भान होने लगता है। ऋताग्नि को प्रायः अग्नि कहते हैं, सत्याग्नि को इन्द्र शब्द से अभिहित किया जाता है (अहोरात्रवाद पृ० २६) सूर्य और इन्द्र किन्हीं अर्थों में पर्यायवाची हैं। एवं सूर्य सत्य का रूप है। त्रयी विद्या सत्य और आग्नेय है। उसका पूरक अथर्व ऋत और सौम्य है।

२६. सोम या भार्गवी धारा—

अग्नि सत्य और सोम ऋत है। अग्नि और सोम के द्वन्द्व से ही सृष्टि का उद्भव और विकास सम्भव होता हैं। अग्नीषोमात्मकं जगत् यही विश्व का स्वरूप है। यहां प्रत्येक भूतमय प्राणी को अग्नीषोमीय पशु कहा जाता है। अग्नि का अर्थ है अंगिरा अर्थात् विशकलनधर्म्मा तेजतत्व। सोम का अर्थ भृगु अर्थात् समूहनधर्म्मा स्नेह-तत्व। शुष्क तत्व आग्नेय और आर्द्र सौम्य हैं। अग्नि अन्नद तत्व है, सोम अन्न तत्व है। अग्नि का निजी स्वरूप कृष्ण है, सोम की आहुति से ही वह श्वेत या शुक्ल बनता है। यदि वृक्ष को जल या पोषण पार्थिव तत्व न प्राप्त हो तो उसके भीतर की अग्नि उसे जलाकर कृष्ण कर डाले। किन्तु जब तक इसे सोमरूपी जलीय पार्थिव पोषण प्राप्त होता रहता है तब तक उस अग्नि का प्राणात्मक स्पन्दन सकुशल बना रहता है। वही प्राण का शुभ्र रूप है।

२७. नीर का क्षीर में परिवर्तन ही सृष्टि—

सोम मातृतत्व है। अग्नि पितृतत्व है। प्रत्येक बीज अग्नि का रूप है। जब तक आर्द्र सोम से उस बीज का सम्पर्क नहीं होता, सृष्टि का उपक्रम नहीं होता। बीजरूपी अग्नि से गर्भित होकर मातृधर्म्मा सोम सृष्टि करता है। इसे ही वैदिक कल्पना में यों कहा जाता है कि सोम जल है, अग्नि साक्षात् घृत है। जल का घृत रूप में परिवर्तन ही सृष्टि है। नीर का क्षीर भाव में आना ही सृष्टि है। जब तक मातृ तत्व रेत से गर्भित नहीं होता तब तक दुग्ध का जन्म नहीं होता। दुग्ध के रोम-रोम में जो घृत के कण व्याप्त रहते हैं वे ही मन्थन से स्फुटरूप में आ जाते हैं। जल का कितना भी मन्थन किया जाय उसमें आज्य या घृत की उत्पत्ति नहीं होती। किन्तु वही सोम रूप जल जब मातृतत्व युक्त प्राणी के शरीर में प्रविष्ट होता है तब पितृशक्ति से गर्भित होकर क्षीर बन जाता है। भूतसमन्वित प्राण ही घृत तत्व है। कहा है—'आप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्'। उस नीर का क्षीर भाव में आना ही प्रजनन या सृष्टि है। इस दृष्टि से समस्त प्रकृति एक विराट् धेनु है और प्रत्येक प्राणी उसके दोहन से टपकी हुई बूंद है [विराजो दोहोऽसि]।

२८. अग्निलोक-आपोलोक—

जिसे अप्तत्व या आपोलोक कहते हैं उसके गर्भ में प्राण का समंचन-प्रसारण ही अग्नि गर्भित सोम का रूप है। अग्नि तीन या त्रिकभाव का प्रतीक है। ऋक्, यजु, साम का जो स्वरूप पूर्व में कहा गया है वे ही अग्नि के तीन लोक हैं। यह स्पन्दन शक्ति के जिस धरातल पर या जिस गर्भ में आरम्भ होती है उसे ही चौथा आपोलोक कहते हैं। पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः रूपी आग्नेय संस्थान और चौथा आपोमण्डल या सोम लोक इनके पारस्परिक मिलन से ही सृष्टि होती है। मातृकुक्षि में किसी गर्भित घटककोश की कल्पना कीजिए। वही जन्म लेने वाले शिशु का आरम्भण है। उस कोश में अग्नि या स्पन्दनात्मक प्राण जाग्रत हो जाता है और अपने चारों ओर के जलीय पोषणात्मक तत्वों को अन्न रूप में ग्रहण करके बढ़ने लगता है। एक कोष से दो कोश और दो से तीन, यों

क्रमशः संघर्ष होते हुए गर्भस्थ शिशु के शरीर का पूरा विकास हो जाता है। प्रत्येक घटक कोश [अं० सैल] भूत समन्वित प्राण का रूप है। वह भूतसंपृक्त शक्ति की इकाई है। वह उस अग्नि का रूप है जिस के चारों ओर आप के लोक या जल का आवरण वा मण्डल या परिधान है। एक-एक कोश अग्नि का मूर्त कण है। अग्नि को साक्षात् घृत का रूप कहा जाय तो प्रत्येक कोश उस घृत का सूक्ष्मतम बिन्दु है, जिसे वैदिक भाषा में 'पृषत्' कहा जाता है। महान् आपोमय समुद्र या शक्ति की साम्यावस्था के धरातल पर आग्नेय तत्वों का प्रकट होना विश्व की आरम्भिक घर्षण क्रिया का परिणाम है। घर्षण या मन्थन एक प्रकार का बल है। शान्त रस के धरातल पर क्षोभात्मक बल का प्रकट होना ही सृष्टि है। बल को वैदिक भाषा में 'सहस्र' भी कहते हैं। अग्नि 'सहसः सूनुः' या बल से जन्म लेता है। जब अग्नि का जन्म होता वह बल या घर्षण का परिणाम है। प्रत्यक्ष भी हम देखते हैं कि अग्नि अरणि-मन्थन से जन्म लेता है। अग्नि कणों का संचय ही शक्ति का अभिव्यक्त रूप है। इसे कई प्रकार से कहते हैं—

तस्माद् यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्। (ऋ० १०।९०।८)

२९. आज्य-पृषत् की व्याख्या—

आज्य की पृषत् या फुहार जैसी छोटी-छोटी बूंदों के एकत्र हो जाने से ही शक्ति का स्फुलिंग या महान् तेजोमण्डल बन जाता है। वही बढ़ते-बढ़ते अभीद्धतप या सौर केन्द्र जैसे प्रचण्ड ताप संस्थानों के रूप में प्रकट होता है। गति-आगति का क्षोभ कहें, या त्रयीविद्या का तप कहें, या पृषदाज्य का संभरण कहें या विद्युत शक्ति की सूक्ष्मतम मात्राओं का एक केन्द्र में संपुञ्जन कहें, या यज्ञीय भाषा में अग्निचयन अथवा उखासंभरण कहें—सृष्टिविद्या का एक ही तथ्य परिगृहीत किया जाता है। जहाँ कहीं प्राणमयी सृष्टि होगी वहीं शक्ति के महान् समुद्र के भीतर किसी एक बिन्दु पर प्राणात्मक स्पन्दन की इस प्रक्रिया की दुर्धर्ष सत्ता का प्रकट होना अनिवार्य है। इसे ही कहते हैं—'अप्सु संक्लिश्य प्राविध्यत्', अर्थात् आपोलोक या आपोमण्डल को संक्लिष्ट या पीड़ित करके अग्नितत्व उसके भीतर प्रविष्ट हो जाता है और वहीं से त्रयीविद्या या ऋक्, यजु, साम या व्यास-केन्द्र परिधि के रूप में स्पन्दन करता हुआ सत्यात्मक सृष्टि का विकास करता है। विराट् ब्रह्माण्ड में सूर्य जैसे तेजपिण्ड की रचना, गर्भ में शिशु की वृद्धि, अंकुर से वृक्ष-वनस्पति का विकास, सब का मूलभूत नियम एक ही है।

३०. भृगु-अंगिरा रूप दो बल—

प्रतीक भाषा में ऋक्-यजु-साम या त्रयीविद्या अग्नि है, एवं चौथा अथर्ववेद सोम या आपोलोक कहा जाता है। स्वयम्भू तत्व अग्नि और अथर्वासंज्ञक परमेष्ठी जल है। परमेष्ठी ही अथर्वा है। जो स्वयम्भू के बाद होता है उसे 'अथ अर्वाक्' इस व्युत्पत्ति या परोक्ष संकेत द्वारा अथर्वा कहा जाता है। अग्नि और सोम में विशिष्टता का प्रतिपादन दृष्टि का तारतम्य है। वस्तुतः अग्नि गति और सोम आगति है। अग्नि प्रसारण और सोम आकुंचन है। दोनों का समुदित नाम प्रजापति

है। दोनों अविनाभूत हैं। ये एक ही अव्यक्त शक्ति के दो व्यक्त भाव हैं। जल या आपः ही प्राथमिक शक्ति या 'आरम्भण' या सृष्टि का उत्पादन है। उस आपः में अग्नि और सोम दोनों का अस्तित्व अवश्य है। 'आपः' को सृष्टि का विश्वव्यापी कारण माना जाय, जैसा कि "यद् आप्नोत् तस्माद् आपः" इस व्युत्पत्ति से संकेत किया जाता है तो उस महत् आपः (यूनिवर्सल एनर्जी) में अग्नि और सोम दोनों की ही सत्ता माननी होगी। वह महत् एक रसात्मक तत्व है। उसी में दोनों प्रकार के बल हैं; दर्शन में उन्हें नाम-रूप कहते हैं। ब्राह्मणों में उन्हें दो महत् अम्व या यक्ष कहते हैं। वैदिक भाषा में भृगु-अंगिरा कहते हैं। अर्वाचीन विज्ञान की युक्ति का आश्रय लेना चाहें तो उन्हें ही विद्युतचुम्बकीय बल और आकर्षण बल (इलैक्ट्रोमैगनेटिक फोर्स तथा ग्रेविटेशनल फोर्स) कह सकते हैं। विशकलन और स्नेहन, विकर्षण और आकर्षण ये उनके मौलिक धर्म हैं। इसी द्विविरुद्ध भाव का उदय सृष्टि का मूल हेतु है। वैदिक परिभाषा के अनुसार यह सृष्टि भार्गवी और आंगिरणी धाराओं के परस्पर सम्मिलन से उत्पन्न होती है। मूलभूत आपः तत्व या परमेष्ठी में ही दोनों धर्म्म उत्पन्न हो जाते हैं—

> आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वंगिरोमयम्।
> अन्तरेते त्रयो वेदा भृगूनंगिरसः श्रिताः ॥ गोपथ। पूर्व भाग १।२९।

भृगु और अंगिरा-स्नेह और तेज-दोनों जिस मूलभूत अप्तत्व में व्याप्त रहते हैं वह आरम्भक प्राकृतिक भौतिक शक्ति तत्व (प्राइमर्डिअल मैटर) है। उसकी साम्यावस्था (स्टेट आव इक्वीलिब्रियम) को क्षुभित करने वाला स्पन्दनात्मक संस्थान ही त्रयीविद्या या मूलभूत वेदतत्व है। इसी के लिए कहा गया कि भृगु-अंगिरा के भीतर तीनों वेद प्रविष्ट होकर मन्थन करने लगते हैं। वेदत्रयी (ऋक्-यजु-साम) ही अग्नित्रयी है। यही व्यास-परिधि-केन्द्र का रूप है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है शक्ति का केन्द्र से परिधि की ओर, और परिधि से केन्द्र की ओर तरंगित होना ही त्रयी संस्थान है। इसी त्रयी के स्पन्दन से सब मूर्तियाँ वा पिण्ड या भूत भौतिक पदार्थ बनते हैं। यदि त्रयी का स्पन्दन न हो तो शक्ति भूत-रूप में विपरिणमित नहीं हो सकती। अतएव वैदिक परिभाषाओं की दृष्टि से त्रयीविद्या, अग्नि त्रेता, तीन लोक, तीन देवता, तीन वेद, इनका मौलिक महत्व है। एक परमाणु की रचना भी त्रिक या त्रिकेन्द्रक चक्र के बिना सम्भव नहीं।

३१. देव और भूत एवं वैश्वानर—

इस सृष्टि में देव और भूत दो ही तत्व हैं। प्राण या शक्ति देव है। प्राकृतिक पदार्थ भूत हैं। देव अदृश्य, सूक्ष्म और भूत दृश्य, स्थूल होते हैं। देवों का वाहन मन और भूतों का वाहन शरीर है। देवों का भूतरूप में आना और भूतों का देवरूप में परिणत होना ही यज्ञ है। प्राण (या अग्नि) इस यज्ञ का विधान कर्ता है। प्राणन क्रिया या अग्नि के जागरण से बाहर के भूत या अन्न की प्राण में आहुति होती है। प्राण या देव अन्नाहुति को लेकर विशकलित करते हैं। उससे प्राण या शक्ति का संवर्धन होता है और वह प्राण पुनः भूतभाग की रचना करता है। मानव के शरीर में

और वृक्ष-वनस्पति के आभ्यन्तर में यही यज्ञीय प्रक्रिया अहर्निश होती रहती है। अन्न-अन्नाद सम्बन्ध ही जीवन है। वृक्ष के भीतर जो प्राणात्मक स्पन्दन सक्रिय है वह एक वर्ष में जितना भूतभाग परिगृहीत करना है वही उसकी वार्षिक यज्ञसृष्टि है। वह अग्नि द्वारा परिगृहीत सोम है। अग्नि सोम रूप में आता है और सोम अग्नि बनता है। काष्ठ सोम या अन्न है। उसी से अग्नि देव, प्राण या शक्ति का जन्म होता है। समस्त विश्व देव और भूत अन्नाद और अन्न की पारस्परिक भावना पर निर्भर है। संघर्ष द्वारा जब देव तत्व भूतों को अपने स्वरूप में लाता है उसे ही यजन कहते हैं। अग्नि या प्राणतत्व जिस प्रकार भूतों को अपने स्वरूप में परिणत कर सके वही यजन का स्वरूप है। जहाँ यजन है वहाँ देवतत्व की सत्ता है। प्रत्येक यज्ञ का देवता अग्नि है। अग्नि ही देवों का मुख है। 'अग्नि वै सर्वा देवताः' अर्थात् जितने देव हैं सब एक अग्नि या प्राण के ही विशिष्ट रूप हैं।

अग्नि, वायु, आदित्य ये तीन देवता कहे जाते हैं, पर ये तीनों अग्नि की ही तीन अवस्थाएँ हैं। शरीरस्थ अग्नि जिस अन्न का परिपाक करती है उससे ही स्थूलदेह, प्राणशक्ति और मन तीनों का निर्माण होता है। उसी का तरल रूप प्राण या वायु है। उसी का विरलरूप मन या आदित्य है। एक कोश के भीतर जैसे दूसरा कोश समाविष्ट रहता है वैसे ही अग्नि-वायु-आदित्य ये तीनों शक्ति के रूप प्रत्येक प्राणि-केन्द्र में अनुस्यूत रहते हैं। इन्हें नर कहा जाता है। सचालक तत्व की संज्ञा नर है। ये ही तीन देव या प्राण या तीन अग्नियाँ हैं। पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ, ये इन तीन देवों की व्याप्ति के तीन लोक हैं। ये लोक ऊपर नीचे नहीं है, स्थूल-सूक्ष्म-सूक्ष्मतम यही इनका तारतम्य है। स्थूल पृथिवी में जैसे ये तीनों हैं वैसे ही स्थूल सूर्य में भी तीनों हैं। प्रत्येक परमाणु या कोश में ये तीनों लोक और उनके संचालक तीनों नर या देव अवश्य रहते हैं।

३२. वैश्वानर अग्नि क्या है ?

इन लोकों के तीन संचालक या नियामक प्राण विश्वनर कहे जाते हैं। इनके पृथक् रहने से कोई प्राणन क्रिया नहीं होती। प्रत्युत ये तीनों शक्तियाँ एक में मिलकर जिस नई शक्ति को उत्पन्न करती हैं उसे वैश्वानर कहा जाता है। पुरुष के भीतर जो मन-प्राण-वाक् की समन्वित शक्ति कार्य कर रही है, वही वैश्वानर है 'अयमग्निर्वैश्वानरः यो यमन्तः पुरुषे येनेदमन्नपच्यते।' (शतपथ १०।८।१०।१) इस शरीर में और ब्रह्माण्ड में, अध्यात्म और अधिदैवत में उभयत्र वैश्वानर की सत्ता है। दोनों जगह मन-प्राण-वाङ्मयी ओत-प्रोत सृष्टि है। द्यावापृथिवी में व्याप्त वैश्वानर लक्षण प्राणाग्नि ही प्रत्येक संस्थान की यज्ञाग्नि है। सृष्टि की महान् उष्णता का एक स्वरूप अंश जो मानव शरीर में है, जिसे वैज्ञानिक भाषा में फारेनहाइट ताप कहते हैं, वैश्वानर अग्नि का ही रूप है। प्राण और अपान के परस्पर घर्षण से यह अग्नि उत्पन्न हुआ था और निरन्तर प्रतिक्षण उत्पन्न होता रहता है—

प्राणादपानाच्च मिथोऽनुघर्षाद्वैश्वानरोऽग्निर्भवतीह देही। (मधुसूदन ओझाकृत अहोरात्रवाद, पृ० २४)

शरीर के भीतर के इस ताप की मर्यादा सामान्यतः दश अंश की है। नौ अंश से कम ताप हो जाय तो शरीर नहीं रहेगा और १०७ अंश से अधिक हो जाय तो भी शरीर की शृंखला टूट जाती

है। सृष्टि व्यापी ताप के इतने अंश से मानव मात्र जीवित हैं अर्थात् मानव-देह में प्राणाग्नि ध्रियमाण है। वैश्वानर की सत्ता यज्ञ है। घर्षणात्मक यजन से ही यह अग्नि जीवित रहती है। इसमें अग्नि द्वारा जिन देवों का आवाहन होता है और जो देव भूतों के आधार से यहां निवास करते हैं वे तैजस कहलाते हैं। वही तैजस अंश अपने भीतर जिस चेतना या प्रज्ञा का आधान करता है वह इन्द्र है। उसे ही प्रज्ञात्मक प्राण कहते हैं। उसी से देह में चैतन्य आता है। भूत-प्राण-प्रज्ञा इन तीनों को ही क्रमशः वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ आत्मा कहा जाता है। इन तीनों का त्रिवृत्भाव होता है, अर्थात् प्रत्येक में तीनों का अन्तर्भाव है। इस त्रिवृत्भाव के कारण ही मन-प्राण-वाक् की समष्टि बनती है।

३३. व्यान, प्राण का ध्रुव विन्दु—

प्राण और अपान का संघर्षण जिस ध्रुव आधार पर होता है वह तीसरा प्राण व्यान है। उसी के लिए कहा जाता है—

> ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
> मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते॥ (कठ उप० ५।३)

वह मध्यस्थ वामन ध्रुव स्थिति तत्व है, जिसके आश्रय से शरीरस्थ अन्य सब देव या प्राण शक्तियाँ विधृत रहती हैं। उसे पर्वत, अद्रि या अश्माखण प्राण भी कहते हैं। वही जीवन का हेतु है—

> न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
> इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥ (कठ उप० ५।५)

प्राण और अपान को व्यानरूपी सिल पर टकराने वाले दो लोढे कहा गया है। प्राणापान की इस घर्षण क्रिया को उपाँश्वन्तर्य्यम कर्म भी कहा जाता है। वैश्वानर सब अग्नियों की नाभि या स्थूणा के समान है। ताप और दाह इसके धर्म्म हैं। इस शरीर में जो प्राण वायु सूर्य से और अपान वायु पृथिवी से आता है, वे दोनों रस एक में मिलकर शरीरस्थ वैश्वानर अग्नि उत्पन्न करते हैं और सूत्रात्मा के बन्धन में बंधे हुये एक दूसरे से अलग नहीं होते।

३४. वैश्वानर अग्नि के तीन नियम—

वैश्वानर अग्नि से संचालित शरीर की प्रक्रिया को और स्पष्टता से समझना चाहें तो उसकी तुलना एक इंजिन यन्त्र से कर सकते हैं। इंजन में तीन नियम काम करते हैं - पहला ज्वलन या समिन्धन (इग्नीशन) है जो तेल या कोयले को शक्ति में परिणत करता है। दूसरा दबाव और फैलाव का नियम (कम्प्रेशन-रेअ्ररिफिकेशन) है। तीसरा अन्न-अन्नाद (एसीमिलेशन-एलीमिलेशन) का नियम है जिसका घनिष्ठ सम्बन्ध मल-विक्षेपण (एग्ज्हास्ट) से है। ये तीनों आवश्यक नियम इस शरीर यज्ञ में भी लागू हो रहे हैं। पहला वैश्वानर अग्नि का समिन्धन है। इसे ही याजुष

अग्नि कहते हैं। दूसरा तत्त्व प्राण या समंचन-प्रसारण का नियम है। "प्राणो वै समंचन प्रसारणम्" इस परिभाषा का उल्लेख पहले किया जा चुका है। सिकुड़ना और फैलना, संकोच और प्रसार का यही स्पन्दन है जो शरीर के प्रत्येक घटकोश का धर्म है। हृदय द्वारा रुधिराभिसरण इसी नियम के आधीन है। प्राणपान का ऊर्ध्व-अधः व्यापार इसी कारण हो रहा है।

३५. ब्रह्मौदन और प्रवर्ग्य का नियम–

तीसरा नियम यह है कि जो भी प्राण व्यापार होता है, वह स्वकेन्द्र को भत्तों से पुष्ट करके कुछ मलभाग बाहर निकालता है। इंजि । की राख और मूर्च्छित भाप इसके उदाहरण हैं। शरीर के प्राणयन्त्र में से जहाँ भी स्पन्दन की क्रिया है कुछ न कुछ मलभाग अवश्य बाहर फेंका जाता है। प्रत्येक घटकोश में यह नियम लागू है। इसे वैदिक भाषा में ब्रह्मौदन और प्रवर्ग्य का नियम कहते हैं। वस्तु का अपना प्राण केन्द्र उसका ब्रह्म केन्द्र है। वह जिस भूत भाग को अपने स्वरूप की पुष्टि और संरक्षा के लिए ले लेता है वह उस प्राणाग्नि या ब्रह्म का अपना भोजन या ब्रह्मौदन कहलाता है। ऐसा करते हुए वह जिस मलभाग को बाहर छोड़ता है वह उसका प्रधृक्त, या फेंका हुआ प्रवर्ग्य कहलाता है। यह समस्त विश्व उस अनन्त ब्रह्म का प्रवर्ग्य ही है। किसी आदित्यवर्ण महान् पुरुष का यह विश्व एक अंश है। इसे हीवे । द कहता है द्रप्सश्चस्कन्द, अर्थात् किसी महतो महीयान् शक्ति समुद्र की एक बूंद टपक कर उससे अलग हो गई है। वही यह विश्व है जिसे वेदों में 'इदं सर्वम्' कहा जाता है। जैसा वह शक्ति समुद्र सत्-चित्-आनन्द स्वरूप वाला है वैसी ही यह बूंद है। समुद्र की मात्रा अनन्त है। बूंद की मात्र सीमित है। अनन्त भूमाभाव अमृत है, सान्त सीमा-भाव मर्त्य है। पहला अनन्त महाकाल है, दूसरा सापेक्ष व्यक्त सम्वतसरात्मक काल है।

३६. अन्न-अन्नाद नियम–

प्राणाग्नि के केन्द्र में समंचन-प्रसारण या संकोच-प्रसार की प्रक्रिया जिस नियम के अनुशासन से प्रवृत्त रहती है उसे अन्न-अन्नाद नियम कहते हैं। अग्नि अन्नाद और सोम उसका अन्न है। प्रत्येक प्राण संयुक्त स्पन्दनात्मक केन्द्र में अन्न-अन्नाद के नियम की सत्ता ही जीवन है। अन्नाद अग्नि को जब तक अन्न न मिले वह रुद्र या घोर या प्रकुपित या बुभुक्षित रहता है। अन्न पाकर वह शिव, अघोर, शान्त और तृप्त बन जाता है। पुराणों में यही शिव का उमा सहित रूप कहलाता है। अग्नि या प्राण का अन्न वही बन सकता है जो स्वयं किसी प्राणात्मक केन्द्र में रहकर उसका प्रवर्ग्य या त्यक्तभाग बन चुका है। कोई प्राणी ईंट, पत्थर खाकर जीवित नहीं रह सकता। प्राणात्मक संस्थान या शरीर का त्यक्त भाग ही अन्न बनता है, जैसे अन्तः संज्ञ पौधों और वृक्षों से उत्पन्न अन्न और फल, एवं ससंज्ञ पशुओं से उत्पन्न दुग्ध, घृत आदि अन्नाद प्राणाग्नि के अन्न हैं।

३७, काल के अन्न-अन्नादभाव—

काल से जीर्ण या पक्व होकर अन्न या प्रवर्ग्य भाग अपने मूल केन्द्र से पृथक् होता है।

काल सबको जीर्ण करने वाला सब का अन्नाद है। सब काल के अन्न हैं। काल ही मृत्यु है जो प्राणी के बलात्मक-ग्रन्थिबन्धन का अन्त कर डालता है। काल प्रतिक्षण प्राणी को जीर्ण करके अन्नाद बनता है। किन्तु प्राणी भी अन्नाद काल के ही अंश-भूत एक-एक क्षण को पचाकर जीवित रहता है। एक क्षण की उपलब्धि के बाद दूसरा क्षण हमें प्राप्त न हो तो जीवन निःशेष हो जाय। इसीलिए कहा जाता है—'अहमन्नम्, अहमन्नादः' 'मैं अन्न हूँ। मैं ही अन्नाद हूँ।' जो विराट् काल मुझे खा रहा है, उस विराट् महाकाल के अंश को मैं भी खा रहा हूँ (अहमन्नमदन्तमद्मि)। इसी को दूसरे प्रकार से कहें तो काल अपने बाणों की वृष्टि करता हुआ उनसे हमें बींध रहा है और उनसे विद्ध होते रहने का नाम ही जीवन है—

> लव निमेष परिमाण जुग कोटि कल्प शर चण्ड।
> भजसि न मन तेहि रामु कहँ काल जासु कोदण्ड॥

३८. काल-कोदण्ड—

काल के ये अचूक बाण ब्रह्म-स्तम्भ पर्यन्त सर्वत्र निशाने पर बैठ रहे हैं। ये हमें प्राप्त न हों तो हम जीवित नहीं रह सकते। महाकाल सीधा धनुर्दण्ड है। वह तब तक कोई बाण नहीं चला सकता जब तक प्रत्यंचा चढ़ाने से वक्र न हो। वक्र धनुष ही बाण से बींधने की शक्ति प्राप्त करता है। वक्रीभूत काल ही सापेक्ष काल है, जिसकी सर्वोत्कृष्ट इकाई सम्वत्सर है। पृथिवी के सूर्य के चारों ओर घूमने की पूरी अवधि ही एक सम्वत्सर है। क्रान्तिवृत का नाम सम्वत्सर है। उसे बिन्दु-बिन्दु पर वक्र होना पड़ता है। तभी पृथिवी की सौर परिक्रमा पूरी होती है। यह त्रिनाभि-चक्र या अण्डा-आकार परिभ्रमण आकर्षण के नियम का परिणाम है। पृथिवी भूत है, सूर्य भी भूत है। दोनों भूत एक-दूसरे के साथ जिस बल से बँधे हैं उस बल-ग्रन्थि या बन्धन की संज्ञा रज या आकर्षण है। जितने लोक हैं सब रज हैं (इमे वै लोका रजांसि)। निकट से निकट और दूर से दूर स्थित कोई लोक ऐसा नहीं है जो रज या आकर्षण के अनुशासन में न हो।

३९. संख्यान और काल—

रज या आकर्षण गतितत्त्व से प्रयुक्त होता है। इसका भी मूलाधार कोई स्थिति-तत्त्व है, जो अजन्मा है और जिसमें सब गतियों की समष्टि रहती है। वह अन्तिम स्थिति-तत्त्व कालातीत, अव्यय ब्रह्म कहा जाता है। काल क्या पदार्थ है? 'कल संख्याने' से काल और कला की व्युत्पत्ति है। एक कालातीत तत्त्व में खंड या कला भाव की कल्पना नहीं है। वह निष्फल है। उसे भी एक कहते हैं, पर वह 'एकमेवाद्वितीयम्' वाला एक है। वही गतितत्त्व से संयुक्त होकर अव्यक्त, अक्षर काल का रूप लेता है। अक्षर काल ही जब एक-दो-तीन आदि कला या संख्याओं से युक्त होता है तब वह व्यक्त काल या क्षरकाल के रूपों में आता है। व्यक्त या क्षरकाल से दिक्भाव, दिक्भाव से अपेक्षाकृत अधिक स्थूलरूप में आने से देशभाव और देश के अन्तिम स्थूल रूप में परिणित होने से प्रदेश भाव का जन्म होता है। गणित की आकृतियों के रूप में इसे स्पष्टता से समझा जा सकता है। लम्बाई-चौड़ाई-मोटाई या तीन मात्राओं से युक्त घनभाव प्रदेश है। उससे पूर्व केवल लम्बाई-

चौड़ाई की अवस्था देशभाव है। उससे भी पूर्व केवल रेखा की अवस्था दिक्भाव है। प्राची, प्रतीची, उदीची, दक्षिणा एक-एक रेखा है, वह दिक् है। जब प्राची-प्रतीची और दक्षिणा-उदीची का स्वस्तिक बनता है तो वह देश की अवस्था है। उसी में ऊर्ध्वा-अधः दिक् की तीसरी रेखा मिलने से प्रदेशभाव की स्थिति होती है।

प्रदेश-देश-दिक् क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म होते हुए और अधिकतर सूक्ष्म भाव में लीन होते हैं। रेखा से पूर्व का एक व्यक्त बिन्दु है। वही व्यक्तकाल है। उसे क्षरकाल भी कहते हैं। व्यक्तभाव की संज्ञा ही क्षरभाव, भूतभाव या बहुभाव है। व्यक्त बिन्दु से भी पूर्व की अवस्था अव्यक्त बिन्दु है जो अक्षरकाल की अवस्था है। अक्षर काल गतितत्त्व की संज्ञा है। वह प्रधान या प्रकृति की अवस्था है। उस अव्यक्त काल से भी पूर्व की अवस्था कालातीत तत्त्व है। उसे गति नहीं, शुद्ध स्थिति कहते हैं। वही निष्कल महाकाल है। वही अक्षर से भी पूर्व का अव्यय काल है। वह प्रकृति नहीं, पुरुष रूप है। वह स्वयम्भू पुरुष महाकाल कहलाता है। वही अब है। उसी के रूप में रजोगुणात्मक अन्य सब गत्यात्मक अक्षर और क्षर काल विकसित होते और जन्म एवं प्रलय को प्राप्त होते रहते हैं।

४०. अक्षर-क्षरकाल—

वस्तुतः स्थिति और गति का सापेक्षभाव ही सृष्टि है। स्थिति रसतत्त्व है। उसी धरातल पर गत्यात्मक बल जन्म लेते हैं। उनमें महान् बल दो हैं—काल और देश। काल ही मूर्त-रूप में दिक्-देश-प्रदेश बनता है। कालातीत तत्व पुरुष है। कालात्मक रूप प्रकृति है। काल ही सबसे प्रथम छन्द है, जिससे छन्दित होकर अनन्त, अव्यक्त पुरुष सान्त, सीमितरूप में आता है। कालातीत अव्यय मूल प्रतिष्ठा या निःस्पन्द स्थिति भाव है। उसके धरातल पर गतितत्त्व के उदय से अक्षर, अव्यक्त काल का जन्म होता है। उस अव्यक्त अक्षर काल का ही स्थूल प्रवर्ग्य रूप क्षर व्यक्त काल कहलाता है। जिसका प्रत्यक्ष रूप ऋतसम्वत्सरात्मक काल है।

ऋतरूप से सर्वव्यापक काल को मूर्त रूप में आने के लिए किसी एक केन्द्र में अभिव्यक्त होना आवश्यक है। एक-एक पदार्थ काल की ही रचना है। वही एक-एक बिन्दु काल का हृद्य आत्मरूप है। एक वृक्ष को लें। ऋतरूप में व्याप्त जो सम्वत्सरात्मक काल है वह अकुरित होने वाले बीज के केन्द्र से परिगृहीत होकर ही विटप रूप में प्रतिवर्ष मूर्त होता जाता है। यही नियम समस्त प्राणि-सृष्टि का है। जिस बिन्दु पर बीज उस ऋतात्मक व्यापक काल को परिगृहीत करता हुआ अपने स्वरूप में ढाल रहा है, या उस काल की शक्ति से स्वयं किसी मूर्त स्वरूप में ढल रहा है, वह बिन्दु ही उसका हृदय या हृद्यात्मक रूप है। यही उस व्यक्त ऋतात्मा काल का छन्दोभाव या छन्दित भाव या एक केन्द्र पर सीमाभाव या दिग्भाव कहलाता है।

दिग्भाव से अतीत जो क्षर काल है वह एक बिन्दु पर पकड़ में आता हुआ सीमित बनता है, अर्थात् दिक् या छन्द या सीमा से संपृक्त हो जाता है। काल का सच्चा स्वरूप तो गति या आगे बढ़ने की दुर्धर्ष शक्ति है। उस गति-शक्ति के कारण दिक् या छन्दोभावात्मक काल उस वस्तु का पिण्ड बनता है। जैसे अकुरित होता हुआ बीज काल की नियमित अवधि में वस्तु-पिण्ड रूप में

आने लगता है। यही दिग्भाव का देशभाव में प्रकट होना है। जिस प्रकार दिक् भाव को छन्द कहते हैं उसी प्रकार वस्तु के मूर्त पिण्डभाव को रस कहते हैं, क्योंकि शक्ति का रसरूप में केन्द्र में संचित होना ही काल द्वारा मूर्त की सृष्टि है। वृक्ष, विटप, पशु, मानव सब में रस का संचय काल से ही सिद्ध होता है और उसी से वस्तु पिण्ड या मूर्ति का निर्माण होता है। यह वस्तु पिण्ड या मूर्ति ही देश को व्याप्त करती है। अतएव दिग्भाव की यही देशभाव में अभिव्यक्ति है। काल के छन्द से रस का क्रमशः संचय यहां समाप्त होता है, वह उस वस्तु का मण्डल या वितान होता है और उसे प्रदेश कहते हैं। प्रदेश में लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई या प्राची-प्रतीची, दक्षिणोदीची और ऊर्ध्वा-अधः, ये तीनों परिमाण अपने पूर्ण स्थूल रूप में अभिव्यक्त हो जाते हैं। यही हृद्य बिन्दु का पर्यवसान है। यही प्रदेश भाव है।

४१. कालतत्त्व का विकासक्रम—

इस विकासक्रम को संक्षिप्त तालिका के रूप में यों समझा जा सकता है—

१. कालातीत पुरुष—शुद्ध स्थिति रूप है। उस में गति के संस्पर्श से

२. अक्षर अव्यक्तकाल—का आविर्भाव होता है। यह काल का गतितत्त्व रूप है। गतिभाव ही अक्षर है। इससे

३. क्षर व्यक्तकाल—(फिजिकल टाइम) का आविर्भाव होता है। यह ऋतभावापन्न या सर्वव्यापक सम्वत्सरात्मक काल है। सूर्य इस काल का निर्माता है।

इसके अनन्तर क्षर व्यक्तकाल या सम्वत्सरात्मक काल से तीन विवर्त्त या विकास और होते हैं, जिन्हें क्रमशः यों जानना चाहिये—

४. दिक् भाव या छन्दोभाव या प्रत्येक वस्तु का अपने-अपने केन्द्र में काल की गति से विकसित होना, अर्थात् उसका हृद्य या आत्मरूप या आरम्भक बिन्दु रूप में आना।

५. उसके अनन्तर उस हृद्य केन्द्र में रसभाव या द्रुत शक्ति का संचय या वास्तुपिण्ड का निर्माण जिसे देशभाव कहेंगे।

६. सब के अन्त में वस्तु का वितान या मण्डलभाव जिसे प्रदेश (फिजिकल स्पेस) कहते हैं। बस्तुतः संख्या १ से ३ के रूप काल के विवर्त्त हैं और संख्या ४ से ६ तक के रूप देश के विवर्त है। यही देश-काल का सहयुक्त रूप (टाइम-स्पेस रिलेटा) है, जिस के माध्यम से प्रत्येक वस्तु की भूतभौतिक सत्ता या उपलब्धि सम्भव बनती है।

४२. अर्वाचीन विज्ञान में देश-काल की एकता—

अर्वाचीन विज्ञान की भाषा में व्यक्त काल और व्यक्त देश की पृथक् स्वतन्त्र सत्ताएं नहीं हैं। वे दोनों किसी एक अव्यक्त तत्त्व के दो रूप हैं। वह अव्यक्त सत्ता देश और काल का सम्मिलित रूप है, और इन दोनों को अपने गर्भ में रखती है। देश और काल दोनों समानधर्मा हैं। समानधर्मा दो वस्तुओं का एक में मिलाना सम्भव हुआ करता है। सापेक्षवाद के सिद्धान्त की कल्पना से पहले किसी के लिये भी यह मानना सम्भव न था कि देश और काल दोनों स्वरूप में इतने सदृश

हैं कि उनके सम्मिलन का कोई विशेष महत्त्व हो सकता है। किन्तु अब तो इन दोनों के सम्मिलन या देशकाल की सहयुक्त इकाई के आधार पर ही सृष्टिविज्ञान की व्याख्या का ज्ञान सम्भव हो रहा है।*

पुनश्च—सामान्य देश में दाहिने-बाएँ की कल्पना नहीं है, क्योंकि दाहिने-बाएँ का स्पर्श देश के साथ न होकर देश में खड़े हुए किसी दर्शक के साथ होता है। दाहिने और बाएँ भागों में देश का बँटवारा दर्शक की कल्पना के अतिरिक्त कोई अर्थ नहीं रखता। उसी प्रकार देश-काल के चौखटे में देश से पृथक् काल का कथन नहीं किया जा सकता, क्योंकि देश-काल की सम्मिलित इकाई के साथ पृथक् देश और पृथक् काल का कोई सम्बन्ध न होकर केवल दर्शक के साथ होता है। प्रत्येक दर्शक का देश और काल पृथक्-पृथक् हो सकता है, किन्तु देश-काल की सम्मिलित सत्ता सार्वजनिक सत्य है।+

वैदिक सृष्टिविद्या के अनुसार भी देश और काल किसी प्रकार स्वतन्त्र या पृथक् नहीं हैं, बल्कि वे देश-काल के रूप में सर्वथा सहयुक्त हैं। इन दोनों को ही नाम-रूप कहा जाता है। काल नाम है और देश रूप है। जिसका नमन हो वह नाम है। नमन का तात्पर्य है वक्रभाव। अमित का मित भाव में आना ही नमन या वक्रता है। और सम्वत्सर वाला काल ही गणना काल हैं। उसे ही कुटिल काल कहते हैं। उसका ही वस्तुओं के नाम-रूप से सम्बन्ध बनता है।

४३. काल ब्रह्मौदन है, देश उसका प्रवर्ग्य है

भारतीय दृष्टि से काल और देश के सम्बन्ध में यह तथ्य ध्यान में रखने योग्य है कि मूल में काल तत्त्व है, और देश तत्त्व उसी का तूल या विवर्त है। इस विकास को ब्रह्मौदन और प्रवर्ग्य के

* The physical theory of relativity suggests, althongh without absolutely conclusive proof, that physical space and physical time have no separate and indepndent existence. They seem more likely to be abstractions or selections from some thing more complete, namely a blend of space and time which comprises both. It is of course always possible to take any two things of not too dissimilar nature, and blend them into a single unity which shall comprise both. Before the advent of the theory of relativity, no one could have imagined that space and time were sufficiently similar in their natures for the result of blending them together to be of any special interest, yet such a blend has proved to be of outstanding importance for the understanding of physics. (James Jeans, Physics & Philosophy. p. 64)

+वही पृष्ठ ६५।

सृष्टिव्यापी वैज्ञानिक नियम के द्वारा समझा जा सकता है। जो मूल तत्त्व हो उसे ब्रह्मौदन कहते हैं। उससे जो तूल विकसित होता है वह उस मूल की अपेक्षा से उसका प्रवर्ग्य कहा जाता है। ब्रह्मौदन का प्रवर्ग्य रूप में विवर्त ही सृष्टि है। जो पूर्व-पूर्व का प्रवर्ग्य है वह अपने से उत्तर-उत्तर का ब्रह्मौदन बन जाता है। कोई ब्रह्मौदन अपने प्रवर्ग्य के बिना नहीं रह सकता। उदाहरण के लिए जो अन्न हम खाते हैं वह विशकलित होकर कुछ भाग से रस बन जाता है और कुछ भाग से मल। रस ब्रह्मौदन और मल उसका प्रवर्ग्य है। पुनः रस का कुछ भाग उत्तरोत्तर धातुओं के रूप में ब्रह्मौदन और प्रवर्ग्य की सृष्टि करता है। यही प्रक्रिया कालतत्त्व के साथ घटित होती है। कालातीत अव्यय पुरुष ब्रह्मौदन या सृष्टि का मल है। जिस तत्त्व से मल का संवर्धन हो वह ब्रह्म का ओदन या अन्न (पोषकतत्त्व) ब्रह्मौदन कहा जाता है। उसी का त्यक्त एकांश उसका प्रवर्ग्य हो जाता है। सृष्टि के लिए प्रवर्ग्य आवश्यक है। प्रवर्ग्य से ही सृष्टि होती है (उच्छिष्टाज् जज्ञिरे सर्वम्)। पुरुष के शरीर में जो शुक्र भाग है वह उस शरीर को ही पुष्ट करता है। उसका जो रेतोभाग सन्तान के लिये त्यक्त होता है वह उसका प्रवर्ग्य है। मूलभूत ब्रह्मौदन की शक्ति मूलभूत प्रवर्ग्य में अनुप्रविष्ट रहती है। यही प्रक्रिया कालातीत अव्यय के सम्बन्ध में चरितार्थ होती है। वह शुद्ध स्थितितत्त्व है। उसका प्रवर्ग्य गत्यात्मक अक्षर अव्यक्त काल स्वयं मूलशक्ति या ब्रह्मौदन के रूप में गति करता है और क्षर व्यक्तकाल दिक् भाव में विकसित होता है, दिक् भाव देश भाव में और देश भाव प्रदेश के रूप में स्थूल बनता है। प्रदेश काल का अवसान या अन्तिम प्रवर्ग्य है जिससे आगे पुनः विकास सम्भव नहीं।

ब्रह्मौदन या मूल—कालातीत अव्यय पुरुष—उसका प्रवर्ग्य या तूल—अक्षर अव्यक्तकाल
... अक्षर अव्यक्तकाल —क्षर व्यक्तकाल (ऋतसम्वत्सरात्मक काल)
... क्षर व्यक्तकाल —दिग्भाव (सत्यसम्वत्सरात्मक या हृद्यात्मक काल, छन्दभाव या रेखा)
ब्रह्मौदन या मूल दिग्भाव —देशभाव (लम्बाई-चौड़ाई या वर्ग)
..........देशभाव —प्रदेशभाव (लम्बाई-चौड़ाई-मोटाई रूप पार्थिव छन्द या घन)

इस तालिका में प्रदेश भाव सब से अवर एवं स्थूल है। सूक्ष्मभाव का क्रम-क्रम से स्थूल रूप में परिणत होना ही प्रदेश या लम्बाई-चौड़ाई-मोटाई का घन रूप है। वही उसका त्रिप्रमाणात्मक छन्द है। उसे पृथिवी छन्द कहा जाता है। छन्द का अर्थ है आयतन। पार्थिव भौतिक छन्द या आयतन ही त्रिप्रमाणात्मक होता है।

४४. चतुष्प्रमाणात्मक देश (फोर-डाइमेन्शनल स्पेस)—

वैज्ञानिकों का कथन है—सामान्य त्रिप्रमाणात्मक देश (थ्री-डाइमेंशनल स्पेस, अर्थात् प्रदेश) तीन खड़ी रेखाओं को मिलाकर बना हुए त्रिविष्टब्धक या तिकठी पर आधारित है। ये तीन खड़ी रेखाएँ पूर्व-पश्चिम (प्राची-प्रतीची), उत्तर-दक्षिण (दक्षिणोदीची), ऊपर-नीचे (ऊर्ध्व-अधः)

इन तीन दिशाओं की सूचक हैं। द्रष्टा अपने दृश्य प्रदेश (परसैप्चुअल स्पेस) को इसी रुप में देखता है। अब हम कल्पना करें कि यह दृश्य प्रदेश असंख्य पतली पपड़ियों में काट लिया जाय तो प्रत्येक महीन पपड़ी केवल वर्गाकार रह जायगी जिसमें पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण केवल दो ही प्रमाण-रेखाएँ होंगी, ऊपर-नीचे की रेखा नहीं। इन असंख्य पपड़ियों की तह फिर से जमा दी जाय तो वही पूर्व का त्रिप्रमाणात्मक प्रदेश पुनः बन जायगा। इसका अभिप्राय यह हुआ कि हमने समतल प्रमाण के साथ उत्सेध प्रमाण को जड़ दिया या मिला दिया और उससे एक नई ही वस्तु प्राप्त कर ली अर्थात् त्रिप्रमाणात्मक प्रदेश।

अब यदि हम किसी 'क' नामक व्यक्ति के अनुभव में इन त्रिप्रमाणात्मक प्रदेशों की एक क्षण के बाद दूसरे क्षण में लगातार आने की कल्पना करें तो हमें चतुष्प्रमाणात्मक प्रदेश की मान्यता करनी होगी। ऐसे ही दृश्य-प्रदेशों का अविच्छिन्न सन्तानक्रम 'ख' व्यक्ति का भी बन सकता है। तो इन असंख्य दृश्य-प्रदेशों की समष्टि के रूप में एक ऐसे देश-काल की मान्यता सिद्ध हो जाती है, जो व्यक्ति विशेष के लिए निजी न होकर सर्वसामान्य के अनुभव की वस्तु बन जाती है (जेम्स जीन्स, वही पृ० ६४-६५)।

इस बिवेचन से यह स्पष्ट है कि कालतत्त्व के उत्तरोत्तर विकास-क्रम में दिक्-देश-प्रदेश की सर्जना जो भारतीय वैदिक दर्शन को मान्य है (कालादापः समभवन् कालाद् ब्रह्म तपो दिशः', अथर्व १९।५४।१) अर्वाचीन विज्ञान से भी सम्मत है।

४५. कालतत्त्व का मौलिक स्वरूप—

प्रश्न है कि कालतत्त्व का मौलिक स्वरूप क्या है? सृष्टि का मूलकारण जो गतितत्त्व है वही काल है। 'कल' संख्याने धातु से काल और कला दोनों बनते हैं। किसी अखण्ड तत्त्व का कलाभाव में अभिव्यक्ति काल या गति के कारण ही सम्भव होती है। वह अखण्ड अव्यय तत्त्व मूल स्वरूप में अज या अजन्मा है, वह अवक्र कहा जाता है (अजस्यावक्रचेतसः)। वक्र भाव को ही नमन-भाव (झुकना) कहते हैं। नमन की ही संज्ञा नाम है। नाम से ही रूप बनता है। नमन या वक्रता कर्क्वेचर) से ही सीमा या छन्द बनता है (छन्दश्छादनात्)। गतिभाव का आवश्यक परिणाम सीमाभाव है। सीमाभाव से ही अनन्त वस्तु का छादन या आवरण होता है। यदि एक बिन्दु से उत्थित गति अनन्तकाल तक बाहिर की ओर ही जाती रहे तो कोई कार्य सम्भव न होगा। गति को चक्रभाव में आना पड़ेगा। तभी उससे आगति उत्पन्न होती है। गति का नमन ही आगति है। काल का नमन-भाव ही उसका दिग्-देश-प्रदेश में परिणत होना है।

४६. काल के तीन रूप—

कालातीत तत्त्व परात्पर ब्रह्म है। उससे कालात्मकतत्त्व का विकास होता है। जहाँ काल है वहीं छन्द या नमन है। यह काल तीन प्रकार का है—पहला अनन्त काल, दूसरा कराल काल और तीसरा कुटिलकाल।

१—अनन्तकाल—यही महाकाल है जो अव्ययकाल भी कहा जाता है। यह निरपेक्ष काल है। इसी में महामायाधर्म का सम्पर्क होता है। महामाया अमित को मित बनाने वाला धर्म है। महामाया एक छन्द है। माया भाव है। इस अनन्तकाल में मायाधर्म या मितभाव का सम्पर्क होने से पाँच पुरों का प्रादुर्भाव होता है—स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी। स्वयम्भू-परमेष्ठी का एक वर्ग है, सूर्य-चन्द्र-पृथिवी का दूसरा। पहला सृष्टि से पूर्व का सूक्ष्मभाव है, दूसरा भौतिक सृष्टि का स्थूल है।

२—करालकाल—स्वयम्भू अव्यक्त स्रोत है। उससे जिस महान् या विराट् का जन्म होता है वह परमेष्ठी है। स्वयम्भू और परमेष्ठी दोनों का कालात्मक नमन या छन्द पुराण की भाषा में करालकाल कहा जाता है (करालं महाकालकालं कृपालम्)। इससे ही भाषा में काल को दण्ड कहा गया है। जिस प्रकार धनुर्दण्ड दो सिरों पर झुका रहता है वैसे ही यह सापेक्षकाल अपने दो ध्रुवों के चंगुल में सौरसम्वत्सररूपी कुटिल काल के गोले का स्तम्भन करता है। शालाओं में पृथिवी के गोले को फँसा कर यथास्थान रखने वाला जो धनुषाकृति आँकुड़ा होता है उससे इस करालकाल की उपमा दी जा सकती है। अनन्तकाल तो विष्कम्भ की भाँति ऊर्ध्व या सीधा होता है। विष्कम्भ या व्यास या सीधी रेखा क्या है? एक ध्रुव बिन्दु की बहुधा या नाना बिन्दुभाव में अभिव्यक्ति ही सीधी रेखा है। एक बिन्दु के दोनों छोरों पर दो अतिरिक्त बिन्दुओं की कल्पना करते ही सीधी रेखा विकसित हो पड़ती है। यही रेखा उन बिन्दुओं पर गति करती है जिससे बिन्दु-बिन्दु पर नमन करने वाली या झुकने वाली रेखा का जन्म हो जाता है। वही वृत्त कहलाता है। ऊर्ध्व रेखा का विकास नमन या वक्र भाव के बिना अन्यथा सम्भव ही नहीं है। गति ही तो वक्रभाव या सीमाभाव में परिणत होती है। शाश्वत गति जैसी कोई कल्पना विश्व में सम्भव नहीं है। गति को आगति भाव से संयुक्त होना ही पड़ता है। गति-आगति की समष्टि ही चक्र है। काल का व्यक्तरूप चक्रात्मक ही है। वही तीसरा कुटिल काल है। विश्व में देश भी चक्र है और काल भी चक्र है। देशकाल के सीमित परिमाण की संज्ञा ही विश्व है।

३—कुटिल काल—व्यक्त सौर सम्वत्सर रूपी जो काल है वह कुटिलकाल है। वह गणनकाल है। लव-निमेष, अहोरात्र, पक्ष-मास, ऋतु, अयन, सम्वत्सर, यही कुटिलकाल का रूप है। काल के ये विविध रूप तभी सम्भव हैं जब सूर्य और पृथिवी अपने केन्द्र बिन्दु पर ध्रुवरूपेण प्रोत हो चुके हैं। इस ध्रुवभाव या केन्द्रस्थ भाव को ही सत्य या सत्ता कहा जाता है। एक केन्द्र के चारों ओर अनुस्यूत गति या परिक्रमा को सत्य कहते हैं। केन्द्रविहीन विचलित गति ऋत का रूप है। सूर्य सत्य नारायण है। उसी के ध्रुव कक्ष में पृथिवी, चन्द्र आदि ग्रहोपग्रह अविचालीभाव से कीलित हैं। यह ध्रुव सम्वत्सर ही वस्तुतः काल का वह रूप है जिस से भूत भौतिक पार्थिव विश्व का निर्माण होता है। यह इस जगत् का प्रजापति या सृष्टि, स्थिति, संहार का विधाता है। इस सौर मण्डल के केन्द्र सूर्य को हृदयस्थ मनुतत्त्व भी कहा जाता है। विराट् के गर्भ में एक-एक बिन्दु पर ही शक्ति की अभिव्यक्ति सम्भव होती है। विराट् विश्व में सूर्य कितना भी बड़ा हो वह एक

बिन्दु है। अतएव सूर्य ही मनुतत्त्व है। विवस्वान् सूर्य के पुत्र मनु वैवस्वत कहे जाते हैं। इसी दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि सौर मण्डल में जितने पदार्थ जन्म लेते हैं सबके स्वस्तिक (दिग्भाव) सूर्य के विराट् स्वस्तिक से मिले रहते हैं, अथवा सबका मध्यबिन्दु या हृदयकेन्द्र सूर्य के केन्द्र या मनुतत्त्व से समन्वित रहता है। सब प्राणियों में यह स्थिति है, पर मानव की प्रज्ञा में सब से अधिक स्फुट है। वस्तुतः मानवीप्रज्ञा या विज्ञानतत्त्व का सूर्य से जो विकास कहा जाता है उसका सांकेतिक रहस्य यही है। किसी महतो महीयान् शक्तिसमुद्र के मध्य में सूर्य जैसे अनेक केन्द्रों का उत्पन्न होना ही सृष्टि प्रक्रिया है। सृष्टि विज्ञान की भाषा में सूर्य और सम्वत्सर दोनों पर्याय हैं। दोनों प्रजापति हैं। दोनों काल के निर्माता और काल रूप ही हैं। काल ही मृत्यु है और काल ही अमृत है।

अन्तकाल काल, करालकाल, कुटिल संवत्सरात्मक काल—ये भेद काल्पनिक नहीं, सृष्टि-विद्या की दृष्टि से तात्त्विक हैं। देश-काल की मीमांसा करते हुए अर्वाचीन विज्ञान को भी कई रूपों में देश-काल की व्याख्या करनी पड़ती है। उदाहरण के लिए, देश चार प्रकार का है—कन्सेप्टुअल स्पेस, परसेप्टुअल स्पेस, फिजिकल स्पेस, ऐबसल्यूट स्पेस। इसी प्रकार काल के चार भेद हैं—कन्सेप्टुअल टाइम, परसेप्टुअल टाइम, फिजिकल टाइम, ऐबसल्युट टाइम, (जीन्स. वही, पृ० ५५-५८)। अर्वाचीन विज्ञान और वैदिक सृष्टिविज्ञान की परिभाषाएँ दो प्रकार की हैं, किन्तु उन्हें सृष्टि के जिस सूक्ष्म और स्थूल विधान की मीमांसा और व्याख्या करनी पड़ती है वह मूल और तूल रूप में दोनों के लिये सदृश है।
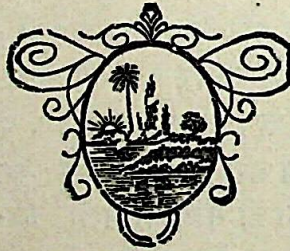
देवतामय पवित्र जीवन और परमात्मसाक्षात्कार का अनुष्ठान

पं० श्री० दामोदर सातवलेकर जी,
अध्यक्ष स्वाध्याय-मण्डल, पारडी, जि० सूरत

'यद् देवा अकुर्वन्,तत् करवाणि'(शतपथ ब्राह्मण १।१)

"जो देवता करते हैं वैसा मैं करूँगा" यह एक वैदिक नियम है। देवताओं के आचार-व्यवहार के समान मैं अपना आचार-व्यवहार करूँगा और मैं देवतास्वरूप बनूँगा। वैदिक धर्मी लोग ऐसा निश्चय अपने मन में करें और वेद में जो देवताओं के वर्णन हैं वे पढ़ें और उनको अपने जीवन में ढालने का यत्न करें। इससे उनका जीवन देवता के समान हो सकता है। ये देवताएँ कहाँ रहती हैं और क्या करती हैं, यह भी देखना आवश्यक है। इस विषय में निम्न स्थान में लिखे मन्त्रों में मननीय उपदेश दिया है। देखिये—

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अंगे सर्वे समाहिताः। अथर्व १०।७।१३

'जिसके अंग में सब के सब तैंतीस देव रहते हैं।' अर्थात् तैंत्तीस देव परमात्मा के विश्व शरीर में रहते हैं। और देखिये—

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अंगं गात्रा विभेजिरे।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवान् एके ब्रह्मविदो विदुः॥ अथर्व २०।७।२७

तैंतीस देव जिसके शरीर में गात्र-शरीर के अवयव बन कर रहे हैं, उन तैंतीस देवों को ब्रह्मज्ञानी ही अकेले जानते हैं अर्थात् परब्रह्म के विश्व शरीर में तैंतीस देव उसके शरीर के अवयव बन कर रहे हैं। उनको ब्रह्म ज्ञानी ही जानते हैं। तथा—

यस्य भूमिः प्रमा अन्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ अथर्व वेद १०।७।३२

'जिसकी भूमि पांव है, अन्तरिक्ष जिसका उदर है, द्युलोक जिसका सिर है उस ज्येष्ठ ब्रह्म के लिये मैं नमस्कार करता हूँ। और देखियेः—

यस्य सूर्यश्चक्षुः चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३३॥
यस्य वातः प्राणापा नौ चक्षुरंगिरसोऽभवत् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीः तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३४॥ अथर्व वेद७०।

'जिसका आँख सूर्य बना है, दूसरा आंख पुनः-पुनः नया होने वाला चन्द्रमा बना है, अग्नि जिसका मुख है, वायु जिसका प्राण और अपान है, आंगिरस सूर्य जिसके आंख बने हैं, दिशाओं को जिसने कान बनाया है, उस श्रेष्ठ ब्रह्म के लिये मेरा नमस्कार है।'

परमात्मा अशरीर है, परन्तु अज्ञ लोगों को समझाने के लिए यहां इन मंत्रों में उसके शरीर होने के समान वर्णन किया है। हम भी उसी भाषा में बोलेंगे और उसका परिणाम क्या होता है, देखेंगे—

१. परब्रह्म के शरीर में तैंतीस देवगण उसके शरीर के अवयव बन कर रहे हैं।
२. इन तैंतीसं देवगणों को, वे परमात्मा के विश्व शरीर के अवयव कैसे बने हैं और हमारा उनके साथ कसा सम्बन्ध है, यह सब ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं।
३. परब्रह्म परमात्मा के पाँव यह भूमि है, उसका पेट यह अन्तरिक्ष है और द्यु उसका सिर हैं।
४. सूर्य उसकी एक आँख है, चन्द्रमा दूसरी आँख है, अग्नि उसका मुख है, वायु उसका प्राण और अपान है, दिशाएँ उसके कान हैं।

परब्रह्म परमात्मा के विश्व शरीर की कल्पना इस तरह की गई है। इसका अर्थ क्या होता है वह हम व्यवहार की भाषा से देखेंगे ।

हम पृथिवी पर घूम रहे हैं, समझो हम परमात्मा के पाँव में घूम रहे हैं, क्योंकि पृथिवी उसके पांव हैं। सूर्य उसकी आंख है और चन्द्रमा उसकी (प्रभु की) दूसरी आंख है। दिन भर उस प्रभु की सूर्य रूपी आँख हमारा व्यवहार देख रही है। रात्रि के समय उसकी दूसरी आँख निरीक्षण कर रही है। ये उस प्रभु की दोनों आँखें दिन-रात विश्व का निरीक्षण कर रही हैं। हमारा आचरण सदोष हुआ या कुछ दोष हमारे आचरण में हुआ तो ये परमेश्वर की आँखें उसको देखेंगी और हमें उनसे कौन बचा सकता है ? परमेश्वर की आंखें रात-दिन हमारे ऊपर निगरानी कर रही हैं, यह मनुष्य जानें और जहां तक सम्भव हो, वहां तक प्रयत्न करके अपना आचरण निर्दोष हो ऐसा यत्न करें।

अग्नि उस प्रभु का मुख है। उस मुख में हवनीय द्रव्य डालते हैं। वह आग में डाल रहे हैं ऐसा न समझ कर हम परमेश्वर के मुख में हवन कर रहे हैं ऐसा मानें तो जीवित और जागृत परमेश्वर का मुख हमारी आहुतियां ले रहा है, ऐसा प्रतीत होकर साक्षात् परमेश्वर का संबंध हमसे होगा ।

वायु परमात्मा का प्राण और अपान है। उस परमात्मा के प्राण में हम श्वास-उच्छ्वास कर

रहे हैं। हम प्राण वायु लेते हैं वह परमात्मा का प्राण हम अपने अन्दर लेरहे हैं। परमेश्वर का प्राण हमारे अन्दर जाकर हमें जीवित रख रहा है ऐसा हम मानें तो प्रत्येक श्वास के साथ परमात्मा की जीवनशक्ति हमारे अन्दर जा रही है और हमारे शरीर का जीवन उस परमत्म शक्ति से हो रहा है, यह ध्यान में आकर हमें सर्वत्र परमात्मा का साक्षात्कार होगा।

देवताओं के साथ जीवन

सब देवताएँ परमात्मा के विश्व शरीर में रहती हैं, यह विश्व परमात्मा का शरीर है, सर्वत्र परमेश्वर भरा है, कोई स्थान उससे खाली नहीं है। हम इस स्थान में घूम रहे हैं वे हम सब परमात्मा के उदर में ही घूम रहे हैं। परमात्मा के पेट से हम बाहर जा नहीं सकते।

हम पानी पीकर अपनी तृषा शान्त करते हैं, वह पानी परमपिता परमात्मा का जीवनरस है। जल देवता को ही हम पीते हैं और वह जल-देवता हमारे शरीर का अंग बनकर रहती है। वायु-देवता परमात्मा का प्राण और अपान है। श्वास द्वारा हम परमात्मा के प्राण को ही अपने अन्दर लेते हैं और उससे हम जीवित रहते हैं।

अन्न हम खाते हैं। अन्न देवता है, उस देवता को ही हम खा रहे हैं और अन्न देवता हमारे शरीर में जाकर हमारे शरीर का भाग बनती है और हमारे शरीर का बल बढ़ाती है। अग्नि-देवता है। वह हमारा अन्न पकाती है और हमारी सहायता हर प्रकार से करती है। औषधि व वनस्पतियाँ देवता हैं। उनको हम खाते हैं और वे हमारे शरीर के मल को धोकर नष्ट करती हैं, उनके द्वारा हमारा शरीर निर्दोष होता है और आरोग्यसम्पन्न रहने में सहायता करती है।

सूर्य और चन्द्रमा ये देवताएं हैं। ये अपने प्रकाश किरणों से हमें जीवन सत्व देती हैं 'सूर्य आत्मा जगतः तस्थुषश्च' सूर्य स्थावर जंगम का आत्मा है। सूर्य से जीवन शक्ति हमें मिलती है और चन्द्रमा से औषधियों की वृद्धि होती है। इन औषधियों को खाकर हम पुष्ट होते हैं।

हमारे चारों ओर पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाश ये देव हैं और शरीर भी इन दवों का ही बना है। चारों ओर से, हमारी सब ओर से, हमें देवताओं ने घेरा है, हमारे अन्दर और बाहर देवताएं भरी हैं। देवता का निवास नहीं ऐसा स्थान ही नहीं है। अन्दर और बाहर चारों ओर हमारे सब ओर, देवताएँ हैं। देवताओं को हम खाते हैं, देवताओं को हम पीते हैं, देवताओं को सूंघते, देवताओं से हम अपना काम लेते हैं और सर्वथा देवताओं में विचरते हैं।

ये देवताएँ परमात्मा के दूत हैं। सूर्य, चन्द्र, वायु, औषधियाँ, जल, पृथ्वी दिन-रात हमारी सहायता कर रही हैं। कोई ऐसा क्षण नहीं है कि जिस क्षण में हम इन देवताओं से पृथक् रह सकते हैं।

देवताएँ परमात्मशक्तियाँ हैं

ये सब देवताएँ सम्पूर्ण रूप से परमात्मा की शक्तियाँ हैं। इसलिये कहा है—

तद् एव अग्निः, तद् आदित्यः, तद् वायुः, तद् उ चन्द्रमाः। वा० यजु० ३२। १

'वह परब्रह्म ही अग्नि, आदित्य, वायु, और चन्द्रमा है।' अर्थात् परमात्मा की आग्नेय शक्ति अग्निरूप लेकर विश्व में आई है, परमेश्वर की जीवन शक्ति वायुरूप धारण करके विश्व में आगयी है, परमेश्वर की आदान शक्ति आदित्यरूप से सबको ग्रहण कर रही है। इसी तरह परमात्मा की अन्यान्य शक्तियां अन्यान्य रूप धारण करके अन्यान्य कार्य कर रही हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा की आधार शक्ति पृथ्वी के रूप से हमें आधार दे रही है। पृथ्वी को देखकर यह परमात्मा की आधार शक्ति है ऐसा समझकर हम पृथ्वी में परमात्मा की आधार शक्ति का साक्षात्कार करके, जल में परमात्मा की शान्ति मिल रही है ऐसा अनुभव करके जल में परमात्मा की शान्ति रूपी जीवन शक्ति को हम देखें। वायु में प्राणशक्ति परमात्मा की है, ऐसा देखकर वही परमात्मा की जीवन और प्राणन शक्ति वायु रूप से हमें प्राप्त हो रही है, ऐसा अनुभव करके वायु स्पर्श से हम परमात्मा का साक्षात्कार करें।

इस तरह प्रत्येक देवता में जो-जो विशेष गुण हैं वे सब गुण परमात्मा के उन देवताओं में हैं ऐसा समझकर हम सर्वत्र परमात्मा की महाशान्ति को विविध रूपों में अनुभव करें और इस तरह परमपिता परमात्मा अन्दर-बाहर और चारों ओर हमारी सहायता कर रहा है, उसकी परम सहायता से हम जीवित रहते हैं, पुष्ट हो रहे हैं, बढ़ रहे हैं ऐसा अनुभव करें और जीवित-जागृत परमात्मा को अपने अन्दर-बाहर, नीचे-ऊपर तथा चारों ओर अनुभव करके परमानन्द के भागी बनें।

सदा सर्वदा परमात्मा को चारों ओर देखने का अनुष्ठान इस रीति से हो सकता है और इसमें सफलता प्राप्त हुई तो जो आनन्द मिलता है वह असीम आनन्द है।

पाठकगण इस असीम आनन्द को प्राप्त करने का यह अनुष्ठान करें और आनन्द-प्रसन्नता का जीवन जीवें और सर्वकाल के लिए दुःख को दूर करें।

वेद विषय में आर्यसमाज की धारणा

पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु, वाराणसी

वेद उस ज्ञान का नाम है, जो सृष्टि के आदि में परमपिता परमात्मा द्वारा जीवों की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति, ऐहिक और पारलौकिक सुख कल्याण की प्राप्ति के लिये, प्रदान किया गया और किया जाता है। जिस की स्वरवर्णानुपूर्वी नित्य है। उसके आधार पर ही आगे ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों की रचना हुई। वह वेद सर्वज्ञानमय [सब सत्य विद्याओं का भण्डार] है, मानव संबन्धी समस्त आवश्यक ज्ञान बीजरूप से इसमें हैं, यह धारणा समस्त ऋषि-मुनियों की है। अत एव ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज ने भी इसी धारणा को आधारभूत माना है। आर्य-सनातन-वैदिक (आजकल हिन्दू कहे जाने वाले) धर्म का यत् किञ्चित् भी क्रिया-कलाप वेद के बिना नहीं चल सकता। जन्म से मरणपर्यन्त वेद का ही आश्रय लेना अनिवार्य है। भारत के राष्ट्रपति और प्रधान-मन्त्री (चाहे वह अपने आप को सैक्यूलर कहें या नास्तिक) के यहाँ भी विवाह आदि कोई शुभ कार्य वेद की ध्वनि के बिना नहीं हो सकता। अत एव वेद आर्यजाति का प्राण है, इसमें यत्किञ्चित् भी अत्युक्ति नहीं। भारतीय संस्कृति, सभ्यता और साहित्य का मूलाधार वेद है। प्राण और मूलाधार एकार्थवाचक हैं। इसीलिये मनु महाराज ने कहा—

स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः।

अर्थात् वेद में सब ज्ञान, विद्यायें वर्णित हैं क्योंकि वेद सर्वज्ञानमय है।

अनादिनिधनानित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥

महाभारत शा० २३।१४२.

अर्थात् स्वयंभू परमेश्वर ने वेदमयी दिव्य, नित्य, जिसका आदि-अन्त नहीं होता, ऐसी वाणी प्रदान की, जिससे आगे संसार के समस्त व्यवहार चले। ऋग्वेद के दशम मण्डल के ७१ वें सूक्त में

भी इसी बात को कहा गया है।

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः।

अर्थात् वेदवाणी प्रथम अर्थात् सृष्टि के आदि में दी जाती है, वही सब भाषाओं की मूल है। उसी से सब पदार्थों के नामादि का व्यवहार चलता है। वह सर्वश्रेष्ठ सर्वदेशी होती है और उत्कृष्ट आत्माओं द्वारा प्रकाशित होती है। मनु ने भी इसी बात को आगे के श्लोक में कहा है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ।।मनु०।

वेद का महत्त्व सदा से ऐसा ही माना जाता रहा, यही हमारा कहना है।

सब ऋषि-मुनि वेद को "**सर्वज्ञानमयो हि सः**" (मनु २।७) "**प्रमाणं परमं श्रुतिः**" (मनु) "**वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**" (मनु २।६) सर्वज्ञान का मूल, परम प्रमाण और "**देवपितृमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्**" सबका पथप्रदर्शक मानते हैं।

इन्हीं कारणों से ऋषि दयानन्द ने वेद को आधार माना और "**वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है**" यह नियम बनाकर आर्य-समाज की स्थापना की। आर्य समाज भी उपर्युक्त कारणों से ही इस सिद्धान्त को मान रहा है।

प्राचीन काल से वेद आर्य संस्कृति के प्रकाशस्तम्भ रहे हैं। आर्य जाति के संगठन और उस की जीवनचर्या के व्यवस्थापन वा नियमन, उसकी आध्यात्मिक तथा अन्य उत्कृष्ट भावनाओं की प्रेरणा में वेद का प्रमुख स्थान रहा है, यह हमारा इतिहास बतलाता है। सभी ऋषि-मुनियों ने वेद को परम प्रमाण, अपौरुषेय और ज्ञान का भण्डार माना है। उन प्राचीन ऋषि-मुनियों की कृतियों में जो लोकोत्तर महत्ता दिखाई देती है, उसमें भी हमें वेद की उत्कृष्ट भावनाओं का प्रभाव पदे-पदे दृष्टिगोचर होता है, जो हमारी आर्य संस्कृति का अङ्ग बनकर हमारे देश से बाहर कहीं-कहीं धुंधले प्रकाश के रूप में दिखाई देती है, जिससे हमें अपनी आर्य संस्कृति का महत्व अधिक स्पष्ट प्रतीत होने लगता है। इस सबके मूल को खोजने से हमें यही विदित होता है कि वेद हमारी आर्यजाति, आर्यसंस्कृति तथा सभ्यता के प्राण, अक्षय्य निधि, पथप्रदर्शक सदा रहे हैं। और वेद के कारण ही ये सब संसार में अजर अमर हैं।

"**निष्कारणो धर्मः षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च**" (महाभाष्य)

बिना यह विचार किये कि इससे क्या लाभ होगा, परम कर्तव्य समझते हुए इस वेद को छओं अङ्गों सहित पढ़ने का आदेश इसीलिए हमारे ऋषि लोग करते चले आ रहे हैं। इसी का यह फल है कि यह वेद इस समय तक हमारे पूर्वजों के पुण्य प्रताप से कुल-परम्पराओं द्वारा सुरक्षित रहता आया। अन्यथा भूमंडल भर में खोजने पर भी इसका चिह्न तक न मिलता, जैसा कि अनेक जातियां अपने-अपने साहित्य के साथ इस भूमंडल से सदा के लिए मिट गईं, वैसे यह वेद भी कभी का लुप्त हो जाता।

वेद-सम्बन्धी मिथ्या धारणाएँ

वेद का अभ्यास शताब्दियों से छूट जाने के कारण वेद के सम्बन्ध में मिथ्या धारणाएँ चल पड़ीं। इनका प्रारम्भ तभी से हुआ जब से वेद को केवल यज्ञ में ही सीमित कर दिया गया। वेदों के आध्यात्मिक और आधिदैविक अर्थों का लोप हो गया, जिनकी परम्परा आज से १४००-१५०० वर्ष पूर्व तक विद्यमान रही। इतना ही नहीं यास्कमुनि को भी यही अभीष्ट था। जिसका सप्रमाण वर्णन हम अपने अन्य लेखों में विस्तार से कर चुके हैं। इस उत्कृष्ट परम्परा को या तो सायणाचार्य ने नष्ट कर दिया, या उसकी अपनी समझ में नहीं आयी, और इस कारण उसने इसे छोड़ दिया। यह बात हम इसलिये कहते हैं कि सायणाचार्य ने यहां तक लिख दिया कि संहिता और ब्राह्मण केवल यज्ञ का ही प्रतिपादन करते हैं। तद्यथा—

"तस्मिंश्च वेदे द्वौ काण्डौ। कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च। बृहदारण्यकाख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डस्तद्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोर्ग्रन्थयोः कर्मकाण्डत्वम्। तत्रोभयत्राधानाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्माण एव प्रतिपाद्यत्वात्।" (काण्व संहिता सायणभाष्य भूमिका)

अर्थात् वेद में दो काण्ड हैं, कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड। बृहदारण्यक (अर्थात् उपनिषद् सामान्य—ले०) ग्रन्थ तो ब्रह्मकाण्ड है और उससे शेष शतपथ ब्राह्मण और संहिता इन दोनों ग्रन्थों का विषय कर्मकाण्ड है। इन दोनों [शतपथ ब्राह्मण और संहिता] में अग्निहोत्र दर्शपूर्णमासादि कर्मों का ही प्रतिपादन है। यहां "एव" (ही) पद विशेष ध्यान देने योग्य है।

सायणाचार्य की उत्पन्न की हुई यह उपर्युक्त भ्रान्ति वेदसंबंधी समस्त मिथ्या भ्रान्तियों का मूल आधार है। इसने वेदसंबंधी सब गौरव और मानव जीवन में वेद की उपादेयता का सर्वथा नाश कर दिया। सायणाचार्य वि० संवत् १३७२ से १४४४ में हुए। उनके पश्चात् इस ५००-६०० वर्ष के काल में वेद का स्वरूप और महत्त्व लगभग सर्वथा लुप्त हो गया। वेद के अर्थ समझने की प्रवृत्ति लुप्त हो गई और वेद की पुस्तक वर्ष में एक बार नवरात्रों के दिनों में धूप में रक्खी जाती रही, या अधिक हुआ तो वेद की सवारी (एक रथ में सजा कर सारे नगर में घुमा देना) निकाली जाती रही, जो हम बाल्यकाल में देखा करते थे। वेद का पठन-पाठन केवल कंठस्थ करने तक ही रहा। अर्थसहित पठन-पाठन में वेद प्रायः लुप्त हो गया।

वेदसम्बन्धी उक्त भूल के दुष्परिणाम

यह भूल सायणाचार्य तक ही रह जाती, अथवा भारत तक ही सीमित रही होती, तब भी इतनी हानि नहीं थी। इसके परिणाम बड़े भयंकर हुए। यह ठीक है कि महात्मा बुद्ध के काल में भी यज्ञयागादि की प्रधानता रही और वेद का अर्थ केवल यज्ञपरक ही होता है, इस मान्यता से ही यह भ्रान्ति उत्पन्न हुई, और बुद्ध जैसे महापुरुष, पवित्र हृदय महात्मा, यह कहने पर बाधित हुए कि मैं ऐसे वेद को मानने को तैयार नहीं, जिसमें पशुहिंसा का विधान हो। यह बात निश्चय ही सायणाचार्य

से पूर्व की है। अर्थात् सायणाचार्य से पूर्व यज्ञों में मांसादि का विधान चल चुका था। सायणाचार्य इन सबसे बच न सके, उन्होंने इतनी ही भूल की (जो बड़ी भारी भूल थी) कि वेद-ब्राह्मण और संहिता में केवल यज्ञ का ही प्रतिपादन है, ऐसा लिख कर वेदार्थसंबंधी चली आने वाली आध्यात्मिक, आधिदैविक प्रक्रियाओं की परम्परा का नाश कर दिया।

विदेशीय विद्वानों को वेदविषय में सायणभाष्य ही एकमात्र आश्रय मिला। वह उनके अनुकूल निकला, क्योंकि वे तो चाहते ही थे कि भारतीयों को अपनी प्राचीन संस्कृति, सभ्यता और साहित्य के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर उन्हें मार्गभ्रष्ट किया जाये और हमारा राज्य भारत में चिरस्थायी रह सके—और इसी कारण बहुत दिन रहा भी।

इसमें संदेह नहीं कि हम विदेशी विद्वानों का आभार मानते हैं, जो उन्होंने अभारतीय होते हुए भी संस्कृतसाहित्य विशेषकर वैदिकसाहित्य में अनुपम, प्रशंसनीय तथा अनुकरणीय उद्योग किया। निःस्संदेह उन्होंने वैदिकसाहित्य की खोज (Research) का उपक्रम करके हम भारतीयों के सामने अपने साहित्य की रक्षा का उत्तम मार्ग दर्शाया। जिस किसी विदेशी विद्वान् (स्कालर) ने संस्कृत साहित्य के जिस किसी ग्रन्थ का सम्पादन किया, सर्वसाधारण की दृष्टि से वह उनके अत्यन्त परिश्रम, निरन्तर धैर्य और गम्भीर विवेचना का परिचय देता है। यह दूसरी बात है कि उनका ज्ञान शास्त्र विषय में गहरा नहीं था और उनकी भावना विपरीत थी।

सायणाचार्य की वेदार्थ विषय की इस मिथ्या धारणा का क्या दुष्परिणाम हुआ, यह हमको बताना है। सोचने की बात है कि इन विदेशी विद्वानों को यदि सायणाचार्य की अपेक्षा कोई और उत्तम भाष्य मिला होता, तो इनके अंग्रेजी-फ्रेंच-जर्मन आदि विदेशी भाषाओं में किये अनुवादों का स्वरूप निश्चय ही भिन्न होता, जो अब सायण से आगे कोई न बढ़ सका।

ऋषि दयानन्द और वेद

वेद का अर्थ केवल यज्ञपरक ही होता है और यज्ञ में पशुबलि का विधान है, यह मिथ्यावाद घोर रूप में प्रचलित था। उपर्युक्त सब अनर्थ वेद और शास्त्र के नाम पर हो रहे थे। अपने उन विषयों के लिये ब्राह्मण-श्रौत-गृह्य आदि ग्रन्थों के प्रमाण उपस्थित किये जाते थे। हमने काशी में देखा कि मांस, मद्य आदि से अत्यन्त घृणा करने वाले व्यक्ति भी यज्ञ में अज (बकरे) का मांस खाने को बाधित हुए, क्योंकि वह मानते थे कि यज्ञ में मांस डालने का शास्त्रीय विधान है। क्योंकि उनके हृदय में यह बैठ चुका है कि इसके लिये शास्त्र की आज्ञा है, इसका पालन न करने में प्रत्यवाय (पाप) लगेगा। इन्होंने घृणा के कारण आगे-पीछे कभी कोई मांस नहीं खाया।

ऐसी दुरवस्था में परमपिता परमात्मा की असीम कृपा से महापुरुष दयानन्द का प्रादुर्भाव हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वनियन्ता अन्तर्यामी जगदीश्वर पर पूर्ण आस्थावान् होने के कारण ही दयानन्द को दैवी अन्तःप्रेरणा हुई कि वेदार्थ लुप्त हो चुका है तुम उसका उद्धार करो और वेद

के सच्चे अर्थ संसार के सामने रखो, जिससे शताब्दियों से इस विषय में फैली हुई भ्रान्ति दूर हो और संसार का कल्याण हो। दयानन्द ने पर्वत के शिखर पर खड़े होकर देखा कि संसार मेरे विरुद्ध है, और मेरे विपक्ष में शास्त्रों को प्रमाणरूप में उपस्थित किया जाता है। सर्व साधारण की दृष्टि में शास्त्र दयानन्द का साथ नहीं देते। उस समय का विद्वन्मण्डल चकित रह गया, जब दयानन्द ने घोषणा की—"वेद प्रभु की पवित्र वाणी है, जो सृष्टि के प्रारम्भ में मानव-कल्याण के लिये संसार के अन्य भोग्य पदार्थों की भाँति यथावत् व्यवस्था के ज्ञानार्थं तथा उसके अनुसार आचरण करने के लिये प्रभु की ओर से ऋषियों द्वारा प्रदान की गई है और यह वाणी नित्य है; सदा से प्रदान की जाती रही और की जाती रहेगी। यह मानव या मानवों के समुदाय की कृति नहीं है, अपितु सम्पूर्ण विश्व के रचयिता परमपिता परमात्मा की ही रचना है। कल्प-कल्पान्तरों में इसमें किसी प्रकार की न्यूनाधिकता नहीं होती। इसमें किन्हीं व्यक्तियों का इतिहास नहीं, न पशुबलि आदि का ही विधान है। यह मानव मात्र के लिये है, शूद्र वा स्त्री आदि किसी मानव देहधारी को इससे वंचित नहीं रखा गया। वेद के मन्त्रों के केवल यज्ञपरक ही अर्थ नहीं होते, अपितु मानव-जीवन की प्रत्येक समस्या के हल करने का उपाय बीज रूप से वेद में विद्यमान है। इत्यादि इत्यादि।"

यह धारणा वेद के सम्बन्ध में वैदिक धर्मियों की है, जिसका विशद निरूपण हमें ऋषि दयानन्द कृत समस्त ग्रन्थों में, विशेषकर ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में मिलता है। ऋषि का छोटे से छोटा ग्रन्थ हो, या बड़े से बड़ा, उसके प्रत्येक पृष्ठ में, नहीं नहीं प्रत्येक पंक्ति में, ईश्वर और वेद का निरूपण किसी न किसी प्रकार से अवश्य मिलेगा। इसलिये सामवेद का भाष्य क ने वाले श्री रामानन्द सम्प्रदाय के आचार्य स्वामी भगवदाचार्य जी ने स्वामी दयानन्द को आस्तिक शिरोमणि लिखा।

उपर्युक्त धारणा को हम वैदिकधर्मियों ने ठीक ठीक होने से अंगीकार किया और उसके पुनरुद्धार का भार अपने ऊपर लिया है।

वेद के इस स्वरूप को निर्धारित करने में वीतराग तपस्वी दयानन्द को कहाँ तक कष्ट उठाना पड़ा, वह भी उस अवस्था में जब कि वेदों का पठन-पाठन लुप्तप्राय ही हो रहा था, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। शास्त्रसम्बन्धी विविध रूढ़ियों, प्रचलित रीतियों और शास्त्रकारों के कहे जाने वाले परस्पर विरोध के भँवरों, विविधवादों तथा मतमतान्तरों के तूफान में, दयानन्द पर्वत के समान अचल रहे, डिगे नहीं। अपने आपको केवल संभाले रहे इतना ही नहीं, अपितु उन्होंने एकदम सबके विरुद्ध घोषणा कर दी कि—"वेद प्रभु की वाणी है। नित्य स्वतःप्रमाण है। इसमें किसी का इतिहास नहीं। अन्य सब ऋषियों के बनाये ग्रन्थ परतःप्रमाण हैं। अर्थात् वेदानुकूलतया ही प्रमाण हैं" स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यह घोषणा कल्पनामात्र से ही नहीं की, अपितु उन्हीं ऋषि-मुनि कृत ग्रन्थों के आधार पर की, जिनके प्रमाण से वे लोग अपनी बातें सिद्ध करते थे। दूसरे शब्दों में महान् दयानन्द ने ऋषि-मुनियों के उन ग्रन्थों के शुद्ध अर्थ उन्हें बताये।

भारतीयों की वेद के प्रति अनास्था क्यों ?

वेद का अर्थ केवल यज्ञपरक होने लगा और यज्ञ में पशु-हिंसा का विधान चल पड़ा। सायण, उव्वट, महीधर आदि ने इन पर मुहर लगा दी। महीधर ने जहाँ वेद का अत्यन्त बीभत्स अर्थ किया, वहाँ सायण ने 'यज्ञ एव' 'यज्ञ ही' वेदों का अर्थ बताया, जिससे वेदों के प्रति बहुत काल से अनास्था चल पड़ी। यह हम ऊपर लिख चुके हैं। मैं तो कहता हूँ महीधरभाष्य को भी छोड़ दें, जो अत्यन्त बीभत्स है, और यदि वेद का सायणभाष्य ही हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू वा अन्य किसी भाषा में अनुवाद करके हिन्दी शिक्षणालयों के पाठ्यक्रम में रख दिया जावे, तो निश्चय ही समझना चाहिये, कुछ श्रद्धालुओं को छोड़कर, सबकी एक ही ध्वनि उठेगी कि यह वेद जंगलियों की बड़-बड़ाहट वा अन्टसन्ट कृतियाँ है, जिनसे मानव-समाज को कुछ लाभ नहीं हो सकता। पंजाब यूनिवर्सिटी की शास्त्री-परीक्षा में जितना अंश सायणभाष्य का है, उससे सायण की छाप के कारण ये शास्त्री लोग प्रायः वेद से विमुख हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें वेद के वास्तविक स्वरूप का तो दर्शन भी नहीं हो पाता।

आर्यसमाज ने वेद के विषय में बहुत कुछ ज्ञान देने का प्रयत्न तो किया, पुनरपि हमें वेद के प्रति अनास्था क्यों दिखाई देती है, एक विचारशील भारतीय स्वभावतः यह सोचने लगता है।

इस अनास्था के अन्य कारण

वेद के विषय में हमारी आर्यसंस्कृति में प्राचीन काल से चली आ रही इतनी उत्कृष्ट भावना के होते हुए भी क्या कारण है कि भारतीयों में वेद के प्रति सम्प्रति इतनी अनास्था हो गई; वे इससे एकदम दूर हो गये। यह प्रश्न उठना स्वाभाविक हैं। हम विचारशील सज्जनों के समक्ष इस विषय में अपने विचार उपस्थित करते हैं। वेद के प्रति अनास्था रखने वालों की कई कोटियाँ हैं, हम उन पर क्रमशः विचार करेंगे—

[१] प्रथम कोटि उन लोगों की है, जिन्हें दुर्भाग्यवश अपने घर पर भारतीय संस्कृति, साहित्य, सभ्यता का कुछ भी संस्कार व ज्ञान बाल्यकाल से नहीं मिला। वे या तो विदेश में पढ़े या उन्होंने भारत में विदेशी राज्य द्वारा चलाई गई विदेशी पाठ्य-पद्धति से ही अध्ययन किया। संस्कृत साहित्य से शून्य न रहना तो दूर की बात है, वेदशास्त्रों के हिन्दी में प्राप्त होने वाले अनुवाद वा भाषार्थ को भी उन्होंने कभी नहीं पढ़ा। ऐसे लोग वेद या शास्त्र के विषय में कोई बात [जो उन्होंने अंग्रेजी की पुस्तकों में पढ़ी होती है] कहने लगते हैं। उनसे वे स्वयं तो सर्वथा अनभिज्ञ होते ही हैं, जिनकी पुस्तकों के आधार पर वह बोल रहे होते हैं, वे भी प्रायः प्राचीन वैदिक साहित्य से कोरे होते हैं, या उन्होंने भी वे बातें अपने विदेशी गुरुओं वा विदेशी पद्धति से पढ़े हुए विद्वानों से ही ली होती हैं। उसमें उनका अपना ज्ञान बहुत थोड़ा होता है। ऐसे व्यक्तिओं द्वारा यह कहना कि वेद-शास्त्र में क्या रखा है स्वाभाविक है, भला इनकी ऐसी बात का क्या मूल्य हो सकता है ? इसे, अज्ञानमूलक होने से किसी पागल का प्रलापमात्र ही तो कहा जायगा।

[२] दूसरी कोटि उन विद्वान् समझे जाने वालों की है, जो एम० ए० तथा शास्त्री आदि पढ़े होते हैं या हमारी आर्य-समाज की संस्थाओं की परीक्षायें पास किये होते हैं। ये महानुभाव जब वेद-शास्त्रों के विषय में अपनी अनास्था प्रकट करते हैं, तो जनता में महान् क्षोभ उत्पन्न हो जाता है कि ये संस्कृत के विद्वान् हैं, इतने वर्ष आर्यसमाज की वा अन्य संस्थाओं में पढ़े हैं, इनका कथन अतथ्य कैसे हो सकता है ? इस विषय में मेरी इस प्रकार के कई महानुभावों से बातचीत हुई, तो पता लगा कि इनकी अपनी कोई स्थिति—धारणा वा ठिकाना [खूंट] नहीं होता। यहीं तक नहीं, ये महानुभाव स्पष्ट कहने लगते हैं कि हमें तो ईश्वर के अस्तित्व में भी विश्वास नहीं। कर्मवाद के सिद्धान्त में भी उन्हें कोई आस्था नहीं होती। वह समझने लगते हैं कि ज्ञान तो बढ़ता ही रहता है। संसार ऋषि-मुनियों से बहुत आगे निकल चुका है। इस प्रकार उनकी बुद्धि भ्रान्त हो चुकी होती है और वे ईश्वर, वेद, धर्म, कर्मवाद, संस्कृति, सभ्यता के विषय में बहकी-बहकी बातें करते हैं। ऐसे व्यक्तियों की—अपनी किन्हीं निर्बलताओं के कारण-ईश्वर की सत्ता से भी आस्था उठ चुकी होती है, जिस का कारण बहुत गहराई में जाने से ही पता लग सकता है। एक बार एक सज्जन ने बताया "मैं आज से कुछ वर्ष पहले आर्यसमाज का अत्यन्त श्रद्धालु और कार्यकर्त्ता युवक था। विदेश में कुछ वर्ष रहा। हजारों रुपया मुझे वहाँ पढ़ने के लिए छात्रवृत्ति मिली। मैं वेद-शास्त्र का ही विश्वासी था। विदेश में रहने से मेरा विचार एक दम बदल गया और मुझे तो अब निश्चय हो गया है कि संसार का जितना ज्ञान है वह अमेरिका, इंग्लैंड आदि में ही है। मैं अपना भाग्य समझता हूं कि वेद-शास्त्र के चक्र से निकल आया। मैं तो सत्य का उपासक हूं; जो भी सत्य होगा, मैं उसे मानूंगा। हमारे वेद-शास्त्रों में कुछ नहीं। भारतीय संस्कृति, सभ्यता साहित्य में कुछ नहीं रखा, यों ही अण्ट-सण्ट लिखा है। संसार उन्नत होकर बहुत आगे बढ़ चुका है। भारतवासी उसी प्राचीन वेद-शास्त्र को लिए जा रहे हैं, जिस में कुछ भी नहीं। भौतिक उन्नति सुख और शान्ति का परम साधन है, इत्यादि।"

आर्यसमाज के सम्पर्क में कुछ समय रहे इस व्यक्ति के विचारों को सुन कर प्रथम तो मैं कुछ देर स्तब्ध-सा रहा, सोचने लगा कि इसको हो क्या गया है। अन्त में मैं पूछ बैठा—कहिए ! आप ईश्वर की सत्ता को तो मानते हैं, वा अनुभव करते हैं, या नहीं ? उसने यह कहा—मेरा ईश्वर की सत्ता और कर्मवाद में विश्वास नहीं। जब उसने यह कहा, तब समझ में आ गया कि इन ऊलजलूल विचारों का कारण क्या है। जो व्यक्ति ईश्वर की सत्ता को ही अनुभव नहीं कर पाता, उसमें जिस की आस्था नहीं, भला वह उसके [ईश्वर के] बनाये वेद में कैसे आस्था कर सकता है ? अन्य शास्त्र और भारतीय संस्कृति के प्रति तो उसकी भावना हो ही कैसे सकती है। भौतिकोन्नति को देखकर बुद्धि भ्रान्त हो जाती है तो आध्यात्मिकता का कोई मूल्य उनको जँचता नहीं। ऐसे लोगों की बुद्धियाँ भ्रान्त होकर न जाने कितनी आत्माओं को मार्गच्युत कर देती हैं। विशेष कर उस अवस्था में, जब कि वे शिक्षक होते हैं।

अंग्रेजी और संस्कृत के पढ़े ही इस कोटि में आते हैं, सो बात नहीं। केवल संस्कृत के पढ़े भी

जब ईश्वर में अनास्था करने लगते हैं, तो उनकी भी यही दशा होती है, जो ऊपर वर्णित की गई है। इनके द्वारा जनता में वेद-शास्त्रों के प्रति और भी अनास्था उत्पन्न होती है। ऐसे व्यक्तियों में या तो वे होते हैं, जिन की ज्ञानधारा वा संस्कार किन्हीं कारणों से विपरीत दशा में बहने लगते है—उस विपरीत ज्ञान से वे तब तक विरत नहीं होते, जब तक उन्हें जीवन में कोई भारी धक्का नहीं लगता—या वे होते हैं, जिन्हें अपनी बुद्धि पर बहुत अधिक मात्रा में विश्वास होने लगता है और वे समझने लगते हैं कि यह ईश्वर का न्याय क्या हुआ जो मूर्ख [बिना पढ़े और कम पढ़े] तो संसार में सुख पा रहे हैं और हम इतना परिश्रम करते हैं, और दुःखी रहते हैं। वे भूल जाते हैं कि कर्मवाद के सिद्धान्त से सब को अपने कर्मों का यथावत् फल मिलता है। यह अवस्था मानव के ज्ञान सेबाहर की वस्तु होती है। बहुत-सा दुःख तो मनुष्यअपने अज्ञान से, अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाकर भी उत्पन्न कर लेता है। ऐसे व्यक्ति दुःखी होकर ईश्वर वा वेद-शास्त्र के प्रति भी अनास्था के भाव प्रकट करने लग जाते हैं, जिस का मूल कारण उनकी अपनी निर्बलता होती है।

[३] तीसरी कोटि उनकी है, जिन की ईश्वर, कर्मवाद आदि में विश्वास वा आस्था तो है, पर कभी-कभी बुद्धि डगमगाने लगती है। इस अवस्था में कभी-कभी तो बहुत ऊँची भावनाएं उनके मन में उत्पन्न होती हैं और कभी-कभी अस्त-व्यस्त विचार भी मन के सामने आने लगते हैं। इस कोटि के महानुभाव अपने को पूर्णप्रज्ञ समझने लग जाते हैं, यही भूल है। वे समझते हैं कि हम ही दूसरों को सिखा सकते हैं, कोई दूसरा हमें नहीं सिखा सकता। अपनी भूल के लिए मार्जन भी रखना इन्हें इष्ट नहीं होता।

ऐसी अवस्था में इनके द्वारा की गई रिसर्च वा वेदविषयक धारणाएँ इनके लिए ही हर्षदायक व लाभदामक भले ही हों, संसार के लिए नहीं। ऐसे व्यक्ति जनता का सहयोग प्राप्त करने के लक्ष्य से या तो अपनी रिसर्च का विषय ही ऐसा बना लेते हैं, जिस में सूचियाँ बनाना मात्र हो, या फिर गोलमाल लिखते रहते हैं, जिस में दोनों प्रकार के विचार जनता के सामने आते रहते हैं। साधारण जनता यह समझ भी नहीं पाती कि इनका अपना सिद्धान्त क्या है। ऐसे महानुभाव वेद-शास्त्र के विषय में जब अनास्था की बात करते हैं, तो जनता में क्षोभ होने लगता है। हमारी संस्थाओं में से निकल कर बहुत से नवयुवक भो इसी सरणि का अवलम्बन करने लगते हैं। उसमें हमारी भी कमी होती है, जो हम उन्हें अध्ययनकाल में पूरी सामग्री नहीं दे पाते। चाहे उसका कारण कुछ भी हो। हम इसमें किसी को दोषी व बुरा नहीं कहते; हम ने तो वस्तुस्थिति का निर्देश किया है, जैसा देखने में आता है। हमें कहना यह है कि ऐसे महानुभावों की अनास्था का कारण भी ईश्वर, कर्मवाद आदि मूलभूत सिद्धान्तों में सन्देह-संशय वा पूर्णास्था का अभाव ही होता है। हाँ! इस कोटि में ऐसे महानुभाव भी हैं जिन्हें ईश्वर पर विश्वास है, पर वेद को ईश्वरीय ज्ञान न मानकर ऋषियों की कृति मानते हैं। ऐसा मानते हुए भी वेदों को बहुत अच्छी दृष्टि वा परम श्रद्धा से देखते हैं। उनमें उन्हें अनेक ऊँची भावनाएँ मिलती हैं। मानव-समाज के लिए वे वेद को परम आवश्यक व परम साधन मानते हैं। ऐसे शुद्ध भावनापूर्ण महानुभावों का हमें सादर स्वागत करना चाहिए और उन

की उत्कृष्ट खोज व दैवी ऊहा से लाभ उठाना चाहिये। निश्चय ही ऐसे महानुभावों की ईश्वर-विषयक वह धारणा नहीं, जो ऋषि दयानन्द की आर्यसमाज के दूसरे नियम में वर्णित है। ऐसे महानुभाव वेदशास्त्रों के प्रति कभी अनास्था की बात नहीं कहते, पर मूलाधार में सन्देह होने से संशयात्मक तो बने रहते हैं।

[४] अब हम चौथी कोटि पर विचार करते हैं। यह कोटि भारत में उनकी है जो ६० प्रतिशत अनपढ़ और हिन्दी भाषा तक से भी शून्य हैं। ऐसे लोगों को वेद-शास्त्र में अनास्था हो, सो बात नहीं। हाँ, अज्ञान अवश्य है, जिस के कारण उनकी आस्था में कमी है। इनको जिस ने जब जैसा बता दिया, बस उसी को पकड़ लिया। बताने वालों ने ठीक बता दिया तो ठीक समझ लिया, विपरीत बता दिया तो विपरीत मानने लगे। इतना तो है, ऐसे लोगों को वेदशास्त्रों के तथ्यों से अवगत करा दिया जावे, उन्हें इस विषय में निरन्तर शिक्षा दी जावे, तो सरल हृदय होने के कारण, ये उन तथ्यों को शीघ्र समझते हैं, ऐसा अनुभव से देखा गया है। श्वेत वस्त्र पर रंग अच्छा आता है, मलिन पर नहीं। ये लोग ईश्वर में आस्थावान् होने से शीघ्र समझ जाते हैं।

[५] पाँचवीं कोटि हम उनकी समझते हैं, जो पठित हैं और जिनका ईश्वर-वेद-शास्त्र-कर्मवाद आदि वेदप्रतिपादित सिद्धान्तों पर पूर्ण विश्वास है। नई-नई शंकाएँ सामने आने पर इन्हें सन्देह होने लगता है। मेरे विचार में ऐसे महानुभावों के समाधान, सन्देहनिवृत्ति, वा आत्मसन्तोष के लिए पूर्ण प्रयत्न करना हमारा परम कर्तव्य है। शेष कोटि के महानुभावों के प्रति भी हमें हार्दिक प्रेम, सहानुभूति और सद्भावना से ही उनकी आत्मशान्ति, सन्देहनिवृत्ति का यत्न करते रहना चाहिये।

इन त्रिविध कोटियों के वर्णन का यहाँ इतना ही अभिप्राय है कि आर्यसमाज ने वेद का झंडा उठाया है, इसके सामने इतने प्रकार की विचारधारायें हैं, जिन्हें हमें सन्मार्ग पर लाना है, वह भी सद्भावना, प्रेम, आदर और हित साधन की दृष्टि से।

ये हैं वेद के प्रति जनता में अनास्था होने के मुख्य कारण।

वेदाध्ययन की परम्परा

अब इस बात पर विचार करना चाहिए कि जब वेद सृष्टि के आदि से चला आ रहा है, तो इसकी अध्ययन परम्परा भी अवश्य चलती आई होगी, क्योंकि यदि ऐसा नहीं होता तो वेद हम तक पहुँच ही न पाता। अविच्छिन्न परम्परा द्वारा ही वेद हम तक पहुँचा है, यह बात सभी मानते हैं। रामायणकाल में वेदाध्ययन अच्छी स्थिति में था। बाल्मीकि रामायण में लिखा है—

"न ऋग्वेदाविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं प्रभाषितुम्॥ — किष्किन्धाकाण्ड

राम ने हनुमान् की योग्यता के विषय में लक्ष्मण से कहा था—बिना ऋक्, यजुः और सामवेद के जाने कोई इस प्रकार की बात नहीं कह सकता। रामायण बालकांड, सर्ग १८ में—

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे लोकहिते रताः॥२४॥
ते चापि मनुजव्याघ्रा वैदिकाध्ययने रताः॥२५॥

इत्यादि वचनों से स्पष्ट है कि उस समय वेदाध्ययन की परम्परा सर्व साधारण में भी थी।

महाभारत शान्तिपर्व अ० २३२।२४ में—

अनादिनिधना नित्या वाग् उत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥

सृष्टि के आरंभ में स्वयम्भू परमात्मा से ऐसी वाणी (वेद) का प्रादुर्भाव हुआ, जो नित्य है, जिसका कभी नाश नहीं होता, जो दिव्य है। उसी से संसार में सब प्रवृत्तियां चलती हैं।

महाभारतकाल में भी वेद-सम्बन्धी यह धारणा विद्यमान थी। द्रोणपर्व ७।१ में—"वेदषडंगं वेदाहं" "योऽधीते चतुरो वेदान्" वनपर्व ५८।७० इत्यादि वचनों से इतना स्पष्ट है कि उस काल में वेदाध्ययन की परम्परा विद्यमान थी।

यह भी मानना पड़ता है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि के समय में "वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति" वेद का केवल या तो मन्त्रपाठ मात्र अथवा साधारण अध्ययन करके ही विद्वान् समझे जाने लगे थे। उधर निरुक्त के काल में "अनर्थका हि मन्त्राः" मन्त्र के अर्थ की उपेक्षा का वाद भी कुछ न कुछ रहा होगा, क्योंकि उसमें 'कुत्स' का नाम दिया है। इस काल तक "इत्यधिदैवतम्, इत्यध्यात्मम्" आदि निर्देशों से यह ज्ञात हो जाता है कि जैसे महाभाष्यकार ने प्रबल पूर्वपक्ष उठा-उठा कर सूत्रों में उत्तरपक्ष का प्रतिपादन किया है, इसी प्रकार निरुक्तकार ने भी वेद के विषय में प्रबल पूर्वपक्ष उठा कर उनका संभव उत्तरपक्ष दर्शाया है। इस काल के पश्चात् बौद्धकाल में तो हिंसायुक्त यज्ञों आदि के कारण व दूसरे शब्दों में वेद अर्थज्ञान से शून्य केवल यज्ञों में विनियोग का साधन मात्र ही रह गया। यही कारण भारत में जैन और बौद्ध मत की उत्पत्ति का हुआ। उस समय भी जनता में जिन्हें प्राचीन वैदिक धर्म के अहिंसादि यज्ञों में आस्था थी, वे हिंसापरक यज्ञों से ऊबकर, वेद का यथार्थ ज्ञान न मिलने पर बौद्ध धर्म में चले गये। शंकर काल में भी यह सब कुछ रहा और कह सकते हैं कि यह ढङ्ग ऋग्वेद के उपलब्ध होने वाले प्रथम वेदभाष्यकार आचार्य स्कन्दस्वामी (६३० ई०) तक भी रहा और आगे सायणाचार्य के काल तक भी रहा। ये सबके सब वेदार्थ विषय में याज्ञिकप्रक्रिया से पराभूत रहे, यह तो स्पष्ट ही है।

इसमें इतना ही विशेष है कि स्कन्दस्वामी के लेख से स्पष्ट विदित होता है कि उसके काल म 'मंत्रों के आध्यात्मिक, आधिदैविक और अधियज्ञ तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ होते हैं' यह परम्परा विदित थी, जिसका निरूपण हम आगे करेंगे। उस समय में याज्ञिक पद्धति का ही बोलबाला था, या क्या कारण हुआ कि स्कन्द ने मत्रों का अर्थ तीनों प्रक्रियाओं में नहीं किया। आचार्य स्कन्दस्वामी वेद के सब मंत्रों के अर्थ तीनों प्रक्रियाओं में होते हैं, यह केवल स्वयं ही मानता हो सो बात नहीं, अपितु वह लिखता है कि निरुक्तकार यास्क के मत में भी प्रत्येक मन्त्र का अर्थ तीनों प्रक्रियाओं में होता है। देखो निरुक्त स्कन्द टीका भाग ३ पृ० ३५।

हमारा कहना है कि वेदमन्त्रों के यज्ञपरक ही अर्थ की धारणा ऋषि दयानन्द के समय तक

बराबर रही। इसी के कारण वेद के प्रति सर्वसाधारण को तो क्या, विद्वानों को भी अनास्था हो गई और वे वेदों को व्यर्थ की चीज बताने लगे।

इस लम्बे काल में वेद का अध्ययन कहां तक था, यद्यपि इस बात का पूरा निर्देश तो नहीं मिलता, पुनरपि जितना कुछ भी जाना जा सकता है, उसके आधार पर यही पता लगता है कि यज्ञ-यागादि के करने के लिए ही वेदाध्ययन की परम्परा चलती रही। अर्थशून्य इस यज्ञ-यागादि के कारण धीरे-धीरे लोगों में यही विश्वास बैठ गया कि वेद केवल संस्कारों व यज्ञादि के लिए ही हैं। जब विद्वानों में यह धारणा बैठ गई, तो सर्वसाधारण का तो कहना ही क्या।

सायणाचार्य के काल तक वेदाध्ययन की यही प्रक्रिया चलती रही, उसका भाष्य इस प्रक्रिया का परमपोषक बना। सायण के भाष्य से वेदार्थ की प्रक्रिया एक प्रकार से लुप्तप्राय हो गई, ऐसा ही कहना पड़ता है। वेदों के अर्थों का पठन-पाठन भारत के किन्हीं स्थान विशेषों में रहा हो, यह हम नहीं कह सकते। इतना कह सकते हैं कि पिछले डेढ़ सौ वर्षों में वेद का अर्थपूर्वक अध्ययन बहुत ही कम रहा।

वेद और उसकी शाखायें

अब हम थोड़ा सा शास्त्रीय विषय उपस्थित करते हैं—

शाखायें वेद के व्याख्यान ग्रन्थ हैं, ऐसा महर्षि दयानन्द का मन्तव्य है [देखो ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका पृ० २९१], अर्थात् चार वेद मूल हैं और ११२७ उनकी शाखायें हैं, दूसरे शब्दों में उनके व्याख्यान ग्रन्थ है।

शाखाओं की आनुपूर्वी अनित्य है, "या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या" (अ० ४।३।१०१ महाभाष्य) यह महाभाष्यकार का मत है, और इसमें उदाहरण 'काठकम्, कालापकम्, मौदकम्, पैप्पलादकम्' ये दिये हैं, जो स्पष्टतया शाखाग्रन्थ हैं। वेद की आनुपूर्वी को पतञ्जलि मुनि नित्य मानते हैं—"स्वरो नियत आम्नाये अस्यवामशब्दस्य, वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता" (अ० ५।२।५९ महाभाष्ये)। इन दोनों प्रमाणों से वेद और शाखा ग्रन्थों का भेद भी भगवान् पतञ्जलि के मत में सूर्य के प्रकाश की भाँति स्पष्ट सिद्ध है।

निरुक्त के "पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे" (निरु० १।१) तथा "नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति" (निरु० १।१६) इन वचनों से भी वेद की आनुपूर्वी नित्य है, ऐसा यास्क का सिद्धान्त है, यह अवश्य मानना पड़ेगा। यद्यपि शाखा के विषय में यास्क ने स्पष्टतया नहीं लिखा, तथापि "यदरुदत्तद् रुद्रस्य रुद्रत्वमिति काठकम्, यदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्रविकम्" (निरुक्त १०।५)। इन उदाहरणों से व्यक्त होता है कि यहां अर्थ की समानता होने पर भी शाखाओं की वर्णानुपूर्वी का भेद दर्शाने के लिये ही इन्हें लिखा है। इनकी व्याख्या करता हुआ दुर्गाचार्य लिखता है—"स एवार्थः, केवलं शाखान्तरमन्यत्"। अर्थात्—अर्थ समान है, केवल शाखाभेद से वर्णानुपूर्वी का भेद है। निरुक्त के इस स्थल की यदि महाभाष्यकार के "योऽसावर्थः नित्यः, या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या" के साथ तुलना की जाय तो यास्क का अभिप्राय भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि यास्क भी मूल

वेदों की आनुपूर्वी को नित्य और शाखाओं की आनुपूर्वी को अनित्य मानता है।

शाखाएं ऋषि-प्रोक्त हैं और उनकी आनुपूर्वी अनित्य है। इसको स्पष्ट करने के लिये एक और प्रमाण देते हैं—

महाभाष्यकार पतञ्जलि "अनुवादे चरणानाम्" (अ० २।४।३) के भाष्य में लिखते हैं—"अनुवदते कठः कलापस्य" अर्थात् कठ कलाप के प्रबचन का अनुवाद करता है। इससे व्यक्त है कि कठादि शाखायें ऋषियों के प्रवचन हैं और उनमें कहीं २ शाखाओं की परस्पर पर्याप्त समानता है।

इन प्रमाणों से शाखाग्रन्थों की आनुपूर्वी के अनित्य होने में यत्किञ्चित् भी संदेह नहीं रह जाता, यही हम कहना चाहते हैं। शाखाओं का स्वरूप भी हमारे इस कथन से बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। अब रह जाती है यह बात कि शाखा व्याख्यानरूप ग्रन्थ हैं यह कैसे जानें? इसका उत्तर तो यही है कि जब सूक्ष्म दृष्टि से हम इन शाखाग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं, तो इन के भिन्न-भिन्न पाठों से यह बात बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है। इसके अनेक उदाहरण हैं। अब हम 'तेन प्रोक्तम्' (अ० ४।३।१०१) पाणिनि के इस सूत्र का न्यासकार का अर्थ दर्शाते हैं। वह लिखता है—

"तेन व्याख्यातं तदध्यापितं वा प्रोक्तमित्युच्यते" (अ० ४।३।१०१। न्यास पृ० १००५)।

जिसका स्पष्ट अर्थ यही होता है कि ये कठ, कलाप, पैप्पलाद आदि शाखायें वेदों के व्याख्यान रूप ग्रंथ ही हैं। प्रोक्त ग्रंथ वह है जो व्याख्यान रूप हो या पढ़ाया गया हो। प्रवचन और व्याख्यान समानार्थक शब्द हैं, ऐसा न्यासकार का कहना है।

कहने का तात्पर्य यह है कि ऋग्यजुःसाम और अथर्व ये चार वेद स्वतः प्रमाण हैं और शाखायें प्रोक्त होने स परतः प्रमाण हैं। इत शाखाग्रंथों की कोटि (दर्जा) वह नहीं, जो वेद की हैं। यह है भेद वेद और शाखा ग्रंथों का, जिनको संहिता के नाम से कहा जा रहा है।

इतना ही नहीं अपितु कठसहिता के प्रवचनकर्त्ता के मत में ऋषि मंत्रों के द्रष्टा थे और वह मंत्र की प्रतीक देकर इस सूक्त का ऋषि वामदेव है, ऐसा कहते हैं—जैसा कि—

"वामदेवस्यैतत् पञ्चदशं रक्षोघ्नं सामिधेन्यो भवंति...... स वामदेव उख्यमग्निमबिभस्तमवैक्षत स एतत् सूक्तमपश्यत् कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथिवीमिति" (कां० सं० १०।५)।

अर्थात् "कृणुष्व पाजः०"सूक्त का द्रष्टा वामदेव ऋषि है। जो स्वयं वेद की प्रतीक देखकर उसका ऋषि बताता है, वह ग्रन्थ स्वयं वेद कैसे हो सकता है? यह साधारण बुद्धि वाले भी तत्काल समझ सकते हैं।

अब प्रसंगात् यहा एक और आवश्यक शङ्का पर विचार कर लेना भी समुचित होगा। वह यह है कि गोपथब्राह्मण (पूर्वार्ध १।२९) में अथर्ववेद का आरम्भ "शन्नो देवी०" इस मन्त्र से होता है, ऐसा माना गया है। जब ऋग् यजुः साम के आरम्भिक मन्त्रों का पाठ वैसा का वैसा हमें वर्त्तमान में भी उपलब्ध हो रहा है, तो अथर्ववेद का प्रथम मन्त्र 'शन्नो देवी०" क्यों न माना जावे। इतना ही नहीं, महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने भी महाभाष्य के आरम्भ में लौकिक वैदिक शब्दों का भेद दर्शाते हुये जहां ऋग् यजुः साम के आरम्भ के मन्त्रों का पाठ वही दिया है जो

वर्त्तमान में मिलता है- वहां चतुर्थ वेद का पाठ उन्होंने 'शन्नो देवी' ही दिया है, इससे पता लगता है कि अथर्ववेद का आरम्भ "शन्नो देवी" से ही होना चाहिए।

वादी की यह शंका पर्याप्त बलवती है, परन्तु थोड़ा विचार करने से यह स्वयं दूर हो जाती है। "तेन प्रोक्तम्" (अ० ४।३।१०१) सूत्र के भाष्य में लिखा है—

"या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकम्, कालापकम्, मौदकम्, पैप्पलादकमिति।

महाभाष्यकार के इस वचन से स्पष्ट सिद्ध है—

(क) काठक, कालापक, पैप्पलादादि प्रोक्त हैं, अर्थात् ऋषियों द्वारा प्रवचन किये हुये वा ऋषिकृत हैं।

(ख) ये काठक, पैप्पलादादि शाखा ग्रन्थ हैं, वेद नहीं, क्योंकि महाभाष्यकार इनकी आनुपूर्वी (पाठक्रम) को अनित्य मानते हैं।

(ग) ऋग्, यजुः, साम और अथर्व की आनुपूर्वी को "स्वरो नियत आम्नायेऽस्यवामशब्दस्य। वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नित्या" (अ० ५।२।५९ महाभाष्य)। इस प्रमाण से महाभाष्कार नित्य ही मानते हैं, अनित्य कदापि नहीं। यही कहना पड़ेगा।

(घ) प्रोक्त, प्रवचन और व्याख्यान पर्यायवाची शब्द हैं, यह न्यासकार का मत हम पूर्व दर्शा चुके हैं।

इन सबसे यह सिद्ध है कि पतञ्जलि मुनि पैप्पलाद को शाखा मानते हैं, उसकी आनुपूर्वी को अनित्य मानते हैं, उसे वेद नहीं मानते।

अब रही 'शन्नो देवी०' के आरम्भ में आने की बात, सो महाभाष्य के आरम्भ में वैदिक शब्दों का उदाहरणमात्र देना अभिप्रेत है। वहां वेदों की आरम्भिक प्रतीक दर्शाना मुख्य नहीं। यदि वह वेद की आरम्भिक प्रतीक मानी जावें तो पतञ्जलि भगवन् के स्ववचनों में ही परस्पर विरोध आवेगा, अतः लौकिक शब्दों का भेदमात्र दर्शाना यहाँ अभिप्रेत है, यही मानना होगा।

अब रही गोपथब्राह्मण में आये 'शन्नो देवी०' इस पाठ, की बात। सो यह "शन्नो देवी०"-पाठ पैप्पलाद संहिता का है, यह छान्दोग्यमन्त्रभाष्य के कर्त्ता गुणविष्णु ने माना है (पृ० ६, ४८, ११७)। पैप्पलादशाखा महाभाष्यकार के मत से ऋषिप्रोक्त है, उसकी आनुपूर्वी अनित्य है, यह भली भाँति सिद्ध हो चुका। अतः गोपथ ब्राह्मण में 'शन्नो देवी०' से अथर्ववेद का आरम्भ उसको पैप्पलादशाखा का ब्राह्मण होने से, वा किसी अवान्तर शाखा का आरम्भिक पाठ होने से है, ऐसा ही मानना पड़ेगा।

यहाँ यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिये कि "ये त्रिषप्ताः" आदि अथर्ववेद के आरम्भ की प्रतीकें हमें श्रौत, गृह्य तथा अन्य अनेक स्थानों में मिलती है।

अरविन्दाश्रम पाण्डुचेरी से श्री कपाली स्वामी कृत ऋग्वेदभाष्य का प्रथम खण्ड प्रकाशित हुआ था। उसके अवलोकन से ज्ञात होता है कि उन्हें भी महाभाष्यकार पतञ्जलि के "यद्यप्यर्थो

नित्यो या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या । तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकं कालापकं मौदकं पैप्पलादकम्" इस वचन के समझने में भ्रान्ति हुई है । वे महाभाष्य के इस वचन को उद्धृत करके लिखते हैं—"वेदशब्दार्थनित्यत्वमभ्युपगच्छन् भगवान् पतञ्जलिः पदवर्णवाक्यबन्धव्यवस्थानित्यतां नाङ्गीचकार । सा च व्यवस्था प्रकाशनरूपा ऋषिकर्तृका । एवं वेदानां कृतकत्वाकृतत्वयोरुपपत्तिर्द्रष्टव्या ।

अर्थात् "वेद के शब्दार्थ को नित्य मानकर भी पतञ्जलि ने वेद के पद, वर्ण, वाक्य आदि व्यवस्था की नित्यता को स्वीकार नहीं किया । वह पद, वर्ण, वाक्य व्यवस्था प्रवचनरूप ऋषियों की है । इस प्रकार वेद का अपौरुषेयत्व और ऋषिकर्तृकत्व दोनों की संगति समझ लेनी चाहिए ।"

वस्तुतः कपाली स्वामीजी का उपर्युक्त लेख अयुक्त है क्योंकि उन्होंने पतञ्जलि के एक वचन को ही उद्धृत करके पतञ्जलि के मत में वेद की वर्णानुपूर्वी की अनित्यता को दर्शाया है । पतञ्जलि का दूसरा वचन जिसमें स्पष्ट रूप से पतञ्जलि ने वेद की वर्णानुपूर्वी को नित्य माना है 'स्वरो नियत आम्नायेऽस्यवामशब्दस्य । वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता' को छूआ तक नहीं । सम्भव है उन्हें इस वचन का ज्ञान ही न रहा हो । अस्तु ।

पतञ्जलि के उपर्युक्त दोनों वचनों में विरोध स्पष्ट भास रहा है । उसका परिहार करना आवश्यक है, अन्यथा पतञ्जलि का लेख उन्मत्तप्रलापवत् मानना होगा । इस विरोध का परिहार हमारी ऊपर दर्शाई संगति के अनुसार ही हो सकता है । अर्थात् पतञ्जलि के मत में पैप्पलाद आदि शाखाएँ ऋषिप्रोक्त हैं । अतः वे उनकी वर्णानुपूर्वी को अनित्य मानते हैं, और वेद को अपौरुषेय होने से वे उनकी वर्णानुपूर्वी को नित्य मानते हैं, यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है ।

शाखायें प्रवक्त हैं, वेद का व्याख्यान हैं, यह हम ऊपर भली प्रकार दर्शा चुके । अब यहाँ हम एक और प्रबल शंका का समाधान कर देना भी आवश्यक समझते हैं, जो बहुत से विद्वानों के मन में भी यत्र तत्र देखी जाती है ।

महर्षि दयानन्द से स्वीकृत शाखा के स्वरूप पर उठाई गई शंका का समाधान—

ऐतरेयालोचन पृ० १२७ पर श्री पं० सत्यव्रत सामश्रमीजी ने श्री० स्वामीजी के "शाखा वेदव्याख्यान हैं" इस मत का खण्डन करते हुए लिखा है—

"हन्त का नाम संहिता शाखेति व्यपदेशशून्या तेन महात्मनोररीकृता, यस्या मूलवेदत्वं मत्वा शाखेति-प्रसिद्धानामन्यासां तद्व्याख्यानग्रन्थत्वं मन्तव्यं भवेदिति त्वस्माकमज्ञेयमेव" ।

अर्थात् "स्वामी दयानन्द ने किसको मूलवेद माना है, जिसमें कि शाखा शब्द का व्यवहार न होता हो, और जिसको मूल मानकर अन्य शाखाओं को उनका व्याख्यानरूप ग्रन्थ माना जा सके ।"

इस आक्षेप के दो भाग हैं । एक तो यह कि मूल वेद कोई नहीं । दूसरा, कोई ऐसी संहिता नहीं जिसका कि शाखा शब्द से व्यवहार न हो ।

अब हम इन दोनों आक्षेपों का उत्तर क्रमशः देते हैं—

(क) शतपथब्राह्मण का कर्त्ता याज्ञवल्क्य लिखता है—

"तदु हैकेऽन्वाहुः । होता यो विश्ववेदस इति । नेदरमित्यात्मानं ब्रवाणीति तदु तथा न ब्रूयान्मानुषं ह

ते यज्ञे कुर्वन्ति । व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं नेद् व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्माद् तथैवर्चानूक्तमेवमेवानुब्रूयाद्धोतारं विश्ववेदसमिति" (शत० १।४।१।३५) । (तु० काण्व शत० २।३।४।२५) ।

इसका भाव यह है कि किसी शाखा वाले "होता यो विश्ववेदसः" ऐसा पाठ पढ़ते हैं । सो ऐसा पढ़ना ठीक नहीं । यह मनुष्यकृत पाठ है । वे यज्ञ में मानुषपाठ करते हैं । यज्ञ में मानुषपाठ पढ़ना यज्ञ की हीनता है । यज्ञ में हीनता न हो, इसलिये जैसा ऋचा का पाठ है, वैसा ही बोले 'होतारं विश्ववेदसम् (ऋ० १।१२।१) ।"

इस प्रमाण से दो बातें सिद्ध होती हैं, प्रथम—शाखाएँ जितनी हैं वे सब मानुष मनुष्यप्रोक्त वा मनुष्य-सम्बन्ध से युक्त) हैं । दूसरा—कोई ऋक् पाठ ऐसा है, जिसमें मनुष्य का कोई सम्बन्ध नहीं, और वही मनुष्य सम्बन्ध से रहित मूलवेद है ।

शतपथ के इस स्थल के व्याख्यान में—

"होता य इति पाठविपरिणामस्य मनुष्यबुद्धिप्रभवतया मानुषत्वम् । यथैव वेदे पठितं तथैवानुवक्तव्यमित्युपसंहरति तस्मादिति । कीदृग्विधं तर्हि वेदे पठितमिति तदाह होतारमिति" ।

(शतपथ १।४।१।३५ सा०भा० पृ० १४४) ।

सायण भी "होता यो विश्ववेदसः" शाखान्तर के इस पाठ को मानुष मानता है, और "होतारं विश्ववेदसम्" को वेद का पाठ मानता है ।

(ख) शतपथ ब्राह्मण का सबसे प्राचीन भाष्यकार हरिस्वामी (सन् ६३९ ई०), जो कि स्कन्द स्वामी का शिष्य था, शतपथ-ब्राह्मणभाष्य के उपोद्घात के प्रारम्भ में लिखता है—

"वेदस्यापौरुषेयत्वेन स्वतःप्रामाण्ये सिद्धे तच्छाखानामपि तद्धेतुत्वात् प्रामाण्यमिति बादरायणादिभिः प्रतिपादितम्" (शतपथ हरिस्वामीभाष्य हस्तलेख पृ० २) ।

अर्थात् "वेदों के अपौरुषेय होने से ही उनका स्वतःप्रामाण्य सिद्ध है । उनकी शाखाओं का भी प्रामाण्य तद्हेतुता से अर्थात् वेद के अनुकूल होने से बादरायणादि ने स्वीकार किया है ।" हरिस्वामी के इस वचन से दो बातें स्पष्ट सिद्ध होती हैं । एक तो यह है कि कोई अपौरुषेय वेद अपनी पृथक् सत्ता रखता हैं, और शाखाएँ उससे भिन्न हैं । दूसरे उन शाखाओं का प्रामाण्य भी वेदानुकूल होने से ही स्वीकार किया जाता है ।

हमारे उपर्युक्त दोनों प्रमाणों से सूर्य के प्रकाश की भाँति यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है कि शतपथकार तथा हरिस्वामी के मत में शाखाओं से अतिरिक्त मूल वेद अवश्य थे ।

अब सत्यव्रत सामश्रमी जी के दूसरे आक्षेप का उत्तर लिखते हैं—वैदिक साहित्य में 'शाखा' शब्द का व्यवहार दो कारणों से होता है । एक तो पाठभेदादि करके जो अपूर्ण प्रवचन किया जाता है, वह शाखा का रूप धारण कर लेता है, जैसे तैत्तिरीय संहिता, काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता तथा काण्व संहितादि । दूसरा शाखा शब्द का व्यवहार मूल ग्रन्थों में बिना किसी परिवर्तन या परिवर्द्धन के उसके पदपाठ कर देने मात्र से भी पदकार का नाम उस संहिता के साथ में सयुक्त हो जाता है । इसका उदाहरण ऋग्वेद की शाकल संहिता है । शाकल्य ने संहिता पाठ में कोई

परिवर्तन वा परिवर्द्धन किया हो, ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं। हाँ निरुक्त अ० ६। २८ के "वा इति च य इति च चकार शाकल्यः" इस पाठ से ऋग्वेद के पदपाठ का कर्तृत्व शाकल्य का सिद्ध होता है। पुराणों में भी इस शाकल्य को 'पदवित्तम' नाम से पुकारा गया। पदपाठ का कर्त्ता होने मात्र से ऋक्संहिता के साथ शाकल्य का नाम जोड़ दिया गया और उसका शाकलसंहिता या शाकलशाखा के नाम से व्यवहार होने लगा। (कई लोगों ने शाकल्य को शाकल संहिता का प्रवचनकर्त्ता माना है, वह प्रमाणाभाव से चिन्त्य है।) किसी संहिता का पदपाठ मात्र कर देने से भी उस में शाखा शब्द का व्यवहार होता है, इसके लिये हम एक स्पष्ट प्रमाण उपस्थित करते हैं—

उखः शाखामिमां प्राह आत्रेयाय यशस्विने।
तेन शाखा प्रणीतेयमात्रेयीति च सोच्यते ॥
यस्याः पदकृदात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः।
तां विद्वांसो महाभागां भद्रमश्नुवते महत् ॥

—तैत्तिरीय काण्डानुक्रम पृष्ट ६, श्लोक २६, २७।

अर्थात् तित्तिरि ने इस तैत्तिरीय संहिता को उख को पढ़ाया। उसने इस शाखा को आत्रेय को पढ़ाया। आत्रेय द्वारा बनाई हुई यह शाखा आत्रेयी कहलाती है, जिसका पदकार आत्रेय है, और वृत्तिकार कुण्डिन है। इस प्रमाण से सिद्ध होता है कि आत्रेय के द्वारा पदपाठ कर देने मात्र से यह तैत्तिरीय संहिता 'आत्रेयी' संहिता के नाम से भी व्यवहृत होने लगी। ठीक वैसी दशा शाकल संहिता की भी समझना चाहिये।

यह शाखा के विषय में कुछ निवेदन किया। इस पर विद्वानों को गम्भीरता से विचार करना चाहिये। शाखा का विषय अतीव गम्भीर अध्ययन और हस्त लिखित सामग्री की अपेक्षा करता है और यह विषय अपने विद्वानों के परस्पर विचार-विनिमय से ही हल करने का है। इस विषय पर बड़ी योजना-पूर्वक विचार करने की आवश्यकता है।

मैं चाहता था कि ऐसे ही अन्य अनेक गम्भीर विषयों को यहाँ उपस्थित करता, जिन पर विद्वानों को विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है, और जिन पर आर्यसमाज और ऋषिदयानन्द स्वीकृत वेद विषयक मान्यताओं का बहुत कुछ निर्भर है, परन्तु इस छोटे लेख में उन सब पर विचार करना संभव नहीं।

आर्य समाज ही एक ऐसा समाज है जो वेद को प्रमुख मान कर चला है। अतः वेद विषय को उठाना और उसके लिए कष्ट करना आर्य समाज ही कर सकता है; और किस से आशा की जावे। और तो इस विषय में कहां तक उदासीन हैं, इसका कुछ दिग्दर्शन हम कर देना चाहते हैं।

आर्यसमाज की संस्थाओं में आजकल वेद का पठन-पाठन—

स्कूल-कालेजों में धर्मशिक्षा का घण्टा रहता था, वह भी समाप्त हुआ। जब से नई सरकार आयी, उसने धर्म का नाम काट ही दिया। इतना ही नहीं सोचा, या सोचने का यत्न किया कि भला वेद किस देश या जाति की बपौती है। वेद में कोई बात ऐसी नहीं जो किसी जाति या देश

के विरोध में हो। हां, देव और असुरों का वर्णन है। देव भले मनुष्य को कहते हैं, असुर पापी, अत्याचारी, परपीडन करने वालों को कहते हैं, जो कोई भी हो, जहां कहीं भी हो। किसी देश-विशेष या जातिविशेष के साथ इन शब्दों का सम्बन्ध नहीं। सार्वभौमिक नियमों का नाम धर्म है, जिसका कोई विरोधी नहीं। यह बात सरकार को क्यों समझ में नहीं आती ? आर्यसमाज को साम्प्रदायिक कहना सर्वथा मिथ्या है। हमारी संस्थाएं जो पहले अंग्रेजी सरकार की कृपा पर जीवित रहती थीं, अब इन्होंने वर्तमान सरकार को अपने जीवन का आधार बना लिया है। राज्य की सहायता के बिना इनका निर्वाह नहीं। अपने इन प्रभुओं को प्रसन्न करने के लिये उनके कहने से पहले ही धर्मशिक्षा की घण्टी निकाल दी। हाँ, अभी दयानन्द या आर्य शब्द को नहीं निकाला, सो भी आगे निकला ही दिखाई देता है। कह तो यह रहे थे कि इनमें धर्मशिक्षा की घण्टी प्रायः लुप्त हो गई। उनमें संध्या वा हवन के मन्त्र तो बच्चों को सिखा देते थे; और नहीं तो वेद कितने हैं, चार हैं। कौन-कौन से ? ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद; चलो वेदों के नाम तो बच्चों को आ जाते थे, सो भी गये। अच्छा देश स्वतन्त्र हुआ !

सो इस प्रकार प्राइमरी, मिडिल, हाईस्कूल, इण्टर, बी० ए०, एम० ए० के स्कूलों और कालेजों से चाहे पुत्रों के हों या पुत्रियों के, वेद का नाम गया। हां, एम० ए० में संस्कृत लेने वालों को कुछ नाममात्र वेद पढ़ाया जाता है सो उनमें भी वही सायण और उनके अंग्रेजी अनुवादों के आधार पर पढ़ाया जाता है। जिसमें आर्य-परिवार के दृढ़ विचार का युवक भी (ठीक अर्थ की व्यवस्था न होने और उक्त ग्रंथ ही पढ़ाई में होने कारण) पथ-विचलित हो जाता है।

अब ले दे कर हमारे गुरुकुल हैं, जो इस दिशा में बहुत कुछ यत्न कर रहे हैं। संसार का प्रवाह इतना प्रवल है कि इनमें भी अब वेद-शिरोमणि या वेद-वाचस्पति या वेदभास्कर प्रतिवर्ष एक दो ही बनते होंगे। स्वर्गीय महात्मा स्वा० श्रद्धानन्द जी महाराज के समय में जो बन गये सो बन गये। अब तो आयुर्वेद की ही प्रधानता प्रतीत हो रही है। वेद के नाम पर स्थापित की गई हमारी इन संस्थाओं की यह अवस्था आर्य समाज के लिये विचार का विषय बन रही है। आचार्य महानुभाव चाहते हुए भी अपनी विवशता ही प्रकट करते हैं। अर्थात् वेदवालों को वृत्ति देने पर भी छात्र वेद विषय न लेकर आयुर्वेद ही प्रायः लेते हैं, जब कि आयुर्वेद विषय में वृत्तियाँ भी नहीं दी जाती। वेद के अध्यापन की मुख्यता हमें लानी ही होगी, जिसके लिये आर्यजनता आशा लगाये हैं। वेदविषय को प्रौढ़ता पूर्वक पढ़ाने की व्यवस्था स्वामी जी ने प्रथम [illegible] पहले [illegible] हमें करनी ही होगी, यही कहना है।

वेद-सम्बन्धी कार्य की महती आवश्यकता—

हमारे उपर्युक्त सब लिखने का अभिप्राय इतना ही है कि आर्य-समाज को वेद के लिये बहुत कुछ कार्य करना होगा। पौराणिकों ने तो वेद को केवल यज्ञपरक कह कर छुट्टी पा ली, पर आर्य-समाज ऐसा नहीं कर सकता। क्योंकि आर्यसमाज ने तो 'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है' की घोषणा की हुई है, जिसके लिये वह मनु के 'सर्वज्ञानमयो हि सः' वेद सब ज्ञान का भण्डार है, यह प्रमाण उपस्थित करता है। सर्वविधज्ञान का भण्डार वेद है, इस बात को वर्त्तमान प्रत्यक्षवादी

संसार के सामने प्रमाणित करना वा हृदय में बिठा देना कितना महान् कार्य है, जो आर्यसमाज के सामने है। इस कार्य में सहस्रों त्यागी आत्माओं की आहुति पड़ें, विपुल साधन जुटें और सुदीर्घ काल तक व्यवस्था बने, तब कहीं आर्यसमाज का यह स्वप्न पूरा हो सकता है। हमें तो यह कार्य असम्भव प्रतीत नहीं होता, हाँ, घोर तप, त्याग और परिश्रम-साध्य प्रतीत होता है। आवश्यकता है कि पचास योग्य विद्वानों को सर्वथा निश्चिन्त कर दिया जावे और उनको एक साथ कम से कम बीस वर्ष के लिये ग्रन्थ आदि सर्वसामग्री सहित एक स्थान में बिठाने की व्यवस्था की जावे। प्रारम्भ में दस वर्ष के लिये दस विद्वानों को, एक स्थान में पूरे पुस्तक संग्रह आदि साधनों सहित बिठाया जावे। कार्य की रूपरेखा पहले अति गम्भीरता से सोचनी होगी, विद्वान् भी वही लेने होंगे, जिन की वेद में पूर्ण निष्ठा, उत्कृष्ट मेधा और तीव्र रुचि वा गति हो। किन्हीं व्यक्तियों की जीविका का प्रबन्ध कर देना मात्र ही लक्ष्य न हो। योग्यतम व्यक्तियों को लगाया जावे, जो परस्पर एक-दूसरे के सहयोगी और एक-दूसरे के विद्याज्ञान को बढ़ाने की भावना और क्षमता वाले हों। यदि पचास विद्वानों का प्रबन्ध हो, तब विज्ञानादि सभी आवश्यक विषयों के विशेषज्ञ भी लिए जा सकते हैं।

उपसंहार

अन्त में हमारा यही निवेदन है कि वेदविषय में आर्यसमाज गम्भीरता से विचार करे। आर्यसमाज में विद्वानों की कमी नहीं है; एक ढंग पकड़ने की आवश्यकता है। हमारी संस्थायें आर्यसमाज की दृष्टि में वेदविषय की एक अत्यन्त गौरवशाली संस्थायें बन सकें। इन में ऋषि दयानन्द प्रदर्शित आर्ष पाठविधि के भिन्न-भिन्न विषयों की गद्दियां स्थापित हों जिनमें सभी आर्य ग्रन्थों के पठनपाठन, गम्भीर खोज तथा प्रकाशन की व्यवस्था हो और ऋषि दयानन्द और आर्य-पुरुषों के स्वप्नों का साकार रूप दृष्टिगोचर हो।

ओ३म्। स्तुता मया [illegible] वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्त्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥

मैंने द्विजों को पवित्र करने वाली वरदात्री वेद माता का अध्ययन किया है, प्रभु का आदेश है कि आयु, प्राण, प्रजा, पशु कीर्ति धन तथा ज्ञान तेज आदि सर्वस्व मेरे अर्पण करके मुक्ति को प्राप्त करो।

आर्यों का मुख्य कर्म

पं० ठाकुरदत्त शर्मा वैद्य, अमृतधारा, देहरादून

"संसार का उपकार करना इस समाज (आर्यों) का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक व सामाजिक उन्नति करना।" (छठा नियम)

ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज के १० नियम बनाये। पहले पाँच नियम मन्तव्य के हैं और अगले पाँच नियम कर्त्तव्य के हैं। दसों नियम बड़े महत्त्व के हैं। इनकी व्याख्या में पुस्तकें लिखी जा सकती हैं। मैं केवल कर्त्तव्य के पहले नियम के पहले अंश का थोड़ा सा वर्णन करना चाहता हूँ।

संसार के नर-नारियों को यह उपदेश है कि अपनी उन्नति करें और दूसरों की उन्नति के लिए यत्नवान् रहें। उन्नति करने के लिए प्रथम शरीर उन्नत होना चाहिये, उसके साथ आत्मिक उन्नति हो। जब व्यक्तियों की शारीरिक और आत्मिक उन्नति हो जावे तो उनका समाज अवश्य ही उन्नत होगा।

इस नियम में बड़ी विशेषता यह है कि शारीरिक उन्नति को प्रथम रखा है। आर्यसमाजों में धार्मिक व्याख्यान तो बहुत होते हैं, परन्तु शारीरिक उन्नति पर बहुत कम व्याख्यान होते हैं।

पहले आर्यसमाज मन्दिरों के साथ व्यायामशालाएं होती थीं, वह भी अब कम होती हैं। शारीरिक उन्नति को जब श्री स्वामी जी ने प्रथम रखा है और उन्होंने अपने उदाहरण से अपने शरीर को उन्नत करके भी समझाया है, तो हमको उस चीज को भूलना नहीं चाहिये।

मैं स्मारक ग्रंथ के वास्ते आज शारीरिक उन्नति के ही कुछ नियम लिखना चाहता हूं:—

'स्वास्थ्य व दीर्घायुष्य के रहस्य'—प्रथम चार मौलिक सिद्धान्त—

निम्नलिखित चार नियम स्वास्थ्यरक्षा व दीर्घायुष्य के लिए अनिवार्य हैं। इनके बिना शेष सब साधन निष्फल हैं:—

१. ब्रह्मचर्य

जिसके लिए आवश्यक है कि (क) छोटी आयु में कोई बुरा व्यसन न लगे। (ख) विवाह भी युवावस्था में हो। (ग) विवाह हो परन्तु नियमबद्ध रहे (घ) १६ वर्ष की आयु से २४ वर्ष तक अपने अवयवों को पुष्ट किया जाय और उच्च विचार, उत्तम-उत्तम पुस्तकों के स्वाध्याय, उत्तम भोजन और व्यायाम द्वारा शारीरिक बल की वृद्धि की जाये। जो इस समय चूक जायेगा सदा के लिये अपने स्वास्थ्य का नाश कर लेगा। स्वास्थ्य व आयु वृद्धि इसी पर निर्भर है। शेष नियम इसी की रक्षा निमित्त हैं।

२. व्यायाम

(क) आयु की प्रत्येक अवस्था में व्यायाम करना चाहिए। इससे शरीर स्वस्थ और बलवान् होता है। कठोर, किन्तु हल्का और लचकदार होता है। मोटापन या दुर्बलता दूर होकर शरीर सुडौल बन जाता है। श्वास नियमित होकर आयु बढ़ती है, मनुष्य खूब परिश्रम और काम-काज कर सकता है। थकावट और सुस्ती नहीं आती। बुढ़ापा नहीं आता। बड़ी आयु में भी जवानों सा काम हो सकता है, आमाशय व अंतड़ियां बलवान् रहती हैं और सब प्रकार की खाद्य वस्तुएं पच जाती हैं। जठराग्नि प्रज्वलित रह कर भोजन अन्त तक नियमपूर्वक पच जाता है। अर्थात् आहार से रस, रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शारीरिक बल रूपी वीर्य ठीक बनता है और कहीं रुकावट नहीं होती। व्यायामशील पुरुष को गर्मी-सर्दी सहन करने की शक्ति होती है। १६ से २४ वर्ष तक खूब व्यायाम करना चाहिए, ताकि बल रूपी इतर पैदा होकर फिर शरीर को बलवान् और स्वस्थ बनावे।

(ख, ऐसे व्यायाम अधिक न करने चाहियें जिनसे श्वास बहुत चढ़े, क्योंकि श्वास का अधिक लम्बा और जल्दी-जल्दी बाहर निकलना आयु को घटाता है। ऐसे व्यायाम रक्तशोधन व बलसंचय के लिये आवश्यक तो हैं, किन्तु थोड़े करने चाहियें। इनके बाद चूंकि श्वास नियमित रूप से थोड़ा निकलता है इसलिये कमी पूरी हो जाती है। हम स्वयं भी दोनों प्रकार के व्यायाम करते हैं। अब तक भी मुद्‌गर, मूंगली, वेटलिफटिंग भी कर लेते हैं और कुछ आसन-प्राणायाम भी हो जाते हैं। यथार्थ में खिचाव और रुकावट के व्यायाम स्वास्थ्य व दीर्घायुष्य के लिए उत्तम हैं। योगियों के आसन इसी सिद्धान्त पर हैं। तमाम नस व नाड़ी में तनाव होकर रुधिर वहाँ से हटता और फिर वेग के साथ लौट कर सर्व दोषों को दूर कर देता है जैसा कि रबड़ की नाली को खींच कर छोड़ दिया जाय। उदाहरण स्वरूप पश्चिमोत्तान आसन में पांव के अंगूठों को जोर से खींचना चाहते हैं, बाहुओं में तनाव होता है, खूब खिंचते हैं, टाँगें और पांव रोक करते हैं। हाथों के मुकाबले में एक हाथ से दूसरे हाथ को धकेलना चाहते हैं दूसरा हाथ रोकता है। इस प्रकार बिना किसी सामान और बिना सांस चढ़े पूरा व्यायाम हो जाता है। खिचाव वाले व्यायाम कितने उपयोगी होते हैं, आप केवल ताड़ासन करके देखें अर्थात् हाथ को ऊँचा करते जायें, मानो आपको ऊपर से कोई चीज पकड़नी है। पांव से हाथ तक सारा शरीर तन जाता है और रक्त जोर से दौरा लगा लेता है।

(ग) इनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण श्वास सम्बन्धी व्यायाम अर्थात् प्राणायाम है। इनसे रक्त भी शुद्ध होता है, श्वास की कमी होने से आयु अधिक बढ़ती है और एकाग्रता बढ़ती है। वैसे तो प्राणायाम बहुत प्रकार के हैं किन्तु एक सरल रीति यह है कि साँस को पहले धीरे-धीरे एक नथने से भीतर ले जाओ और गर्दन नीची करके जब तक आसानी से रुके भीतर रोक लो, फिर दूसरे नथने से धीरे-धीरे निकाल कर सिर ऊंचा करलो। अब जिस रास्ते निकला था उससे धीरे-धीरे भीतर खींच कर वैसे ही रोक कर पहले नथने से निकाल दो। सर्दियों में दायें और गर्मियों में बांयें नथने से प्रारम्भ करना चाहिये। खुली हवा में जितनी बार कर सकें, इसी प्रकार करें। सांस को भीतर ले जाने, रोकने, और बाहर निकालने का समय १-४-२ होना चाहिये। अर्थात् जितने समय में भीतर ले गये हैं उससे चौगुने समय तक भीतर रोकें और दुगुने समय में निकालें। घड़ी के टिक-टिक से अन्दाज करलें।

(घ) व्यायाम के समय कोई तंग वस्त्र शरीर पर न हो, पेट भरा हुआ न हो। व्यायाम के बाद पसीना आने पर हवा से बचाव करें, ठंडा जल न पीयें। अजीर्ण, अनिद्रा और तेज भूख में व्यायाम न करें। स्मरण रहे, शहरी लोगों के लिये सैर करना परमावश्यक है, क्योंकि वे तंग गलियों में रहते हैं। घर से बाहर मैदान में जाकर व्यायाम करें तो सैर और व्यायाम दोनों का काम पूरा होगा। खुली व ताजी हवा जीवनवर्धक और स्वास्थ्यदायक है। इसको कभी न भूलो।

(ङ) शरीर पर तेल की मालिश बहुत लाभदायक है। मालिश से तिल का तेल शरीर में रच कर घी खाने से ८ गुणा अधिक बल देता है। क्षौर से पीछे सिर पर तेल मलकर स्नान करना चाहिए।

३. भोजन—

(क) बड़ी आयु पाने वाले लोग सब सादा भोजन करते रहे हैं। एक समय में बहुत से पदार्थ और तीक्ष्ण व चटपटी चीजें खाने से अवश्य ही आवश्यकता से अधिक खाया जाता है और आमाशय निर्बल हो जाता है। आमाशय और अंत्रियों की कमजोरी तमाम रोगों का घर है।

(ख) भोजन को जितना चबाकर खाया जाये उत्तम है। पानी भी घूंट-घूंट पीना ठीक है। इस प्रकार करने से आवश्यकता से अधिक खाया व पीया नहीं जाता। पतली खुराकों में कोई ठोस चीजें डालें ताकि वह भी चबाई जा सकें।

(ग) ९० फीसदी लोग आवश्यकता से अधिक खाते रहते हैं, जिससे आमाशय व शरीर को व्यर्थ कार्य करना पड़ता है और आयु घटती है। कुछ भूख रहते ही खाना बन्द कर दो। केवल दो बार भोजन करना चाहिये, इसके अतिरिक्त जो दो बार और थोड़ा नाश्ता या जलपान करना बहुत जरूरी समझें, तो बहुत थोड़ी व हल्की वस्तु खानी चाहिये। यदि पच सके तो दूध बहुत ही उत्तम आहार है।

(घ) खाते समय चित्त प्रसन्न रहने से मुख व आमाशय की लार उचित रीति से निकल कर भोजन पच जाता है। शोक, चिन्ता या क्रोध की अवस्था में वह खुश्क होकर भोजन ठीक प्रकार से नहीं पचता और परिणाम यह होता है कि मन्दाग्नि (बदहज़मी) शुरू हो जाती है। यह भी स्मरण रहे कि बिना भूख के भोजन करना ठीक नहीं। कभी-कभी उपवास भी करना उत्तम है। बहुत गर्म व बहुत ठंडी चीजें भी नहीं खानी चाहियें। भोजनोपरान्त थोड़ा विश्राम करना चाहिए और कोई परिश्रम का कार्य तत्काल न करना चाहिए, न दौड़ना चाहिए। फल व हरी तरकारियो का खाना उत्तम है। नारंगी अद्भुत वस्तु है। मैदे की जगह आटा खाना अच्छा है। नीबू साल में दो-चार बार अवश्य ही खालो। यह आयुवर्धक है। तरकारियां आदि थोड़े पानी में उबलनी चाहियें और उबालते समय उनका पानी न फेंकना अच्छा है। कोई तरकारी (सब्जी) कच्ची भी खाया करो। चाय, कहवा, भंग, शराब व अफीम आदि खाने की आदतें स्वास्थ्य के लिए हितकर नहीं हैं। छाछ पीने योग्य अच्छी चीज है, यह बुढ़ापे को दूर करती है। भोजन के मध्य में थोड़ा जल पीना चाहिये, पीछे नहीं। पहिले और पीछे तीन आचमन ही काफी हैं। भोजन के तीन घण्टे पश्चात् खूब पानी पिया करो। भोजन में थोड़ा शहद भी कभी-कभी खा लिया करो और हर प्रकार की खाद्य वस्तुओं को मक्खियों से बचाओ।

४. मानसिक शक्ति

(क) मन शरीर का राजा है। उसके गिरने से सारा शरीर गिर जाता है। बीमारी के ख्याल से बीमार और आरोग्य के ख्याल से मनुष्य नीरोग बन जाता है। जो कुछ तुम सोचते रहते हो वैसे ही बन जाओगे। मन पीड़ा उत्पन्न कर सकता है और उसको हटा भी सकता है। बीमारी को पैदा करता और उसको दूर भी करता है। हृदय की निर्बलता से रक्त के श्वेत कीटाणु निर्बल होकर बाहर के कीटाणुओं का मुकाबला नहीं कर सकते और हर प्रकार के रोगों का भय रहता है। मन को प्रसन्न रखो, हंसो और खूब हंसो और "जो दम गुजरे शुक्र गुजार"। क्रोध न करने वाला, दयालु, सत्यवादी और धोखा न करने वाला मनुष्य आयुषी होता है। शोक और चिन्ता से आयु क्षीण होती है। व्यायाम करते, सैर करते, भोजन करते, पानी पीते, हर समय मानसिक शक्ति से लाभ उठाना चाहिये।

(ख) प्रातःकाल उदय होते हुए सूर्य के सामने खड़े हो जाओ, छाती खोल दो और अनुभव करो कि सूर्य की जीवनदायिनी किरणें आपके शरीर में प्रविष्ट होकर आपको स्वास्थ्य व आयु प्रदान कर रही हैं, आपके समस्त अवयवों को शुद्ध कर रही हैं, शरीर के दूषित मल को भस्म कर रही हैं और रक्त के परमाणुओं को पुष्ट कर रही है। भूल जाओ कि तुम कितने बड़े हो। तुम तो सदा जवान हो। प्रकृति हर समय शरीर को नया करती रहती है। तुम पुराने नहीं।

(ग) बायें हाथ पर पानी रख कर दायें हाथ की उंगली से उस पानी को छू कर अंग स्पर्श करो अर्थात् अपने माथे, सिर, आँख, नाक, कान, होठ, कण्ठ, हृदय, नाभि, मस्तिष्क और भुजाओं पर

लगाओ और साथ-साथ परमात्मा से उनको स्वस्थ रखने की प्रार्थना करो कि "हे परमपिता आपके अनुग्रह से मेरा सिर मजबूत और तन्दुरुस्त रहे, बाल काले व नर्म रहें, मस्तिष्क में अच्छे विचार आयें; मेरे नेत्र, नाक कान, जिह्वा और दांत, कंठ, हृदय, मेरा आमाशय, यकृत, तिल्ली, व अंत्रियां सब बलवान् हों, पवित्र व निर्दोष हों, मेरी भुजाओं में बल हो, मैं १०० वर्ष तक जवान रहूँ, किसी के आसरे न होऊँ"। सदा स्वास्थ्य का ध्यान करो। ऐसा ख्याल न करो कि अमुक रोग दूर हो जाये, रोग का नाम लेने से मन में रोग का चिन्तन हो जायगा। प्रत्येक अंग की पूर्णता का ख्याल करना चाहिये। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु से स्वास्थ्य व आनन्द ग्रहण करो। बाग़ों की हरियाली तुम्हारे मन को हरा-भरा करे, पर्वतों की ऊंचाई तुम्हें ऊंचा करे, मैदानों का विस्तार तुम्हारे हृदय को विशाल करे।

ओ३म् स नो विश्वाहा सुक्रतुरादित्यः सुपथा करत्।
प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ऋ० १।२५।१२

उत्तम कर्म करने वाला सूर्य सदा हमारे लिये मार्गदर्शक बने और हमारी आयु वृद्धि करे।

मथुरा में—

दण्डी विरजानन्द का विद्यालय और महर्षि दयानन्द का विद्याध्ययन

श्री प्रभुदयाल मीतल, मथुरा

मथुरा का महत्त्व—

भारतवर्ष के प्राचीन और इतिहास प्रसिद्ध नगरों में मथुरा का महत्त्व सर्वमान्य है। भगवान् श्रीकृष्ण के जन्म-स्थान होने के अतिरिक्त यह नगर विविध विद्याओं, कलाओं और ज्ञान-विज्ञान का भी विख्यात केन्द्र रहा है। इसके महत्त्व के कारण ही देश के प्रायः सभी प्रमुख धर्मों और सम्प्रदायों ने समय-समय पर यहाँ अपने मन्दिर, मठ, देवालय और केन्द्र बनाये, जिनके कारण विभिन्न स्थानों से आये हुए विशिष्ट व्यक्तियों का समुदाय यहाँ पर सदा से निवास करता रहा है। उन्होंने मथुरा के मूल निवासियों से भी अधिक इस नगर की गौरव-वृद्धि में योग दिया है। दंडी विरजानंद जी और स्वामी दयानन्द जी मथुरा के मूल निवासी नहीं थे, किन्तु उन्होंने इस नगर के महत्त्व के कारण ही यहाँ पर निवास कर और यहाँ से प्रेरणा प्राप्त कर अपनी कीर्ति-कौमुदी के साथ ही साथ मथुरा की यशोगाथा को भी विस्तीर्ण किया है।

दण्डी जी का संक्षिप्त परिचय—

दण्डी विरजानंद जी का जन्म पंजाब के कर्त्तारपुर नगर के निकटवर्ती गंगापुर ग्राम में सं० १८३५ के लगभग हुआ था ×। वे भारद्वाज गोत्रीय सारस्वत ब्राह्मण थे। उनके पिता का

× पं० लेखराम कृत उर्दू भाषा के दयानन्द-चरित में विरजानन्द जी का जन्म संवत् १८५४ लिखा गया है, किन्तु स्वामी दयानन्द के साक्ष्य से यह ठीक नहीं मालुम होता है। स्वामी जी के आत्मचरित में लिखा गया है, जब वे मथुरा में विद्याध्ययन के लिए गये थे, तब विरजानन्द जी की आयु ८१ वर्ष की थी। इस हिसाब से दंडी जी का जन्म संवत् १८३५ के लगभग मानना ही उचित होगा।

नाम नारायणदत्त था। उनका अपना मूल नाम क्या था, यह ज्ञात नहीं होता है। यह निश्चित है, संन्यास की दीक्षा लेने के अनन्तर उनका गुरुप्रदत्त नाम विरजानन्द हुआ था। वे इसी नाम से विख्यात हैं। मथुरा में वे दंडी स्वामी के नाम से प्रसिद्ध रहे हैं। नेत्रहीन होने से वे प्रज्ञाचक्षु भी कहलाते थे। वे जन्मान्ध तो नहीं थे, किन्तु ५ वर्ष की अबोधावस्था में शीतला रोग से नेत्रहीन हो जाने के कारण जन्मान्ध जैसे ही थे। उनकी स्मरणशक्ति और मेधा असाधारण थी। इन जन्मजात दैवी गुणों के कारण ही उनकी नेत्रहीनता उनके उज्ज्वल भविष्य में बाधक नहीं हुई और कालांतर में वे अपने समय के प्रकांड विद्वान् हुए।

विरजानन्द जी के नेत्रहीन होने पर भी उनके पिता ने उन्हें आरंभिक शिक्षा देने का आयोजन किया था। दुर्भाग्य से उनके माता-पिता की शीघ्र मृत्यु हो गई और वे १२ वर्ष की बाल्यावस्था में अनाथ हो गये। इससे दुःखी होकर वे अपने जन्म-स्थान को छोड़कर हरिद्वार चले गये। वहाँ ऋषिकेश में निवास कर वे अहर्निश तपस्या और गायत्री मन्त्र का जाप करने लगे। कहते हैं उन्हें गायत्री मंत्र सिद्ध हो गया था। इसके फलस्वरूप उनके ज्ञान-चक्षु खुल गये और उनकी बुद्धि का अद्भुत रूप से विकास हुआ। ऋषिकेश से वे कनखल गये। वहाँ पर उन्होंने व्याकरणादि विद्याओं का अध्ययन कर उनमें दक्षता प्राप्त की थी।

कनखल में उन्होंने पूर्णाश्रम नामक विद्वान् संन्यासी से संन्यासाश्रम की दीक्षा ली थी। तदुपरांत वे विरजानन्द नाम से प्रसिद्ध हुए। कनखल से वे काशी गये। वहाँ पर उन्होंने अपने विद्याध्ययन को पूर्ण किया। काशी में वे अध्ययन के साथ ही साथ अध्यापन कार्य भी करते थे। इससे उनकी विद्या का भली भाँति विकास हो गया था। उनके दीक्षागुरु के रूप में पूर्णाश्रम संन्यासी का नाम विदित है, किन्तु उनके शिक्षागुरु का नाम प्रसिद्ध नहीं है। उन्होंने अलवर में जिस 'शब्द-बोध' नामक ग्रन्थ की रचना की थी, उसके अन्त में उन्होंने अपने को गौरीशंकर का शिष्य बतलाया है। इससे ज्ञात होता है, कोई गौरीशंकर नामक विद्वान् उनके शिक्षागुरु थे।

काशी में विद्याध्ययन करने के उपरान्त वे गया आदि विभिन्न स्थानों की यात्रा करते हुए सोरों आये। वहाँ के गड़ियाघाट पर निवास कर उन्होंने अध्यापन का कार्य आरम्भ किया था। उनके सोरों निवासी शिष्यों में अंगदराम का नाम उल्लेखनीय है। सोरों में एक बार अलवर के राजा विनयसिंह गंगा-स्नान के लिए आये थे। वे विरजानन्द की विद्वत्ता से बड़े प्रभावित हुए। राजा विनयसिंह विद्याव्यसनी और विद्वानों के आश्रयदाता थे। उनके समय में अलवर सुप्रसिद्ध विद्याकेन्द्र बन गया था। उन्होंने विरजानन्द जी से अलवर चलने का विशेष आग्रह किया। विरजानन्द जी इस शर्त पर अलवर जाने को राजी हुए कि राजा उनसे व्याकरण पढ़ेगा। इसमें शिथिलता होते ही वे अलवर से चले आवेंगे।

राजा विनयसिंह ने अलवर में विरजानन्द जी के निवासादि की यथोचित व्यवस्था की थी। वे साधारण विद्यार्थी की भाँति दंडी जी से व्याकरण पढ़ने लगे; किन्तु राजकार्य में अत्यधिक व्यस्त होने के कारण कभी-कभी उन्हें अध्ययन के लिये समय नहीं मिल पाता था। इससे असन्तुष्ट

होकर विरजानन्द जी अलवर से सोरों वापिस चले गये। राजा विनयसिंह की प्रार्थना पर उन्हें सुगमता पूर्वक व्याकरण की शिक्षा देने के लिये विरजानन्द जी ने अलवर में 'शब्द-बोध' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। कहते हैं, इसकी हस्तप्रति अलवर के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। यदि यह वहाँ पर है, तो इसे दंडी जी की कीर्ति-रक्षा के लिये सुसंपादित रूप में प्रकाशित कराना अत्यावश्यक है।

अब की बार वे अस्वस्थ हो जाने से सोरों में अधिक समय तक नहीं रह सके। स्वस्थ होते ही वे सोरों से मुरसान और वहाँ से भरतपुर चले गये। वहाँ के राजाओं ने उनका भली-भाँति आतिथ्य-सत्कार किया था, किन्तु वे दोनों स्थान विरजानन्द जी को स्थायी निवास के लिए उपयुक्त ज्ञात नहीं हुए। ऐसा जान पड़ता है, दंडी विरजानन्द जी का मन तीर्थ स्थानों में अधिक रमता था। उस काल के तीर्थ स्थान धर्म, संस्कृति और विद्या के केन्द्र होते थे, अतः विरजानन्द जी जैसे विद्वान् का मन उन स्थानों में लगना स्वाभाविक ही था। यही कारण हैं, अपना जन्म-स्थान छोड़ने के उपरान्त वे हरिद्वार, काशी, गया और सोरों में अधिकतर रहे थे। उन्हें आवश्यकतानुसार, मुरसान, भरतपुर आदि स्थानों में भी रहना पड़ा था, किन्तु उनका मन वहाँ नहीं लगा।

दण्डी जी का मथुरा-आगमन और विद्यालय की स्थापना—

सोरो में निवास करते समय ही वे मथुरा के महत्त्व से प्रभावित थे। जब उन्होंने सोरों छोड़ दिया, तब वे मथुरा में स्थायी रूप से रहने का विचार करने लगे। उन के लिए मथुरा एक अपरिचित स्थान था, किन्तु वहां पर उनका एक परिचित व्यक्ति अलवर राज्य का जागीरदार गूजरमल निवास करता था। उसका मकान मथुरा के चौक बाजार में था। जब विरजानन्द जी भरतपुर से मथुरा में स्थायी निवास करने गये, तब वे सर्वप्रथम उक्त गूजरमल के मकान पर ही ठहरे थे। पं० लेखराम के मतानुसार दंडी विरजानन्द जी सं० १८९३ में मथुरा आये थे। श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के अनुसंधान से दंडी जी का आगमन सं० १९०३-४ के लगभग सिद्ध होता है[1]। हमारे विचार से भी देवेन्द्रनाथ जी का मत ही ठीक है।

मथुरा-आगमन से पहिले भी दंडी जी विभिन्न स्थानों में व्याकरण की शिक्षा दे चुके थे, किन्तु वहां पर इसकी कोई स्थायी व्यवस्था नहीं हो पाई थी। सं० १९०४ में उन्होंने मथुरा में स्थायी रूप से विद्यालय की स्थापना कर विधिपूर्वक अध्यापन का समारंभ किया। कहते हैं, यह विद्यालय सर्वप्रथम गूजरमल के मकान में अथवा गतश्रम नारायण के मन्दिर में स्थापित हुआ था। दो माह बाद इस के लिए कंसखार के पास एक दोमंजिला मकान ले लिया गया[2]। उसी में नियमित रूप से विद्यालय का कार्य चलने लगा। इसमें पढ़ने वाले अनेक छात्र व्याकरण के नामी विद्वान् हुए हैं।

१. विरजानन्द चरित, पृ० ५५।

२. यह मकान मथुरा में होली दरवाजा से विश्रामघाट जाने वाली मुख्य सड़क पर सतघरा गली के निकट स्थित है। मथुरा चुंगी में दाखिल सं० १९२७ के एक नक्शे से ज्ञात होता है, पहिले यह मकान सम्पतिराम

दण्डी विरजानन्द जी एक अनुभवी अध्यापक थे। उनके अध्यापन की शैली भी अपूर्व थी। वे छात्रों को बड़ी सुगमता पूर्वक विषय का बोध कराते थे। वे उनसे किसी प्रकार का शुल्क नहीं लेते थे, बल्कि निर्धन विद्यार्थियों की पुस्तकों की व्यवस्था भी करा देते थे। उनके जीवन-निर्वाह तथा विद्यालय-संचालन का समस्त व्यय अलवर, भरतपुर और जयपुर के राजाओं द्वारा दी हुई सहायता से चलता था।

दण्डी जी द्वारा आर्ष ग्रन्थों का आग्रह—

यह प्रसिद्ध बात है, दंडी जी आर्ष ग्रन्थों के प्रचार और अनार्ष ग्रन्थों के बहिष्कार के प्रबल आग्रही थे। इसीलिये वे सिद्धान्तकौमुदी, मनोरमा और शेखर जैसे अनार्ष व्याकरण ग्रंथों की अपेक्षा अष्टाध्यायी जैसे आर्ष व्याकरण ग्रन्थ को पढ़ाने के पक्षपाती थे। ऐसा कहा जाता है, दंडी जी का यह आग्रह आरम्भ से नहीं था। उनके समय में सिद्धांतकौमुदी का विशेष प्रचार था और अष्टाध्यायी जैसे सूत्रबद्ध प्राचीन व्याकरण को बहुत कम लोग पढ़ते थे। दंडी जी भी आर्ष-अनार्ष ग्रन्थों का भेदभाव किये बिना छात्रों की इच्छानुसार उन्हें सब प्रकार के ग्रन्थ पढ़ाया करते थे। फिर वे आर्ष ग्रंथों के इतने प्रवल पक्षपाती क्यों हो गए? इसके सम्बन्ध में दो किंवदंतियां विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं।

पहिली किंवदन्ती इस प्रकार है—"विरजानन्द जी के पड़ौस में एक दक्षिणी पंडित रहता था। वह प्रातः काल अष्टाध्यायी का उच्च स्वर से पाठ किया करता था। दंडी जी उसके पाठ को ध्यान-पूर्वक सुना करते थे। वे तब कौमुदी, मनोरमा और शेखर आदि व्यकरण ग्रन्थों से ही परिचित थे, अष्टाध्यायी से नहीं। वे अष्टाध्यायी के स्वाभाविक सूत्र-क्रम को सुनकर बड़े प्रभावित हुए। उन्हें सिद्धान्तकौमुदी आदि ग्रन्थों का सुबोध एवं सरल दिखाई देने वाला क्रम वस्तुतः दुर्बोध, कठिन और कृत्रिम ज्ञात हुआ। उनकी यह धारणा हो गई कि भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी की अस्वाभा-

---

सेनापति नामक एक मरहठा सज्जन की सम्पत्ति थी। कालान्तर में मथुरा का एक सरीन खत्री परिवार इसका स्वत्वाधिकारी हुआ। सं० १९८१ में जब मथुरा में दयानन्द जन्म-शताब्दी समारोह हुआ था, तब भी यह मकान ब्रजनाथ सरीन के अधिकार में था।

इस मकान के महत्त्व को देखते हुए आर्यसमाज ने निश्चय किया कि विरजानन्द जी के स्मारक स्वरूप इसमें पुस्तकालय-वाचनालय की स्थापना की जाय। इस बात की बड़ी चेष्टा की गई कि ब्रजनाथ सरीन उचित मूल्य लेकर इसे आर्यसमाज को दे दें। यह मकान जीर्ण हो जाने के कारण अपने स्वामी के लिए अनुपयोगी था, किन्तु श्री ब्रजनाथ सरीन को यह जिद्द हो गई कि वह इसे किसी मूल्य पर आर्यसमाज को नहीं देंगे। जब समझाने बुझाने से काम नहीं चला, तब बाध्य होकर आर्यसमाज की ओर से अदालती कार्यवाही की गई। यह मामला वर्षों तक विभिन्न न्यायालयों में चलता हुआ, दिनांक २७ अक्तूबर १९५२ को हाईकोर्ट में और दिनांक १ फरवरी १०५४ को सुप्रीम कोर्ट में पहुंचा। वहां से इसका अधिकार आर्यसमाज को मिल गया, जिसने अभी साधारण सा निर्माण कार्य कराकर इसमें वाचनालय की स्थापना कर दी है।

विक नूतन रचना द्वारा पाणिनि के स्वाभाविक प्राचीन सूत्र-क्रम के महत्त्व को कम कर दिया है। इससे वे भट्टोजि आदि अर्वाचीन वैयाकरणों से बड़े रुष्ट हो गये और उन्होंने उनकी रचनाओं का एकदम बहिष्कार करने का निश्चय कर लिया। इसके बाद से ही वे अष्टाध्यायी के प्रचार में जी-जान से लग गये।"

दूसरी किंवदन्ती इस प्रकार है—"विरजानन्द जी के समय में मथुरा में कृष्ण शास्त्री* नामक एक विद्वान व्यक्ति रहते थे। वे न्याय और व्याकरण के प्रकांड पंडित थे। रामानुज सम्प्रदाय के आचार्य श्री रंगाचारी प्रथम[१] ने उनसे कुछ समय तक शिक्षा प्राप्त की थी। मथुरा के विख्यात सेठ राधाकृष्ण[२] रंगाचारी जी के शिष्य थे। इस नाते वे श्री कृष्ण शास्त्री में अत्यन्त श्रद्धा रखते थे। मथुरा के लक्ष्मण ज्योतिषी[३] और मुड़मुड़िया पंड्या क्रमशः सेठ घराने के ज्योतिषी और श्री द्वारकाधीश मन्दिर के प्रमुख कार्यकर्ता थे; अतः वे दोनों भी सेठों के आश्रित होने से कृष्ण शास्त्री को अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखते थे। उस समय कुछ ऐसी परिस्थिति हुई कि मथुरा के उन दोनों उद्भट विद्वान् दंडी विरजानन्द और कृष्ण शास्त्री में शास्त्रार्थ होने का प्रसंग उपस्थित हो गया। विरजानन्द जी उसके लिए तैयार थे, किन्तु सेठ राधाकृष्ण ने कृष्ण शास्त्री की प्रतिष्ठा बचाने के लिए लक्ष्मण ज्योतिषी और मुड़मुड़िया पंड्या को विरजानन्द जी से शास्त्रार्थ करने के लिए नियुक्त किया। जब विरजानन्द जी को ज्ञात हुआ कि कृष्ण शास्त्री स्वयं शास्त्रार्थ नहीं करेंगे, तब उन्होंने अपने दो शिष्य रंगदत्त और गंगादत्त को लक्ष्मण ज्योतिषी और मुड़मुड़िया पंड्या से शास्त्रार्थ करने के लिए भेज दिया।

---

*श्री कृष्ण शास्त्री श्री द्वारकाधीश मन्दिर के पीछे मानिक चौक मुहल्ला में निवास करते थे। वहाँ पर उनका मन्दिर अभी तक विद्यमान है।

१. रंगाचारी प्रथम गोवर्धन स्थित श्री रामानुज पीठ के अध्यक्ष श्री निवासाचार्य जी के शिष्य और उत्तराधिकारी थे। इन्होंने सेठ राधाकृष्ण को रामानुज संप्रदाय की दीक्षा देकर उन्हें आदेश दिया था कि वे वृन्दावन में इस सम्प्रदाय का एक मन्दिर बनावें। उन्हीं के आदेश से वृन्दावन के विख्यात श्री रंग मंदिर का निर्माण हुआ था।

२. सेठ राधाकृष्ण मथुरा के धनकुबेर सेठ लक्ष्मीचन्द के छोटे भाई थे। उनका घराना परम्परा से जैन धर्म का अनुयायी था, किन्तु राधाकृष्ण रामानुज सम्प्रदाय के वैष्णव हो गये थे। उन्होंने ४५ लाख रुपये की लागत से वृन्दावन में श्री रंग जी का विशाल मंदिर बनवाया था, जिस की पूर्ति सं० १६०८ में हुई थी। यह मंदिर श्री रंगाचारी को भेंट कर दिया गया था।

३. लक्ष्मण ज्योतिषी सेठ घराने के पंडित और ज्योतिषी थे। उन्हें सेठों की ओर से माता गली में रहने के लिए हवेली मिली थी। उनके छोटे भाई हरिचन्द भी बड़े विद्वान् थे। कहते हैं, सेठ घराने में राजा लक्ष्मणदास और पोद्दार परिवार के सेठ कन्हैयालाल ने आरम्भिक शिक्षा पं० हरिश्चन्द्र से ही प्राप्त की थी।

४. मुड़मुड़िया पंड्या नागर ब्राह्मण थे। वे मारू गली में निवास करते थे, जहां उनकी हवेली अभी तक विद्यमान है। इस में उनके वंशज रहते हैं। उनके वंशजों में श्री गोपालशंकर नागर मथुरा के किशोरी रमण कालेज में अध्यापक हैं।

यह शास्त्रार्थ व्याकरण सम्बन्धी था और उसका विषय था—'अजाद्युक्तिः' में कौन सा समास है ? लक्ष्मण ज्योतिषी और मुड़मुड़िया पंड्या का मत था, इस में सप्तमी तत्पुरुष है। चौबे रंगदत्त और गंगादत्त का कहना था, इसमें षष्ठी तत्पुरुष है। इन दोनों पक्षों को क्रमशः कृष्ण शास्त्री और विरजानन्द का समझा गया। सभास्थल में युक्तिपूर्वक विरजानन्द जी के पक्ष की पराजय घोषित की गई। फिर इस की पुष्टि के लिए प्रचुर धन देकर काशी के पंडितों से भी व्यवस्था माँग ली गई। इससे विरजानन्द जी बड़े दुःखी हुए। वे अपने शिष्यों के मत की पुष्टि में व्याकरण के प्रमाणों का अनुसंधान करने लगे। उन्हें ज्ञात हुआ कि अष्टाध्यायी द्वारा उनके मत का समर्थन होता है और कौमुदी आदि नूतन व्याकरण ग्रन्थ उनके मत का विरोध करते हैं। इससे वे इन ग्रन्थों का बहिष्कार कर एक मात्र अष्टाध्यायी के ही प्रचारक बन गये।

ऊपर लिखी हुई दोनों किंवदंतियों में कोई ऐसा युक्तियुक्त कारण दिखाई नहीं देता, जिस से विरजानन्द जी द्वारा आर्ष ग्रंथों का इतना प्रबल आग्रह करना उचित कहा जा सके। दक्षिणी पंडित से सुनने से पहले वे अष्टाध्यायी से सर्वथा अपरिचित थे, प्रथम किंवदंती की यह बात सत्य नहीं मालूम होती है। स्वामी दयानन्द जी ने पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या को उदयपुर में बतलाया था कि अष्टाध्यायी के प्रचार की प्रेरणा कनखल के पूर्णाश्रम संन्यासी से ही विरजानन्द जी को मिली थी +। दंडी जी के एक विद्यार्थी श्री बनमाली चतुर्वेदी ने श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को पत्र में लिखा था कि विरजानन्द जी के विद्यालय में आरम्भ से ही कौमुदी के साथ अष्टाध्यायी की भी शिक्षा दी जाती थी। दंडी जी कहा करते थे कि व्याकरण का वास्तविक ग्रन्थ तो अष्टाध्यायी ही है, किन्तु इस समय उसका प्रचार बहुत कम होने से कौमुदी आदि ग्रन्थों का पठन-पाठन प्रचलित हो गया है।*

हमारे विचार से विरजानन्द जी आरम्भ से ही अष्टाध्यायी के महत्त्व से परिचित और उस के प्रचार के इच्छुक थे। वे केवल समुचित देश-काल की प्रतीक्षा कर रहे थे। अन्य स्थानों की अपेक्षा उनका मथुरा में स्थायी रूप से निवास कर वहां विद्यालय खोलने का कारण ही यह मालूम होता है कि वे उपयुक्त स्थान से ही अपनी उद्देश्य-पूर्ति का प्रयास करना चाहते थे। उन्होंने मथुरा के धर्मगुरुओं को शिष्य बना कर पहले अपनी स्थिति सुदृढ़ की। फिर शास्त्रार्थ के रूप में सुयोग मिलने पर उन्होंने आर्ष ग्रन्थों का प्रचार और अनार्ष ग्रन्थों के बहिष्कार का जोरदार आन्दोलन आरम्भ कर दिया।

दण्डी जी की अध्यापन प्रणाली—

जैसा पहले लिखा जा चुका है, दंडी जी के विद्यालय की आरम्भिक अवस्था में आर्ष ग्रन्थों का प्रबल आग्रह नहीं था। वे विद्यार्थियों की रुचि के अनुसार अष्टाध्यायी के साथ ही साथ कौमुदी, शेखर और मनोरमा आदि व्याकरण ग्रन्थों को भी पढ़ाते थे। जब वे आर्ष ग्रन्थों के उत्कट आग्रही

+विरजानन्द चरित, पृ० ८९ की टिप्पणी।
*विरजानन्द चरित, पृ० ८७ की टिप्पणी।

हो गये, तब उन्होंने अपने विद्यालय में अनार्ष ग्रन्थों का सर्वथा बहिष्कार कर केवल ऋषि प्रणीत ग्रन्थों के पठन-पाठन का ही नियम प्रचलित किया था। इसके फलस्वरूप व्याकरण शिक्षा के लिए कौमुदी आदि का अध्ययन बन्द कर दिया गया और केवल अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य को मान्यता प्रदान की गई। उनके विद्यालय में इतना बड़ा परिवर्तन बिना किसी कठिनाई के सहज-स्वाभाविक रूप में हो गया।

इस परिवर्तन के पश्चात् विरजानन्द जी उन्हीं छात्रों को विद्याध्ययन कराते थे, जो मेधावी और कुशाग्र बुद्धि जान पड़ते थे। जिन में इन गुणों की कमी होती थी, उन्हें वे अपने विद्यालय में पढ़ने की आज्ञा नहीं देते थे। जिस छात्र को वे स्वीकार करते थे, उसे अनार्ष ग्रन्थों से प्राप्त विद्या को भूल जाने और उन ग्रन्थों को तत्काल फेंक देने का आदेश देते थे। जो छात्र ऐसा नहीं करता था, उसे वे किसी प्रकार विद्याध्ययन नहीं कराते थे। यद्यपि विरजानन्द जी अति वृद्ध और जर्जरित शरीर के थे, तथापि उनमें विद्यादान के लिए युवकों का सा प्रबल उत्साह था। उनसे पढ़ने वाले विद्यार्थी तो थक जाते थे, किन्तु वे पढ़ाते हुए नहीं थकते थे। वे यद्यपि नेत्रहीन थे, तथापि अपनी अद्भुत स्मरण और सर्वग्राहिणी शक्ति के कारण उन्हें अनेक शास्त्र कंठस्थ थे। वे शब्द-शास्त्र के तो अपूर्व विद्वान् थे, जिस के कारण वे 'व्याकरण-सूर्य' कहलाते थे। इसके अतिरिक्त उन्हें अन्य विषय भी हस्तामलक थे, जिन्हें वे विद्यार्थियों को सरलतापूर्वक हृदयङ्गम करा देते थे।

विरजानन्द जी की अध्यापन प्रणाली भी अपूर्व थी। वे विद्यार्थियों को श्रेणियों में विभाजित कर नही पढ़ाते थे, बल्कि जो विद्यार्थी जिस समय जो ग्रन्थ पढ़ना चाहता था, उसे उसी समय वही पढ़ाते थे। वे पहले सूत्रों अथवा श्लोकों को कंठस्थ कराते थे, इसके पश्चात् पदच्छेद कराकर प्रत्येक पद का अर्थ बतलाते थे और अंत में समस्त सूत्रों अथवा श्लोकों के अर्थ का बोध करा देते थे। वे टीका, भाष्य, वृत्ति आदि की सहायता से कभी नहीं पढ़ाते थे, बल्कि वे इनके बड़े विरोधी थे। उन का मत था, इन भाष्यादि के कारण ही अनार्ष ग्रन्थों की संख्या बढ़ गई है जो अनिष्ट का मूल कारण है।

उनके पढ़ाने का क्रम प्रातःकाल से सायंकाल पर्यन्त और कभी-कभी अधिक रात्रि तक चलता रहता था। वे विशेष रूप से व्याकरण पढ़ाते थे, किन्तु विद्यार्थियों की इच्छानुसार उन्हें अन्य विषयों की शिक्षा भी दिया करते थे। वे निरुक्त, न्याय, वेदान्त आदि सभी विषयों के बहुत विद्वान् थे।

६. दण्डी जी के स्वभाव की उग्रता—

दंडी विरजानन्द जी बड़े ओजस्वी और उग्र स्वभाव के व्यक्ति थे। वे कई राजा-महाराजाओं के सम्पर्क में आये और उन्होंने दंडी जी का भली प्रकार से स्वागत-सत्कार भी किया था, किन्तु अपने स्वभाव की उग्रता के कारण वे किसी के आश्रित होकर नहीं रहे। मथुरा में विद्यालय खोल कर निवास करते हुए भी उनकी उग्रता में कोई कमी नहीं आई थी। वैसे अपने विद्यार्थियों को वे बड़े स्नेह पूर्वक पढ़ाते थे, किन्तु उनकी मूर्खता और उद्दंडता पर उन्हें क्रोध भी आ जाता था। इससे कभी-कभी वे उन पर लाठी का प्रहार कर बैठते थे। पं० लेखराम ने लिखा है, एक बार उन्होंने

स्वामी दयानन्द पर भी लाठी का प्रहार किया था, जिस की चोट का निशान सदैव उनके हाथ पर बना रहा। इसे बतलाते हुए वे अपने गुरु जी के उपकारों का कृतज्ञता पूर्वक स्मरण किया करते थे। पं० देवेन्द्रनाथ जी ने स्वामी दयानन्द जी पर प्रहार करने की बात को असत्य बतलाया है। मथुरा में इस घटना की और दंडी जी के क्रोधी स्वभाव की पर्याप्त प्रसिद्धि है, अतः इसकी सत्यता में सन्देह नहीं किया जा सकता है। पं० लेखराम ने यह भी लिखा है कि विरजानन्द जी सिद्धान्त-कौमुदीकार भट्टोजि दीक्षित से इतने अधिक रुष्ट थे कि उनके प्रति घृणा उत्पन्न करने के लिए वे अपने विद्यार्थियों से उनके नाम पर जूते लगवाया करते थे। यह बात सर्वथा असत्य है और विरजानन्द जी के नाम को कलंकित करने वाली है। श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने दंडी जी के मथुरा निवासी कई शिष्यों से इसके सम्बन्ध में पूछ-ताछ की थी, किन्तु सभी ने इसका खंडन किया था। न मालूम यह किंवदंती पं० लेखराम ने किस से सुनी थी। दंडी विरजानन्द जी क्रोधी और उग्र स्वभाव के अवश्य थे, उन्होंने भट्टोजि दीक्षित की रचना का बहिष्कार भी किया था; किन्तु उनके जैसे प्रकांड विद्वान् से ऐसे अशोभनीय कृत्य की स्वप्न में भी आशा नहीं की जा सकती है।

७. दण्डी जी के रचे हुए ग्रन्थ—

उनके द्वारा शब्द-बोध ग्रन्थ की रचना होने का उल्लेख पहले किया जा चुका है। ऐसा कहा जाता है, मथुरा में विद्यालय खोलने के कुछ समय बाद उन्होंने पाणिनि के अर्धांश का भाष्य और शेखर व्याकरण के खंडन में 'वाक्य मीमांसा' नामक दो अन्य ग्रन्थों की रचना भी की थी। जब उन्होंने समस्त अनार्ष ग्रन्थों का बहिष्कार कर दिया, तब अपनी उन परिश्रम साध्य रचनाओं को भी नष्ट करने के लिए यमुना नदी के अर्पित करने में उन्हें तनिक भी संकोच नहीं हुआ। उन ग्रन्थों को यमुना में डालने का भार गोपीनाथ विद्यार्थी को दिया गया था। उसने वे ग्रन्थ यमुना नदी में न डाल कर अपने पास रख लिए और गुरु जी से कह दिया कि उनके आदेश का पालन कर दिया गया है+। विरजानन्द जी के एक प्रमुख शिष्य श्री युगलकिशोर ने बतलाया था कि 'वाक्य मीमांसा' ग्रन्थ उनके पास और पाणिनि भाष्य गोपीनाथ के पास बहुत दिनों तक थे। उन बहुमूल्य ग्रन्थों का फिर क्या हुआ, इसका उल्लेख नहीं मिलता है। हमने मथुरा में उनकी खोज कराई, किन्तु वे कहीं भी प्राप्त नहीं हुए। यदि विरजानन्द जी के समस्त ग्रन्थों को प्राप्त कर उन्हें सुसम्पादित रूप में प्रकाशित किया जा सके, तो यह उनका सर्वोत्तम स्मारक हो सकता है।

८. सार्वभौम सभा के आयोजन की चेष्टा—

आर्ष ग्रन्थों के व्यापक प्रचार के लिए विराजानन्द जी ने एक सार्वभौम सभा के आयोजन की बड़ी चेष्टा की थी। उन्होंने इस कार्य के निमित्त कई बार सरकारी अधिकारियों और राजा-महाराजाओं को प्रेरित किया था। सं० १९१६ में जब आगरा में लार्ड केनिंग का दरबार हुआ था, तब उसमें अनेक राजा-महाराजा भी उपस्थित हुए थे। दंडी जी इस अवसर पर स्वयं आगरा गये

+विरजानन्द चरित, पृ० ११९।

और उन्होंने जयपुर के महाराजा रामसिंह से उक्त सार्वभौम सभा का आयोजन करने के लिए विशेष रूप से कहा था। दंडी जी उस सभा में आर्ष ग्रन्थों के महत्त्व की स्थापनापूर्वक अनार्ष ग्रन्थों का खंडन तथा उनके समर्थकों से शास्त्रार्थ करना चाहते थे। दुर्भाग्य से उनकी इस इच्छा की पूर्ति तो नहीं हो सकी, किन्तु कालान्तर में उनके उद्देश्य की पूर्ति स्वामी दयानन्द जी द्वारा भलीभांति हो गई।

९. स्वामी दयानन्द का संक्षिप्त परिचय–

स्वामी दयानन्द का जन्म सं० १८८१ में काठियावाड़ प्रदेशान्तर्गत मौरवी राज्य के टंकारा ग्राम में हुआ था। उनका आरम्भिक नाम मूल जी और उनके पिता का नाम करसन जी लाल जी तिवाड़ी था। वे सामवेदी औदीच्य ब्राह्मण थे। उनके पिता मूर्तिपूजक कट्टर शैव थे, किन्तु मूल जी को बाल्यावस्था से ही मूर्ति-पूजा से अरुचि हो गई थी। वे अपने कई स्नेही जनों को मृत्यु-ग्रस्त देख कर यह जानने की चेष्टा करने लगे, क्या मृत्यु पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकती ? लोगों ने उन्हें बतलाया कि पूर्ण योगी ही मृत्यु को विजय कर अमर हो सकता है। इससे वे सांसारिक कार्यों से उदासीन होकर योगी बनने की धुन में रहने लगे। उनके माता-पिता ने यह रंग-ढंग देख कर उन्हें वैवाहिक बंधन में बाँधना चाहा, किन्तु वे सं० १९०२ के ज्येष्ठ मास में एक दिन बिना किसी से कहे-सुने अकेले ही घर से निकल भागे। उस समय उनकी आयु २१ वर्ष की थी।

घर से निकलने के बाद परिचित व्यक्तियों से अपने को छिपाने के लिए वे ब्रह्मचर्य की दीक्षा लेकर शुद्धचैतन्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। उन्होंने ब्रह्मचारी का वेश धारण किया और योग तथा ज्ञान की प्राप्ति के हेतु दो वर्ष तक इधर-उधर घूमते रहे। उन दिनों गुजरात में ब्रह्मचारियों को संन्यासियों की भांति बना-बनाया भोजन नहीं मिलता था। शुद्धचैतन्य को स्वयं भोजन बनाना पड़ता था, इससे उनके ज्ञानार्जन में बाधा पड़ती थी। स्वयं-पाक के झंझट से बचने और मधूकरी वृत्ति द्वारा जीवन-निर्वाह करने के विचार से उन्होंने संन्यासी होने का निश्चय किया। फलतः सं० १९०४ में नर्मदा तटवर्ती पवित्र स्थान चाणोद कर्णाली में उन्होंने पूर्णानन्द सरस्वती नामक एक महाराष्ट्र विद्वान् से संन्यासाश्रम की दीक्षा ली। तब वे दयानन्द सरस्वती के नाम से विख्यात हुए।

१०. स्वामी जी द्वारा ज्ञान-प्राप्ति का प्रयास और उनका मथुरा-आगमन–

संन्यासी होने के बाद स्वामी जी ने योगियों और ज्ञानियों से योग तथा ज्ञान प्राप्त करने की लालसा में कई वर्षों तक घोर जंगलों और बीहड़ पहाड़ों के चक्कर काटे। इस बीच में उन्होंने यौगिक क्रियाओं और संस्कृत भाषा का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था, किन्तु इससे उनके मन को शान्ति नहीं मिली थी। अपनी लम्बी और कष्टदायक यात्राओं में उन्होंने नाना प्रकार के बुरे-भले अनुभव प्राप्त किये थे। अब वे और अधिक न भटक कर किसी सच्चे साधु और धुरन्धर विद्वान् से विद्याध्ययन कर प्राचीन ऋषि-मुनियों के अमर ज्ञान से लाभ उठाना चाहते थे। अपनी यात्रा में वे दंडी विरजानन्द जी की ख्याति सुन चुके थे। अतः घर से निकलने के प्रायः १५ वर्ष पश्चात् वे विरजानन्द जी से विद्याध्ययन के लिए मथुरा आये। पं० लेखराम कृत उर्दू भाषा के दयानन्द-

चरित में उनके मथुरा आगमन की तिथि सं० १९१७ की कार्तिक शु० २ लिखी गई है। श्री देवेन्द्र नाथ मुखोप ध्याय वृन्दावन के एक शास्त्रार्थ और मथुरा निवासी वनमाली चतुर्वेदी के कथन का हवाला देते हुए स्वामी जी के मथुरा-आगमन का काल सं० १९१६ मानते हैं+। श्री देवेन्द्रनाथ जी का कथन सुनी हुई बातों पर आधारित होने से पूर्णतया निर्भ्रान्त नहीं कहा जा सकता। अतः जब तक प्रामाणिक रूप से कोई अन्य तिथि निश्चित न हो, तब तक पं० लेखराम द्वारा उल्लिखित तिथि को ही मान्यता देनी चाहिए।

११. स्वामी जी का मथुरा निवास और विद्याध्ययन—

जिस समय स्वामी जी मथुरा आये थे, उस समय उनकी आयु ३५ वर्ष के लगभग थी। वे संन्यासी वेश में थे और गेरूआ वस्त्र पहिने हुए थे। उनके पास दैनिक उपयोग की दो-एक वस्तुओं और कुछ पुस्तकों के अतिरिक्त और कोई सामान नहीं था। मथुरा आने पर वे नगर के बाहर रंगेश्वर महादेव के निकट की एक बगीची पर ठहरे। फिर एक दिन विरजानन्द जी का निवास-स्थान पूछ कर उनकी सेवा में उपस्थित हुए।

विरजानन्द जी द्वारा परिचय और आने का कारण पूछने पर स्वामी जी ने कहा—'मैं एक संन्यासी हूँ। आपके पास अध्ययन करने के लिए आया हूँ।" दंडी जी ने कहा—"संन्यासियों का निवास और भोजन अनिश्चित होता है। क्या तुम इनकी निश्चित व्यवस्था कर सकोगे?" स्वामी जी ने कहा—"मैं कर लूँगा।" तब दंडी जी ने पूछा—"अच्छा, कुछ व्याकरण भी पढ़ा है?" स्वामी जी ने उत्तर दिया—"हाँ, सारस्वत पढ़ा हूँ।" दंडी जी ने कहा—"पहले अनार्ष ग्रंथों को यमुना में बहा दो, तब मुझ से अध्ययन करने के अधिकारी हो सकोगे।" स्वामी ने तत्काल आज्ञा-पालन करने का वचन दिया और उनसे विद्याध्ययन करने की स्वीकृति प्राप्त कर ली।

दंडी जी से स्वीकृति प्राप्त कर स्वामी जी अपने निवास और भोजन का प्रबन्ध करने लगे। उन्होंने विश्रामघाट पर लक्ष्मीनारायण जी के मंदिर की एक कोठरी में रहने और श्री दुर्गाप्रसाद खत्री से भोजन के लिए चने प्राप्त करने की व्यवस्था कर ली। बाद में श्री अमरलाल जोशी२ द्वारा उनके भोजन और निवास का स्थायी प्रबंध कर दिया गया। इसके लिए स्वामी जी जीवनपर्यन्त उनका उपकार मानते रहे। इस संबंध में उन्होंने स्वयं अपने आत्मचरित में लिखा है—

+ महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित, भाग १ पृ० ५६।

२ ज्योतिषी अमरलाल जी मथुरा के सुप्रसिद्ध 'जोशी बाबा' घराने के प्रतिष्ठित महानुभाव थे। वे गुजराती औदीच्य ब्राह्मण थे और उनका जन्म सं० १८९७ में हुआ था। वे विख्यात विद्वान् और उदार स्वभाव के सज्जन पुरुष थे। उनके यहाँ अनेक साधु-संन्यासियों को प्रतिदिन भोजन दिया जाता था। उन्होंने स्वामी दयानन्द जी के भोजन और निवास की व्यवस्था कर उनके अध्ययन में बड़ी सहायता की थी। वे स्वामी जी के घनिष्ठ मित्रों में से थे। संयोग की बात है, उनका देहावसान भी स्वामी दयानन्द जी के निर्वाण-संवत् १९४० में ही हुआ था।

"आहार और गृह आदि की मुक्त हस्त से सहायता करने के कारण मैं अमरलाल का नितान्त आभारी हूँ। भोजन के संबंध में वह इतने यत्न पर रहते थे कि जब तक मेरे भोजन का प्रबंध न हो जाता था, तब तक स्वयं भोजन न करते थे। वस्तुत: अमरलाल एक महदन्त:करण के मनुष्य थे, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है१।"

पं० लेखराम कृत उर्दू भाषा के दयानन्द चरित में लिखा गया है, स्वामी जी को रात्रि में रोशनी के लिए गोवर्धन सर्राफ+ की ओर से ४ आने मासिक और दूध के लिए हरदेव पत्थर वाले× द्वारा २ रु० मासिक की सहायता प्राप्त होती थी। पाठ्य पुस्तकों के लिए भी दानियों से उन्हें ३१) रु० प्राप्त हुए थे। इस प्रकार मथुरा निवासियों ने स्वामी दयानन्द को विद्याध्ययन करने के लिए सब प्रकार की आवश्यक सुविधा और सहायता प्रदान की थी।

स्वामी दयानंन्द ने विरजानन्द जी से पहिले पाणिनि सूत्रों का अध्ययन किया, फिर महाभाष्य पढ़ा। इस प्रकार वे अष्टाध्यायी और महाभाष्य दोनों में पूर्ण पारङ्गत हो गये। इनके अतिरिक्त उन्होंने कुछ अन्य ग्रंथ भी पढ़े, किन्तु उनका निश्चयात्मक विवरण नहीं मिलता। ऐसा सुना गया है, उन्होंने निरुक्तादि वेदांगों की भी शिक्षा प्राप्त की थी।

उनका रहन-सहन आदर्श था और उनकी गुरु-भक्ति अपूर्व थी। वे प्रातःकाल उठ कर नित्य-क्रिया से निवृत्त होते थे। फिर अपने गुरु जी के लिए यमुना से जल भरकर लाते थे। इसके उपरांत संध्योपासना कर अध्ययन के लिए बैठ जाते थे और दोपहर तक पढ़ते रहते थे। इसके बाद दिन में एक बार भोजन कर फिर अध्ययन में लग जाते थे।

१२. अध्ययन की समाप्ति और आगामी कार्य का आदेश–

स्वामी दयानन्द ने सं० १९१७ से १९२० तक की अवधि में प्रायः ३ वर्ष तक मथुरा में निवास

ज्योतिषी अमरलाल जी के प्रपितामह श्री कृपाशंकर जी होल्कर और सिंधिया राजाओं के विख्यात राज ज्योतिषी थे। उनकी ज्योतिष विद्या से प्रसन्न होकर तुकोजीराव होल्कर और दौलतराव सिंधिया ने उन्हें अनेक गांव जागीर में दिये थे। वे मथुरा में आकर रईसों की तरह रहने लगे थे। उन्होंने स्वामीघाट के निकट एक विशाल हवेली बनवाई थी, जिसमें अब भी उनके वंशजों का निवास है। उनके वंश में सदा से विद्वान् पुरुष होते रहे हैं। वर्तमान काल में उनके वंशज ज्योतिषी राधेश्याम जी मथुरा के साहित्यिक विद्वान् और राजनैतिक नेता हैं।

१ महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित, भाग १ पृष्ठ ६१

+हमारे अनुसंधान से ज्ञात हुआ है कि गोवर्धन सर्राफ नामक कोई सज्जन नहीं थे। स्वामी जी को रोशनी के लिए ४ आने मासिक देने वाले खेतामल नन्नूमल सर्राफ थे। उनकी सर्राफे की दूकान छत्ता बाजार में है, जिस पर उनके वंशज बैठते हैं।

×हरदेव आगरा निवासी था, किन्तु उसने मथुरा में रह कर यहां के भरतपुर दरवाजा पर पत्थर की टाल खोली थी। बाद में वह टाल उठ गई और हरदेव के वंशज आगरा को वापिस चले गये।

कर दंडी विरजानन्द के पास अध्ययन किया था। जब वे अपना अध्ययन समाप्त कर मथुरा से जाने लगे, तब गुरुदक्षिणा में देने के लिए उनके पास कुछ नहीं था। विरजानन्द जी को लौंगें अत्यन्त प्रिय थीं। अतः वे थोड़ी सी लौंगें लेकर ही उनकी सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने कहा—"महाराज! आपने मुझे विद्या-दान दिया है, इसके लिए मैं जीवन पर्यंत आपका ऋणी रहूँगा। आप को गुरु-दक्षिणा में देने के लिए मेरे पास इन थोड़ी सी लौंगों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अतः मैं इन्हें श्रद्धा पूर्वक भेंट करता हूँ।"

दंडी जी ने कहा—"मैं तुझसे कुछ और चाहता हूं और वह मुझे देने के लिये तेरे पास है।" स्वामी जी ने कहा—"आज्ञा कीजिये।" दंडी जी ने अपनी चिर-इच्छित मनोभिलाषा व्यक्त करते हुए उस समय जो शब्द कहे थे, वे मूल रूप में उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु ऐसा अनुमान होता है, उन्होंने स्वामी जी से अनार्ष ग्रन्थ और मिथ्या मत-मतांतरों का बहिष्कार कर आर्ष ग्रंथ और वैदिक धर्म के पुनरुद्धार द्वारा देशोपकार करने की बात कही होगी।

स्वामी जी को विद्याध्ययन कराते समय ही दंडी जी को विश्वास हो गया था कि उनके उद्देश्य की पूर्ति उनके इस शिष्य द्वारा ही हो सकेगी। कहने की आवश्यकता नहीं है, स्वामी दयानन्द जी ने अपने गुरू के आदेश का भली भांति पालन करते हुये उनकी आशा से भी अधिक कार्य किया था।

१३. दण्डी जी के शिष्य और स्वामी जी के सहपाठी—

दंडी विरजानन्द जी के विद्यालय में पढ़े हुये अनेक विद्यार्थियों में से कई स्वामी दयानन्दजी के सहपाठी और मित्र थे। उनमें से अधिकांश मथुरा के चतुर्वेदी थे। बल्लभ सम्प्रदायी गोस्वामियों और चतुर्वेदी गुरु-घरानों के बालकों के शिक्षा-गुरु होने से दंडी जी का प्रभाव मथुरा के विद्वानों और धर्म-गुरुओं पर समान रूप से था। यही कारण था कि सिद्धान्तकौमुदी आदि प्रचलित व्याकरण ग्रंथों को हटाकर उनके स्थान पर अष्टाध्यायी चालू करने में दंडी जी को किसी विशेष विरोध का सामना नहीं करना पड़ा था। दण्डी जी के शिष्यों के कारण मथुरा में संस्कृत भाषा की शिक्षा को प्रोत्साहन मिला है। यहां पर उनके कुछ प्रमुख शिष्यों का परिचय दिया जाता है—

१. रंगदत्त जी—वे मथुरा के चतुर्वेदी और छत्ता बाजार की गली सेठ भीखचंद के निवासी थे। वे व्याकरण और तंत्र शास्त्र के विद्वान् थे। विनोदप्रिय और सूझ-बूझ के व्यक्ति होने के कारण उनका अच्छा मान था। वे अपने सहपाठी गंगादत्त के अभिन्न मित्र और उनके प्रत्येक कार्य में सहयोगी थे। उन्होंने प्राचीन ग्रंथों का अच्छा संग्रह किया था। उनके वंशजों में कोई उल्लेखनीय विद्वान् नहीं हुआ, इसीलिये उनके बाद उनका ग्रन्थ संग्रह अस्त-व्यस्त हो गया।

२. गंगादत्त जी—वे भी मथुरा के चतुर्वेदी और व्याकरण तथा तन्त्र विद्या के अच्छे ज्ञाता थे। वे छत्ता बाजार के ताजपुरा मुहल्ला में निवास करते थे। उनकी रंगदत्तजी से बड़ी मित्रता थी। वे दोनों मित्र प्रत्येक कार्य में सहयोगी रहते थे। उन दोनों ने दण्डी जी के आदेशानुसार उस विख्यात

शास्त्रार्थ में भाग लिया था, जिसने दण्डी जी के विद्यालय में युगांतर ही कर दिया था। वे स्वामी दयानन्द जी के मित्रों में से थे। सं० १९२७ में स्वामी जी ने उन्हें संस्कृत में एक लंबा पत्र लिख कर फर्रुखाबाद की पाठशाला में अध्यापन करने के लिये आग्रहपूर्वक बुलाया था। वहां जाने को तैयार भी हो गये, किन्तु उनके साथियों के यह कहने से कि दयानन्द मूर्ति-पूजा का खण्डन करते हैं, उनकी नौकरी करने से तुम्हारी निन्दा होगी, वे नहीं गये।

मथुरा के विख्यात ब्रजभाषा कवि श्री नवनीत चतुर्वेदी उनके शिष्य थे। नवनीत जी के पुत्र गोविन्द चतुर्वेदी के पास स्वामी जी का भेजा हुआ वह पत्र सुरक्षित है। गंगादत्त जी के वंशजों में विदुरदत्त तान्त्रिक उल्लेखनीय व्यक्ति थे। उनका देहावसान हुये थोड़ा ही समय हुआ है। वर्तमान वंशजों में मथुरेशदत्त साँस्कृतिक रुचि के होनहार युवक हैं।

३. गोपीनाथ जी—वे दाक्षिणात्य तैलंग भट्ट और गोलपाड़ा मुहल्ला के निवासी थे। वे व्याकरण और साहित्य के अच्छे विद्वान् थे। दण्डी जी ने उन्हें अपनी परिश्रमसाध्य रचनाओं को यमुना में डालने के लिये दिया था। ऐसा कहा जाता है, उन्होंने वे रचनायें यमुना में न डाल कर अपने पास रखली थीं। उनमें से एक उनके पास और दूसरी उनके सहपाठी पं० युगलकिशोर के पास बहुत दिनों तक रही थी; बाद में वे रचनायें कहाँ गईं, इसका पता नहीं चलता। वे बल्लभ-सम्प्रदायी गोस्वामियों के सम्बन्धी थे। इस कारण वे अधिकतर गोकुल में रहा करते थे। उनका देहावसान भी कदाचित् गोकुल में ही हुआ था।

४. चिरञ्जीलाल जी—वे मथुरा के चतुर्वेदी थे। पंजाब के पटियाला, नाभा और हिमाचल प्रदेश की मंडी आदि रियासतों में उनकी यजमानी-वृत्ति थी। उन्हीं के कारण मथुरा के विख्यात ग्वाल कवि को मन्डी रियासत में आदर और सम्मान प्राप्त हुआ था। उनकी ग्वाल कवि से घनिष्ठ मित्रता थी। उनके तीन पुत्र थे, किन्तु बाद में उनका वंश नहीं चला।

५. वासुदेव जी—वे माथुर चतुर्वेदियों के गुरु थे। उनका श्री जी का मन्दिर मथुरा के गत-श्रम टीला मुहल्ला में है। उनके पूर्वजों में श्री शीलचन्द्र जी बड़े सिद्ध पुरुष हुये हैं। वासुदेव जी ने विरजानन्द जी से थोड़े समय तक ही शिक्षा प्राप्त की थी। कहते हैं, उनके शब्दोच्चारण से असन्तुष्ट होकर दण्डी जी ने उन्हें अपने विद्यालय से विदा कर दिया था। वे मन्त्रशास्त्र के धुरन्धर विद्वान् थे। माथुर चतुर्वेदियों में उनकी बहुत बड़ी शिष्य-परम्परा है। उनके पुत्र केशवदेव जी भी मन्त्रशास्त्र के विद्वान् थे। इस समय उनके वंशजों में शिवप्रकाश जी और करुणाशंकर जी के नाम उल्लेखनीय हैं।

६. नन्दन जी—वे माथुर चतुर्वेदियों की दूसरी गुरु-गद्दी श्री गोपाल मन्दिर के अध्यक्ष थे। यह मन्दिर चौबच्चा मोहल्ला में है और वहां पर विष्णुस्वामी सम्प्रदायानुसार श्री गोपाल जी की सेवा-पूजा होती है। उन्होंने बहुत कम समय तक विरजानन्द जी के पास अध्ययन किया था। वे सौम्य स्वभाव और सात्विकी वृत्ति के निष्ठावान् पुरुष थे। उनके पुत्र रज्जु जी योग साधना में

पारङ्गत हुये हैं। रज्जु जी के बाद उनकी गद्दी के अधिकारी उनके शिष्य विष्णुदेव जी हुये और अब उनके पुत्र हैं।

७. गोपालब्रह्मचारी—वे मथुरा के चौबच्चा मोहल्ला स्थित श्री शत्रुघ्न जी के प्राचीन मन्दिर के महन्त थे। इस मन्दिर में श्री रामानुज सम्प्रदाय के अनुसार सेवा-पूजा होती है। उनके सांप्रदायिक गुरु का नाम रघुनाथदास था। गोपाल ब्रह्मचारी ने इस मन्दिर की सेवा-पूजा का भार अपने सहपाठी और मित्र श्री युगलकिशोर जी को सौंप दिया था। आजकल भी यह मन्दिर युगल-किशोर जी के उत्तराधिकारियों की सेवा में है।

८. युगलकिशोर जी—वे मथुरा के सनाढ्य ब्राह्मण थे। होली दरवाजा के निकट बाजार में उनका एक मन्दिर श्री देवकीनन्दन भगवान् का बना हुआ है। इसमें उनके वंशजों का निवास है। उनकी वृद्धा पुत्र-वधू अभी तक विद्यमान हैं, जो उनसे संबन्धित बातों की अच्छी जानकारी रखती हैं। युगलकिशोर जी विरजानन्द जी के सुयोग्य शिष्यों में से थे। उन पर गुरु जी की अत्यन्त कृपा थी। वे सदैव विरजानन्द जी के निकट रह कर उनकी सेवा करते थे। देहान्त के समय दण्डी जी अपनी पोथी-पत्रादि संपत्ति युगलकिशोर जी को ही दे गये थे। दण्डी जी के जीवन की जितनी बातें उन्हें मालूम थी, उतनी और किसी को नहीं थीं। उनकी दी हुई सूचनायें विरजानन्द चरित की रचना में बड़ी सहायक हुई हैं।

वे मथुरा के गवर्नमेंट हाईस्कूल में संस्कृत के अध्यापक थे। अपनी सफेद मिर्जई और सफेद पाग की पोशाक में वे बड़े भव्य लगते थे। वे विद्वान् होने के साथ ही साथ सम्पन्न भी थे। कथा-वार्ता और पंडिताई से उन्हें पर्याप्त आय हो जाती थी। उनके अधिकार में अपने निजी श्री देवकी-नन्दन जी के मन्दिर के अतिरिक्त गोपाल ब्रह्मचारी द्वारा प्रदत्त श्री शत्रुघ्न जी का मन्दिर भी था। उनके पास अनेक प्राचीन ग्रन्थ और दंडी जी के पोथी-पत्रादि थे। उनके देहावसान के पश्चात् वह बहुमूल्य ग्रन्थ-सामग्री अस्त-व्यस्त हो गई है।

९. उदयप्रकाश जी—वे मथुरा के मंडी रामदास मुहल्ला के निवासी गौड़ ब्राह्मण थे। विरजानन्द जी के शिष्यों में स्वामी दयानन्द के अतिरिक्त वे सबसे अधिक प्रतिभाशाली हुए हैं। उनके पुत्र मुकुन्ददेव शास्त्री संस्कृत के विख्यात विद्वान् और मंडी रामदास स्थित श्री राधागोपाल मन्दिर के अध्यक्ष थे। मुकुन्ददेव जी के पुत्र सुधाकरदेव जी भी अच्छे विद्वान् हैं।

उदयप्रकाश जी के शिष्य-प्रशिष्यों की परम्परा में मथुरा के अनेक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् और संस्कृत-अध्यापक हुए हैं। उन्होंने संस्कृत विद्या की अमर ज्योति को प्रज्जवलित रखने का महत्त्व-पूर्ण कार्य किया है। उदयप्रकाश जी के पुत्र मुकुन्ददेव जी संस्कृत के सुप्रसिद्ध अध्यापक थे। उनके शिष्यों में भी संस्कृत भाषा के अनेक विद्वान् और अध्यापक हुए हैं। मुकुन्ददेव जी स्वयं गवर्नमेंट हाई स्कूल में संस्कृत के प्रधान अध्यापक थे। उनके शिष्य पं० श्रीवर शास्त्री, श्री द्वारकेश संस्कृत पाठशाला के प्रधान अध्यापक थे। श्रीवर जी के पढ़ाये हुए सैकड़ों विद्यार्थी हैं, जिनमें से कई सर्वोच्च

शिक्षा प्राप्त हैं। मुकुन्ददेव जी के वर्तमान शिष्यों में चतुर्वेदी बिहारीलाल जी शास्त्री का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने वर्षों तक संस्कृत परीक्षाओं का संचालन कर उक्त भाषा के प्रचार का उपयोगी कार्य किया है।

१०. रमणलाल गोस्वामी—वे वल्लभ संप्रदायी गोस्वामी और मथुरा के सुप्रसिद्ध श्री छोटे मदनमोहन जी की गद्दी के अध्यक्ष थे। उन्होंने थोड़े समय तक ही विरजानन्द जी से शिक्षा प्राप्त की थी। दंडी जी के शिष्य होने के कारण वे स्वामी दयानन्द से हित मानते थे। जब स्वामी जी दूसरी बार मथुरा आए थे, तब उनके मूर्ति-पूजा विषयक विचारों के कारण मथुरा निवासी सभी सहपाठी गण उनके विरोधी हो गए थे। उस समय रमणलाल जी ने स्वामी जी को अपने बंगाली घाट स्थित बलदेव बाग में ठहरा कर उनका आतिथ्य सत्कार करने की उदारता दिखलाई थी। यह बाग भरतपुर नरेश बलदेवसिंह ने बनवाया था और अब 'बहूजी का बाग' कहलाता है।

११. दीनबन्धु जी—उन्होंने बहुत थोड़े समय तक विरजानन्द जी से शिक्षा प्राप्त की थी, अतः वे अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे। पढ़ना छोड़कर वे वल्लभ संप्रदाय के सुप्रसिद्ध श्री दाऊजी मदन-मोहन जी के मन्दिर में कार्यकर्ता हो गए थे। उन्होंने जीवन पर्यंत इस मन्दिर की बड़ी सेवा की थी। वे मन्दिर के अध्यक्ष गोस्वामी गोपाललाल जी के अंतरंग सेवकों में से थे।

१२. वनमाली जी—वे मथुरा के चतुर्वेदी और गतश्रम टीला मुहल्ला के निवासी थे। वे बहुश्रुत विद्वान् और सुप्रसिद्ध कथावाचक थे। मथुरा के विभिन्न स्थानों में वे नियमित रूप से महाभारत तथा भागवत की कथा कहा करते थे। उन्होंने कई पुस्तकों की भी रचना की है। उनका देहावसान हुए अधिक समय नहीं हुआ है। उनके वंशजों में श्री दीनानाथ 'सुमनेश' और अमरनाथ जी उत्तम कवि और कथावाचक हैं।

१४. स्वामी जी द्वारा दण्डी जी के आदेश का पालन—

मथुरा में अध्ययन समाप्त कर स्वामी जी ने दंडी जी के आदेशानुसार आर्ष ग्रन्थों के प्रचार और वैदिक धर्म के पुनरुद्धार का महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। उसमें उनके जीवन के महत्त्वपूर्ण अन्तिम २० वर्ष लग गए। उन्होंने आरम्भिक १० वर्षों में उस कार्य की तैयारी की और अन्तिम १० वर्षों में उसकी पूर्ति का प्रयास किया। इस प्रकार वे स्वयं तो गुरुऋण से मुक्त हो गए, किन्तु समस्त भारत को सदा के लिए अपना ऋणी बना गए।

आरम्भिक १० वर्षों में वे विभिन्न स्थानों में घूमते हुए अपने मत का प्रचार और विरोधियों के मत का खण्डन करते रहे थे। इसे तपस्या और तैयारी का काल कहना ही उचित है। इस काल के अन्त में उन्होंने एक बार फिर मथुरा को प्रस्थान किया। वे सं० १९३० के फाल्गुन मास में मथुरा गए थे। उस समय दंडी जी का देहावसान हो चुका था, किन्तु उनके अनेक शिष्य जिनमें से कई स्वामी जी के सहपाठी थे, मथुरा में विद्यमान थे। ऐसा ज्ञात होता है, उनके मूर्तिपूजा विरोधी विचारों के कारण इस बार मथुरा में उनका यथोचित स्वागत-सत्कार नहीं हो सका था। उनके सहपाठियों ने भी उनके प्रति विरक्ति और विरोध का ही भाव प्रकट किया था।

स्वामी जी मथुरा आते ही पहिले वृन्दावन गये। वहाँ पर वे श्री रंग मन्दिर के अध्यक्ष रंगाचारी जी से शास्त्रार्थ करना चाहते थे। जब कई दिन तक प्रतीक्षा करने पर भी रंगाचारी जी शास्त्रार्थ करने को तैयार नहीं हुये, तब वे मथुरा वापिस आ गये। श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने लिखा है, मथुरा में स्वामी जी गोस्वामी पुरुषोत्तमलाल के आतिथ्य में उनके बलदेव बाग में ठहरे थे[1]। गो० पुरुषोत्तमलाल जी स्वामी दयानन्द के सहपाठी गो० रमणलालजी के पिता थे। बलदेव बाग को अब 'बहूजी का बाग' कहते हैं, जो बगालीघाट पर रेलवे पुल के पास है। यह उल्लेखनीय बात है, जब स्वामी जी के चतुर्वेदी सहपाठी उनका विरोध कर रहे थे, तब बल्लभ संप्रदाय के एक आचार्य ने उन्हें आश्रय प्रदान कर अपनी उदारता का परिचय दिया था।

इस बार स्वामी जी केवल पांच दिन तक मथुरा में ठहरे थे, किन्तु इस अवधि में ही उन्होंने अपने आगामी कार्यक्रम की रूप-रेखा तैयार करली थी। पहिले वे संस्कृत में भाषण दिया करते थे, जिससे केवल पंडित और विद्वान् ही उनसे प्रभावित होते थे। इस के बाद वे हिन्दी भाषा में भाषण और ग्रन्थ-रचना करने लगे। इससे जन-साधारण में उनके मत का प्रचार हो गया। इस बार मथुरा से ज़ाने के १० वर्ष की अवधि में ही उन्होंने अपने समस्त ग्रंथों की रचना की, आर्यसमाज की स्थापना की और वैदिक धर्म के पुनरुद्धार का महान् कार्य किया।

मथुरा के लिये बड़े गौरव की बात है कि उसने युगप्रवर्तक स्वामी दयानन्द के निर्माण में और उनके द्वारा आर्य धर्म और आर्य संस्कृति का पुनरुत्थान कराने में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की है।

---

१ महर्षि दयानन्द का जीवन चरित, प्रथम भाग, पृष्ठ २६६.

ओ३म् तन्तुं तन्वन्रजसो भानुमन्विहि।

जीवन के कर्म रूपी तन्तु को तान कर अग्रसर होते हुए विश्व की परिक्रियाओं के प्रकाश करने वालों का अनुसरण करो।

अमेरिका में संस्कृत वाङ्मय का अनुशीलन

श्री शंकरदेव विद्यालंकार, एम० ए०
प्राध्यापक—महिला कॉलेज, पोरबन्दर

भारत में १८ वीं सदी के अन्त भाग में पुरावित् शिरोमणि सर विलियम जोन्स द्वारा 'एशियाटिक सोसायटी' की स्थापना (सन् १७८४) का सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि भारत के प्राचीन संस्कृत-साहित्य की चर्चा और अध्ययन का सुन्दर प्रयत्न यूरोप में बड़े उत्साह से होने लगा। यूरोप के अनेक अग्रणी मेधावी जन भारत की इस प्राचीन सांस्कृतिक-संपदा के गुण-गौरव से मुग्ध हो उठे। इतना ही नहीं, यूरोप में संस्कृत भाषा के अध्ययन ने ही तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की नींव डाली।

यूरोप के मनीषियों द्वारा किये गये कुछ उत्तम ग्रन्थों के भाषान्तरों को पढ़कर अमेरिका के कई विद्वानों का ध्यान भी भारत के प्राचीन संस्कृत वाङ्मय की ओर आकृष्ट हुआ।

सर 'चार्ल्स विल्किन्स' द्वारा किये गये गीता, मनुस्मृति तथा कुछ वैदिक मन्त्रों के प्राथमिक भाषान्तरों को पढ़कर सन् १७८५ में अमेरिका के प्रख्यात प्रकृति-प्रेमी चिन्तक 'थोरो' बहुत प्रभावित हुये। श्रीमद्भगवद्गीता का उनके मन पर कितना अधिक प्रभाव पड़ा, इसका वर्णन उन्होंने स्वयमेव अपनी लाक्षणिक शैली में इस प्रकार किया है।

"उन दिव्य बचनों का मुझ पर ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि गत रात मैं कुक्कुट की पुकार द्वारा जगाये जाने से पूर्व ही जाग गया।"

इसी प्रकार सुविदित अमेरिकन दार्शनिक 'एमर्सन' सन् १८४३ में भगवद्गीता के सम्पर्क में आये। गीता के दिव्य उपदेशों का उनपर ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि शीघ्र ही वे अपने मित्रों में उसकी चर्चा और प्रशंसा करने लगे।

भारत के प्राचीन संस्कृत वाङ्मय के अनुशीलन और अन्वेषण का कार्य अमेरिका में अपेक्षाकृत बहुत पीछे प्रारम्भ हुआ। दूसरे महायुद्ध के समय तक बहुत थोड़े अमेरिकन मनीषी संस्कृत साहित्य की खोज के लिये प्रवृत्त हुए।

प्रो० विलियम ह्विटनी

अमेरिका के प्रथम भारत विद्यान्वेषियों में प्राध्यापक 'विलिय मड्वाइट ह्विटनी' (१८२७-१८९४) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। जब कि भारत में भी वैज्ञानिक दृष्टि से संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ नहीं हुआ था नई दुनिया के इस मनीषी ने वैदिक तथा संस्कृत वाङ्मय का विशाल पैमाने पर अनुशीलन किया। उनका प्रयत्न आज भी हमारे लिए आश्चर्य का विषय है।

भाषा-विज्ञान, वैदिक साहित्य, व्याकरण शास्त्र और ज्योतिष पर आपने विशेष काम किया। श्री ह्विटनी ने सुविख्यात जर्मन-संस्कृतज्ञ 'वेबर' और 'रुडोल्फ रौथ' की शिष्यता में संस्कृत-भाषा और संस्कृत साहित्य का अध्ययन किया। सन् १८५० में ह्विटनी महाशय जर्मनी गए। वहां पर इन्होंने बर्लिन और टयूबिंगन विश्वविद्यालय में रह कर संस्कृत का अध्ययन किया। सन् १८५४ में आप अमेरिका के विख्यात विद्याकेन्द्र येल विश्वविद्यालय में संस्कृत-साहित्य के प्रोफेसर बनाये गये।

आपने यजुर्वेद के "तैत्तिरीय प्रातिशाख्य" का संपादन किया। यह पुस्तक अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी की पत्रिका में क्रमशः प्रकाशित होती रही। सन् १८५६ में आपने अपने गुरु रुडोल्फ रौथ के साथ मिलकर "अथर्ववेद संहिता" का संपादन किया। सन् १८६२ में आपने अथर्ववेद प्रातिशाख्य का अविकल अनुवाद विवेचन और विशद टिप्पणियों सहित प्रकाशित किया। आपने अथर्ववेद अनुक्रमणी भी तैयार की। अथर्ववेद के अंग्रेजी भाषान्तर (१९ कांड पर्यन्त) के कारण प्राच्य-विद्या पंडितों में आपकी बड़ी प्रतिष्ठा है। उसे आप अपने जीवन काल में प्रकाशित हुआ नहीं देख सके थे। उस अनुवाद को आगे जाकर सन् १९०५ में आपके सुशिष्य 'चार्ल्स रौकवेल लेनमान' ने सुसंपादित करके छपवाया। आपकी लिखी "संस्कृत ग्रामर" १०७९ में प्रकाशित हुई। यह आज तक अपनी विशेषताओं के कारण विद्वन्मान्य बनी हुई है। प्रसिद्ध ज्योतिष-ग्रन्थ "सूर्य सिद्धान्त" का भी आपने अंग्रेजी अनुवाद किया। आपकी छोटी-बड़ी सब कृतियों की संख्या ३०० से ऊपर है। आपके योग्य शिष्य श्री लेनमान ने स्वनिर्मित संस्कृत श्लोक द्वारा आपको सुन्दर श्रद्धापुष्पांजलि अर्पित की है—

श्री ह्विट्निना कर्मफलेष्वसंगिना गीतोपदेशाच्चरितं प्रसाधितम्।
लोकप्रशंसा किल तेन नादृता लोकोपकार्येक्षत सत्यमेव सः ॥

श्री ह्विटनी की परम्परा में अन्य कई अमेरिकन मनीषियों ने संस्कृत वाङ्मय के अध्ययन और अन्वेषण में अच्छा उद्योग किया है। जिनमें चार्ल्स रोकवेल लेनमान, मौरिस् ब्लूमफील्ड, वाशबर्न हौपकिन्स, हेनरी क्लार्क वारेन, फ्रैंकलिन इजरटन, नार्मन ब्राऊन और मरे एमेन्यू के नाम अग्रगण्य हैं।

प्रो० हौपकिंस (१८५७-१९३२)

प्रो० एडवर्ड वाशबर्न हौपकिन्स के पुरखे पादरी थे। पहले इन्होंने कोलम्बिया में शिक्षा पाई। उसके पश्चात् यूरोप जाकर संस्कृत, जेन्द अवेस्ता और तुलनात्मक भाषाविज्ञान का अध्ययन इन्होंने क्रमशः बर्लिन और लाइपजिग के विद्यापीठों में प्रो० अलबर्ट वेबर और प्रो० एरस्ट

विन्डिश के चरणों में किया। सन् १८८१ में लाइपजिग विश्वविद्यालय ने इनको डाक्टर की पदवी दी। आपकी डाक्टरेट-पदवी के निबंध का विषय था—"मनुस्मृति के अनुसार वर्णव्यवस्था।"

अमेरिका लौट कर आपने कोलम्बिया विद्यापीठ तथा अन्य स्थानों पर ग्रीक, लैटिन, संस्कृत, तुलनात्मक भाषा शास्त्र और जेन्द अवेस्ता के प्राध्यापक के रूप में कई वर्षों तक कार्य किया। सन् १८९५ में आप डा० ह्विटनी के उत्तराधिकारी के रूप में येल विश्व विद्यालय में संस्कृत और तुलनात्मक भाषाशास्त्र के प्राध्यापक नियुक्त किये गये। इस पद पर आपने सन् १९२६ तक बड़ी योग्यता से काम किया।

प्रो० हौपकिन्स अमेरिकन प्राच्य-विद्या-परिषद् के बड़े कर्मनिष्ठ और प्रभावशाली सदस्य थे। आप बारह वर्ष तक इस परिषद् के मंत्री और दस वर्ष तक परिषद् की पत्रिका के सम्पादक रहे। दो बार आपको परिषद् का सभापति बनाया गया था। आपकी मुख्य कृतियां इस प्रकार हैं—

१. मनु का धर्मशास्त्र।
२. भारत का महान् वीरकाव्य।
३. भारत के धर्म।
४. भारत—नया और पुराना।
५. पुराण ग्रन्थों की देवकथाएँ (माईथोलोजी)।
६. धर्मों का इतिहास।
७. भारतीय आचार-शास्त्र।
८. भारत की दन्त कथाएँ।

प्रो० लेनमान

श्री लेनमान ने भी जर्मनी जाकर ही संस्कृत वाङ्मय में खोज करने की दक्षता प्राप्त की थी। जर्मनी से लौटने पर सन् १८७६ में आपको जान हौपकिन्स विश्वविद्यालय में संस्कृत साहित्य का प्राध्यापक बनाया गया। वहाँ पर आपने चार वर्ष तक काम किया। फिर आपको अमेरिका के प्रख्यात विद्या केन्द्र हार्वर्ड विश्वविद्यालय (बोस्टन) में संस्कृत-साहित्य का प्राध्यापक बनाया गया। सन् १८८९ में आपने भारतवर्ष की ज्ञान-यात्रा की और अपने विश्वविद्यालय के लिए भारत से संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के अच्छे-अच्छे हस्तलिखित ग्रंथ एकत्र करके ले गये।

सन् १९०० में आपने कवि राजशेखर की 'कर्पूरमंजरी' नाटिका का अंग्रेजी भाषान्तर किया। संस्कृत सीखने वालों के लिए आपने एक बढ़िया संस्कृत रीडर भी बनाई। वर्षों तक आप अमेरिकन ओरियेन्टल सोसायटी की पत्रिका का सम्पादन करते रहे। अन्वेषण के क्षेत्र में आपने प्रशंसनीय कार्य किया है। हार्वर्ड ओरियन्टल ग्रंथमाला में आपने संस्कृत, पालि तथा प्राकृत भाषा के अनेक ग्रंथों के सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित किये हैं। लार्ड फ्रेडरिक गेल्डनर (१८५२-१९२९) कृत ऋग्वेद का अविकल भाषान्तर तीन खंडों में इसी ग्रंथमाला में छापा गया है। इसमें ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त पर विस्तृत टिप्पणियाँ दी गई हैं।

प्रो० ब्लूम फ़ील्ड

श्री मौरिस् ब्लूमफील्ड (१८५५-१९२८) का जन्म आस्ट्रिया में हुआ था। सन् १८६७ में आप अमेरिका चले आये और फिर सदा के लिए यहीं के नागरिक बन गये। आपने शिकागो और हौपकिन्स विश्वविद्यालयों में शिक्षण प्राप्त किया। जर्मनी जाकर आपने बर्लिन और लाइपजिग के विश्व विद्यालयों में भी अध्ययन किया।

सन् १८८१ में आपको हौपकिन्स विश्वविद्यालय में संस्कृत साहित्य और तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का प्राध्यापक बनाया गया। वैदिक-साहित्य का आपका अध्ययन अच्छा था। सन् १८९७ में आपने प्रो० मैक्समूलर-सम्पादित "पूर्व की पवित्र-ग्रंथमाला" के लिए अथर्ववेद के मन्त्रों का भाषान्तर किया। सन् १८९० में आपने "कौशिक सूत्र" का सम्पादन किया और ट्यूबिंगन विश्व विद्यालय (जर्मनी) के प्रो० 'रिचार्ड वान गार्बे' के साथ मिलकर उक्त समस्त पोथी की फोटो प्रति तैयार की। सन् १९०८ में आपकी सुविदित कृतियाँ "वैदिक कौनकोर्डेन्स" तथा "वेदों की धार्मिक शिक्षाएँ" प्रकट हुईं। सन् १९१६ में आपकी एक और महत्वपूर्ण रचना "ऋग्वेद की पुनरुक्तियां" प्रकाशित हुई। आपने जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ के जीवन चरित्र और उपदेशों पर भी एक पुस्तक लिखी है।

प्रो० इजरटन

अमेरिका के विद्वान् प्राच्य पुराविदों में प्रो० फ्रैंकलिन इजरटन सबसे अधिक प्रतिष्ठित हैं। आप सुविदित येल विश्व विद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष हैं। आपने पंचतंत्र के विषय में खोज करके एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति का उद्धार और सम्पादन किया है। अभी पिछले दिनों में ही आपने बौद्ध-साहित्य के संस्कृत-भाषा में लिखे गये ग्रंथों के आधार पर एक शब्द-कोष और व्याकरण निर्माण का भागीरथ कार्य समाप्त किया है। भांडारकर प्राच्य विद्या मन्दिर, पूना द्वारा आयोजित "महाभारत" के प्रामाणिक संस्करण के एक खंड का भी आपने सम्पादन किया है।

डा० मरे एमेन्यू

अमेरिका की नवीन पीढ़ी में संस्कृत-विद्याओं के अनुशीलन में अभिरुचि रखने वालों में 'डाक्टर एमेन्यू' तथा 'डा० होरेसू पालमेन' के नाम उल्लेखनीय हैं। डाक्टर एमेन्यू ने भारत में आकर संस्कृत भाषा और साहित्य का अध्ययन किया। अमेरिका लौटने पर आपको प्रो० आर्थर रायडर के स्थान पर केलिफोर्निया विश्वविद्यालय में संस्कृत साहित्य का अध्यापक बनाया गया। इस समय आप आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर टी० बरो के साथ मिलकर तुलनात्मक शब्द-विज्ञान के दृष्टिकोण से द्राविड भाषाओं का एक तुलनात्मक शब्द-संग्रह तैयार कर रहे हैं।

प्रो० नार्मन ब्राऊन

प्रो० नार्मन ब्राऊन संप्रति पेनसिलवेनिया विश्वविद्यालय (फिलेडेल्फिया) के संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष हैं। आपकी अध्यक्षता में इस विद्याकेन्द्र में भारतीय संस्कृति के प्रत्येक अंग के अध्ययन

का काम बड़े विशद पैमाने पर हो रहा है। इसमें भारतीय इतिहास, पुरातत्त्व, मानववंश विज्ञान, दर्शनशास्त्र, संस्कृत, पालि, प्राकृत, हिन्दी तथा भारत की प्रमुख प्रांतीय भाषाओं के अध्ययन का प्रबन्ध किया गया है। इसके अतिरिक्त दक्षिण-पूर्वी एशिया की संस्कृति और इतिहास के अध्ययन के लिए भी एक विशाल विभाग की स्थापना की गई है। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् अमेरिकन लोगों के मनों में दक्षिण-पूर्वी एशिया के सांस्कृतिक अध्ययन के लिए विशेष रुचि पैदा हुई।

प्रो० नार्मन ब्राऊन के शिष्य डाक्टर होरेस् पालमैन ने नारायण भट्ट लिखित "अन्त्येष्टि पद्धति" पर खोजपूर्ण निबन्ध लिखकर डाक्टरेट की उपाधि पाई है। डा० पालमैन ने समस्त अमेरिका और कनाडा के ग्रन्थालयों में विद्यमान हस्तलिखित ग्रंथों का एक सूचिपत्र तैयार किया है। डाँ० पालमेंन और उनकी पत्नी हिन्दू कर्मकांड के अध्ययन में विशेष रुचि रखते हैं।

आठ विद्याकेन्द्रों में संस्कृत विभाग हैं।

अमेरिका के निम्नलिखित आठ विश्वविद्यालयों में संस्कृत साहित्य के अध्ययन के लिये सुव्यवस्थित और साधन सम्पन्न विभाग हैं। यथा—हार्वर्ड, येल, पेनसिलवेनिया, शिकागो, प्रिन्स्टन, कोलम्बिया, केलिफोर्निया और जान हौपकिन्स।

हार्वर्ड विद्यापीठ में पिछले वर्षों प्रो० वाल्टर क्लार्क काम कर रहे थे; उनके अवसर प्राप्त कर लेने पर वहां प्रो० इंगल्स आये हैं। हार्वर्ड विद्यापीठ से ही प्राच्य ग्रंथमाला प्रकट हुआ करती है। प्रिन्स्टन विद्यापीठ में प्रो०. एटकिन्स ने वैदिक साहित्य के विषय में बड़ा काम किया है। शिकागो और कोलम्बिया विश्वविद्यालय में क्रमशः प्रो० जैकसन और प्रो० ग्रे संस्कृत अध्यापन का कार्य कर रहे थे। केलिफोर्निया विद्यापीठ के भूतपूर्व संस्कृत प्राध्यापक आर्थर रायडर द्वारा किए गए पंचतंत्र, मृच्छकटिक और कवि कालिदास की समस्त कृतियों के अंग्रेजी भाषान्तर और विवेचन विशेष प्रसिद्ध हुए हैं।

सन १८९३ में शिकागो की विश्वधर्म परिषद् के लिए स्वानी विवेकानन्द जी की अमेरिका यात्रा भारत संस्कृति की गौरव वृद्धि के लिए अतिशय उपयोगी सिद्ध हुई। स्वामी विवेकानन्द जी के प्रभावपूर्ण व्याख्यानों और उनकी अंग्रेजी रचनाओं से प्रेरणा पाकर अनेक अमेरिकन चिन्तक और सुलेखक भारतीय तत्त्वज्ञान, भारतीय संस्कृति और भारतीय इतिहास के अध्ययन के लिए प्रवृत्त हुए हैं। स्वामी जी महाराज के प्रभाव और प्रयत्न से संस्थापित अनेक आश्रम केन्द्रों द्वारा भारतीय वेदान्त और उपनिषदों के तत्वज्ञान की ओर अमेरिका के अनेक सुधीजनों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। श्री स्वामी रामतीर्थ जी के भाषणों से भी अमेरिका में भारतीय अध्यात्मविद्या का प्रसार हुआ था।

इसी प्रकार कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर और दार्शनिक-प्रवर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् की ज्ञानयात्राओं ने भी अमेरिका के विचारक-समुदाय को भारत के सांस्कृतिक वैभव की ओर विशेष रूप से आकृष्ट किया है। यहाँ पर हमें अमेरिका में भारतमाता के सरस्वती-दूत-रूप दिवंगत डाक्टर आनन्द कुमारस्वामी की अमूल्य सेवाओं को कृतज्ञता पूर्वक स्मरण करना चाहिए। श्री-

कुमारस्वामी नेबोस्टन के कला-संग्रहालय में तीस वर्ष से अधिक समय तक, वहाँ के भारतीय कला-विभाग के अध्यक्ष के रूप में रहे। भारतीय कला-लक्ष्मी और भारतीय संस्कृति के समर्थ व्याख्याकार के रूप में उन्होंने दर्जनों पुस्तकें लिखकर और व्याख्यान देकर नई दुनियां में भारतीय-संस्कृति की विजय-वैजयन्ती फहराई है।

सन् १९३८ में भारतीय तथा पूर्वीय देशों की संस्कृति और इतिहास के अध्ययन के लिए अमेरिका के कांग्रेस पुस्तकालय द्वारा एक विशाल योजना बनाई गई थी। यह योजना अब दक्षिण पूर्वी-एशिया अध्ययन योजना के नाम से प्रसिद्ध हुई है। इस विभाग में भारत, पाकिस्तान, लंका, नेपाल, तिब्बत, ब्रह्मदेश, मलय प्रायः तथा इन्डोनेशिया आदि की संस्कृति के विषय में चार लाख पुस्तकें विद्यमान हैं। इनमें से अधिकतर पुस्तकें अंग्रेजी में तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं में हैं। भारत तथा उसके पड़ौसी देशों के विषय में दस हजार ग्रन्थ हैं। यह विभाग दिन-प्रतिदिन समृद्ध होता जा रहा है। भारत के बाहर विद्यमान भारतीय विषयों का यह एक अन्यतम ग्रंथ-संग्रह है। इस प्रकार भारतीय इतिहास और भारतीय संस्कृति के विषय में अमेरिकन प्रजा की अभिरुचि बढ़ती जा रही है। भारत और अमेरिका का यह सांस्कृतिक संबन्ध अभिनन्दनीय है।

पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।

ईश्वर के काव्य (वेद) को देख (पढ़), वह न तो कभी नष्ट होता है और न पुराना पड़ता है।

महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज

डा० सूर्यकान्त, डी० लिट्०,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

महर्षि दयानन्द ने जब अपना प्रचार कार्य प्रारम्भ किया तब भारतभूमि नाना प्रकार के मत-मतान्तरों से विप्लवित हुई अपने प्राचीन आर्यत्व को भूल चुकी थी। वर्णव्यवस्था जन्म से मानी जाने के कारण, सभी वर्ण अपने कर्मों की उपेक्षा कर रहे थे। बालविवाह, छूत-छात, सतीप्रथा, स्त्रीशिक्षा-विरोध आदि अनेकों कुरीतियां धर्म का चोला पहन कर पनप रही थीं। सप्त समुद्रों की यात्रा करने वाले भारतीय सार्थवाहों की सन्तान समुद्र यात्रा में धर्म के भ्रष्ट होने की कल्पना किए बैठी थी। संकीर्णता जनता के हृदयों पर अधिकार जमाए थी। वेद तो केवल पूजा की वस्तु रह गये थे, जिन्हें पढ़ना मनुष्य की शक्ति के बाहर की वस्तु समझा जाने लगा था। कुछ एक सुधारक प्रवृत्ति क लोगों ने देश की इस शोचनीय अवस्था को देख कर सुधार करने का प्रयत्न किया था, पर गहरी निद्रा में पड़े इस देश को तो कड़ी चोट की आवश्यकता थी, जो दयानन्द जैसा साहसी पुरुष ही दे सकता था।

वेद को आधारशिला बना कर इस उत्साही ऋषि ने जो क्रान्ति का गान भारत की जनता को सुनाया उसे सुन सभी विस्मयान्वित हो उठे, क्योंकि अंग्रेजी भाषा तथा योरुपीय शिक्षा से नितान्त अनभिज्ञ हिन्दू संन्यासी समाजसुधार विषयक इतने क्रान्तिकारी विचार रख सकता है, इस की कल्पना भी किसी ने नहीं की थी।

ऋषि दयानन्द में दृढनिश्चयात्मक बुद्धि थी। उन्हें वेदाध्ययन के क्षेत्र में तथा समाजसुधार के क्षेत्र में अनेक विरोधी शक्तियों का सामना करना पड़ा पर वह तनिक भी नहीं घबराए। वस्तुतः वह उन साधारण अवसरवादी मनुष्यों में से नहीं थे जो बहते पानी के साथ बह जाते हैं और जैसे कैसे, परिस्थितियों के समक्ष घुटने टेक देते हैं। उन्होंने तो परिस्थितियों को बदलना सीखा था, बहते पानी की धारा को मोड़कर उस से सूखती धरती को अभिषिंचित करने की ठानी थी। हिमालय की हिमाच्छादित घाटियों के कष्ट उन्हें अपने मार्ग से हटा न सके, ओखीमठ की महन्त पदवी का

प्रलोभन उन्हें अपने ध्येय से विरत न कर सका। जो ठाना था उसे कार्य रूप में परिणत करके ही उन्होंने चैन लिया। वैदिक मत के प्रचार तथा अवैदिक मतों के खण्डन की भावना जो प्रज्ञाचक्षु विरजानन्द ने उन्हें चिनगारी के रूप में दी थी वह प्रज्वलित अग्नि का रूप धारण करके न केवल भ्रान्त विचारधाराओं के विनाश में ही तत्पर हुई प्रत्युत सदियों से विलुप्तप्राय वैदिक दीप-शिखा को भी उस ने पुनः प्रदीप्त कर दिया। आर्यसमाज की स्थापना द्वारा उन्होंने अपने कार्य को स्थायी रूप दिया ताकि उनका प्रारम्भ किया कार्य निरन्तर बढ़ता रहे।

इस में सन्देह नहीं कि ऋषि संचालित आर्यसमाज ने ऋषि के संकल्प को पूर्ण करने में पर्याप्त प्रयत्न किया तथा सफलता भी प्राप्त की। आर्यसमाज के प्रचार द्वारा स्त्रीशिक्षा, विधवा-विवाह, अछूतोद्धार इत्यादि कार्य इतने लोकप्रिय हो गये कि आज भारत की प्रत्येक विचारशील संस्था ने इन्हें अपना लिया है। सनातन धर्मी भाई जो स्त्रियों को शिक्षा देना पाप समझते थे, आज कन्यापाठशालाओं तथा महिला कालिजों की स्थापना गर्व से करते हैं। छूत-छात अब समाप्तप्राय है तथा बालविवाह अन्तिम सांस ले रहा है।

इससे क्या समझा जाए कि आर्यसमाज अपना कार्य पूरा कर चुका है? नहीं। समाज-सुधार के साथ-साथ आर्यसमाज की स्थापना का अन्य मुख्य उद्देश्य देश में फैली वेदविषयक भ्रान्तियों को दूर करना था और इस क्षेत्र में अभी पर्याप्त कार्य करना शेष है। ऋषि दयानन्द का ऋग्वेदभाष्य इसी दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास था। उनकी इच्छा ऐसे वैदिक विद्यालयों की स्थापना करने की भी थी जिन के माध्यम से वैदिक ग्रन्थों का उच्च कोटि का अनुसन्धानात्मक अध्ययन सम्भव हो। काशी में ऐसे विद्यालय को स्थापित करने की चेष्टा की गई, पर कारणवश सफल न हो पायी।

आज आर्यसमाज का यह कर्तव्य हो जाता है कि इस क्षेत्र में ऋषि के संकल्पों को पूरा करे। दयानन्दकृत ऋग्वेदभाष्य की महत्ता में सन्देह नहीं किया जा सकता, पर यह कथन भी अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि आधुनिक वेदार्थ पद्धतियों में इसे यथोचित सम्मान नहीं मिल पाया। माधव, सायण आदि के भाष्य विश्वविद्यालयों में अधिक प्रचलित हैं तथा पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रसारित शैलियां ही अधिक वैज्ञानिक मानी जा रही हैं। आवश्यकता इस बात की है कि आर्यसमाज के धुरन्धर विद्वान् वेद के कार्य में जुट कर दयानन्दशैली की वैज्ञानिकता को सिद्ध करें। कहा जाता है कि ऋग्वेदभाष्य में दयानन्द की निजी कल्पना तथा चातुर्य का मनमाना प्रदर्शन है। उन की शैली नियमबद्ध न हो कर स्वच्छन्द है, अतः समालोचनात्मक दृष्टि से ग्राह्य नहीं। वस्तुतः ऐसा ही आरोप सायण आदि के भाष्यों पर भी तथा आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों के भाष्यों पर भी लगाया जा सकता है, जो प्राक् कल्पित पक्षपातों को ले कर ही वेदार्थ बतलाते हैं। आर्यसमाज के विद्वानों का कर्तव्य है कि वह समय की चेतावनी को समझ कर इस कार्य को हाथ में लें, अन्यथा उन्हें कुसन्तान बनने का कलंक सहना होगा।

यज्ञोपवीत का वैदिक समाज-शास्त्र

श्री धीरेन्द्र शास्त्री 'शील' काव्यतीर्थ, लंडन

यज्ञोपवीत हमारे वैदिक धर्म का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पुण्य प्रतीक है। हम वस्तुतः संस्कार-जन्य भावुकता के कारण ही इसके इतने दृढ़ समर्थक नहीं हैं, अपितु इन सूत्रों के प्रतीक में हमें धर्म, दर्शन तथा समाज-शास्त्र का पूर्ण व्याख्यान मिलता है। इसी कारण हम इसे अपनी धारणाओं का प्रतीक मानते और सदैव धारण करते हैं। सदैव धारण करने का भाव ही यही है कि हम अपनी धारणाओं के प्रति सजग और सचेष्ट रहें, हमारी साधना शिथिल न होने लग जाये।

यज्ञपवीत के धर्म और दर्शन की व्यापकता को शब्दों में "वैदिकधर्म का त्रैतवाद" कह सकते हैं। वेदमयी ज्ञान, कर्म व उपासना के अनुयायी हम वैदिकधर्मी, सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय कारणभूत शक्तियों की तीन सत्ताओं [१] ईश्वर [२] जीव [३] प्रकृति को अनादि और अनन्त मानते हैं। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का और ईशोपनिषद् का पहला मन्त्र—

"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचित्"

आदि त्रैतवाद के स्पष्ट वैदिक प्रमाण हैं, जिनमें व्याप्य परमेश्वर व्याप्त जगत् का त्याग-पूर्वक भोक्ता जीवात्मा बिना किसी माया वा भ्रान्ति के स्वीकार किया गया है। इस प्रकार यज्ञो-पवीत के धार्मिक एवं दार्शनिक पक्ष की त्रैतवादी व्यवस्था पर वहुत अधिक लिखा जा सकता है। किन्तु यहां हम उसके सामाजिक पक्ष पर ही विचार करेंगे।

जीव सृष्टि में सर्वाधिक विकसित एवं पूर्ण रचना मानव योनि है, और यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। मनुष्य मस्तिष्क, विचार-चिन्तन की शक्ति रखता है, जिससे अन्य योनियाँ वंचित हैं और इसलिये मनुष्य 'उभययोनि' (कर्म व भोग) है, जब अन्य योनियाँ मात्र भोगयोनि हैं। इसी से कहा है—

"आहारनिद्राभयमैथुनं च, सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषः, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥"

अर्थात् आहार निन्द्रा, मैथुनादि में सब समान हैं, किन्तु धर्म-कर्तव्य की प्रतिष्ठा ही मनुष्य की मनुष्यता का विशेषण है।

पशु-पक्षी आदि केवल भोग भोगते हैं, किन्तु मनुष्य प्रकृति से बँधे रहकर मस्तिष्क से विचार कर प्रकृति के बन्धनों से मुक्ति का यत्न करता है। उसे नये कर्म करने का अधिकार प्राप्त है, जब कि अन्य योनियाँ नये कर्म करने के मस्तिष्क अनुभव ज्ञान के साधन से वंचित हैं। अतः मनुष्य जन्मतः कुछ कर्म-कर्त्तव्य वा धर्म लेकर आता हैं, जो उसे अपने जीवन में पूर्ण करने होते हैं। दूसरे शब्दों में मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज के बिना उसका जीवन चलना नितान्त असम्भव है। अपने जीवन-अस्तित्व के लिए उसे जो-जो कर्म करने होते हैं उन्हें हम समाज का आदान-प्रदान कह सकते हैं। समाज पारस्परिक सहयोग के आदान-प्रदान पर अवस्थित है। अतः हमें अपने प्रत्येक स्वार्थ के लिए दूसरों को कुछ चुकाना पड़ता है। कुछ पाने के लिए देना होता है। सीधे शब्दों में इसी पारस्परिक आदान-प्रदान की व्यवस्था व नियम आदि के सिद्धान्तों की रचना समाज-शास्त्र कहलाती है। हमें दूसरों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये ? समाज की रचना में किस का क्या अधिकार तथा कर्त्तव्य होना चाहिये ? आदि ही समाज-शास्त्र के मुख्य विषय हैं।

हमारा विश्वास है वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं। अतः उससे मानव को उसके कर्त्तव्य का निर्देश कराने वाले समाज-शास्त्र का व्याख्यान प्राप्त होना ही चाहिये। यज्ञोपवीत के तीन सूत्र वेद के सामाजिक शास्त्र के मूल सिद्धान्तों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। वैदिक सिद्धान्तों के आधार पर मनुष्य के जीवन की सफलता उसके तीन ऋणों से मुक्त होने में निहित है और वे तीन ऋण हैं—(१) देव ऋण (२) ऋषि ऋण (३) पितृ ऋण।

ये तीन ऋण ही हमारी शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक उन्नति के आधार हैं। जो मानव समाज जितना ही अधिक इन ऋणों से मुक्त है, अथवा ऋण-मुक्ति के लिए कर्मशील है, निस्सन्देह वह उतना ही अधिक सौख्य तथा वास्तविक शान्ति के समीप है।

देव ऋण—देवताओं का हम पर ऋण है। देवता की व्युत्पत्ति करते हुये निरुक्त ने लिखा है—'देवो दानाद्वा' जो 'दान' देता है, बिना किसी फलाकांक्षा के, वह देवता कहलाता है। पृथ्वी, जल, वायु, तेज आदि ऐसे जड़ देवता हैं जिनसे हमारी उत्पत्ति व पालन होता है और जिनके अभाव में मृत्यु होती है। निस्सन्देह इन तत्त्वों के बिना हमारा जीवन अस्तित्व-शून्य है। पृथ्वी से पृथुता, जल से जीवन, वायु से प्राण, सूर्य से शक्ति आदि प्राप्त होते हैं। अतएव कृतज्ञता के लिए उनकी पूजा तथा ऋण मुक्ति के लिए उनसे प्राप्त दान का पुनः दान करना वैदिक धर्मी का प्रथम कर्तव्य है।

धर्म का अर्थ है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

"जिससे सांसारिक अभ्युदय होकर मोक्ष की प्राप्ति हो।" अतः धर्म के आधार पर सांसारिक उन्नति के लिए मनुष्य को इन देवताओं से प्राप्त दान का समुचित अधिकाधिक उपयोग करना चाहिये।

पृथ्वी से अधिकाधिक श्रेष्ठ खाद्य पदार्थ, फल फूल, अन्न, दुग्धादि उत्पन्न करना; जल से सिंचाई आदि की व्यवस्था करना। इसी प्रकार अन्य भी। इन देवों की सच्ची पूजा प्राप्त दान का समुचित उपयोग है। अब प्रश्न है ऋण का, मानव समाज की सामूहिक शक्ति ही मिलकर इस दैविक ऋण का अधिकाधिक प्रयोग कर सकती है। मिलकर खेती करना, सिंचाई करना, बाग, भवन, नगर, ग्राम आदि का निर्माण करना। क्योंकि हम व्यक्ति की सत्ता में इनका अधिक उपयोग नहीं कर सकते और इन देवों के ऋण का प्रतिफल चुका नहीं सकते, अतः समाज में नियमबद्ध होकर इन-इन भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति के बदले शरीर से श्रमदान करना ही देव-ऋण से मुक्ति का साधन है।

मनुष्य समाज के वैदिक समाज-शास्त्र में किसी पूँजीपति, शासक अथवा शोषक को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने हाथ-पैर बिना चलाये, बिना एक बूँद पसीना बहाये, सामाजिक श्रमदान दिये बिना इन भौतिक सुखों का उपभोग कर सके। जो ऐसा करता है वह समाज के माध्यम से देवों के प्रति अपने ऋण की मुक्ति के कर्तव्य से च्युत होता है। वह अपराधी है और इसीलिये सामाजिक दण्ड का भागी भी। इस प्रकार देवऋण को चुकाने का प्रथम प्रकार है, प्रत्येक व्यक्ति का समाज के उचित नियमों में आबद्ध होकर पूर्ण श्रमदान करना।

दूसरा प्रकार है—देवों से प्राप्त दान का मानव समाज में उचित पक्षपात रहित वितरण करना। यहाँ हम एक व्यापक विस्तृत रूप रखना चाहेंगे, जिस में सम्पूर्ण मानवता को एकत्व-बन्धुत्व के बन्धन में आबद्ध होना होगा।

जब पृथ्वी, जल, वायु आदि दैवी शक्तियों से प्राप्त वैभव पक्षपातरहित सम्पूर्ण प्राणी मात्र के लिये है और उसके उपयोग में छोटे-बड़े, ऊंच-नीच अथवा गोरे-काले का कोई भेद नहीं रहता, तब किसी शोषक शक्ति को कोई अधिकार नहीं कि वह इस दैविक सुख-सुविधाओं की प्राप्ति में सामाजिक विभेद उत्पन्न कर सक।

प्रत्येक व्यक्ति को जीने का स्वतन्त्र अधिकार प्रकृति से प्राप्त है। अतः 'जिओ और जीने दो' के सिद्धान्त पर, पारस्परिक सद्भावना पूर्ण सहयोग से राष्ट्र, जाति, रंग अथवा वंश के भेद-भाव से रहित, एक विश्वबन्धुत्व की स्थापना करना हमारा प्रथम कर्तव्य है। क्योंकि देवों का दान व्यापक एवं भेदभाव शून्य है, अतः किसी शक्ति को शोषण व अन्याय करने के लिये दैविक सम्पत्ति का विभाजन नहीं करने दिया जा सकता।

देव-ऋण की पुनीत वैदिक कामना के अभाव में ही मानवसमाज ने भेदों व उपभेदों की असंख्य सीमायें अपने चारों ओर बना डाली हैं और आज वह उन्हीं पोषक सीमाओं और अधिकारों की रक्षा के लिये विध्वंसक शस्त्रास्त्रों का निर्माण कर, दैविक शक्तियों के अनुचित प्रयोग से विश्व की मानवता का विध्वंस कर रहा है। अन्यथा प्रकृति ने उसे अनन्त सुख के साधन दिये हैं। और उसे आवश्यकता है मुट्ठी भर अन्न, गज भर वस्त्र, थोड़े से जलवायु और तेज की। मृत्यु के बाद उसे केवल दो गज कफन अथवा दो गज भूमि का टुकड़ा ही चाहिये। किन्तु आज शोषण व अन्याय से

लाखों भूखे दम तोड़ देते हैं, जब कि अमेरिका के समुद्र में लाखों मन अन्न डुबोया जाता है. और अरबों के शक्तिविनाशक व्यर्थ प्रयोग व विस्फोट होते हैं।

यदि प्रत्येक व्यक्ति स्वश्रम से अपने लिये अन्न-वस्त्र प्राप्त करते हुए समाज की उन्नति में निश्छल योग देने लगे, तो आज विश्व की आर्त मानवता शान्ति के जीवन को पुनः प्राप्त कर सकती है और अभाव व शोषण समाप्त हो सकते हैं।

अतः यज्ञोपवीत को उपनयन संस्कार के बाद धारण करते हुए बालक पहली वैदिक प्रतिज्ञा करता है कि वह यावज्जीवन स्वश्रम से अपना कल्याण करते हुए देवदान के समुचित वितरण के लिये विश्व से शोषण व अन्याय का मूलोच्छेद करके जगती के प्राणिमात्र की हितकामना में यज्ञ क्रियात्मक जीवनमय जीवन बनाकर देव-ऋण से मुक्ति का प्रयत्न करता रहेगा।

ऋषि-ऋण—दूसरी प्रतिज्ञा है ऋषि-ऋण से मुक्त होने की। "ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः" मन्त्र ज्ञान के द्रष्टा ऋषि होते हैं। मानव जीवन की सब से प्रमुख आवश्यकता है ज्ञान। जिन ऋषियों, मुनियों की तपश्चर्या से हमें ईश्वरीय वैदिक ज्ञान की प्राप्ति हुई, उनके प्रति भी हमारे अपने कर्तव्य हैं। तृष्णा से मुक्ति का साधन है, अधिकाधिक विद्याध्ययन तथा ज्ञान-विज्ञान का व्यापक प्रसार कर मानव समाज से अज्ञान-मूर्खता का उन्मूलन करना।

इस वैदिक सिद्धान्त पर समाज का आधार ज्ञान होगा; धन अथवा राज्य शक्ति नहीं। ऋषि दयानन्द ने लिखा है कि राज्य का संचालन विद्वानों के हाथों में होना चाहिये। प्राचीन परम्परा में विद्वान् का सम्मान राजा से भी अधिक था। विद्या विक्रय न होकर वह गुरुकुलों में गुरु की सेवा से प्राप्त होती थी। 'अन्तेवासी बनकर' कुल में रहने वाले बालक के गुण-कर्म-स्वभावानुसार ही गुरु विद्या दान करते थे।

किन्तु वर्तमान काल में विद्या भी धन के द्वारा क्रय की जाने लगी है। आज विद्वान् वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञों और पूंजीपति शोषकों के अधीन है। यदि वैज्ञानिक 'रोजनवर्ग" अमेरिकी राजनीतिज्ञ पूंजीपतियों की अवहेलना करता है, तो उसे सपत्नीक प्राणदण्ड मिलता है, और इसी अपराध पर बूढ़े वैज्ञानिक "ओपन हार्यमर" को अदालत के कटघरे में खड़ा कर अपमानित किया जाता है। पैसे वालों के बच्चे, धनबल पर उच्च शिक्षा प्राप्त करके अन्याय व शोषण की खुली छूट प्राप्त कर लेते हैं। तपश्चर्या से प्राप्त विद्या की "पात्रता" उत्पन्न कर कल्याणकारी प्रयोग की भावना वा व्यवस्था आज समाज में नहीं है।

वैदिक समाज व्यवस्था में विद्वान् स्वतन्त्र तथा सम्पूर्ण सुविधाओं का महान् मान्य अधिकारी होता है। वह श्रेष्ठ शासक है मूर्खों से शासित नहीं। ज्ञान प्राप्ति के द्वार प्रत्येक पात्र व्यक्ति के लिये समानरूपेण खुले होने चाहियें। धन, जाति, राष्ट्र आदि का भेद वहाँ नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार शोषण-अन्याय के उच्छेदन के लिये ज्ञान का प्रसार करना, ऋषियों से प्राप्त विद्या का प्रचार करना प्रत्येक उपवीतधारी 'आर्य' का प्रमुख कर्तव्य है। "अज्ञान" का मूलोच्छेद हो, यज्ञोपवीत की दूसरी प्रतिज्ञा "ऋषिऋण" से मुक्ति की साधना है।

पितृ-ऋण—हमारी तृतीय धारणा है। अन्य योनियों से मनुष्य में यह भी श्रेष्ठता है कि वह जन्म के बाद भी स्मृति के बल पर अपने सम्बन्ध स्थिर रखता है। इसीलिये मानव समाज का विकास स्त्री-पुरुषों के उचित यौन सम्बन्धों पर अत्यधिक अवलम्बित है। जिस वर्ग व समाज में यौन सम्बन्ध जितने ही अधिक स्वस्थ होंगे, मनोवैज्ञानिक भित्ति पर वह समाज उतना ही अधिक श्रेष्ठ व स्वस्थ होगा। अतएव वैदिक व्यवस्था में स्त्री-पुरुषों के यौन सम्बन्धों को भी अत्युच्चादर्श साधना का अंग माना गया है। हमारे यहाँ विवाह वासना की अशान्ति का बन्धन न होकर 'पितृऋण' से मुक्ति अर्थात् संसार चक्र की नियमित गति-प्रतिष्ठा के लिये सन्तानोत्पत्ति का माध्यम स्वीकार किया गया है।

वैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य के उचित पालन-पोषण में माता-पिता का पूर्ण भावनात्मक योग होना चाहिये। वर्तमान विश्व की सामाजिक अशान्ति का मनोवैज्ञानिक कारण पर्याप्त अंशों में पारिवारिक स्नेह-सम्बन्धों का अभाव भी कहा जा सकता है। पारिवारिक प्रेम के अभाव में मनुष्य का स्वभाव, स्वार्थी, क्रूर, कुटिल और हिंस्र बन जाता है। वह पशुत्व की स्वच्छन्द सम्बन्ध रहित भावनाओं को प्राप्त होता है। कहना न होगा—एशिया की अपेक्षा यूरोप के समाज में अपराधों की अधिकता और भयंकरता का यह भी एक मुख्य कारण है कि यूरोपीय व्यवस्था में अनिच्छित बच्चों की प्राप्ति तथा पारिवारिक स्नेह-सम्बन्धों की मात्रा का अभाव होने से मानवोचित कोमलता, सहिष्णुता आदि गुणों का अभाव हो जाता है।

अतः वैदिकादर्श समाज व्यवस्था के आधार पर यज्ञोपवीत को धारण करने वाले "आर्य" की तृतीय साधना होनी चाहिये—संयमशील जीवन बिताते हुए निस्वार्थ, परोपकारी बन, स्व-मानव परिवार की हित साधना अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास चारों आश्रमों का पूर्ण पालन करना। वेद की कामना है—

> अनुव्रतः पितुः पुत्रो, मात्रा भवतु संमनाः।
> जाया पत्ये मधुमतीं, वाचं वदतु शान्तिवाम्॥
> मा भ्राता भ्रातरं, द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
> सम्यंचः सव्रता भूत्वा, वाचं वदत भद्रया॥ (अथर्ववेद)

भावार्थ—सन्तान मातापिता के अनुकूल आचरण युक्त हो। पति पत्नी परस्पर प्रेम व शान्तियुक्त रहें। भाई-बहनों में द्वेष न हो। श्रेष्ठ स्वभाव गुणादि से युक्त हो, परस्पर मंगल कामना करें।

ऐसे श्रेष्ठ परिवार एवं शान्तिपूर्ण समाज की स्थापना करना हमारी तृतीय प्रतिज्ञा है।

वैदिक संस्कृति के मूलतत्त्व

प्रो० सुरेशचन्द्र वेदालंकार, एम० ए०, गोरखपुर

वैदिक संस्कृति का क्या अर्थ है ? वैदिक संस्कृति का क्या दृष्टिकोण है ? वैदिक संस्कृति किस उद्देश्य तक मानव को पहुंचाना चाहती है और उसके आधार भूत तत्त्व कौन से हैं ? वैदिक संस्कृति का नाम लेने वाले भी कभी-कभी इन वस्तुओं को दूसरे रूप में समझ जाते हैं। वास्तव में संस्कृति शब्द एव विशेष दिशा का बोधक है। यह एक विशेष दृष्टि है। वैदिक युग में या वेदों में मानव जीवन का क्या उद्देश्य है ? विश्वशांति कैसे हो सकती है ? इस विषय में वैदिक विचारधारा ही वैदिक संस्कृति है।

वैदिक संस्कृति क्या है ? यह हृदय और बुद्धि की पूजा करने वाली उदार भावना और निर्मल ज्ञानके योग से जीवन में सुन्दरता लाने वाली है। यह संस्कृति ज्ञान-विज्ञान के साथ हृदय का मेल बैठाकर संसार में मधुरता का प्रचार करने वाली है। भारतीय संस्कृति या वैदिक संस्कृति का अर्थ है कर्म, ज्ञान, भक्ति की जीती-जागती महिमा—शरीर, बुद्धि और हृदय को सेवा में सतत लीन करने की महिमा। वैदिक संस्कृति का अर्थ है सहानुभूति, विशालता और सेवा। वैदिक संस्कृति का अर्थ है बिना स्थिर रहे ज्ञान का मार्ग ढूंढते-ढूंढते आगे बढ़ना। संसार में जो कुछ सुन्दर व सत्य दिखाई दे, उसे प्राप्त करने की चेष्टा करना। यह संस्कृति ज्ञान, शक्ति और प्रतिभा का संग्रह करती है यह सब को निकट लाने वाली है। 'सर्वेषामविरोधेन ब्रह्मचर्यं समारभे" यही उसका उद्देश्य है। इस संस्कृति को संकीर्णता पसंद नहीं। वैदिक संस्कृति का उद्देश्य मृत्यु से अमरता की ओर जाना, अन्धकार से प्रकाश की ओर जाना, भेद से अभेद की ओर जाना, कीचड़ से कमल की ओर जाना, विरोध से विवेक की ओर बढ़ना, अव्यवस्था से व्यवस्था की ओर जाना। सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् ही वैदिक संस्कृति का उद्देश्य है।

अब प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि इस संस्कृति के मूल तत्त्व कौन से हैं ? वह कौन सी भित्ति है या वे कौन से साधन हैं जिनसे हम इस संस्कृति के उद्देश्य तक पहुँच सकते हैं ? वे तत्त्व हैं:—

१. तपस्या २. सत्यनिष्ठा ३. त्यागभाव ४. आध्यात्मिकता ५. शान्ति की भावना।

वैदिक संस्कृति का प्रथम तत्त्व है तपस्या। तपस्या का तात्पर्य है सब प्रकार के कष्टों को सहते हुए भी निरन्तर सत्य की ओर बढ़ते जाना। जब तक मनुष्य में तपस्या नहीं आयेगी वह सुन्दरता की ओर बढ़ ही न सकेगा। वैदिक संस्कृति साधना सिखलाती है। अधीर मत बनो, फल के लिए लालायित मत रहो, विह्वल मत बनो। महान् उद्देश्य चुटकी मारते नहीं मिल जाते, उनके लिये अनन्त साधना और निरन्तर तप की आवश्यकता है। स्वामी रामकृष्ण परमहंस कहा करते थे—कमल विकास चाहता है। रात-दिन कीचड़ में पैर गड़ाकर वह इसके लिए प्रयत्न करता है। सूर्य की ओर मुँह करके खिलने का प्रयत्न करता है। वह ठण्ड, धूप, हवा, वर्षा, कीचड़ आदि में रहकर ही प्रयत्न करता रहता है, यही उसकी तपस्या है। सब प्रकार के द्वन्द्वों को सहकर ही उद्देश्य तक पहुँचा जा सकता है और एक दिन आता है जब भ्रमर उसकी प्रदक्षिणा करते हैं और कहते हैं—"पवित्र कमल तू खिल चुका है, तुझमें कितनी सुगन्ध है, कैसा सुन्दर रंग है, तुझमें कितना मीठा रस है"। यह है साधना और तपस्या का फल। तपस्या से ही सत्य की, सत्यसे बुद्धि की और बुद्धि से आत्मा की प्राप्ति होती है। आत्मा पर जिसने विजय प्राप्त करली उसने संसार को जीत लिया। परमात्मा ने तपस्या द्वारा ही विश्व का निर्माण किया है। अतः मनुष्य को तपस्या अपने जीवन में ढालनी चाहिये।

वैदिक संस्कृति का दूसरा तत्त्व है सत्य। "न हि सत्यात् परो धर्मः" सत्य से बढ़कर दूसरा धर्म नहीं। महर्षि दयानन्द ने मिथ्याडंबरों को दूर करने के लिये प्राण न्यौछावर किए, महात्मा गांधी ने सत्य का पालन जीवन भर किया, दशरथ ने सत्य की रक्षा के लिए राम को बन भेजा, राम ने सत्य की रक्षा के लिये पिता की आज्ञा का पालन किया। उपनिषदों ने सत्य, ब्रह्म और आत्मा को समानार्थक बतलाया। बुद्ध भगवान् ने अपने शिष्य को मरते समय कहा कि एकमात्र सत्य बात अमर होती है। सत्य ही निरन्तर रहने वाला धर्म है। सत्य को दीपक के समान दृढ़ हाथ से पकड़ना। कबीर जी ने भी सत्य की महिमा बतलाते हुए लिखा है—

साँच बराबर तप नहीं झूँठ बराबर पाप।
जाके हृदय सांच है ताके हृदय आप।

वेद में भी कहा गया है "तत्त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये" "अनृतात्सत्यमुपैमि" झूँठ से सत्य की ओर आता हूँ। "सत्यमेव जयते नानृतम्" यह है सत्य के विषय में वैदिक धारणा।

वैदिक संस्कृति का तीसरा तत्त्व है त्याग। "ईशोपनिषद्' में त्याग से भोग करने का उपदेश दिया गया है। लिखा है 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' इस कारण वैराग्य भाव से (त्यागे हुए धन से) भोग

करो। भोग का आदेश देते हुए भी कुछ विचित्र सा लगता है। पर भोग दो प्रकार के होते हैं, एक 'लोभ से भोग' और दूसरा 'त्याग से भोग'। लोभ से भोग का मतलब है स्वयं भोगना। इस भोग पर परमात्मा ने स्वयं प्रतिबन्ध लगा दिये हैं। आपके घर में मन भर लड्डू हैं। पर आप दो-चार खा सकते हैं। आपके पास बक्सों कपड़े हैं, पर आप तीन-चार पहन सकते हैं। आपके पास सैकड़ों जोड़े जूते हैं, पर आप एक जोड़ा काम में ला सकते हैं। वास्तव में त्याग से भोग में जो आनन्द है, वह आनन्द 'भोग से भोग में'' नहीं। सर्वपल्ली राधाकृष्णन के शब्दों में "त्याग की भावना आत्मशुद्धि के लिए आवश्यक है।" प्राचीन भारत में यज्ञ और विशेष कर सर्वमेध यज्ञ का विधान तो इसी भावना का विस्तार था।

वैदिक संस्कृति के चतुर्थ मूल तत्त्व पर जब हम विचार करते हैं तो हमें पता चलता है कि इस संस्कृति ने आध्यात्मिकता को बहुत महत्त्व दिया था। आज हम धन तथा भौतिक समृद्धि को प्रधानता देते हैं;पर वैदिक लोग इनकी अपेक्षा आध्यात्मिकता एव नैतिक संयम को प्रधान मानतेहैं। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में आध्यात्मिक शक्ति की वृद्धि होने के कारण वैश्य और सम्राट् से भी ब्राह्मण का महत्त्व अधिक माना गया है। कठोपनिषद् में सम्पूर्ण भौतिक समृद्धि के विद्यमान होने पर भी कहा—"भौतिक वासनाएं तो एक जन्म क्या सैकड़ों जन्म लेते जायें तब भी नहीं मिटतीं, परन्तु जब मनुष्य को आत्मतत्त्व के दर्शन हो जाते हैं, उस समय भौतिक जगत् हाथ जोड़कर खड़ा हो जाता है।" बृहदारण्यक उपनिषद् में जब याज्ञवल्क्य ने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति मैत्रेयी को देनी चाही तो उसने पूछा 'किमहम् तेनामृता स्याम्'? याज्ञवल्क्य के अस्वीकार करने पर उसने कहा, "येनाहं नामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम्" जिस वस्तु को प्राप्त करके मैं सुखी नहीं हो सकती, उसको लेकर क्या करूंगी। अतः आप मुझे आत्मतत्त्व का उपदेश दीजिये। इस प्रकार अध्यात्मवाद ही वह साधन है जिससे सुख प्राप्त किया जा सकता है। अध्यात्मवाद का तात्पर्य है अहंकार और स्वार्थ को दूर कर अपने को सर्वत्र समझना अर्थात् 'आत्मवत् सर्वभूतानि यः पश्यति स पण्डितः' अपने समान ही विश्व के प्रत्येक प्राणी से व्यवहार करना ही आध्यात्मिकता का समझने लायक रूप है। वैदिक संस्कृति को छोड़कर ऐसी आध्यात्मिकता अन्य कहीं नहीं। इसी कारण विदेशियों के आक्रमण और पराजय का हम पर कुछ प्रभाव न पड़ा। आर्थिक हानियों, पराजयों और कष्टों के बावजूद भी उसकी आत्मा विजयी है।

इन उपर्युक्त तत्त्वों का सार और उद्देश्य 'शांति की भावना' हमारी संस्कृति का अन्तिम तत्त्व है। शान्ति की विजय को युद्ध की विजय से अधिक गौरवशाली माना गया है। शान्ति की भावना इतनी उग्र और सच्ची थी कि उपनिषदों में कर्मकाण्ड में सर्वत्र मंत्र की समाप्ति 'ओ३म् शान्तिः', के उच्चारण के साथ होती है और प्रार्थना की जाती है कि आकाश, पृथ्वी, जल, वनस्पति, वृक्षों और हृदयों में सर्वत्र शान्ति प्राप्त हो।

'कठोपनिषद्' में लिखा है कि बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि वह वाणी को मन में, मन

को बुद्धि में, और बुद्धि को 'स्व' में 'आत्मा' में तथा महान् स्व या आत्मा को शान्ति में विलीन कर दे।

वैदिक संस्कृति कितनी महान् है। इसी संस्कृति का प्रचार महर्षि दयानन्द की कामना थी। आर्य समाज का यही उद्देश्य है और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए ज्ञान, कर्म और शान्ति द्वारा अनेक व्यक्तियों ने प्रयत्न किया।
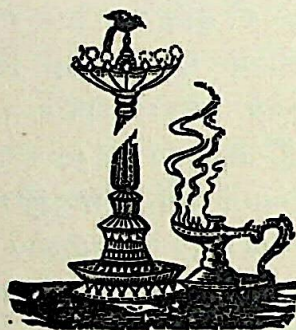
ओ३म् मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः ।।ऋ० १।९०।८

हमारे लिये वनस्पतियां, सूर्य तथा गौयें मधुर हों।

वैदिक समाजव्यवस्था

श्री पं० शिवदयालु जी, मेरठ

हिन्दू जाति में प्रचलित वर्तमान समाजव्यवस्था को ही वैदिक समाजव्यवस्था मानकर प्रायः लोग उस पर नाना प्रकार के आक्षेप करने लगते हैं। जन्ममूलक वर्णवाद, प्रचलित जाति-उपजातिवाद, अवर्ण सवर्णवाद, स्पृश्यास्पृश्यवाद, उच्चावचयवाद कुछ ऐसे वाद आज दिन हिन्दू समाज में प्रचलित हैं कि जिनका वैदिक समाजव्यवस्था से किन्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं, किंतु फिर भी इनकी आड़ लेकर विरोधी लोग वेदों को कोसते हैं। कास्टलेस सोसायटी का नारा जो आज के प्रगतिशील राजनीतिक मस्तिष्क लगाते हैं और इन सब वा दो को मिलाकर एक नवसमाज के निर्माण की कल्पना का प्रचार करते हैं सो वह केवल प्रतिक्रिया के वशीभूत होकर ही ऐसा करते हैं। उनकी यह प्रतिक्रिया इन प्रचलित वादों के विरोध ही तक सीमित न रहकर वैदिक समाज-व्यवस्था के विरोध में भी कार्य करती दृष्टिगोचर होती है। अस्तु।

अन्य देशों की भांति भारत की भी समाजव्यवस्था आज श्रेणी संग्रामवाद की कसौटी पर कसी जा रही है। तथा समाज को पूंजीपति एवं श्रमिक दलों के रूप में विभाजित किया जाने लगा है। इस विभाजन का आधार भी प्रतिक्रिया ही है। इसमें यथार्थवादता को स्थान नहीं।

वेद यथार्थवाद का स्पष्ट प्रतिपादक है। 'संगच्छध्वं' का वैदिक आदर्श लुप्त हो जाता है यदि हम इस साम्यवादी प्रतिक्रिया को अपना लेते हैं। फिर जो पैसे वाला वह पापी और जो श्रमिक है वह पुण्यात्मा एवम् धर्मात्मा है। वेद धन को समाज के विभाजन का आधार ही नहीं मानता है। और विश्व से मनवाना चाहता है—गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः। यह उक्ति वैदिक भावना की पोषक है। वेद गुणों के आधार पर मानव समाज को दो अंगों में अर्थात् आर्य और दस्युओं में बांटना चाहता है।

आर्य सम्बन्धी वैदिक कल्पना भी धन के कारण अथवा देश विशेष में निवास करने के कारण अथवा किसी मत वा सम्प्रदाय में आस्था रखने के कारण नहीं है। अपितु श्रेष्ठ गुणों के

धारण करने एवम् श्रेष्ठ कर्मों के अनुष्ठान के कारण ही मानव आर्य कहाता है।

इसी प्रकार किसी पराजित या विजित वर्ग को दस्यु मानना अथवा असंस्कृत भाषा बोलने के कारण म्लेच्छ को दस्यु कहना अथवा वनों में निवास करने वाली अरण्य जातियों को दस्यु कहना भी वेद को अभीष्ट नहीं। वेद ने दस्यु की कल्पना भी गुण कर्मों के आधार पर ही की है।

श्रेष्ठ गुण कर्मों के कारण मानव आर्य बनता है, तो निकृष्ट गुण कर्मों के हेतु वह अनार्य अर्थात् दस्यु कहलाता है।

दस्यु को भी अच्छे सस्कार एवम् शिक्षा द्वारा आर्य बनाना सदा से वेद नीति चली आयी है। 'कृण्वन्तो विश्यमार्यम्' का वैदिक घोष इसी नीति का प्रबल प्रतिपादक है। दस्युओं अर्थात् चोर, डाकू, दुराचारी, देशद्रोही, आततायी दुर्जनों को उचित दण्ड देकर उनका सुधार करना और उनकी सन्तति को आर्य अर्थात् श्रेष्ठ नागरिक बनाना यह वेदाभिमानियों की सनातन पद्धति रही है।

आर्यों को चार वर्णों में अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्रों में विभाजित करना वेद का अभीष्ट है। शूद्र निश्चय आर्य है और समाज में ब्राह्मण आदि की भांति उसको सर्व अधिकार प्राप्त हैं। वेद का पढ़ना, षोडश संस्कारों का करना, शिखा-सूत्र का धारण करना चारों वर्णों के लिये विहित है। 'यथेमां वाचं कल्याणीम्' इस मन्त्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवम् शूद्र, म्लेच्छ एवं अरण्यादि सभी वर्गों को वेद पढ़ने का अधिकार प्रतिपादित है। मन्त्र में क्षत्रिय के उपरान्त शूद्र शब्द पठित है। इस पर पंडित समाज को विशेष विचार करना चाहिये। यह वेद की व्यवस्था इस बात की सूचक है कि शूद्र को जो अन्य तीन वर्णों से हीन व छोटा माना जाता है वह भी वेद को मान्य नहीं।

वैदिक कल्पना के अनुसार ब्राह्मण समाज का मस्तिष्क है तो क्षत्रिय भुजा है। वैश्य उदर है तो शूद्र पग है। जिस प्रकार शरीर में इन चारों अंगों का पारस्परिक सम्बन्ध और समन्वय है इसी प्रकार समाज में भी समझना चाहिये। पाँव में लगा काँटा सारे शरीर को व्यथित कर देता है; भुजाएं मस्तिष्क आदि सब चरणों में ही झुक जाते हैं पाँवों की चिन्ता सब अंगों को सताने लगती हं। इसी प्रकार समाज में शूद्रों के मान गौरव का ध्यान प्रतिक्षण अन्य वर्णों को रखना चाहिये।

शूद्र मूर्ख, अनाड़ी, नीच आदि को कहते हैं यह धारणा ही सर्वथा अवैदिक है। मध्यकालीन जन्ममूलक वर्णवाद के मानने वाले आचार्य ऐसी भ्रान्ति फैलाने लगे थे। शूद्र का काम केवल अन्य तीन वर्णों की सेवा करना है यह भी सर्वथा अवैदिक कल्पना हे। शूद्र तो श्रम एवं तप का प्रतिनिधि है "तपसे शूद्रमालभेत्" वेद के इस वाक्य के अनुसार जीवन में तप का अभ्यास करने के लिये हमें शूद्र को गुरु बनाना होगा। श्रम को वेद ने धर्म का पृथक् एवं सर्वश्रेष्ठ अंग माना है। यथा "श्रमेण तपसा सृष्टा" आदि मन्त्र स्पष्ट ही है। श्रमहीन जाति का संसार में विनाश निश्चित है। श्रम की अवहेलना करने वाली जाति का भाग्य सूर्य कभी उदय नहीं हुआ करता। अतएव शूद्र की समाज

में प्रतिष्ठा ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों के समान करना हमारा पावन कर्तव्य है।

ब्राह्मण अपनी इच्छा से निर्धनता को वरण करता है। तप त्याग उसके आधार स्तम्भ हैं। वेद का अध्ययन प्रचार और विस्तार उसके जीवन की परम साधना है। "विप्राणां भूषणं वेदः" चाणक्य के इस सूत्र के अनुसार वेद का ज्ञान ब्राह्मण का परम भूषण है। आचार्य विदुर ने ब्राह्मण को वेदबन्धु की सुन्दर उपाधि से विभूषित किया है। ब्राह्मण प्रभु के पावन ज्ञान का विश्व में विस्तार करना अपना परम धर्म समझता था। देश-देशान्तरों में द्वीप-द्वीपान्तरों में इन्हीं ब्राह्मणों के आदर्श के कारण किरात, बर्बर, शक, हूण आदि जातियाँ अनार्य बन गईं। जीवन पर्यन्त वेद का स्वाध्याय व मनन ब्राह्मण की दिनचर्या थी। ऐसे ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण जब भारत में थे तो देश का भाग्यचक्र ऊपर चमचमाता था और जब पुनः होंगे तब भारत निश्चय ही विश्व का गुरु बनेगा। संसार की भूतकालीन आर्य जातियां एक बार पुनः आर्यत्व को अपनावेंगी। भारत में इस प्रकार ब्राह्मणों का कभी अत्यन्ताभाव नहीं हुआ, आज भी नहीं है। किन्तु यह संख्या मात्र अगुलियों पर गिनी जा सकती है और इससे काम चलने वाला नहीं। इस कमी को दूर करना राष्ट्र का महान् कर्त्तव्य है। वर्त्तमान काल के जन्मूमलक ब्राह्मणत्व का इस वैदिक सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं है। वैदिक ब्राह्मण ज्ञान, तप, तेज, त्याग, वर्चस एवं साधनाओं का धनी हुआ करता है।

क्षत्रिय अन्याय, अनीति, अत्याचार को कुचलने व मिटा देने के लिये प्रतिक्षण प्रयत्नशील रहता है। निर्धन अनाथों की सेवा, रक्षा व उन्नति में सदा तत्पर रहता है। दुष्ट, दुराचारी का दमन करना उसका परम धर्म होता है। देश की शत्रुओं से रक्षा उसका पावन कर्तव्य होता है। नाना अस्त्र शस्त्रों का संचालन उसका नित्य का अभ्यास रहता है।

वैश्य कृषि, गोपालन, वाणिज्य की उन्नति के लिये अपने जीवन को खपाता है। समाज की सब भोजन, वस्त्र, आच्छादन, निवास आदि की आवश्यकताओं की पूर्ति करना वैश्य का परम धर्म है। शूद्र नाना प्रकार की कलाकौशल, शिल्पों की रक्षा एवं उन्नति करता है। श्रम एवं सेवा के कार्यों, को दौड़ दौड़कर करने में शूद्र को आनन्द आता है। समाज की अशुचिता को दूर करना भी उसका एक लक्ष्य होता है।

इस वैदिक वर्णव्यवस्था का यथार्थ व्यवहार इस युग में एक बार पुनः होने लगे तो संसार निश्चय ही स्वर्ग अर्थात् सुख का धाम बन जाये। यह वैदिक वर्ण व्यवस्था काल्पनिक नहीं व्यावहारिक है। युग-युगान्तरों तक विश्व में इसका व्यवहार होता आया है। कुछ विकृत रूप में आज भी संसार के विभिन्न देशों में यह विद्यमान है। अब इस युग की सबसे बड़ी पुकार वेदों के पावन ज्ञान के आलोक में वैदिक समाजव्यवस्था का पुनर्निर्माण करना है। इस वैदिक समाज व्यवस्था से ही नव-समाज का निर्माण होगा। अथवा प्राचीन समाज-व्यवस्था का पुनः प्रचलन होगा। इस व्यवस्था की स्थापना के हेतु आज आर्यों को प्रयत्नशील होना है।

— —

आर्यसमाज की दार्शनिक पृष्ठभूमि

श्री ईश्वरदयालु आर्य,
मुख्य उपमंत्री आ० प्र० स० उत्तरप्रदेश

सर्व श्री पं० गंगाप्रसादद्वय ने आर्यसमाज के लिये बहुत कुछ किया है—उस सबका वर्णन करना इस लेख का उद्देश्य नहीं है। उन्होंने विशेष रूप से आर्यसमाज के लिये एक कार्य किया है और वह है दार्शनिक विषयों का विवेचन तथा आर्यसमाज की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर विचार-विमर्श। यह संयोग की बात है कि नाम में समानता के साथ-साथ पण्डितद्वय के इस काम में भी समानता है।

दर्शन का, जीवन तथा मानव क्रियाओं में बहुत महत्त्व है। मानव की समस्त क्रियायें किसी न किसी प्रेरणा का परिणाम होती हैं। 'प्रेरणा कर्म की जननी है' यह बात पशुओं की क्रियाओं के सम्बन्ध में भी सत्य है, परन्तु पशु-क्रियाओं की प्रेरक केवल नैसर्गिक प्रवृत्तियां होती हैं। इसके विपरीत मानव-क्रियाओं की प्रेरणा निश्चित विचारों तथा भावनाओं से मिलती है। ये विचार तथा भावनायें क्रिया के लक्ष्य को अत्यन्त स्पष्ट रूप में सामने रख कर निर्धारित होते हैं। इनको हम जीवन के मूल्य कह सकते हैं। इन मूल्यों को निर्धारित करने की प्रक्रिया तथा इन मूल्यों का समन्वित रूप दोनों ही जीवन के दर्शन हैं। इस प्रकार जिज्ञासा की प्रवृत्ति, उपस्थित विचारों तथा क्रियाओं का परीक्षण तथा विवेचन एवं कुछ मूल्यों का निर्धारण करने की समस्त प्रक्रिया का नाम है।

प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना जीवन-दर्शन होता है। उसकी क्रियायें उसी से प्रेरित तथा संचालित होती हैं। व्यक्ति के मानसिक स्तर के अनुसार यह दर्शन नैसर्गिक प्रवृत्तियों, भावनाओं, विचारों अथवा तर्क पर आधारित हो सकता है। इस प्रकार मानसिक विकास तथा परिवर्तनों के साथ-साथ व्यक्ति के जीवनदर्शन में भी समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है। किन्तु सामाजिक जीवन परिवर्तनशील होते हुए भी सब मनुष्यों के जीवन से कुछ न कुछ सामान्य सम्बन्ध अवश्य रखता है, अतः वह वैयक्तिक जीवन की अपेक्षा स्थिर होता है। व्यक्ति के जीवन-दर्शन की अपेक्षा

समाज का जीवन-दर्शन अधिक तर्क-संगत तथा परीक्षित होता है। समाज की क्रियायें इसी दर्शन से प्रेरणा पाती हैं। जो व्यक्ति इस दर्शन के साथ अपने जीवन को जितना अधिक समन्वित कर लेता है, वह उतना ही अधिक समाज की स्वीकृति तथा प्रशंसा का पात्र बन जाता है।

आर्यसमाज सामाजिक सुधार की दिशा में महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रवर्तित एवं संगठित एक पग है। देश की तात्कालिक परिस्थितियों के अनुसार इसका जन्म अवश्य हुआ था परन्तु इसके नियम सुदृढ़ दार्शनिक पृष्ठभूमि पर निर्धारित किये गये थे। आर्यसमाज की गतिविधियों को इस प्रकार हम स्पष्ट रूप से दो भागों में बाँट सकते हैं। इसके कुछ कार्य सामयिक परिस्थितियों के अनुसार होते रहे हैं। उनके पीछे देशकाल की आवश्यकताओं का बल था। परन्तु आर्यसमाज की अधिकांश गतिविधियाँ वैदिक दर्शन की सुदृढ़ प्रेरणा का ही परिणाम हैं। वैदिक दर्शन अत्यन्त विशाल है तथा उसका विस्तृत विवेचन इस लेख में अभीष्ट नहीं है; किन्तु आर्यसमाज के कार्यों की प्रेरणा जिन दार्शनिक सिद्धान्तों से मिलती रही है उनका संक्षेप में वर्णन किया जा सकता है। वैदिक दर्शन का मूलभूत सिद्धान्त आस्तिकता है। "परमेश्वर का आदिमूलत्व" आर्यसमाज के प्रथम नियम में ही स्वीकार कर लिया गया है। इसी सिद्धान्त पर वैदिक उपासना, यज्ञ विधान, सन्ध्या-वन्दनादि नित्यकर्म आधारित हैं। आस्तिकता का यह प्रत्यय आर्यसमाज की ही कोई नवीन बात नहीं है, किन्तु इसी प्रत्यय के साथ ईश्वर का स्वरूप भी अनिवार्य रूप से सम्बद्ध है। आर्यसमाज के द्वितीय नियम में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करके महर्षि दयानन्द ने इस सम्बन्ध में किसी भ्रम को शेष नहीं रहने दिया है। यहीं से आर्यसमाज के दशन के विशिष्ट रूप का आरम्भ हो जाता है। यह वैशिष्ट्य त्रैतवाद के सिद्धान्त द्वारा और भी स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि वैदिक दर्शन में आस्तिकता का तात्पर्य केवल ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास से ही नहीं होता है; जीव और प्रकृति के पृथक् अस्तित्व में विश्वास रखना भी वैदिक आस्तिकता का अभिन्न अंग है। वेद के ईश्वर प्रणीतत्व, स्वतःप्रामाण्य तथा सत्यता में विश्वास आर्यसमाज के दर्शन का प्रमुख अंग है। इस विश्वास को भी हम आस्तिकता के अन्तर्गत ले सकते हैं। मनु ने "नास्तिको वेदनिन्दकः" कहकर आस्तिकता तथा वेदविश्वास को एकाकार कर दिया है। वेद के सम्बन्ध में यह विश्वास किसी अन्ध धारणा का परिणाम नहीं है। यह तर्क तथा विचार पर आधारित है। इस विश्वास के अभाव में आस्तिकता निष्फल हो जायगी, क्योंकि वेद के बिना ईश्वर, जीव और जगत् के स्वरूप का विस्तृत ज्ञान कोई नहीं करा सकेगा।

समाज के स्वस्थ संचालन के लिये व्यक्ति और समाज के जीवन में मूल्यों का समन्वित रूप होना चाहिये। मनुष्य की क्रियाओं में सामञ्जस्य होना आवश्यक है। यह सामंजस्य तब तक नहीं हो सकता जब तक कर्त्ता अपने आपको स्वतन्त्र अनुभव न करे। आर्यसमाज का कर्मफल दर्शन-जीवन के मूल्यों को समन्वित रखने में सहायता करता है। "कर्म करने में मनुष्य स्वतंत्र है तथा फल पाने में परतन्त्र।" यह दर्शन मनुष्य को पुरुषार्थी बनाता है। साथ ही उसे अपने कर्मों का उत्तरदायित्व दूसरों पर डालने अथवा परिस्थितियों को दोष देने के दोष से बचा कर स्वयं अपनी

त्रुटियों पर विचार के लिये भी प्रेरित करता है। जीव और ईश्वर के सम्बन्ध को भली प्रकार समझने के लिये कर्मफल की व्यवस्था को समझना आवश्यक है। यदि विचार करें तो कर्मफल की व्यवस्था भी आस्तिकवाद का ही एक भाग है। ईश्वर तथा जीव के पृथक्-पृथक् अस्तित्व को स्वीकार करने के पश्चात् यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर कर्मफल व्यवस्था के रूप में मिलता है।

व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को उचित रूप में स्थापित रखने के लिये भी आर्यसमाज के नियमों में व्यवस्था है। "प्रत्येक को सामाजिक सर्व हितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।" इस नियम को समाज के संगठन का दार्शनिक आधार माना जा सकता है। इसी का परिणाम वर्णाश्रमव्यवस्था है। यदि वर्णाश्रम व्यवस्था के पीछे इस दार्शनिक सिद्धान्त का पालन नहीं होता तो यह व्यवस्था निष्फल होगी। इतिहास बताता है कि भारत में इस व्यवस्था की असफलता का कारण इसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि की उपेक्षा ही था।

संक्षेप में आर्यसमाज की यह दार्शनिक पृष्ठभूमि कही जा सकती है। इस पृष्ठभूमि को समझकर जीवन व्यतीत करने वाला आर्यत्व के अधिक निकट होगा तथा समाज का उपयोगी अंग बन सकेगा। यह स्मरणीय है कि जीवन में व्यावहारिक रूप प्राप्त किये बिना दर्शन का कोई उपयोग नहीं है। अतः दार्शनिक सिद्धान्त केवल पृष्ठभूमि के रूप में ही उपयोग में लाने चाहियें। केवल दार्शनिक चिन्तन वैयक्तिक आत्मतुष्टि का साधन हो सकता है, परन्तु सामाजिक प्रगति में उसका योग नगण्य है।

अतः दार्शनिक सिद्धान्तों को भली प्रकार समझकर उन पर अपनी क्रियाओं को आधारित करने में ही आर्यों तथा आर्यसमाज की सफलता है।

ऋषीणां प्रस्तरोऽसि नमोस्तु दैवाय प्रस्तराय ॥ अथर्व० १६।२।६

हे प्रभो ! तू ऋषियों का प्रसारक है। तुझ दिव्य प्रचारक के लिये नमस्कार हो।

वैदिक गोपाल

डा० मुन्शीराम शर्मा, पी०-एच० डी०, दयानन्द कालेज, कानपुर

गोकुल के गोपाल का जीवन गोप-गोपियों और गौओं के बीच व्यतीत हुआ। आज न वह गोकुल रहा, न गोप रहे, न गोपिकाएँ और न गौएँ। जिन द्वादश वनों में गौएँ हरित दूर्वाङ्कुरों को चरतीं, हुम्बारव से दिग्दिगंत को आह्लादित करतीं और दुग्ध धार से गोपों के शरीरों की पुष्ट किया करती थीं, वे वन भी आज दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं।

विशिष्ट देश और काल की वस्तुएँ कुछ समय तक अपना रंग-रूप स्थिर रखती हैं, परन्तु वे सनातन नहीं होती। परिवर्तन प्रकृति का नियम है। कुछ व्यक्तित्व ऐसे अवश्य होते हैं, जिनकी छाप समय के ऊपर गहरी पड़ती है। भगवान् श्री कृष्ण जिन्हें गोपाल भी कहते हैं, ऐसा ही महाप्राण व्यक्तित्व रखते थे। पर अपने जन्म के पूर्व वे भी इस व्यक्तित्व से शून्य थे। नीचे हम वेद के आधार पर ऐसे गोपाल और गौओं का वर्णन करते हैं, जो थे, हैं, और सदैव रहेंगे।

ऋग्वेद मण्डल ६ सूक्त २८ में यह मंत्र आता है :—

> न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरादधर्षति ।
> देवाश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह ॥१३॥

इस मन्त्र में एक गोपति अर्थात गोपाल है जिसकी गौएं कभी नष्ट नहीं होती, चोर जिन गौओं को चुरा नहीं सकता (गोपाल कृष्ण की तो गौओं को ब्रह्मा चुरा भी ले गए थे और वे अपने गोष्ठों से भी दूर दूर भाग जाया करती थीं।)

शत्रुकृत व्यथा जिनका घर्षण नहीं कर सकती (गोपलकृष्ण को जरासन्ध के १७ बार के आक्रमणों से मथुरा छोड़नी पड़ी थी और वे द्वारका में जाकर रहने लगे थे। उनकी गौओं की भी धेनुक, प्रलम्ब, वृषभ, केशी आदि दैत्यों ने व्यथित किया था।) जिन गौओं द्वारा देवयजन किया जाता है और अन्त में जो देवों को ही समर्पित कर दी जाती हैं, उन गौओं के साथ गोपाल सदैव संयुक्त रहता है। अध्यात्म में ये गौएँ इन्द्रियाँ और गोपाल आत्मा है। आत्मा से इन्द्रियां कभी वियुक्त नहीं

होतीं। शरीर के गोलक तो जन्म के साथ प्रादुर्भूत और मृत्यु के साथ समाप्त हो जाते हैं, परन्तु इन्द्रियाँ जो वस्तुतः इन्द्र (आत्मा) की ही शक्तियां हैं, सदैव उसके साथ बनी रहती हैं। मृत्यु के उपरान्त प्राण के साथ ही ये चली जाती हैं और मोक्ष की अवस्था में भी आत्मा का साथ नहीं छोड़तीं। शक्ति अपने शक्तिमान् से पृथक् हो ही नहीं सकती।

इन्द्रियां दो प्रकार की हैं:—बाह्य और आभ्यन्तर। पांच कर्मेन्द्रियां और पांच ज्ञानेन्द्रियां बाह्य हैं, क्योंकि उनका मुख बाहर को खुला है। ये बाहर भरे हुए ज्ञानामृत में डुबकी मारकर उसका कुछ अंश आत्मा के पास सदैव लाया करती हैं। आभ्यन्तर इन्द्रियां अन्तःकरण कहलाती हैं और चार हैं:—मन, बुद्धि, चित्त, तथा अहंकार। ज्ञान मन में जाकर पचता और अपनी विभिन्नरूपता छोड़कर एकाकार बनता है। यह एकता बुद्धि में जाकर सगुण सत्ता मात्र रह जाती है। चित्त में नाना जन्मों के वासनापुञ्ज एकत्र हैं। अहंकार इन सब का संचालक है।

इन्द्रियों के उभय प्रकार जगत् सम्बन्ध से अपने विशुद्ध शक्ति रूप का परित्याग कर बैठते हैं अतः अभ्यास द्वारा साधक इनका परिष्कार किया करते हैं। यह परिष्कार दोनों प्रकार की इन्द्रियों में तीन रूप धारण करता है। अथर्ववेद के निम्नांकित मंत्र में इनका वर्णन इस प्रकार है:—

प्रजापतेः आवृतो ब्रह्मणा वर्मणाऽहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च।
जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् ।।१७।१।२७

बाह्य इन्द्रियों का परिष्कार शुक्र के संयम से होता है और वर्चस्व में उसकी अभिव्यक्ति होती है। जो साधक कृतवीर्य है, भोजन के सात धातुओं में पकने के उपरान्त जो शुक्र की स्थिति आती है, वह स्थिति जिसके अधिकार में है, उसकी इन्द्रियां प्राणमयी शक्तिमयी तथा यशोमयी बनती हैं। उसकी वाणी में ओज, दर्शन में प्रखरता तथा श्रवण में आशुग्राहिता व्याप्त हो जाती है। वह कर्म-कौशल का धनी बन जाता है। उसके अवयव पुष्ट एवं सक्षम होते हैं। वह अपने कर्म के साथ दूसरों को भी साहाय्य प्रदान करता है। यह वर्चस्व प्राणशक्ति के साथ उसके समस्त शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। जो कृतवीर्य नहीं है, जिसने अपने शुक्र की सावधानी से सुरक्षा नहीं की है, उस के मुखमण्डल पर यह वर्चस्व दिखाई नहीं देता।

वर्चस्वी अङ्गों के अन्दर मन कश्यप की ज्योति से परिपूर्ण होना चाहिए। यह आन्तरिक साधना है। कश्यप अपने मूल रुप में पश्यक है, जिस तक पहुँचने के लिए मनन रूपी सोपान पर चढ़ना होता है। मनन और चिन्तन का स्थान श्रवण से ऊपर है। मनन ही मन को ज्योतिष्मान् बनाता है और यह ज्योति ही उसे पश्यक अर्थात् द्रष्टा का पद प्रदान करती है। बाह्य इन्द्रियां भी ज्योति की साधिका हैं। परन्तु मन इन ज्योतियों की भी ज्योति है। जब इसे पश्यक की ज्योति प्राप्त हो जाती है, तब समस्त मनन और चिन्तन दैवी रूप धारण कर लेता है।

कश्यप की ज्योति के ऊपर प्रजापति का ब्रह्म है, ज्ञान है। ज्ञान स्वयं ज्योति है। यह महत्तम शक्ति है। यह अभेद्य कवच है, जिस से आवृत होकर साधक अदब्ध, अवेध्य तथा अपराजित हो जाता है। जिस साधक ने वर्चस्, ज्योति और ज्ञान के कवचों से अपने को ढक लिया, वह सहस्र

वर्षों जैसे दीर्घकाल तक जीवन व्यतीत करता हुआ सुकृत का धनी बन जाता है। वह वस्तुतः गोपाल होता है, अपनी इन्द्रियों की रक्षा करता है। उसकी इन्द्रियरूपी गौएँ हँसती हुईं, मोदमान, तेजस्विनी तथा शक्तिशालिनी होती हैं।

वर्चस्व और प्राणवत्ता परस्पर सम्बद्ध हैं। प्राणों का आह्वान करते हुए वैदिक ऋषि कहते हैं :—

> आरुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसो हिरण्यरथाः सुविताय गन्तन।
> इयं वो अस्मत् प्रतिहर्यते मतिः तृष्णजेन दिव उत्सा उदन्यवे ॥ ऋ० ४-३-२१

प्राण ! आओ ! तुम रुद्र हो, रोगों को दूर करने वाले हो, निर्बलता को रुलाने वाले हो, तुम इन्द्रवन्त हो, आत्मा तुम्हारे साथ रहता है, जहां तुम हो, वहीं आत्मा है, जहाँ तुम नहीं हो, वहाँ आत्मा भी निवास नहीं करता, तुम्हारे प्रयाण के साथ आत्मा भी प्रयाण कर जाती है, तुम्हें छोड़ कर आत्मा रह नहीं सकता। तुम अनुपम स्नेही और सेवा करने वाले हो। तुम्हारी गति निश्चित रूप से रमणीय है, अथवा वह रमणीयता के साथ हित साधन करने वाली भी है। मेरा सुवित, उत्तम रक्षण, तुम्हारे ऊपर ही अवलम्बित है। अतः प्राण ! आओ ! मेरी मति आज तुम्हारी वैसी ही कामना कर रही है, जैसी प्यासे चातक के अन्दर दैवी जलधाराओं की कामना होती है।

जब आत्मशक्ति से समवेत प्राण शरीर में संचार करते हैं तो प्राणी अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करता है। उसकी उमंग, उसका उत्साह, उसकी स्फूर्ति, उसकी कार्यतत्परता, उसकी तन्मयता और एकनिष्ठा देखते ही बनती है। एक अद्भुत तेज उसके मुखमंडल को प्रदीप्त करता रहता है। मस्तक पर श्री और अंग में मण्ड की आभा विराजमान हो जाती है। वह सक्रियता का मूर्तिमान् रूप धारण कर लेता है।

इस प्राण को ज्योतिर्मय मन सहायता पहुँचाता है। प्राण बलवान् भी हो पर यदि उसे मन की ज्योति का सहारा न मिले तो वह नितान्त पंगु है। मन की ज्योति ही उसे गतिशील बनाती है। धनुर्धर अर्जुन की समस्त प्राणवत्ता मन की कातरता के साथ निर्मूल हो चली थी, द्रोणाचार्य जैसे महारथी मन के पुत्रशोक से आक्रान्त होते ही किंकर्तव्यविमूढ हो रथ में लेट गए थे। दूसरी ओर मन की ज्योति के जाग्रत होते ही चन्दबरदायी पृथ्वीराज को पराधीन अवस्था में भी स्वाधीन कर सका। छत्रपति शिवाजी औरंगजेब के चंगुल से और सुभाषचन्द्र बोस अंग्रेजों के दूतजाल से बाल-बाल बच कर निकल गए।

मन की दिव्यता, ज्योतिर्मयता के संबंध में यजुर्वेद के चौतीसवें अध्याय के वे छः मन्त्र पढ़ने और विचारने योग्य हैं जिनका अन्तिम चरण 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' से समाप्त होता है। यहां हम अथर्ववेद का एक मंत्र उद्धृत करते हैं, जो दैवी मन की प्रशंसा में लिखा गया है।

> "संजानामहै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन,
> मा घोषा उतस्थुः बहुले विनिर्हते मेषुः पप्तद् इन्द्रस्य अहन्यागते। (अथर्ववेद ७-५२-२)

हम दैवी मन से कभी पृथक् न हों। मन की दिव्यता ही सम्यक् ज्ञान और विमर्श की ओर ले

जाती है। यह ज्ञान और विमर्श ही हमें ऐसा सामर्थ्य प्रदान करते हैं जिस से हम कष्टों का पहाड़ टूटने पर भी नहीं घबड़ाते और अत्यधिक प्रसन्नता के अवसरों पर फूल कर कुप्पा नहीं हो जाते, अपने आपे से बाहर नहीं हो जाते, अपनी ही सीमा में बने रहते हैं। यह संतुलन की अवस्था दैवी मन के द्वारा ही सम्पादित और सिद्ध होती है। अन्धकार और प्रकाश, दुःख और सुख, जन्म और मरण में अविचलित अथवा वेद के शब्दों में 'अया' बने रहना दैवी मन की ही करामात है। मन की ज्योति का ही चमत्कार है।

मन की ज्योति का स्रोत दैवी बुद्धि का आदेश है। यदि बुद्धि आसुरी है, स्वार्थ-लिप्त है, तो वह कल्याण-पथ का निर्देश कर ही नहीं सकती। यदि प्रकाश को ही तम आवृत कर ले, तो कहां का दर्शन और कहाँ की नीति ? अन्धता ही अन्धता चतुर्दिक फैलेगी, उसी का शासन चलेगा। सत्य अहिंसा, तप, दान, यज्ञ आदि सभी दैवी भाव अपना सा मुँह लिए खड़े-खड़े रुदन करेंगे। फिर मानव को श्रेय का नहीं, घोर निर्ऋति का सामना करना पड़ेगा, जिस में सत्, शुभ और भद्र धाँय-धाँय कर के जलने लगते हैं। अतः साधक दैवी बुद्धि का ही पल्ला पकड़ता है। आसुरी बुद्धि का तिरस्कार करता हुआ वह यज्ञिय बुद्धि का ही आश्रय ग्रहण करता है। उसे अपना भद्र इसी में निहित दिखाई देता हैं।

दैवी बुद्धि को अंगीकार करने के लिये देवों का आह्वान करते हुए कहते हैं :—

"आ वो धियं यज्ञियां वर्त ऊतये देवा देवीं यजतां यज्ञियामिह।
सा नो दुहीयद् यवसेव गत्वी सहस्रधारा पयसा मही गौः॥ (ऋग्वेद १०-१०१-९)

देवो! तुम्हारी बुद्धि अत्यंत निर्मल हैं, पवित्र है, उससे सदैव यज्ञ कर्मों का भी विस्तार होता है। ऐसी आपकी पवित्र बुद्धि को आज मैं भी अपने अन्दर स्थापित करना चाहता हूँ। इसी से मेरी रक्षा होगी। यही मेरे लिये सहस्र धाराओं में दुग्ध देने वाली महीयसी गौ का कार्य करेगी। बड़ी गौ का सहस्र धारोष्ण दुग्ध जैसे पुष्टिकारी है, वैसी ही पुष्टिकारिणी आपकी बुद्धि होगी। देवो! अपनी यही बुद्धि मुझे दे दो।

बड़ी श्यामा गौ सरल, चिक्कण, सतोगुणी जौ का सेवन करती है। देवों की बुद्धि सदैव सतो-गुण प्रधान याज्ञिक अनुष्ठानों का अनुसरण, सेवन और उनमें रमण करती है। यजनशीलता, मानो दैवी बुद्धि का ही अपर नाम है। यज्ञ शब्द का उच्चारण करते ही देव-भाव आकर उपस्थित हो जाता है। आर्जव प्रधान देवों की धी, सरल, प्रकाशमय, सत्यसम्पन्न, देवों की सुमति हमें क्या नहीं दे सकती। उनकी सुमति और प्रेरणा में रहते हुए हम उनके सखा-भाव को प्राप्त कर लेते हैं। देवों का सखा! आह! यह कैसी स्पृहणीय, उदात्त उपलब्धि है।

यह जीवन देवताओं का ही दिया हुआ है। अतः उन्हीं की सेवा में इसे समर्पित भी होना चाहिये। आंखें दिव्यता की ओर चलें, कान भद्र श्रवण करें, मन देवों के प्रकाश का वरण करे और बुद्धि देवभजन में प्रवृत्त हो, तो मानो हमने अपनी गौ-रूप इन्द्रियों को सर्वाकर्षणकारी देवों

की चरणसेवा में लगा दिया। गोपियां और गौवें कृष्ण भगवान् की ओर आकर्षित होती थीं। हमारी इन्द्रियों का आकर्षण दिव्यता की ओर हो, केन्द्रस्थ देवाधिदेव कृष्ण की ओर हो, यही अभिवांछित है।

वाह्य इन्द्रियों के दो भाग हैं; ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय। अन्तःकरणचतुष्टय में बुद्धि विशुद्ध ज्ञान की साधिका है और चित्त जन्मजन्मांतरों के संस्कारों का उपचय, जो ज्ञानोपलब्धि में सहायता देता है। मन कर्मों का प्रेरक और अहंकार सबका संचालक है। इस प्रकार अन्तःकरण भी अपने चार रूपों में प्रमुखतः ज्ञान और कर्म का ही साधक है।

ज्ञान और कर्म आत्मा रूपी पक्षी के दो पंख हैं, जिन्हें फड़फड़ाता हुआ यह सहस्रों वर्षों से इस ब्रह्माण्ड में विचरण कर रहा है। ज्ञान और कर्म ही ऐसे अस्त्र हैं, जिन से यह राक्षसों का वध कर सकता है, इन्हीं के द्वारा यह सुकृतियों के लोक तक उड़ सकता है, जहाँ इससे प्रथम पुरातन ऋषि पहुँचते रहे हैं।

गोपाल कृष्ण रूपी आत्मा के पास यही गौएँ हैं। उसकी इन्द्रियाँ वस्तुतः उसकी शक्तियां हैं। गौ का अर्थ इन्द्रिय लोकप्रसिद्ध भी है। पर इन इन्द्रियों में साधारण गौओं से विशेषता यही है, कि ये अपने इन्द्र का साथ कभी नहीं छोड़तीं। इनका गोपति आत्मा इन इन्द्रिय रूपी गौओं के साथ सदैव संयुक्त रहता है।

गोपाल कृष्ण का यह आध्यात्मिक रूप है। उनका जो ऐतिहासिक रूप है, उससे इस आध्यात्मिक रूप की कई अंशों में भिन्नता है। इस भिन्नता का उल्लेख प्रारम्भ में केवल संकेत रूप में किया गया है। इन दो रूपों के अतिरिक्त उनका एक काल्पनिक रूप भी है, जिसका वर्णन कविजन बार-बार करते रहे हैं। कल्पना में कई अनुभव एक होकर नवीन रचना रचते हैं। इस रूप में कल्पना सामूहिक रूप से नहीं, अपने अंशों और अवयवों में सत्य होती है। कृष्ण का अर्थ आकर्षण करने वाला है। गोपाल कृष्ण तो अपने आध्यात्मिक, ऐतिहासिक एवं काल्पनिक तीनों ही रूपों में परम आकर्षणकारी हैं।

ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्।

उन ख्यातिपूर्ण मार्गों का जिन्हें बुद्धि वा पवित्र कर्मों द्वारा
निर्माण किया गया है संरक्षण करो।

दश प्राण

श्री मदनमोहन विद्यासागर, हैदराबाद

भारत के प्राचीन शरीर विज्ञानियों या योगशास्त्रियों ने मानव शरीर में सबसे मुख्य धारक शक्ति 'प्राण' नामक एक तत्त्व है, ऐसा अनुसन्धान अत्यन्त प्राचीन काल में कर लिया था। वर्तमान शरीरशास्त्रवेत्ताओं ने जैसे 'वाइटैलिटी' या 'विटैमिन' इनका अविष्कार किया है यह कुछ ऐसा ही है परन्तु शरीर में 'वाइटैलिटी' या जीवनशक्ति बढ़ाने के लिए वर्तमान चिकित्सकों के विटामिन ए, बी, सी, की तरह से उन प्राचीन चिकित्सकों ने प्राण अ, प्राण आ, प्राण इ, प्राण ई,... इस प्रकार 'प्राणपिल्स' का अविष्कार नहीं किया। उन्होंने प्राणविद्या का विकास किया, जिससे कि प्रत्येक मनुष्य साधनविहीन भी क्यों न हो, अपने जीवन में स्वास्थ्य लाभ कर सकता था। उन्होंने 'प्राणायाम' नामक एक ऐसी क्रिया का आविष्कार एवं प्रयोग किया जिससे 'मानवशरीर' में होने वाले प्राण का नियमन, संवर्धन सामर्थ्य सब मनुष्य के हाथ में हो गया। इससे न केवल उसने 'शारीरिक स्वास्थ्य' लाभ ही किया, अपितु 'मन का वशीकरण' भी कर लिया। परिणामतः उसे 'आत्मप्रसाद' नामक एक स्थिति की प्राप्ति हुई, जिससे उसकी सूक्ष्म शक्तियों का विकास हुआ। इससे विपरीत 'विटैमिन' का प्रयोग शरीर में रोगजन्तुनिरोध भी न कर सका। चित्त की वृत्तियों के निरोध की तो बात ही क्या? प्राणविद्या को जान तदनुसार प्राणायाम करके भूमि के गर्भ में कुछ काल जीवित रहने का चमत्कार योगियों ने किया, परन्तु विटैमिन की गोलियां पूंजीपतिवर्ग की उत्पत्ति या पूंजीपतियों को जीवन देने के सिवा कुछ न कर सकीं।

यद्यपि प्राण अ, प्राण आ...आदि रूप में किसी चीज का आविष्कार तो नहीं हुआ तथापि इस 'प्राण' के भेदों का निरूपण अवश्यमेव प्राचीन भारतीय आयुर्वेदशास्त्रियों ने कर लिया था। इन भेदों का परिचय प्राप्त करने का यह लाभ है कि जिज्ञासु अभ्यासी अपने को सर्वथा निरोग रख सकता है। प्राण दश प्रकार से मानव शरीर में कार्य करता है या शरीर में जीवन क्रिया मुख्य तौर पर दश रूपों में व्यक्त होती है। एक-एक प्राण का भेद, उस-उस क्रिया से सम्बद्ध है। यदि वह

विशेष क्रिया अर्थात् तत्सम्बन्धी देहदशा विकृत होती है, तो उससे सम्बद्ध 'प्राण का आयाम' (संकोच-विकासात्मक प्रयत्न) किया जा सकता है।

जब मनुष्य शारीरिक रूप में 'स्वस्थ' (अपने आपे में आश्रित, वैद्यों या औषधियों पर आश्रित नहीं) होता है, तो उसे 'मानसिकस्वस्थता' (मन का वशीकरण या चित्तवृत्ति निरोधता) स्वयमेव प्राप्त हो जाती है। इसीलिए योगशास्त्रकार ने—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।। यो० द० १।३४।।

"प्राण को नासिका पुट द्वारा (प्रयत्न विशेष से) बाहर फेंकने और बाहर रोकने से मन की स्थिति सम्पादन करनी चाहिये" ऐसा लिखा है।

यहाँ मुझे प्राणायाम क्रिया' या 'प्राणायाम के भेदों' का वर्णन नहीं करना है। यहाँ तो 'प्राण' के सम्बन्ध में ही संक्षिप्त विवरण देना है।

सब इन्द्रियों का कार्य प्राण के व्यापार से चलता है। सब इन्द्रियां 'अन्नाद्वैजायन्ते।' ये वैतनिक सेवकों जैसी हैं। परन्तु प्राण वेतनभोगी न होकर अवैतनिक कार्यकर्त्ता-स्वयं-सेवक है। इसको अपने अनुकूल कर लेने की कलापूर्ण साधना का नाम ही 'प्राणायाम' है, जिसके अभ्यास से "अग्निसंयोग से धातुओं के मल नष्ट होने की तरह ही (वेतन भोगी) इन्द्रियों के सब दोष (करप्टेड मूवमेण्ट्स) नष्ट किये जा सकते हैं।"

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ।। (मनु०)

इन्द्रियों में बाह्य विकार से शरीर अनारोग्य होता है और आन्तरिक दोषों से चित्त की वृत्तियां विक्षिप्त होती हैं। इन दोषों को दूर करने में प्राणायाम ही उत्तम साधन हैं। इस प्रकार प्राणायाम चित्त की एकाग्र स्थिति करता है। 'चित्त की एकाग्रता करने में समर्थ' व्यक्ति की संकल्प शक्ति (विल-पावर) अतिशय रूप में तीव्र (स्ट्रौंग) हो जाती है।

चित्त (माइण्ड) की वृत्तियां (फंकशन्स) के ज्ञान के सदृश प्राण के नानाविध धर्मों (विशेषताओं) प्रभावक चेष्टाओं) का ज्ञान भी योगमार्ग के पथिक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। प्राण श्वास या हवा नहीं है, जैसा कि साधारणतः लोक मानता है और न यह आत्मतत्व है, जैसा कि अधिकांश पाश्चात्य विद्वान् मानते हैं। भारतीय दार्शनिकों के अनुसार प्राण वह जड़ तत्व है, जिससे श्वास-प्रश्वास आदि समस्त क्रियायें एक जीवित शरीर में होती हैं।

यह एक प्रकार की अग्नि है, जिससे शरीर में उष्णता रहती है। इसीलिए 'शरीर का उष्ण रहना' जीवन और 'शरीर का ठण्डा' हो जाना मरण कहता है। आर्य वाङ्मय में कई स्थलों में प्राण को अग्नि कहा है—

प्राणो अमृतं तद् हि अग्नेः रूपम् ।। शतपथ १०-२-६-१८ ।।
प्राणो वाग्निः ।। श० प० २-२-२-१५ तथा श० प० ६-३-१-२१ ।।

तदग्निर्वै प्राणः ।। जैमि० उप० ब्राह्मण ४-२२-११ ।।
ते वा एते प्राणा एव यद् आहवनीय गार्हपत्यान्वाहार्यपचनाख्याः अग्नयः ।।
श. प. २-२-२-१८ ।।
प्राणाग्नयः एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति ।। प्रश्नो० ४।३-४।।

ऐसा समझना चाहिए कि 'वायु' के माध्यम द्वारा प्राण शरीर में कार्य करता है। अगर मनुष्य को विद्युत्स्पर्श हो, तो वह इसीलिए निष्प्राण हो जाता है क्योंकि उसका प्राण अपने सजातीय द्रव्य विद्युत् में मिल जाता है।

विश्व के सब प्रख्यात वैज्ञानिक भी मानते हैं "वायु में एक ऐसा विशेष पदार्थ या शक्ति होती है जो वास्तव में जीवन एवं बल प्रदान करती है। वायु में विद्यमान इसी शक्ति की प्राण संज्ञा है। चेतन जगत् में सब जीव और वनस्पतियाँ श्वास द्वारा हवा में से प्राण को ग्रहण करती हैं। यदि हवा में प्राणशक्ति का अभाव हो जावे, तो मनुष्य में जीवित रहने की शक्ति न रहे। ताजी तथा शुद्ध हवा में प्राणतत्त्व अधिक मात्रा में रहता है। श्वास-प्रश्वास के द्वारा यह प्राण प्रत्येक शरीर में थोड़ी बहुत मात्रा में प्रविष्ट होता रहता है, जो रुधिर तथा ज्ञानतन्तु मंडल को शुद्ध तथा स्फूर्त करता रहता है।" आत्मा शरीर में प्रविष्ट होकर जब इस प्राण को धारण करता है तब वह 'जीवित' कहाता है और समस्त इन्द्रियां एवं ज्ञानतन्तु मण्डल अपना-अपना कार्य करते हैं। प्राण के निकलते ही श्वास-प्रश्वास बन्द हो जाता है, इन्द्रियां क्षीण हो जाती हैं और आत्मा शरीर को त्याग देता है और तब वह 'मृत' कहा जाता है।

(तैत्तरीय) उपनिषद् में कहा है कि—

प्राणं देवा अनुप्राणन्ति, मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो ह भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यते।
(तै० उप० ब्रह्म व० अनु० ३)

"देवा=समस्त सक्रिय पदार्थ प्राण के सहारे चलते हैं और इनमें मननशील मनुष्य तथा केवल इन्द्रियचेष्ट पशु भी प्राण के सहारे सांस लेते हैं। प्राण सब भूतों—उत्पन्न पदार्थों—का आयु है, इस लिये यह सर्वायुष कहलाता है।" पांच भूतों से बने पदार्थों में जिन-जिन में आत्मा निवास करता है वे पदार्थ प्राणसंबन्ध से 'चैतन्य' कहाते हैं; जैसे मनुष्य पशुपक्ष्यादि और पाँच भूतों से बने जिन पदार्थों में आत्मा आश्रय नहीं लेता, वे पदार्थ प्राणसम्बन्ध से 'जीवितमात्र' या सक्रिय कहाते हैं; जैसे सूर्य चन्द्रादि तथा पृथ्वी आदि। इनमें जो 'चलन-वर्धन-विकरण' के कर्म हैं वे सब इस प्राणशक्ति के कारण ही होते हैं।

छान्दोग्योपनिषद् में आता है कि :—

सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यान्ति। (छा० १।९।१)।
सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति, प्राणमभ्युज्जिहते। (छा० १।११।५)।
"सर्गारम्भ में पांचों स्थूलभूत और उनसे निर्मित लोकलोकान्तर तथा सारे जङ्गम-स्थावर

पदार्थ अपने उपादान कारण आकाश में प्राणशक्ति द्वारा प्रादुर्भूत होते हैं। अर्थात् इस प्राणशक्ति के सम्बन्ध से जीवित एवं सचेष्ट रहते हैं। प्रलय के समय इसका आश्रय अर्थात् सम्बन्ध छूटने के कारण निर्जीव निश्चेष्ट अर्थात् कार्यरूप से नष्ट होकर आकाश में पुनः लीन हो जाते हैं।"

इसी बात को तैत्तिरीय उपनिषद् भृगुवल्ली ३ में निम्न प्रकार से कहा है:—

प्राणाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रत्यभिसंविशन्तीति॥

"प्राण से ही सब भूत उत्पन्न अर्थात् व्याकृत रूप से सत् होकर, प्राण से ही जीवित रहते हैं और फिर प्रलयावस्था में प्राण में प्रवेश करते हैं अर्थात् अव्याकृत रूप में सत् (विद्यमान) रहते है।"

यह प्राण जैसे समष्टि रूप से सकल ब्रह्माण्ड (विराट्) के 'संचालन' (गति) का कारण है, वैसे ही यह प्राण व्यष्टि रूप से पिण्ड शरीर को भी गतिमान-सचेष्ट-सजीव किये हुए है। न केवल इससे मनुष्य का शरीर ही, अपितु सारे जड़ पदार्थ, सूर्य चन्द्रादि, जड़वत्प्रतीयमान, वृक्ष लतादि तथा चेतन, कीट, पतंग, जलचर पशुपक्षि आदि शरीर भी जीवन पा रहे हैं।

(प्रश्नोपनिषद्) के अनुसार "आकाश से उत्पन्न हुए वायु-अग्नि-जल-पृथ्वी और इनके परमाणु से लेकर बड़े-बड़े तारागण एवं सूर्य मण्डल सब *रयि* हैं। वह शक्ति जिससे इनमें गति या कम्पन या हरकत हो रही है तथा जिससे ये सब स्थिर रहकर अपना कार्य कर रहे हैं, वह *'प्राण'* है। प्राण जीवनशक्ति है और रयि मूर्त्त-अमूर्त्त सकल पदार्थ हैं जो प्राण की शक्ति से अपनी सत्ता (व्यक्तित्व) को रखते हुए कार्य करते हैं।

वेदों में 'प्राण' का उल्लेख कई स्थानों पर है। अथर्ववेद में पृथक् 'प्राणसूक्त' है, जिसमें प्राण की महिमा का वैज्ञानिक वर्णन है। यद्यपि इसमें प्राणों के नानाविध कार्य की चर्चा है, तो भी भिन्न-भिन्न नामों का परिगणन कर 'प्राण' इस एक नाम से ही इन सबका निर्देश किया है। इसी प्रकार यजुः अ० ४ मंत्र १५ में भी—

पुनर्मनः पुनरायुम आगत् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगत्··· ॥

कुछ ऐसा ही निर्देश है। परन्तु लोक में 'पंचप्राण' तथा 'दशप्राण' ये दोनों शब्द प्रसिद्ध हैं। अर्थात् पांचों के मुख्य पांच भेद और कुल मिलाकर 'दशभेद' किये गए हैं। वेदों में कई स्थलों पर प्राण और अपान दो का वर्णन भी पाया जाता है। जैसे—**अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती॥ यजुः ३।७ तथा अथर्व ७।५।३-२ संक्रामतं, मा जहीतं, प्राणापानौ सं सयुजाविहस्ताम्॥** कई स्थलों पर वेदों में 'प्राण, अपान और व्यान' इस प्रकार से 'प्राणत्रय' का वर्णन भी मिलता है।

प्राणाय स्वाहाऽपानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा··· ॥यजु० २२।२३॥

परन्तु 'पंचप्राण' या 'दशप्राण' का वर्णन हमें वेदों में उपलब्ध नहीं हुआ। प्राणों का इस प्रकार वर्गीकरण हठयोग के ग्रन्थों में ही उपलब्ध होता है; पातंजल योग शास्त्र में भी ये भेद नहीं हैं। जैसा भी हो आगे इन सब प्राणों का वर्णन करते हैं। मानव शरीर में वृत्ति के कार्य-भेद

से वह प्राण मुख्यतया दशविध कहा गया है ।

प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः ।
नागः कूर्मोऽथ कृकलो देवदत्तो धनञ्जयः ॥ गोरक्षसंहिता ॥

मुख्य प्राण दस हैं:—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय । इन्हीं को 'दशविधि वायु' भी कहते हैं । वायु अर्थात् प्राणवायु । इनमें पहले पांच मुख्य हैं और पिछले उन्हीं के अन्तर्गत हैं ।

हृदि प्राणो वसेन्नित्यमपानो गुह्यमण्डले ।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः ॥
व्यानो व्यापी शरीरे तु प्रधानाः पंचवायवः ॥ गोरक्षसंहिता ॥

"हृदय में प्राणवायु, गुह्यदेश में अपान, नाभिकेन्द्र में समान, कण्ठमध्य में उदान और सारे शरीर में व्यान व्याप्त है। ये प्रधान पंचवायु हैं ।"

इन सब में प्राणवायु सबसे प्रधान है । अन्य सब प्राण इसके आधीन हैं । अर्थात् जब तक देह में प्राणवायु रहता है, तब तक अन्य प्राण भी अपने-अपने क्षेत्र में अपने-अपने नियत कर्मों को करते रहते हैं। ये सब प्राण उपासनायोग में लग्न जीवात्मा के शरीर की रक्षा करते हैं। प्राणों को वश में करने का नाम 'प्राणायाम' है। प्राणों को अपने अधिकार में चलाने वाले मनुष्य का अधिकार उसके शरीर, इन्द्रिय तथा मन तीनों पर हो जाता है ।

प्राणायाम में 'प्राण-अपान-समान' इनका विशेष काम होता है; इनसे चार प्राणायाम भी किये जाते हैं परन्तु अन्य प्राणों का प्राणायामों में कुछ काम नहीं लिया जाता । प्राणायाम करने के समय सब प्राणों की गति सूक्ष्म हो जाती है। इनमें प्राणवायु का स्थान हृदय है, वहाँ व्याप्त होकर नासिका-पुट द्वारा बाहर की ओर चलता है। अपानवायु गुदा में व्याप्त होकर नीचे की ओर गति करता है। समानवायु नाभिकेन्द्र में व्याप्त होकर भुक्त अन्न आदि को पचाकर एक जातीय या एक रस बनाता है।

'पूरक' में प्राणवायु को हृत्प्रदेश से गुदास्थान तक लेजाकर अपानवायु से मिलाया जाता है, 'रेचक' में अपानवायु को गुदास्थान से प्राण द्वारा ऊपर की ओर खींचा जाता है और 'कुम्भक' में प्राण-अपान दोनों की गति को समान वायु के स्थान नाभिमण्डल में रोक दिया जाता है (गीता ४।२७ द्रष्टव्य है) ।

अब दश प्राणों का विवरण देते हैं—

पायूपस्थेऽपानं, चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः
स्वयं प्रातिष्ठते, मध्ये तु समानः । एष ह्येतद्धुतमन्नं
समन्नयति तस्मादेतः सप्तार्चिषो भवन्ति ॥ प्रश्नो० प्र० मं० ५ ॥
तथा द्रष्टव्य प्रश्नो ४।३-८॥ प्राणाग्नय एतस्मिन्पुरे जाग्रतोति···॥

निःश्वासोच्छ्वासकासाश्च प्राणकर्मेति कीर्तिताः।
अपानवायोः कर्मैतद् विण्मूत्रादिविसर्जनम् ॥
हानोपादानचेष्टादि व्यानकर्मेति चेष्यते।
उदान-कर्म तत्प्रोक्तं देहस्योन्नयनादि यत् ॥
पोषणादिसमानस्य शरीरे कर्म कीर्त्तितम्।
उद्गारादिगुणो यस्तु नागकर्मेति चोच्यते ॥
निमीलनादिकूर्मस्य क्षुधं वै कृकलस्य वै।
देवदत्तस्य विप्रेन्द्र ! तन्द्री कर्मेति कीर्त्तितम्।
धनंजयस्य शोफादि सर्वकर्म प्रकीर्त्तितम् ॥

(योगी याज्ञवल्क्य ४ अ० ६६-६९ श्लोक)

नाग कूर्म कृकल देवदत्त धनञ्जय रूपाः पञ्चवायवः।
एतेषां कर्माणि च यथाक्रमं उद्गारोन्मीलन क्षुधाजनन विजृम्भण मोहरूपाणि ॥
(संगीतदर्पणे, अ० १।श्लोक ४३-४८ के आधार पर। राजा सुरेन्द्रमोहन टैगोर सम्पादित संस्करण)॥

प्राणः—रेचक। श्वास का अन्दर ले जाना और बाहर निकालना। मुख्यतः मुख तथा नासिका द्वारा गति करता है। साधारणतः भीतर से सात छिद्रों (१ मुख, २ नासिका छिद्र, २ आँख, २ नाक) द्वारा बाहर निकलता और भीतर के दूषित परमाणु बाहर फेंकता है। भुक्त अन्न एवं जल को पहचानना और अलग करना। अन्न को पुरीष, जल को स्वेद एवं मूत्र और रसादि को वीर्य बनाना प्राणवायु का ही काम है। हृदय से लेकर नासिका पर्यन्त शरीर के ऊपरी भाग में ठहरता है। ऊपर की इन्द्रियों का काम इसी के आश्रय पर है।

इस प्राणवायु को 'ब्रह्मांड' (भृकुटीमध्य) में धारणा स्थिर करके जब अभ्यास करते-करते वह वहाँ परिपक्व हो जाती है, तब धातुक्षीण (प्रदर या प्रमेह) रोग नष्ट हो जाते हैं। पुरुष का वीर्य गाढ़ा होकर हिमवत् जमता है और स्त्री के रजोविकार नष्ट हो जाते हैं। जठराग्नि प्रबलता से प्रदीप्त होकर पाचनशक्ति की वृद्धि होती है। प्राणवायु की धारणा से ही वीर्य का आकर्षण एवं पुष्टि होती है और अभ्यासी उर्ध्वरेता बनता है।

अपानः—पूरक। बाहर से भीतर आना। यह शुद्ध वायु को भीतर लाता है। दूषित वायु को गुदाद्वार से निकालता है। गुदा से मल, उपस्थ से मूत्र और अण्डकोष से वीर्य निकालता (रजः प्रस्रवण भी) तथा गर्भ आदि को नीचे ले जाता है। स्त्री गर्भाधान के समय वीर्य को इस अपानवायु से ही ग्रहण करती है। इसके अशुद्ध होने से गर्भस्थिति नहीं होती। गर्भाशय में वीर्य चढ़ाने का कार्य अपान से ही किया जाता है। अपानवायु विकृत रुधिर को भी गुदा द्वारा फेंकता है। अन्नादि को पचाने के लिए आग सुलगाना, कमर, घुटने एवं जाँघ का काम भी इसी के द्वारा होता है। नीचे की ओर गति करता हुआ नाभि से जंघामध्य (या पादतल) तक अवस्थित है। निचली इन्द्रियों का काम इसके आधीन है।

अपानवायु से वीर्य का स्तम्भन और प्राणवायु से वीर्य का आकर्षण होता है।

समानः—यह शरीर में सर्वत्र रस पहुंचाता है अर्थात् भुक्त अन्न-जल को पचा (एकजातीय) कर तथा रस बनाकर शरीर के सब अंगों तथा नाड़ियों (अर्थात् अस्थि, मेदा, मज्जा एवं चर्म बनाने वाली नाड़ियों) को पृथक्-पृथक् तदनुकूल यथायोग्य विभाग से देता है। भुक्त अन्नादि का चालीस दिन पश्चात् समानवायु द्वारा ही वीर्य बनता है।

व्यानः—इसका मुख्य स्थान उपस्थमूल से ऊपर है। साधारणतः वह शरीर में सर्वत्र गति करता रहता है, जिससे सब शरीर में चेष्टा आदि कर्म, जीवात्मा मन के संयोग से करता है। सारी स्थूल एवं सूक्ष्म नाड़ियों में गति करता हुआ शरीर के सब अंगों में रुधिर संचार करता है अर्थात् भुक्त अन्न-जल का समानवायु द्वारा बनाया हुआ रस रुधिर होकर इस व्यानवायु द्वारा ही समस्त देह में भिन्न-भिन्न नाड़ियों द्वारा फिरता है।

उदानः—कण्ठमूल में रहता हुआ शिरपर्यन्त गति करने वाला है। शरीर को उठाये रखना और बल, पराक्रम, वृद्धि इसका काम है। इससे ही कण्ठगति अन्न-पान भीतर को खींचा जाता है अर्थात् खाये-पिये पदार्थों को कण्ठ से नीचे की ओर खींच ले जाकर समानवायु को सौंप देता है।

इसको यम भी कहते हैं, क्योंकि मृत्युकाल में अन्न-पान को ग्रहण करने (कण्ठ से नीचे उतारने) के कार्य को बन्द कर देता है और मृत प्राणी के जीवात्मा को लिंग शरीर के साथ निकालकर उसके शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार यथायोग्य मनुष्यादि योनि तथा स्वर्ग-नरक (सुख-दुःख की सामग्री) आदि भोग के स्थान में पहुँचा देता है (प्रश्नो० प्र० ३। मं० ६, अर्थात् उदान द्वारा ही मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर से बाहर निकलना तथा पश्चात् सूक्ष्म शरीर के कर्म, गुण, वासनाओं और संस्कारों के अनुसार पुनः गर्भ में प्रवेश होता है।

स्वप्नावस्था की गाढ़ निद्रा में यह जीवात्मा को परमात्मा के आधार में स्थिर करता है। उस समय जीव को जो आनन्द होता है, वह नहीं जानता कि ऐसा आनन्द किस कारण से हुआ है, समाधि में यह योगी को परमात्मा से मेल कराके उसके आधार में आनन्द प्राप्त कराता है। उस समय परमेश्वर का यथावत् ज्ञान व साक्षात् होने से जो आनन्द होता है, वह वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता।

उदान के द्वारा ही पिण्ड (शरीर) के व्यष्टि प्राण का ब्रह्माण्ड के समष्टिप्राण से सम्बन्ध है। योगी जन इसी के द्वारा स्थूल-शरीर से निकल कर लोक लोकान्तर में घूम सकते हैं, ऐसी प्रसिद्धि है। मेरे विचार में यह सत्य नहीं (द्रष्टव्य 'ध्यानयोगप्रकाश' तृ० सं० १९५५ वि० सं० पृ० २६०)।

नागः—इसके द्वारा उद्गार अर्थात् छींकना, डकारना, अनिच्छित वमन एवं दस्त आदि होते हैं।

कूर्मः—इसके द्वारा शरीर में संकोचनीय कार्य, यथा पलक मारना आदि होते हैं।

कृकल:—इसके द्वरा क्षुत्पिपासा की उत्पत्ति अर्थात् भोजन-पान आदि की इच्छा होती है।

देवदत्त:— इसके द्वारा निद्रा, तन्द्रा, जम्हाई आदि होते हैं।

धनञ्जय:— इसके द्वारा मोह अर्थात् मूर्छा, बेहोशी, वेसुध होना तथा खर्राटा भरना आदि होते हैं। धनंजय वायु में संयम करने से आयु बढ़ती है।

ईश्वर साक्षात्कार (योग) में चित्त की वृत्तियों का निरोध आवश्यक है। चित्तवृत्तियों के निरोध का सर्वोत्तम साधन 'अष्टाँग योग' है। इसमें 'प्राणायाम' मुख्य है। इसके बिना 'प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि' की सिद्धि नहीं हो सकती। प्राणायाम के लिए प्राणतत्त्व का ज्ञान आवश्यक है। जिस-जिस स्थान में जो-जो प्राण रहता है, उस-उस में पृथक्-पृथक् संयम करने से प्रत्येक प्राण के स्वरूप तथा उस-उस की चेष्टाओं का यथावत् ज्ञान होता है। जो पुरुष इन प्राणों के 'गुण कर्म स्वभाव-स्थिति' को यथावत् जानकर यथायोग्य कार्यों में संयुक्त करता हैं, वही 'ब्रह्मविद्' हो सकता है।

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति।

जो कोई उस अविनाशी सत्ता को नहीं जान पाता, वह ब्रह्म के तत्व ज्ञान के अभाव में केवल मात्र वैदिक ऋचाओं के अध्ययन मात्र से जीवन के परमोद्देश्य को प्राप्त नहीं हो सकता।

आर्य भक्ति-पंचक

श्री विश्वबन्धु शास्त्री एम० ए०, एम० ओ० एल०,
ओ डी-ए (फ्रांस) के. टी. सी. टी. (इटली) होशियारपुर

१. भक्ति जीवन का रस है। यह हृदय की तरंगों की एकतानता है। यह मन की दौड़-धूप का एक लक्ष्य पर केन्द्रित होना है। यह सब संशयों और संदेहों के घटाटोप बादलों को छिन्न-भिन्न करने वाला मध्याह्न का प्रचण्ड सूर्य है। निराशा और कायरता की अमावस्या की रात्रि में पूर्ण चन्द्र का प्रकाश है। वास्तव में वह मनुष्य मनुष्य नहीं हो सकता, जिसके जीवन में इस दिव्य-शक्ति का अद्भुत बल न हो। यह वह सदा सुगन्धित पुष्प है, जो नीरस हृदय को रसयुक्त और आवासित कर देता है। यह वह जीवन लता है, जिसकी महक से सूखी हुई अन्तःकरण की कोपलें हरी-भरी हो जाती हैं। प्रत्येक आर्य के जीवन में भक्ति विशेष रूप से प्रकट होती रहनी चाहिए। वेद के उच्च आदर्शों को सामने रखते हुए इस भक्ति के पाँच अंग स्पष्ट दिखाई देते हैं। प्रत्येक आर्य को चाहिये कि इस पंचांग-भक्ति को समझकर अपने हृदय में प्रतिष्ठित करे।

२. *भगवद् भक्ति*—ऋषियों के बताये हुए मार्ग के अनुसार, हमें सच्ची आस्था से युक्त होकर, प्रभु चरणों में सदा झुकना चाहिए। कम से कम सायं-प्रातः अपनी विनती का प्रकाश करना आवश्यक है। पाँच मिनटी संध्या को पर्याप्त न समझकर, प्रत्येक आर्य को यम, नियम आदि का पालन और आसन, प्राणायाम का अभ्यास करते हुए ध्यान तथा समाधि का प्रयत्न करना चाहिये।

३. कई लोगों का यह कहना है कि अब इतना समय नहीं मिल सकता कि आसन लगाकर देर तक संध्या की जावे। इस कथन में कोई सार प्रतीत नहीं होता। साधारणतया लोगों के जीवन में समय का नाश अब भी वैसा ही होता है, जैसा कि शायद पहिले होता होगा। खेल और तमाशों में, हँसी और ठट्ठों में, जूए और शतरंज में, आज भी मनुष्य पर्याप्त समय खोता है। यदि उसे विश्वास हो जावे कि प्रभु की भक्ति सब थकावट को दूर करने के लिए और कार्य करने की शक्ति को बढ़ाने के लिए अनुपम औषध है, तो अवश्यमेव वह व्यर्थ के कई और व्यसनों को छोड़कर इस

पवित्र व्यसन को धारण करेगा।

४. ध्यान और समाधि का भाव सुनकर डरना नहीं चाहिए। योग के अंगों का धारण करना जीवन की सफलता की कुञ्जी है। जो लोग जीवन की दौड़-धूप से विरक्त होकर, मोह-माया से ऊपर उठ जाते हैं और आत्म-साधना द्वारा प्रभु के समीप होते जाते हैं, वे धन्य हैं,परन्तु जो व्यवहार में, दिन-रात की रगड़-झगड़ में, नाना प्रकार के प्रलोभनों के सामने, भयंकर संकटों और आपत्तियों की दाढ़ों के नीचे, अपनी सत्यता, निरभिमानता, प्रभुभक्ति और सज्जनता के आधार पर खड़ा हो सकता है, वह कर्मवीर, वीर, मनस्वी, योद्धा, यमी और योगी से कम नहीं है। प्रभु की वास्तविक भक्ति सचमुच नित्य के जीवन-प्रवाह में ही प्रकट होती है।

५. सच्चे भक्त के माथे पर कान्ति तथा तेज का प्रकाश होता है। उसके भाषण में गौरव, गम्भीरता और मधुरता आ जाती है। उसका व्यवहार शान्ति और शुद्धि से भर जाता है। चिड़-चिड़ापन, धड़ाबन्दी, गाली-गलोच तथा हठधर्मी कुलक्षण दूर भागते हैं। सच्चा भक्त थोड़ा बोलता है, परन्तु उसका एक-एक शब्द सारगर्भित तथा आकर्षक होता है।

६. *वेदभक्ति*—प्रभु की यह अपार दया है कि वह हम निस्सहायों की सहायता के लिए ऋषियों और मुनियों के हृदयों में ज्ञान का प्रकाश करता है। प्रभु की प्रेरणा से प्रकाशित होकर वेद आदि सृष्टि से आर्य-जीवन का मूल स्रोत बना आ रहा है। वैदिक ऋषियों का यह प्रकाश अज्ञानके अन्धेरे को मूल से नाश कर देता है। पथभ्रष्टों को मार्ग दिखाता है। निर्बलों को बल प्रदान करता है। एकान्त में सच्चे मित्र के समान मीठी तथा सच्ची बातें सुनाता है। प्रत्येक आर्य को चाहिए कि इस पवित्र अमृतस्रोत में प्रतिदिन कुछ काल स्नान किया करें।

७. यह भक्ति दो प्रकार से प्रकट हो सकती है। प्रथम जितना बन पड़े, नित्य स्वाध्याय का व्रत धारण करना चाहिए। ऋषि दयानन्द ने आर्य समाज के नियमों में इस भाव को परमधर्म माना है। विचार करने से प्रतीत होता है कि सब शास्त्रों का तथा सब धर्मोपदेशों का मूल स्रोत होने से, वास्तव में वेद पर आश्रित होना ही परमधर्म है। इसके करने से पुराने आर्य-जीवन की ज्योति के फिर जग जाने की आशा हो सकती है।

८. हमारी बात-चीत में वेद तथा वैदिक साहित्य के प्रति पूर्ण श्रद्धा का प्रकाश हो। इसके लिए आवश्यक है कि हमारे हाथ में सुन्दर रूप में वेद की पुस्तकें आवें और हम उन्हें पढ़कर, अच्छे-अच्छे मन्त्र स्मरण करें और जहां अवसर हो, लोगों को उन्हें सुनावें। अब तक जो इस ओर हमने उपेक्षा को धारण किये रक्खा है, उसका प्रायश्चित्त करना होगा। हमारी वेदभक्ति का यह परिणाम होना चाहिए कि हमारे समाज में अच्छे-अच्छे वेद के विद्वान् उत्साहित होकर सुन्दर साहित्य की रचना करें। वेद का प्रत्येक भाषा में अनुवाद हो और प्रत्येक पुस्तक के नये-नये संस्करण निकलें। प्रत्येक आर्य को यह अपना नित्य का कर्त्तव्य बनाना चाहिये कि प्रतिदिन कुछ वेद-मन्त्रों का अर्थ सहित पाठ कर लिया करें। इससे क्रियात्मक रूप से वेद का प्रचार बढ़ेगा।

९. *ऋषिभक्ति*—आरम्भ काल से ऋषियों ने वेद प्रचार के प्रति जीवन दान किये रक्खा है।

हम तक उन्होंने ही यह सारा बहुमूल्य भण्डार पहुँचाया है। हमें उनके प्रति सदा आदर का भाव प्रकट करना चाहिए। जिस प्रकार उनके जीवन में तप और त्याग की प्रधानता थी, वैसे ही हमारे जीवन में भी इन गुणों का समावेश होना चाहिये। आर्यसमाज में कुछ ऐसे लोगों का भी होना अत्यन्त आवश्यक है, जो सर्वत्र देश-देशान्तर में वेद के उच्च विचारों का विस्तार करना ही अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य बनावें। वेद की विद्या उनका धन हो, सारा संसार उनका परिवार हो और सर्वत्र प्रेम का व्यवहार करते हुए अपने विशाल भाव से वह सबका उपकार करने वाले हों। उनके चित्त में सहानुभूति का समुद्र सदा तरंगित रहता हो। यही प्राचीन ऋषियों का भाव था। उनके पवित्र जीवन चरित्रों को प्रत्येक आर्य को मनन करते रहना चाहिए।

१०. विशेषकर हमारा ऋषि दयानन्द के साथ समीपतम सम्बन्ध है। हमें चाहिये कि उनके आदेशानुसार, अपना व्यवहार करते हुए, मन, वचन और कर्म से उनकी कीर्ति का विस्तार करते रहें, परन्तु उनके विचारों के विपरीत आचरण करना और मौखिक रीति से ही केवल उन्हें बड़े शब्दों से युक्त करना और सर्वज्ञ कहते रहना पक्की नास्तिकता है। ऋषि की आज्ञानुसार विद्या और तप की वृद्धि कर शुद्ध चित्त होकर, वैदिक साहित्य का मनन तथा प्रचार करो। यही सच्ची श्रद्धा है और यही वास्तविक भक्ति है। यह प्रकाश का मार्ग है, दूसरा अन्धकार का मार्ग है। प्रकाश में विचरो, यही ऋषि चाहते थे।

११. *देशभक्ति*—जिस मातृभूमि पर हम पैदा होते और स्थिति को धारण करते हैं, जिसके जल, वायु तथा अन्न हमारा जीवन हैं और जिनके न पाने से हम विदेश में व्याकुल हो जाते हैं, उसके प्रति श्रद्धामयी भक्ति की भावना अत्यन्त आवश्यक है। इसका प्रकाश चित्रों के सामने प्रतिदिन मस्तक झुकाने से, वृक्षों के गिर्द तागे लपेटने से, पर्वतों की प्रदक्षिणा से, या नदियों में स्नान करने से नहीं हो सकता। हाँ, यह प्रत्येक आर्य में उत्कट इच्छा होनी चाहिए कि मैं अपने देश को देखूँ। शीतल नदियों के तीर पर, सघन वनों में, हिमावृत पर्वतशिखरों पर, सूर्य की धूप में और पूर्ण चांद की चांदनी में वह आनन्द है, जो प्रत्येक हृदय को अपने देश के साथ बांधे रखता है।

१२. परन्तु यह केवल बाहिर का प्रेम है। वास्तविक देशभक्ति इसमें है कि हम अपने देश को अधिक सम्पत्तिशाली और अपने देशवासियों को अधिक सुखी और उन्नत करने का यत्न करते रहें। अपने धर्मानुसार देश-हित तथा जाति-हित के कार्यों से आर्यों को कभी कन्धा न हटाना चाहिए। यह संतोष की बात है कि अपने आचार्य का अनुकरण करते हुए आर्य सज्जन सदा इस विषय में अग्रसर ही पाये गये हैं। प्रभु करें कि ऐसे ही सदा बने रहें।

१३. *विश्वभक्ति*—इससे भी ऊपर उठा हुआ और अधिक विस्तारमय भाव, समस्त संसार की भक्ति का होना है। आत्मिक दृष्टि से जब मनुष्य का शरीर भी उससे पृथक् है, तो उसका इसके मोह में ग्रस्त होकर यह अपना है, भिन्न है, यह शत्रु है, ऐसी कल्पना करना भी अविद्याश्रित है। आत्मा परमात्मा में विचरता है और वह सब स्थानों पर एक रूप होकर विराजमान है। सब प्राणी

उसकी प्रजा हैं। अतः प्रत्येक आर्य को विश्वव्यापक भ्रातृभाव तथा शुभचिन्तकता को धारण करना अपना धर्म समझना चाहिए।

१४. दूसरी जातियों तथा लोगों से स्नेह करता हुआ भी, वह अपनी जाति तथा देश से विशेष प्रेम रख सकता है। बढ़ता-बढ़ता यह भाव, मनुष्यों के अतिरिक्त, समस्त प्राणियों तक जा पहुँचता है। उस समय भक्ति की प्रथम कोटि और यह पाँचवी कोटि एक आकार हो जाती है। वस्तुतः जितना अधिक एक व्यक्ति प्रेममय बनता जाता है, उतना परमात्मा के समीप होता जाता है। परमात्मा प्रेमरूप है। उसकी दृष्टि में कोई भी ऐसा प्राणी नहीं, जो उसके प्रेम का पात्र न हो। यह उसके अगाध प्रेम का ही परिणाम है कि पतित से पतित लोगों को उन्नत होने की नित्य नई सामग्री और प्रेरणा मिलती है। यह वह आदर्श प्रेम है, जिसमें मस्तक और हृदय, विचार और वासना, न्याय और दया एक हो जाते हैं। संकोच तथा छूआछूत के निन्दित विचारों को त्यागकर, सब को अपना लेने का विचार आते ही आर्य धर्म समस्त संसार का धर्म बना बनाया है।

१५. यह भक्ति-पंचक हममें से प्रत्येक को अपनी नासिकाओं का श्वास बनाना चाहिये। यह आर्य जीवन का सार है, यह आर्यकृति का निचोड़ है। यह हम में से प्रत्येक के धारण करने योग्य शाश्वत धर्म है। यह आर्य धर्म प्रचार का सबसे प्रथम और प्रबल साधन है। शेष सब इसी के सहायक और इसी के अधीन हैं। इन विचारों को दृढ़ करके दूसरे उपसाधनों का विचार करना चाहिए।

चित्रं देवानामुदगादनीकम्।

समस्त विश्व ब्रह्माण्ड की परिक्रियाओं का सञ्चालन
असंख्यात दिव्य शक्तियों के द्वारा हो रहा है उन समस्त
दिव्य शक्तियों का आधार स्वरूप परमात्मदेव है
जो अतिविचित्र जीवनीशक्तिस्वरूप है।

आर्यसमाज के महान् सिद्धान्त

श्री मुनीश्वरदेव जी, सिद्धान्तशिरोमणि, अम्बाला

एकेश्वरवाद—आर्यसमाज संसार के मनुष्यों के लिए केवल एक ईश्वर को ही उपास्य, पूज्य एवं स्तुत्य मानता है। जैसा कि वेद स्वयं कहता है कि:—

"एक एव नमस्यो विवची उचः" ऋ० २।२०।१
"एको विश्वस्य भुवनस्य राजा" ऋ० ६।३६।४
"य एक इद् तमुष्टुहि" ऋ० ६।४५।१६

इत्यादि वेदों की अनेक ऋचाओं में ईश्वर के एकत्व का बलपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। केवल यही नहीं, वेद ने ईश्वरातिरिक्त की स्तुति का भी घोर विरोध किया है, जैसा कि:—

"मा चिदन्यद् विशंसत सखायो मा रिषण्यत"

अर्थात् प्रभु के अतिरिक्त की कभी भी स्तुति न करो, क्योंकि उसके सदृश "न त्वा वां अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते" न कोई हुआ और न होगा। इसलिए वही पूज्य एवं उपास्य है। ऐसा आर्यसमाज का मुख्य मन्तव्य है।

अग्नि आदि का नाम—अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, रुद्र, मरुत् आदि सब नाम उसी परमेश्वर के गुणकर्मानुसार गौणिक नाम हैं। कोई भिन्न-भिन्न उपास्य देव नहीं हैं। जैसा कि यजु० अध्याय ३२ मंत्र १ में स्पष्ट निर्देश है—

"तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

ईश्वर से सम्बन्ध—आर्यसमाज वेद के आधार पर यह मानता है कि ईश्वर से हमारा माता, पिता, सखा आदि का पवित्र सम्बन्ध है। भले ही अन्य मतावलम्बी ईश्वर को अपना

पिता मानते हों, परन्तु ईश्वर को मातृवात्सल्य का प्रतिनिधि आर्यसमाज के अतिरिक्त किसी ने नहीं माना। यह विशेष बात आर्यसमाज के मन्तव्यों में ही दीखेगी। इसके लिए वेद का यह पवित्र मन्त्र पठनीय है :—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे ।।

त्रैतवाद—आर्यसमाज को छोड़कर अन्य सभी सम्प्रदायों व मतान्तरों, में किसी में ब्रह्मवाद, किसी में जीववाद और किसी में प्रकृतिवाद ही माना जाता है। केवल आर्य धर्म ही है जो त्रैतवाद (ईश्वर, जीव, और प्रकृति को अनादि रूप से नित्य) मानता है। इनमें ईश्वर कर्मफल-प्रदाता, जगत् का निमित्त कारण है, जीव साधारण निमित्त कारण है तथा कर्म करने में स्वतन्त्र और कर्म फल भोक्ता है और प्रकृति उपादान कारण है। तीनों के गुण, कर्म, स्वभाव भी नित्य हैं। इनमें ईश्वर और जीव चेतन और प्रकृति जड़ है। इसके लिए वेद का निम्न प्रमाण विचार करने योग्य है:—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ।।

ईश्वरीय ज्ञान वेद—आर्यसमाज वेद को ही केवल ईश्वरीय ज्ञान मानता है, जो कि सृष्टि के आरंभ में ईश्वर ने मनुष्यमात्र के कल्याण, धर्माधर्म के बोध, कर्तव्याकर्तव्य के भेद एवं पुण्यपाप के विवेक के लिए अति कृपा करके प्रदान किया। पवित्र ज्ञान पक्षपातरहित एवं निर्भ्रान्त सत्यता से परिपूर्ण है। इसमें किसी व्यक्ति जाति, व देशविशेष के इतिहासों, जन्म-कथाओं और दृश्यों का कोई नाम को भी उल्लेख नहीं। बीजरूपेण सभी सत्य विद्याओं का वर्णन है। वैदिक शब्दों को देखकर ही मानव समाज ने अपने-अपने वस्तुजात के नाम निर्धारित किये। वेदों में जितने शब्द हैं, वे सब प्रायः यौगिक हैं, धातुज हैं। धातु के अर्थानुसार ही वैदिक शब्दों के अर्थ होते हैं, इत्यादि विचारों की पुष्टि के लिए वेदों की निम्न ऋचाएँ देखने योग्य हैं:—

"यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः" यजु० २६।२
"प्रनूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्।" यजु० ३४।५७
"देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।" अथर्व०
"चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्।" ऋ० १।३।११

वेदाधिकार—आर्यसमाज मानता है कि वेद का अधिकार स्त्री-पुरुष सभी मनुष्यमात्र को है। जैसे परमात्मा की निर्मित सृष्टि की प्रत्येक वस्तु पर सबका समान अधिकार है, वैसे ही वेद भी पवित्र प्रभु की कल्याणकारिणी पवित्र देन है। उस पर सबका समान अधिकार सिद्ध ही है। यदि प्रभु को यह अभीष्ट होता कि अमृतपुत्र शूद्र और अमृतपुत्री स्त्रियां वेद को न पढ़ें तो प्यारा प्रभु इनको पढ़ने के लिए जिह्वा, सुनने के लिए कान और विचार एवं मनन के लिए मस्तिष्क न

देता। दिया है, इसी से सबका समानाधिकार सिद्ध होता है। प्रभु की वाणी सभी के लिए कल्याण-कारिणी है, जैसा कि वेद स्वयं कहता है :—

"पावका नः सरस्वती" ऋ० १।३।१०
"सुभगा नः सरस्वती" ऋ० १।८९।३
"यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः" यजु० २६।२
"पावमानो स्वस्त्ययनी" साम० ५।२।८।३

नारी सम्मान—आर्यसमाज में नारी का स्थान अत्युच्च है। नारी समाज, परिवार, गृह की शोभा है, लक्ष्मी है, दीप्ति है, और पगड़ी के समान है। वह दासी नहीं ढोल, गँवार और पशु के समान ताड़ने योग्य नहीं, वह तो पूज्या है। नारी सन्तों की, वीरों की, देवताओं की, जननी है, खान है। नारी पुरुष की अर्द्धांगिनी है। घर में रानी का स्थान रखती है। इस विषय की पुष्टि के लिए वेद की निम्न ऋचायें देखिए। नारी अपने गौरव का स्वयं बखान करती है—

"अहं केतुरहं मूर्धाहमुग्रा विवाचनी" ऋ० १०।१५९।२
"मम पुत्राः शत्रुहणोऽथ मे दुहिता विराट्"
"उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः"
"यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवा त्वं साम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य ॥" अथर्व० १४।१।४३

शूद्र समाज का अंग—यह आर्यसमाज मानता है। शूद्र घृणा का पात्र नहीं, पददलित करने योग्य नहीं, वह भी वैसा ही जीवन का अधिकार रखता है जैसा कि अन्य वर्णों को प्राप्त है। शूद्र भी वेदादि सच्छास्त्रों का अभ्यास करके, सदाचारसंपन्न होकर ब्राह्मणत्व प्राप्त कर सकता है। योगी और महर्षि की पदवी प्राप्त कर सकता है। शूद्र वही जो विद्याहीन, मूर्खता आदि गुणयुक्त है। ऐसा होता हुआ भी वह समाज का वैसा ही प्रतिष्ठित अंग है, जैसा कि विद्यादि गुण विशिष्ट ब्राह्मण। जैसे शरीर का प्रत्येक भाग मुख, बाहु, पेट और पांव अपने-अपने स्थान पर उपर्युक्त और आवश्यक हैं, उसी प्रकार समाज में भी प्रत्येक वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र उपयुक्त और आवश्यक हैं। आर्यसमाज में गुण, कर्म, स्वभावानुसार ही कोई पूज्य व निन्द्य माना जाता है; जन्ममात्र से नहीं।

विवाहादर्श—आर्यसमाज बालविवाह आदि का सदैव विरोधी रहता है, इसकी दृष्टि में विवाह के समय युवक २५ वर्ष से और युवति १६ वर्ष से कम आयु की न होनी चाहिए। विवाह काल में वर-वधू की समान आयु और गुण, कर्म, तथा योग्यता होनी आवश्यक मानता है, वृद्ध का बाल के साथ संबंध अनुचित मानता है। अक्षतवीर्य पुरुष का अक्षतयोनि कन्या के साथ विवाह उचित है। कुलक्षयादि की दशा में नियोग का समर्थन करता है।

जातिप्रवेश—जो आय जाति के लाल, लोभ आदि के कारण अथवा किन्हीं विशेष अनिवार्य परिस्थितियों के कारण अपनी जाति व धर्म को छोड़कर यवन व ईसाई बन गये हैं, उन्हें वेदामृत पान करा कर पुनः जाति-प्रवेश का अधिकार आर्यसमाज ही देता है। पुनः प्रवेश पर सभी प्रकार के रोटी-बेटी के सम्बन्ध का समर्थन करता है। यवनों व ईसाइयों की शुद्धि को आर्यसमाज अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानता है। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' आर्यसमाज का एकमात्र नारा है।

पुरुषार्थवाद—आर्यसमाज प्रारब्ध से पुरुषार्थवाद को प्रधानता देता है। मनुष्य जीवनपर्यंत पुरुषार्थी बन कर रहे। पुरुषार्थी की प्रभु सहायता करता है। देवता विद्वान् पुरुषार्थी को पसन्द करते हैं। प्रारब्ध (भाग्य) के भरोसे बैठ कर जीवन को नष्ट न करके पुरुष अपने भाग्य का स्वयं निर्माण करे। ऐसी आर्यसमाज की शिक्षा है।

पुनर्जन्मवाद—आर्यसमाज का यह अटल एवं वेदानुमोदित सिद्धान्त है, इसी के अनुसार आचरण से मानव दानव बनने से बच सकता है। इसी विश्वास के आधार पर कि मैं खोटे कर्म करूँगा तो मुझे अगले जन्म में सुख और मानव जन्म न मिल सकेगा, वह वर्तमान जन्म में शुभ कर्मों का जिनका फल वर्तमान और परजन्म में शुभ हो, अनुष्ठान करता है।

मुक्ति से पुनरावृत्ति—आर्यसमाज का एक विशेष सिद्धान्त है। मुक्ति कर्मजन्य है। अतः कर्मफल की समाप्ति पर पुनः जीव अपने सृष्टि में आने योग्य शेष कर्मों के अनुसार शुभ कर्मों के अनुष्ठान के लिए, जिससे पुनः मुक्ति प्राप्त हो, लौट कर आता है। सन्त कर्मों का फल अनन्त किसी भी दशा में नहीं हो सकता है। यदि ऐसा हो जावे तो ईश्वर पर अन्यायी होने का दोष लग जावेगा। इसलिए यही मानना ठीक है कि मुक्ति से जीव लौटता है।

मुक्ति के साधन—आर्यसमाज मुक्ति प्राप्ति के लिए ईश्वरोपासना, ज्ञानोपार्जन, सत्संग, स्वाध्याय, परोपकार, योगानुष्ठान, सत्याचरण, धर्माचरण और न्यायाचरण आदि साधन मानता है। तिलक, त्रिपुण्ड्, भस्म आदि का धारण; गंगा, प्रयाग, काशी, आदि में स्नान व यात्रा को साधन नहीं मानता।

"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।" यजु० ३१।१८

"विद्ययामृतमश्नुते।" यजु० ४०।१४

पापनाश—आर्यसमाज का यह दृढ़ मत है कि कोई कर्म अच्छा या बुरा बिना फल दिये नष्ट नहीं होता है। चाहे कोई गंगास्नान करले, चाहे प्रयाग में डुबकी लगाले, पापकर्म का फल दुःख और पुण्यकर्म का फल सुख अवश्य भोगेगा; भले ही मनुष्य अविद्यावश ईसा पर या मुहम्मद साहिब पर ईमान ले आवे। किया हुआ कर्म बिना फल भोगे नष्ट नहीं होगा जैसा कि वेद स्वयं कहता है—

"न किल्विषमत्र अस्ति न सममान एति ।
अनन्नं पात्रं निहितं न एतत् पक्तारं पक्वः पुनराविशति ।। अथर्व० १२।३।४८

भक्ष्याभक्ष्य—आर्यसमाज मांसादि तमोगुणप्रधान पदार्थों को अभक्ष्य और मदिरा आदि मादक द्रव्यों को अपेय मानता है । और कहता है कि यह सब पदार्थ बुद्धि नाशक व वीर्यनाशक हैं; मनुष्य को भक्ति मार्ग से दूर ले जाने वाले हैं । मांस, मदिरा, तम्बाकू आदि सभी पदार्थ चरित-नाशक एवं आयुनाशक भी हैं । इनसे सदा अलग रहना चाहिये । इत्यादि अनेक आर्यसमाज के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त हैं, जिनका आज विश्व में प्रचार होना आवश्यक समझना चाहिये । इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करने से विश्व में सर्व सुख व शान्ति की स्थापना हो सकती है । ऐसा हमारा विश्वास है ।

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्य्याचन्द्रमसाविव ।

हम लोग सूर्य और चन्द्रमा के सदृश कल्याणकारक
मार्ग का अनुसरण करने वाले बनें ।

वैदिक सभ्यता का आधार

पं० विनायकराव विद्यामार्तण्ड, एम० पी०, हैदराबाद

आज मैं आपके सम्मुख ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र की व्याख्या रखना चाहता हूँ जो कि प्राचीन भारत की वैदिक सभ्यता का आधारस्तम्भ रहा है। यह वह मन्त्र है जिसमें बीजरूप से उस बात को बताया गया है जो कि वैदिक सभ्यता रूपी शान्ति देवी के मन्दिर की नींव के तौर पर रही हैं। इसी मन्दिर में प्रवेश करके लाखों वर्षों तक देश-देशान्तर व द्वीप-द्वीपान्तर के महानुभावों ने भारतीय ब्राह्मणों के ब्रह्मानन्द में सुख और आनन्द का अनुभव किया था। उस नींव के ढीली हो जाने पर मन्दिर चकनाचूर हुआ और लग-भग पाँच हजार वष से भारत स्वतः अनेक दुःखों का आगार बना हुआ है। वह मन्त्र है:—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किं च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।

इसकी व्याख्या के पूर्व मैं इसका शब्दार्थ रख देना चाहता हूं जो इस प्रकार से है।

"इदं सर्वम्" यह सब कुछ "यत् किं च" जो कुछ भी "जगत्यां जगत्" चलायमान जगत् में गतिमत्ता है। "ईशावास्य" परमेश्वर का निवासस्थान है। अर्थात् परमेश्वर के चलाने से चलता है। "तेन" इसलिए "त्यक्तेन" त्याग भाव के साथ 'भुंजीथा" दुनिया का उपभोग करो। "मा गृधः" सम्पत्ति के बारे में तृष्णा मत कर, क्योंकि "धन" "कस्यस्वित्" धन किसका है? अर्थात् धन किसी का नहीं। धनवान् के मर जाने के बाद धनवान् तो चला जाता है, परन्तु उसके धन मे से कुछ भी उसक साथ नहीं जाता। वह सब का सब यहीं रह जाता है।

वेदों के आशय को चक्रवर्ती सम्राट् सिकन्दर ने अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में जनता की जानकारी के लिए बहुत ही उचित तरीके पर रखा था। मृत्यु के समय जब उस मालूम हुआ कि वह केवल चन्द क्षणों का मेहमान है तब उसने सामन्तों से कहा कि उस सारी लूट को, जो सैकड़ों

राजाओं को परास्त कर उसने एकत्रित की, उसकी शय्या के इर्द-गिर्द लाकर जमा कर दिया जाय। उसने भरी हुई आंखों से समस्त जवाहिरातों के ढेर को देखा और देखकर अनुभव किया कि उसमें से एक मिट्टी का ढेला भी उसके साथ जाने वाला नहीं है। तब उसने अपने मन्त्रियों को आज्ञा दी कि मृत्यु के उपरान्त जब उसकी अर्थी श्मशान पर ले जायी जाये तब उसके दोनों हाथ अर्थी के बाहर रक्खे जायें ताकि सबको ज्ञात हो सके कि सम्राट् सिकन्दर खाली हाथ आया था और खाली हाथ जा रहा है। अतः लूट-खसोट करके जिस धन का उपयोग नहीं किया जा सकता उसको एकत्रित करना सर्वथा निरर्थक है।

उसी भाव को वेदमन्त्र के अन्तिम चरण में प्रश्न और उत्तर के स्वरूप में बतलाया गया है कि "धनं कस्यस्वित्" अर्थात् धन किसका है। उन्हीं शब्दों में उत्तर दिया गया कि "धनं कस्यस्वित्" अर्थात् धन अथवा सम्पत्ति प्रजापति रूपी परमेश्वर का है। "क" शब्द का अर्थ संस्कृत में शतपथ ब्राह्मण में प्रजापति का बताया गया है। "क" परमात्मा का वह स्वरूप कहलाता है जो कि प्रजा का पालन व रक्षण करने वाला है। अर्थात् मनुष्यमात्र के लिए जितनी सम्पत्ति है उसका असली मालिक तो प्रजा का पालन व रक्षण करने वाला परमेश्वर है। और मनुष्य जो स्वतः को उसका मालिक समझता है, अपनी सम्पत्ति का किसी हद तक केवल एक ट्रस्टी अर्थात् अमीन आदि विश्वस्त है। उसे अपने धन का उपयोग उसी प्रकार से करना चाहिए जैसे कि यह लोकोपकार के लिए अमानत या धरोहर है।

सारे ब्रह्माण्ड पर ईश्वर की सत्ता कैसे है? इसको समझने के लिए प्रथम एक अत्यन्त सुगम उदाहरण को समझ लेना ठीक होगा। देवदत्त स्वतः को अपनी मोटर का मालिक समझता है क्योंकि मोटर कब चलाई जाय और किस दिशा में चलाई जाय यह सब देवदत्त की इच्छा के अधीन रहता है। उसकी इच्छा के बिना मोटर में किसी प्रकार की गति नहीं आ सकती। अर्थात् जड़ पदार्थ का मालिक वही है जो कि उसमें गति लाने का सामर्थ्य रखता हो। इसी दृष्टि से आप ब्रह्माण्ड की तरफ देखिये। ब्रह्माण्ड को दूसरे शब्द में जगत् कहा गया है। जगत् शब्द संस्कृतकी "गम्" धातु से बनता है। जगत् वह वस्तु है जो गतिमान् हो।

संस्कृत भाषा का यह महत्त्व है कि तीन अक्षर के एक छोटे से शब्द में विज्ञान का एक बड़ा भारी सिद्धान्त कि ब्रह्माण्ड का एक-एक अणु अनेकविध गतियों से व्याप्त है, इसको उस दिन से मनुष्य-मात्र पर प्रकट कर दिया जिस दिन से संस्कृत भाषा का आविर्भाव हुआ। योरोप के विज्ञान-वेत्ताओं को इसके समझने के लिये सहस्र वर्षों की अवधि की आवश्यकता हुई थी।

सबसे पहले आप अपनी पृथ्वी को ही लीजिए, देखने को तो यह स्थिर दिखाई देती है, परन्तु भूगोल के जानने वाले बताते हैं कि इसमें दो प्रकार की गतियां हैं। एक तो यह अपने अक्ष के चारों तरफ फिरती है, जिसके कारण दिन और रात उत्पन्न होते हैं। पृथ्वी में एक और दूसरी गति भी

है। वह एक विशिष्ट गोल मार्ग से सूर्य के चारों तरफ फिरती है, जिससे भिन्न-भिन्न ऋतुओं की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर फिरता है। चन्द्रमा, पृथ्वी, बुध, शुक्र, शनि, इत्यादि ग्रहमण्डल बड़े वेग के साथ जिसका पता सामान्य दृष्टि से नहीं लगता, सूर्य के चारों तरफ फिरते रहते हैं। सूर्य अपने सारे परिवार के साथ एक मिनट में हजारों मील के वेग से एक दूसरे सूर्यमण्डल की तरफ खिंचा चला जा रहा है। यही स्थिति दूसरे सूर्यमंडलों की है। अर्थात् सबके सब सितारे जो रोज रात को आसमान में जड़े हुए मोतियों के समान जड़े दिखाई देते हैं और केवल पृथ्वी की उस गति के कारण जो अपने अक्ष के चारों तरफ है, पूर्व में उगते और पश्चिम में डूबते दिखाई देते हैं, प्रति मिनट हजारों मील की गति से एक-दूसरे से दूर और एक-दूसरे के समीप चले जा और आ रहे हैं।

यह तो हुई नक्षत्रों की गति। जरा आँख खोलकर देखें तो हमको नजर आयगा कि पानी ढलाव पाते ही उधर वह निकलेगा, नहीं तो भाप बनकर उड़ जायेगा, वह स्थिर नहीं रहता। इस प्रकार वायु भी बराबर बहता रहता हैं, स्थिर नहीं रहता; हम आपका ध्यान इससे भी अधिक सूक्ष्म गति की तरफ आकर्षित करना चाहते हैं। एक बर्तन में पानी भरके रख लीजिये, प्रकट तौर पर यह पानी सर्वथा स्थिर है। वास्तव में बात ऐसी नहीं। वास्तव में पानी का कण-कण बर्तन में इधर से उधर, उधर से इधर चक्कर लगा रहा है। इस बात को समझने के लिए उस पानी में आप मिश्री की एक डेली डाल दीजिए। वह जाकर तले में बैठ जायगी। सामान्य दृष्टि को पानी भी स्थिर और डेली भी स्थिर दिखाई देगी। आधे घण्टे के बाद यदि फिर आप उसी पानी को देखे तो पता लगेगा कि मिश्री की डेली गायब हो गई और पानी सारा का सारा मीठा हो गया। अर्थात् नीचे की मिठास ऊपर तक आ गई। मिश्री को सारे पानी में किसी ने नहीं फिराया। यह घटना इसलिए हुई कि बर्तन में पड़े हुए पानी का कण-कण चक्कर लगा रहा था। अर्थात् बर्तन में पड़ा पानी भी गतिमान है। अब वैज्ञानिक इसके भी आगे गये हैं और कहते हैं किसी तत्त्व का छोटे से छोटा हिस्सा, जिसे परमाणु कहा जाता है, वह तीन गतियों का समुच्चय है, जिसे अंग्रेजी में प्रोटोन, न्यूट्रोन और इलेक्ट्रोन कहते हैं। अर्थात् जगत् में विज्ञान के आधार पर सर्वत्र गति ही गति है।

प्रश्न होता है कि इस ब्रह्माण्ड में इस प्रकार की अनेकविध गतियों को लाने वाला कौन है? प्रश्न का उत्तर देने के लिये वेद ने कहा "ईशावास्यम्" यह वाक्य भी उपर्युक्त वाक्य "धनं कस्यस्वित्" के समान द्वयर्थक है। "ईशावास्य" के एक अर्थ यह होते हैं कि यह सारा जगत् परमेश्वर का "वास्य" निवास स्थान है। अर्थात् परमेश्वर इस जगत् के भीतर रहता है। जगत् के भीतर परमेश्वर किस प्रकर से रहता है? इसको समझने के लिये ईश शब्द की व्युत्पत्ति को देखना होगा। ईश शब्द वैदिक धातु "इषिर्" से बना है। इसका अर्थ वृक्ष का रस होता है, अर्थात् वृक्ष का रस जिस प्रकार वृक्ष के कण-कण में रहता है और वृक्ष के हर हिस्से को प्रभावित करता है, उसी प्रकार परमात्मा भी जगत् के एक-एक कण में व्याप्त रहता हुआ उसको प्रभावित करता है। वह केवल जगत् के कण-कण में ही नहीं, अपितु उसके बाहर भी ह। इस बात को उसी

वाक्य म दूसरी तरह बताया कि यह जगत् "ईश आवास्य" अर्थात् परमात्मा से आच्छादित है। अर्थात् परमात्मा जगत् के अन्दर और बाहर भी है। उदाहरण के तौर पर यूं बताया जा सकता है। एक खाली घड़े को जब हम नदी के किनारे पानी में डुबो देते हैं तो पानी जहां घड़े के अन्दर भर जाता है, वहां घड़े के बाहर भी रहता है। इस प्रकार परमेश्वर सर्वत्र दृश्यमान जगत् के अन्दर भी है और बाहर भी है। तथा अन्दर व्याप्त रहता हुआ उन सब गतियों का निमित्त कारण है जिनको विज्ञान की अनेक शाखाओं में ब्रह्मांड में होती हुई दर्शाया है।

अब मालूम होता है कि परमात्मा को सारे जगत् का मालिक क्यों कहा। क्योंकि सारे जगत् में गति उत्पन्न करने हारा वही है। अतः गाड़ी का मालिक जैसे गाड़ीवान होता है, ठीक इसी प्रकार इस विश्व का मालिक, उसका अधिष्ठाता परमपिता परमात्मा ही होना चाहिए, जिसकी आज्ञा के बिना उसका एक अणु भी हिल नहीं सकता।

इतना बता देने के बाद मन्त्र में आगे बताया गया है कि "तेन" इस कारण से क्योंकि तू अपनी सम्पत्ति का वास्तव में मालिक नहीं है। "त्यक्तेन" उसको त्यागभाव से "भुंजीथाः" भोग कर।

यहां "त्यक्तेन" शब्द ने बहुत घपला कर दिया है। इसके कारण भिन्न-भिन्न आचार्यों ने मन्त्र के भिन्न-भिन्न अर्थ लगाये हैं। उदाहरणार्थ शङ्कराचार्य जी ने जो कि अद्वैतवादी हैं और सारे जगत् को मिथ्या मानते हैं, उन्होंने मनुष्यों के सामने यह आदर्श रक्खा कि "जगत् मिथ्या होने के कारण सर्वथा त्याज्य है। उसके साथ अपना कोई सरोकार नहीं होना चाहिए। उसको छोड़ के परमात्मा के सच्चे स्वरूप को पहिचान और उसी में आनन्द का भोग कर।" शङ्कराचार्य जी का यह अर्थ इस कारण सही नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह अर्थ "भुंजीथाः" से बिल्कुल मेल नहीं खाता वेद ने स्पष्ट आज्ञा दी है कि 'भुंजीथाः" अर्थात् उपभोग कर। उपभोग प्राकृतिक वस्तुओं का ही हो सकता है। अतः संसार का त्याग करके वैरागी बन निठल्ले तौर पर बैठे रहने की शिक्षा नहीं हो सकती। अतः शंकराचार्य का अर्थ सर्वथा त्याज्य है।

शंकराचार्य का यह अर्थ इसलिये भी त्याज्य है कि उसका आधार अद्वैतवाद है। इस मन्त्र से अद्वैतवाद की सिद्धि कहीं भी नहीं होती है। इसमें तो साफ तौर पर बताया गया है कि वैदिक सिद्धान्त के अनुसार स्वामी दयानन्द की बताई गई तीन अनादि वस्तुएँ हैं। एक जगत्, दूसरा उस जगत् में व्याप्त परमेश्वर और तीसरा जगत् का उपभोग करने वाला जीवात्मा। मन्त्र का सही अर्थ वही हो सकता है जो इन तीन अनादि तत्त्वों को मान कर किया जा सकता है।

त्रैत को मानने वाले कई आचार्यों ने "त्यक्तेन" का अर्थ यह किया है कि वासनाओं का त्याग करके जगत् का भोग किया जाय, इसी में मनुष्य की भलाई है। यह अर्थ भी वैराग्यपरक है और हमारी राय में सही अर्थ नहीं है। बात यह है कि बौद्ध काल से हमारे मनों पर वैराग्य की पकड़ इतनी जबरदस्त है कि हम न चाहते हुए भी उसी ओर बहे चले जाते हैं। जब वेद ने कहा है कि जगत् का उपभोग करो, तो वासना का त्याग करो कहने में कोई अर्थ नहीं है। उपभोग तो नाम ही

वासनाओं की तृप्ति का ह। इसलिए वेद वासनाओं को छोड़ देने की शिक्षा कभी नहीं दे सकता। भूख एक वासना है; इसकी तृप्ति करना आवश्यक है। अन्यथा शरीर का नाश होगा। इसको छोड़ दो कहना गलती है। इसी प्रकार शुद्ध रहने की इच्छा भी एक वासना है। स्नान करके उसको तृप्त किया जाता है। किन्तु ऐसे भी जैनी साधु हैं जो इस वासना पर विजय पाने के लिये जन्म भर स्नान न करने का व्रत लिये हुए हैं। हमारी राय में वेद ऐसी शिक्षा कभी नहीं देगा। वैदिक शिक्षा के अनुसार परमेश्वर ने सृष्टि की रचना मनुष्य के उपभोग के लिए की है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी प्राकृतिक उन्नति के लिये सांसारिक वस्तुओं का अधिक से अधिक लाभ उठाये और अपने जीवन को सुखी बनाए। ऐसी भावनाएँ कि रेल मनुष्य को सुस्त बनाती है, अतः मैं रेल में कभी नहीं चढ़ूंगा। पेड़ा और चाट जिह्वा को लोलुप करते हैं, अतः न मैं मीठा खाऊंगा और न में चटनी-मसाला खाऊँगा। मेरे ऊपर कोई सर्दी गर्मी का असर न होना चाहिये, अतः ठण्ड के दिनों में न तो मैं अंगीठी का उपयोग करूंगा और न मैं गर्मी के दिनों में पंखे का उपयोग करूंगा। यह सब मूर्खता की बातें हैं। अपने शरीर को वृथा दुःखी और कष्टमय करने में कोई बुद्धिमत्ता की बात नहीं है। वासनाओं पर विजय के अर्थ यदि इसके अतिरिक्त कुछ और हैं तो वह दूसरी बात है।

इसके विरुद्ध जो वैराग्यवादी नहीं हैं, वे इस मन्त्र का अर्थ यों करते हैं कि "तेन त्यक्तेन" उस परमात्मा द्वारा दी हुई सम्पत्ति का भोग कर। "कस्यस्विद् धनं" दूसरे की सम्पत्ति के बारे में "मा गृधः" अभिलाषा मत कर। हमारी राय में यह अर्थ भी "मा गृधः" पद के साथ सर्वथा असंगत है। वेदों के अनुसार मनुष्य अपनी सम्पत्ति के बारे में भी सर्वतन्त्र स्वतन्त्र नहीं है! यह बात अच्छी भी नहीं कि यदि आपके पास इतनी सम्पत्ति है कि उस सबकी आपको आवश्यकता नहीं है तो फालतू सम्पत्ति आप दूसरों के उपयोग के लिये न दें।

अतः इस मन्त्र का सही अर्थ यही हो सकता है, जैसा कि हमने ऊपर बताया है, कि हे मनुष्य! वह धन जिसको तू अपना समझता है, वह तेरे जीवन में भी तुझे छोड़कर जा सकता है; तेरी मृत्यु के पश्चात् तो निःसन्देह तेरे साथ जाने वाला नहीं है। वह किसी का नहीं। न तेरा है, न तेरे साथी का है। वह तो परमपिता परमात्मा का है। अतः उसका उपभोग त्याग भाव के साथ कर। यही वैदिक सभ्यता का मूल आधार है, जिसे समझ लेना हमारा कर्त्तव्य है।

त्याग का अर्थ है छोड़ देना। किसी वस्तु का दूसरे को देना भी त्याग कहलाता है। किन्तु उसके लिये संस्कृत और हिन्दी में एक दूसरा शब्द 'दान' है। दान और त्याग में थोड़ा सा अन्तर है जिसको समझ लेना आवश्यक है। जब कोई वस्तु किसी को दी जाती है, कि वह उसका उपभोग या उपयोग करे तो वह दान कहलाता है। त्याग में सम्पत्तिमान् किसी वस्तु को दूसरे को नहीं देता। वह अपनी सम्पत्ति का स्वतः उपयोग नहीं करता है, परन्तु उसका उपभोग दूसरे करते हैं। इसका सबसे उत्तम उदाहरण कर्म है। यज्ञ कर्म में यज्ञकुण्ड के अन्दर हवि का विसर्जन किया जाता है। हवि

जलती है और इससे वायु शुद्ध होती है। इस शुद्ध वायु का उपभोग केवल यज्ञ करने वाला ही नहीं पाता परन्तु अनेक अन्य व्यक्ति भी पाते हैं, जिन तक वह शुद्ध वायु प्रसारित होकर पहुँचता है। इसका दूसरा मोटा उदाहरण धर्मशाला अथवा औषधालय का बनाना है। जब कोई सम्पत्तिमान् पुरुष अपनी सम्पत्ति पर सांप बने नहीं बैठा रहता. अपितु वह धर्मशाला के बनाने में उसका विनियोग करता है तो वह त्याग करता है। धर्मशाला के बनवाने में उसको एक प्रकार का आनन्द होता है। परन्तु वह धर्मशाला का उपभोग नहीं कर सकता। इसका नाम सम्पत्ति का त्यागवृत्ति के साथ विनियोग करना कहलाता है। धर्मशाला का उपयोग अनेक यात्री करते हैं, जो धूप और वर्षा से अपना बचाव करके सुख और शांति पाते हैं। यही बात औषधालय के बारे में भी कही जा सकती है।

वेद ने खुले शब्दों में दान करने की दीक्षा नहीं दी। अपितु यह कहा कि अपनी सम्पत्ति का उपभोग त्याग के साथ किया कर। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् ने त्यागवृत्ति को दान पर तरजीह दी है। उसके दो बड़े कारण हैं। एक तो यह कि दान करते समय लेने वाला सम्मुख रहता है और उसकी वृत्ति दीनवृत्ति रहती है। अतः देने वाले में एक प्रकार के अहंकार के उत्पन्न होने की सम्भावना है। वेद किसी के अन्दर इस प्रकार के अहंकार के पैदा होने को सहन न करेगा। वास्तव में यह अहंकार तो झूठा है क्योंकि देनेवाला जो कुछ देता है. वह तो उसका नहीं अपितु परमेश्वर का है। दूसरी एक बात यह भी होती है कि लेने वाला सम्भव है, उस सम्पत्ति का जो कि उसे दी गई है, न तो अपने लिए और न पराये के लिये कुछ भी उपयोग करे। एक लोभी व लालची के तौर पर उसे अपने खजाने में जमा कर दे। इसलिये कहा गया है कि सम्पत्ति का उपभोग त्याग भाव से किया जाना चाहिये। इस सम्पत्तिमान् में अहंकार की भावना के उत्पन्न होने की बहुत कम सम्भावना है। क्योंकि सम्पत्तिमान् के साथ उन लोगों का आमना-सामना होने की बहुत ही कम सम्भावना होती है जो उसका उपभोग करते हैं।

इसमें एक और बात को भी लक्ष्य में रखना चाहिये कि सम्पत्ति का त्याग इस प्रकार करना चाहिये जिसमें कोई न कोई उसका उपभोग कर सके। यथा उपर्युक्त उदाहरण में एक धर्मशाला या औषधालय जंगल में भी बनाया जा सकता है। बनाने वाले ने तो इस प्रकार निःसंदेह अपनी सम्पत्ति का त्याग ही किया, किन्तु इसका कोई फल नहीं हुआ। यह त्याग उसी समय फलवान् होगा जब धर्मशाला किसी तीर्थ स्थान पर बनाई जाय, जहाँ हजारों की संख्या में यात्री विश्राम कर सकें और औषधालय किसी शहर में हो, जहां रोगी आकर अपने रोग का निवारण कर सकें। वेद में 'भुंजीथाः' यह एक विधि वाक्य है। अर्थात् हमारी क्रिया ऐसी होनी चाहिये जिसका कोई न कोई उपभोग अवश्य कर सके।

यह है इस वेदमन्त्र का अर्थ। अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह अपने सामर्थ्य के अनुसार कुछ न कुछ बात ऐसी करता रहे जिसका कि लाभ उसके पड़ौसी को हो सके। जब तक

पड़ौसी-धर्म वेदों की आज्ञा के अनुसार हर भारतीयों के रोम-रोम में भरा पड़ा था, भारत में सुखसमृद्धि और शान्ति का बोलबाला था, हर व्यक्ति सन्तुष्ट था, किसी को दुःख नहीं था, क्योंकि उसके दुःख-निवारण के लिये उसके इर्द-गिर्द अनेक व्यक्ति हुआ करते थे। इस अनुपम सभ्यता के लोप के साथ सर्वत्र अशान्ति का राज्य हो गया है। इसको दूर करने के लिये त्याग की नीति पर खड़ी पुरानी सभ्यता का पुनरुद्धार करना होगा, ताकि दुनिया अशान्ति के गड्ढे से निकल कर शान्तिरूपी हिमालय की चोटी पर चढ़कर संतोषमय पवन का आनन्दास्वाद ले सके।
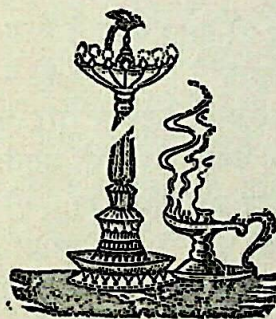
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा:।

परमपिता परमात्मा यज्ञस्वरूप हैं। दिव्यगुणविशिष्ट
देव गण यज्ञरूप, सर्वरक्षक, अग्निवत् तेजस्वी ईश्वर की
पूजा यज्ञ के द्वारा ही किया करते हैं।

प्रभुभक्ति का वैदिकस्वरूप

आचार्य भद्रसेन, अजमेर

आत्मिक शान्ति और पूर्णानन्द को प्राप्त करने के लिए ही यह जीव मानव देह में अवतरित हुआ है। यही इसके जीवन का चरम लक्ष्य है। इसलिये ही यह जीवन सुख और शान्ति का अभिलाषी बनकर उसकी प्राप्ति के लिये दर-ब-दर भटकता और ठोकरें खाता फिरता है। इसके जीवन का सारा क्रिया-कलाप सारी उधेड़-बुन केवल जीवन को शान्त और सुखमय बनाने के लिये ही है। किन्तु इस जीवन संग्राम में इतनी खटपट और उधेड़-बुन करने पर भी जीव उस सच्चे सुख और शान्ति से वंचित ही रहता है, जिस की उसे चिर अभिलाषा है। इतना ही नहीं, प्रत्युत कभी-कभी तो वह जीवन में सुख और शान्ति के स्थान पर अत्यन्त क्लेश, दुःख और अशान्ति का ही अनुभव करता है। संसार के नाना प्रकार के सुखप्रद विषयों और वैभवों का भोग करता हुआ भी वह उनमें उस शान्ति और आनन्द का अनुभव नहीं करता, जिसकी उसे चिर अभिलाषा है। ऐसा क्यों? इसका मात्र उत्तर यही है कि जीव जिन भौतिक पदार्थों में परमानन्द और परम शान्ति का अभिलाषी बन भटक रहा है, वे पदार्थ स्वयं सुख और शान्ति से रहित हैं, कोसों दूर हैं। भला जिसके पास जो वस्तु है ही नहीं, वह दूसरे को क्या दे सकेगा? जो स्वयं भूख-प्यास से तड़फ रहा है, वह हमें कैसे स्वादु भोजन तथा मधुर जल का पान करा सकेगा और हमारी भूख को शान्त कर सकेगा? इसीलिये आत्मा जब इन भौतिक पदार्थों में भटक कर निराश हो जाता है, उसे अपने अभीष्ट की प्राप्ति नहीं होती, इतना ही नहीं, प्रत्युत विश्व के विविध विषय-भोग और आमोद-प्रमोद सुख और शान्ति के स्थान पर उल्टा उसको दुःख और अशान्ति का कारण बन जाते हैं, तब वह निराश हो जाता है। उसका आत्मा सतप्त और व्याकुल हो उठता है; उसे चारों ओर विषय वासनाओं की जलती हुई प्रचण्ड ज्वालायें व्याकुल और अशान्त बना देती हैं। उस समय उसे सुख और शान्ति के परम धाम प्रभु का स्मरण आता है और वह पश्चात्ताप करता हुआ वेद के शब्दों में प्रभु से पुकार उठता है।

ये मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः । ऋग्वेद १।१०५।८

हे दीनबन्धो ! हे अधमोद्धारक, पतितपावन, प्रभो ! अब तो मुझे ये तृष्णाएं, ये विश्व की क्षणिक कामनाएं और विषयों की विष भरी वासनाएं सपत्नियों के समान सन्तप्त और व्याकुल कर रही हैं। भगवन् ! अब मैं सब ओर से निराश होकर और तेरा भक्त बनकर तेरे द्वार पर आया हूं। हे दीन-बन्धो ! क्या इस दीन की पुकार न सुनोगे ? क्या अपने इस भक्त को विश्व की क्षणिक वासनाओं और तृष्णाओं से हटाकर अपनी प्रेममयी पावन गोद में नहीं लोगे ? उस समय ऋषि दयानन्द के शब्दों में प्रभु उस अतिव्याकुल भक्त की करुण पुकार को सुनते हैं और उसे अपनी सर्वशक्तिमयी गोद में ले लेते हैं। प्रभु अपने शरणागत उपासक को निज शरण में कैसे ले लेते हैं। इस सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द "सत्य धर्म विचार" नामक पुस्तक में लिखते हैं:—

"जब सच्चे मन से अपने आत्मा, प्राण और सब सामर्थ्य से जीव भगवान् को भजता है तो वह करुणामय परमेश्वर उसको अपने आनन्द में स्थिर कर देते हैं। जैसे कोई छोटा बालक घर के ऊपर से अपने माता-पिता के पास नीचे आना चाहता है, या नीचे से ऊपर उनके पास जाना चाहता है, तब हजारों आवश्यक कामों को भी छोड़कर अपने लड़के को उठा कर गोद में ले लेते हैं कि कहीं हमारा लड़का गिर पड़ेगा तो उसको चोट लगने से दुःख होगा, और जैसे माता-पिता अपने बच्चों को सुख में रखने की इच्छा और पुरुषार्थ सदा करते रहते हैं। वैसे ही परम कृपानिधि परमेश्वर की ओर जब कोई सच्चे आत्मभाव से चलता है, तब वह प्रभु अनन्त शक्ति रूप हाथों से उस जीव को उठाकर अपनी गोद में सदा के लिए ले लेते हैं, फिर उसको किसी प्रकार का दुःख नहीं होने देते।"

वास्तव में योगिजनों के शब्दों में इस अविद्या आदि पंच क्लेशों में संतप्त और परिणाम, ताप, संसार आदि दुःखों से दुःखी जीव के लिये एकमात्र वह सच्चिदानन्द प्रभु ही सच्ची शान्ति और परम सुख का सहारा है। इसीलिए वेद कहता है:—

न त्वदृच्छते अमृता मादयन्ते ।

'हे आनन्दकन्द, सच्चिदानन्द प्रभो ! तेरी शरणागति के बिना तेरे यह अमृत पुत्र पूर्णानन्द को प्राप्त नहीं कर सकते।"

वास्तव में जो मनुष्य अपने जीवन को कदाचारों और कुत्सित संस्कारों से हटाकर उस प्रभु की शरण में आ जाता है; दूसरे शब्दों में वह अपनी अधमावस्था पर पश्चात्ताप करता हुआ उसका परित्याग कर सत्पुरुष अर्थात् सन्मार्गगामी बन जाता है; भगवान् अवश्य उसके ऊपर सब प्रकार के सुखों की वर्षा करते हैं। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। इसीलिए वेद कहता है:—

"त्वमग्ने इन्द्रो वृषभः सतामसि"। ऋग्वेद २।१।३

हे परमज्योतिर्मय प्रभो ! तुम ही तो सत्पुरुषों के लिये, अपने अनन्य भक्तों के लिये, इन्द्र और वृषभ बनकर उनके ऊपर समग्र ऐश्वर्य और सकल सुखों की वर्षा करने वाले हो।

"मा ते भयं जरितारम्" १।१८९।४

तेरे प्रेमी भक्त को भय, चिन्ता और दुःख कहाँ ? वेद के उपर्युक्त वचनों से सिद्ध होता है कि एकमात्र प्रभुभक्ति ही इस भवबन्धन में पड़े जीव को सुख, शान्ति और परमानन्द प्रदान करने वाली है। बिना ईश्वर-आराधना के आत्मा को परम शान्ति और परमानन्द उपलब्ध होना कठिन ही नहीं, अपितु नितान्त असम्भव है।

अब उस प्रभुभक्ति का क्या स्वरूप है, थोड़ा इस पर विचार करना चाहिए। भक्ति में तीन बातों का जान लेना परमावश्यक है। हम किसकी भक्ति करें ? कैसे बनकर करें ? और क्यों करें ? बिना इन तीनों बातों के जाने, जो जन भक्ति मार्ग पर चलने लगते हैं, वे सदा अपने चरम लक्ष्य से वंचित ही रहते हैं। इन्हें निज अभीष्ट की प्राप्ति नहीं होती। अतः भक्ति मार्ग के पथिक को उपर्युक्त तीनों बातों को जान लेना परमावश्यक है।

भक्त का पहिला कर्त्तव्य है, कि वह यह विचार करे कि जिसको वह अपना आराध्य देव बनाने चला है, जिस सुन्दर स्वरूप को वह अपने हृदय-मन्दिर में बसाना चाहता है, उसका क्या स्वरूप है ? उसकी उपासना करने पर मुझे अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति होगी या नहीं ? भक्त कैसे आराध्यदेव की आराधना करे। इस सम्बन्ध में अथर्ववेद में एक सुन्दर मन्त्र आता है—

तमु॒ष्टुहि यो अन्तः सिन्धुः सूनुः सत्यस्य। युवानमद्रोघवाचं सुशेवम्। अथर्व ६।१।१

वेद कहता है, हे भक्त यदि तू सच्ची शान्ति और परम आनन्द को प्राप्त करना चाहता है तो 'तम्-उ-स्तुहि' उस ही प्रभु की उपासना कर 'यः अन्तः सिन्धुः' जो इस संसार में रम रहा है। 'सत्यस्य सूनुः' जो सदा सत्य की ओर ही प्रेरणा करता है। 'युवानम्' जो सर्वथा युवा अर्थात् एक सा रहता है। 'सुशेवम्' जो सारे बलों, सुखों और आनन्द का भण्डार है। 'अद्रोघवाचम्' जिसकी वाणी में किसी के प्रति असत्य, द्रोह और विश्वासघात नहीं है।

भक्त सोचता है, मैं अपने प्रभु को कैसे मिलूं ? मेरा यह प्रियतम मुझे कहां मिलेगा? और नाना प्रकार की तृष्णाओं और आसुरी वासनाओं रूपी तरंगों से तरगित काम, क्रोध, राग, मोह, ईर्ष्या, द्वेष आदि जल जन्तुओं से पूर्ण इस भवसागर में मेरा कौन सहारा है ? इन दोनों आशंकाओं का समाधान वेद का एक शब्द करता है। 'तमु स्तुहि यो अन्तः सिन्धुः' भक्त तू उस प्रभु की स्तुति कर जो सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी है। उस आराध्यदेव की आराधना करने के लिये तुझे अन्यत्र कहीं भटकना नहीं पड़ेगा। क्योंकि,

वह तेरा आराध्य देव ही अन्तर्यामी और तेरे रोम-रोम में रम रहा है। फिर तुझे इधर-उधर जाने और भटकने की आवश्यकता क्या ? और इसमें भी कुछ सन्देह नहीं कि यह संसार एक अथाह सागर है और यह जीव अपनी दुर्वासनाओं और निर्बलताओं के वशीभूत होकर इसमें गोते खा रहा है। परन्तु यह भी ध्रुव सत्य है कि जो भक्त उस करुणामय प्रभु का आश्रय ले लेता है, उसकी प्रेममयी गोद में बैठ जाता है, और उसकी शरण में आ जाता है वह इस भवसिन्धु से तर कर पार हो जाता है। फिर उसे बार-बार इस भवसिंधु में गोते खाने नहीं पड़ते। भगवान्

स्वयं "अन्तः सिन्धुः" बनकर अपने प्रिय भक्त को निज करुणामय हाथों से पार लगा देता है। भक्त यह न समझ ले कि कहीं मैं इस अध्यात्म मार्ग पर, प्रभुभक्ति के पावन पथ पर, चलकर भटक तो नहीं जाऊंगा, कहीं ठोकरें तो नहीं खाता फिरूंगा। वेद कहता है, भक्त इसकी भी तू चिन्ता न कर; प्रभु-प्राप्ति के पावन पथ पर चलने वाला उपासक कभी भटक नहीं सकता। कभी ठोकरें नहीं खाया करता। क्योंकि भगवान् तो "सत्यस्य सूनुः" है, वे सदा सत्य की ही प्रेरणा किया करते हैं। अपने भक्त को सदा सन्मार्ग पर ही चलाते हैं। उसे कभी भी कुमार्गगामी नहीं बनने देते। फिर जो भगवान् का भक्त असन्मार्गारूढ़ ही नहीं होता, फिर भला वह भटकेगा कैसे ? जिस प्रभु-प्राप्ति के पथ पर सदा सत्य का ही पावन प्रकाश देदीप्यमान हो रहा है, वहां ठोकरें और धक्के कहाँ ? फिर भक्त सोचता है, यह जो मैं संसार के जन्म-मरण के बन्धन में फंस कर नाना प्रकार के दुःखों और क्लेशों से संतप्त हो रहा हूँ, क्या प्रभु उपासना से यह जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु का बन्धन भी मुझसे छूटेगा या नहीं ? इस सम्बन्ध में भी वेद भक्त को आश्वासन देता है, "भक्त इसकी भी तू चिन्ता मत कर।" भगवान् का अनन्य भक्त उसकी प्रेममयी गोद में बैठ कर कभी जन्म, जरा व्याधि और मृत्यु के भवपाश में नहीं फंसता। वह तो अपने आत्मस्वरूप में स्थित होकर सदा 'युवानम्' अर्थात् सदा एकरस ही रहने वाले हैं। सदा युवा रहने वाले प्रभु के भक्त को जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु का भय कहां ?

प्रभु-प्राप्ति का लक्ष्य केवल जन्म, जराव्याधि और मृत्यु से छुटकारा पाना ही तो नहीं, प्रत्युत उससे छूटकर उस परमानन्द और परम शान्ति को प्राप्त करना है, जिसकी खोज में जीव जन्म-जन्मान्तरों से भटक रहा है। अतः भक्त सोच सकता है कि प्रभु की उपासना से मैं जन्म-मरण के बन्धन से तो छूट जाऊंगा, किन्तु मेरा अन्तिम लक्ष्य तो परमानन्द की प्राप्ति है। प्रभु-भक्ति द्वारा इसकी भी मुझे प्राप्ति होगी या नहीं ? वेदभक्त इस सन्देह को भी अपने हृदय-पटल से दूर करदे। क्योंकि तेरे आराध्य देव भगवान् तो "सुशेव" हैं। सारे सुखों के भण्डार हैं। सारे आनन्द के भण्डार हैं। परम शान्ति और पूर्णानन्द के धाम हैं। फिर यह कैसे सम्भव हो सकता है कि उस शान्ति और आनन्द के परम निकेतन को प्राप्त कर लेने पर तू आनन्द से वंचित रह जाय, उस परम+ कल्याणमय 'शंकर' को पाकर विश्व के क्षणिक विषयभोग रूपी ककरों में ही धक्के खाता फिरे। अरे भक्त ! तू तो उस परम ज्योति को प्राप्त कर लेने पर वहाँ पहुंच जायेगा, कि जहाँ—

> यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।
>
> कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ऋ० ११३।१

जहां आनन्द और मोद के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं वहां पहुंचकर भक्त की सारी कामनाएं पूर्ण हो जाती हैं और फिर वह आप्तकाम बन जाता है।

+"तरत् स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः" (ऋ० ८।५८।१) वह प्रभु का अनन्य भक्त भवसागर से तर जाता है, जो हृदय-मन्दिर में बहती हुई प्रभुभक्ति रूपी धारा के साथ दौड़ लगाया करता है।

अन्त में भक्त के हृदय में एक सन्देह और रह जाता है, वह यह कि प्रभु के जिस मंगलमय स्वरूप का वर्णन वेद ने किया है, क्या वह वर्णन सत्य भी है या नहीं ? क्या वास्तव में मेरे हृदय मन्दिर में आराध्यदेव का ऐसा ही स्वरूप है जैसा कि वेद ने वर्णन किया है ?

कहीं किसी भावुक कवि-हृदय ने अपनी भावनामय आलंकारिक भाषा में चढ़ा-बढ़ा के तो नहीं लिख दिया ? वेद इस सम्बन्ध में भी आश्वासन देता हुआ भक्त को कहता है:—'प्रिय भक्त ! याद रख, वेद किसी अल्पज्ञ साँसारिक कवि की कोरी कल्पना नहीं, वह तो साक्षात् सर्वज्ञ भगवान् की अमृतवाणी है। जिसकी वाणी में कभी किसी के प्रति असद् व्यवहार और विश्वासघात हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह भगवान् "अद्रोघवाक्" है। भला उस 'अद्रोघवाक्" की वाणी में असत्य, द्रोह और विश्वासघात कहां ? इसीलिए यदि वास्तव में तू परम शान्ति और परमानन्द को प्राप्त करना चाहता है, तो इस वेदवचन पर पूर्ण विश्वास कर और वेदमन्त्र में वर्णित उस परम कल्याणमय प्रभु की उपासना द्वारा उसमें तल्लीन हो जा और इतना तल्लीन हो कि तू अपने को भूल जाय और वेद के शब्दों में स्वयं कह उठे:—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्। स्युष्टे सत्या इहाशिषः ।। ऋ० ८।४४।२३

हे प्राणधन ! अब तो मैं आपकी भवभयहारिणी पावन भक्ति द्वारा तुझमें इतना लवलीन हो गया, इतना तन्मय हो गया कि मैं तू बन गया, और तू मैं हो गया। अब मुझे पता लगा कि अपने अनन्य भक्तों के प्रति तेरे कृपाकटाक्ष और आशीर्वाद कितने अटल, ध्रुव और सत्य हैं।

पाठक देखें, अथर्ववेद के उपर्युक्त मन्त्र ने जहाँ भगवान् के यथार्थ स्वरूप को भक्त के सम्मुख रखा है, वहां उन्हीं शब्दों द्वारा भक्तिमार्ग में उठने वाले भक्त के सन्देहों का भी भली प्रकार दूर कर दिया है।

वेद जहाँ भक्त के आराध्यदेव भगवान् के सत्य, शिव और सुन्दर स्वरूप को यथार्थ रूप में हमारे सम्मुख रखता है, वहाँ भक्त के स्वरूप और कर्त्तव्यों का भी बड़ा सुन्दर वर्णन करता है। वेद का कथन है कि जो भक्त प्रभु को प्राप्त करना चाहता है, सर्वप्रथम उसके हृदय में प्रभु-भक्ति की तीव्र लगन होनी चाहिए, उत्कट अभिलाषा होनी चाहिये। प्रभु-प्रेम के प्रति उसे अपना सब कुछ अर्पण कर देना चाहिए। भक्त सुन्दरदास के कथनानुसार भगवत्प्राप्ति के लिये इतना विह्वल हो जाय, इतना व्याकुल हो जाय कि उसे अपने शरीर की सुध-बुध न रहे।

प्रेम लग्यो जब ईश्वर सों, तब भूल गयो सिगरो घर बारा।
ज्यों उन्मत्त फिरे इतहीतित, नेक रही न शरीर सम्भारा ।।

उसे तो वेद के कथनानुसार प्रभु से सदा प्रार्थना करनी चाहिये।

उत स्वया तन्वा सं वदे, तत्कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि ।।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत, कदा मृलीकं सुमना अभिख्यम् ।

प्रभो ! वह दिन कब आयेगा, जब मैं तेरी प्रेममयी गोद में बैठकर तुझसे वार्तालाप करूँगा।

हे अन्तर्यामिन् ! कब मैं तेरे दिव्य स्वरूप में इतना लवलीन हो जाऊंगा कि अपनी सुध-बुध भी भूल जाऊंगा ! नाथ। कब आप मेरे हृदय-मन्दिर के द्वार पर स्वयं आकर निःशंक रूप से मेरी भेंट स्वीकार करोगे ! प्रभो ! वह कौन सी शुभ घड़ी होगी, जब मैं अपने शुद्ध, पवित्र और निर्मल मन द्वारा तेरे मंगलमय परमानन्द स्वरूप के दर्शन कर कृतकृत्य हो जाऊंगा और अपने को धन्य-धन्य समझूंगा ! इस प्रकार जब भक्त के हृदय में प्रभुप्राप्ति की तीव्र लगन, उत्कट आकाँक्षा उत्पन्न हो जाती है, तो वह करुणा कृपादृष्टि करते हैं और उसे अपनी प्रेममयी गोदी में बैठा कर सदा के लिये निहाल कर देते हैं। किन्तु प्रभु प्राप्ति के प्रति इतनी तीव्र लगन, इतनी उत्कट अभिलाषा तभी उत्पन्न होती है जब भक्त संसार के क्षणिक विषय भोगों की ओर से मुख मोड़ शुभ कर्मों द्वारा अपने हृदय को पवित्र और निर्मल बना लेता है। दूसरे शब्दों में अपने सम्पूर्ण कर्मों को उस यज्ञरूपी प्रभु की हवि बनाकर अपने जीवन को हविष्मान् अर्थात् यज्ञमय बना लेता है। इसीलिये वेद मे प्रभु-प्राप्ति की तीव्र आकांक्षा रखन वाले भक्त भगवान् से प्रार्थना करते हैं—

वयमिन्द्र त्वायवो हविष्मन्तो जरामहे। उत त्वमस्मयुर्वसो ॥ ऋ० ३।४१।७

हे इन्द्र ! हम तेरे उपासक हविष्मान् बनकर, अपने जीवन को यज्ञमय बनाकर, तेरी साधना करें जिस से कि तू हमारा और हम तेरे बन जायें। अतः जो भक्त प्रभु को अपना बनाना चाहता है उसे वेद के कथनानुसार अपने जीवन को यज्ञमय बनाकर प्रभु का बन जाना होगा। वेद ने तो प्रभु का नाम ही "यज्ञसाध" रखा है, अर्थात् जिसकी साधना यज्ञ द्वारा ही हो सकती है। वेद कहता है:—

तमीलत प्रथमं यज्ञसाधम्। ऋ० १।१६।३

हे प्रभुप्राप्ति के अभिलाषी जनो ! याद रक्खो, वह मंगलमय प्रभु "यज्ञसाध" है। अतः यदि उसे प्राप्त करना चाहते हो, तो यज्ञ-साधना द्वारा ही उसकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना करो।

वह प्रभु "यज्ञसाध्य" है इसीलिए तो वेद कहता है:—

यज्ञेन वर्धत जातवेदसमग्निम् यजध्वं हविषा तना गिरा। ऋ० २।२।१

हे मनुष्यो ! उस वेदज्ञान के भण्डार के परमात्मज्योति को यज्ञ द्वारा ही अपने हृदय-मंदिर में प्रकाशित करो और अपने यज्ञमय कर्मों की हवि द्वारा तथा प्रेमरसमयी उदार वाणी द्वारा उसके पवित्र नामस्मरण और उसके पावन गुणों का कीर्तन करते हुए उस परम ज्योति को दिन प्रतिदिन अपने हृदय मन्दिर में बढ़ाते चलो।

पाठकवृन्द देखें वेद में प्रभुभक्ति का कैसा सुन्दर मार्ग बताया है और किस प्रकार प्रभु के पावन स्वरूप का, भक्त के कर्तव्यों का और प्रभु प्राप्ति के पवित्र उद्देश्यों का मार्मिक वर्णन किया है। ईश्वर प्राप्ति का ऐसा सुन्दर स्वरूप क्या और कोई ग्रन्थ बता सकता है ? आओ ! वेदानुयायी आर्यजन ऋषि के दीक्षोत्सव के अवसर पर वेदवर्णित प्रभुप्राप्ति के पावन पथ पर चलकर अपने जीवनों को पवित्र, शान्त और सुखमय बनाएं।

सृष्टि की आयु

श्री चन्द्रमणि विद्यालङ्कार, पालीरत्न, आचार्य, गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ

वर्तमान युग के क्रान्तदर्शी ऋषि दयानन्द ने विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था कि सृष्टि की आयु ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष है। उनकी इस स्थापना का आधार था वेदमूलक मनुस्मृति, गीता और वेद। मनुस्मृति में सृष्टि की आयु-गणना इस प्रकार की गयी है :—

४ लाख ३२ हजार वर्ष का सबसे छोटा कलिसंज्ञक युग है। उसका दुगुना द्वापर, तिगुना त्रेता और चौगुना कृत या सत्ययुग है। अर्थात्, कलि के काल को १० गुणा करने से (१+२+३+४=१०) चतुर्युग या महायुग का काल बना, जो कि ४३ लाख २० हजार वर्ष हुए। फिर इस महायुग को १००० गुना किया जावे तो ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष की सृष्टि-आयु हुई।

इसी प्रकार गीता में भी यही आयु सृष्टि की प्रतिपादन की गयी है। और फिर सृष्टि को दिन तथा प्रलय को रात्रि संज्ञा दी गई है। इन्हीं संज्ञाओं को "अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी" आदि वेदमन्त्रों ने प्रमाणित किया है एवं सृष्टि और प्रलय की आयु एक समान बतलायी गयी है।

यजुर्वेद अध्याय १५, मन्त्र ६-५ 'सहस्रस्य प्रमा असि' वचनों द्वारा बतलाया गया है हे परमेश्वर ! तू सहस्र युग परिमित सर्ग और प्रलय का प्रमाता है, निर्माता है।

दूसरा मन्त्र अथर्ववेद के - वें काण्ड २ सूक्त का २१ वां है—

> शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः।
> इन्द्राग्नी विश्वेदेवास्ते नु मन्यन्तामहृणीयमानाः ॥

मैं (ते) उन अहोरात्रों अर्थात् सर्ग और प्रलय को (शतं प्रयुतं हायनान्) १० हजार वर्ष गुणा १००, अर्थात् १० लाख की संख्या तक के ७ शून्यों ००,०००,०० से पहले वामतः क्रमशः (द्वे, त्रीणि चत्वारि युगे) दो, तीन, चार अंक रखने पर ४,३२,००००००० (४ अरब ३२ करोड़) आयु वाले करता हूं। (इन्द्राग्नी) ब्राह्मण और क्षत्रिय, तथा (विश्वे देवाः) वैश्य, ये सब द्विज

विद्वान् (अहृषीयमानाः) शान्तचित्त होकर (ते नु) उन सर्ग-प्रलय-रूपी अहोरात्रों को (मन्वन्तर) विचारें।

परन्तु आजकल का युग विज्ञान-युग है। वह प्राचीन ऋषियों के तत्त्वदर्शन को नहीं मानता, अपितु आपाततः उसका उपहास करता है। यही कारण है किसी ने सृष्टि की आयु हजारों तक बतलाई तो किसी ने लाखों तक। परन्तु कभी न कभी तो सचाई प्रकट होकर ही रहती है। अन्ततोगत्वा अब वैज्ञानिक लोग उसी सत्य सिद्धान्त की ओर पहुँच रहे हैं, जिसके दर्शन कान्तदर्शी ऋषियों ने पहले ही कर लिए थे।

२५ दिसम्बर १९५५ (पच्चीस दिसम्बर उन्नीससौ पचपन) का वाशिंगटन (अमेरिका) का समाचार उन्हीं दिनों दिल्ली के अमरीकी दूतावास द्वारा प्रकाशित होने वाले 'अमेरिकन रिपोर्टर' पत्र में छपा था कि अमेरिका की वेधशालाओं के प्रमुख ज्योतिषियों ने हाल में घोषणा की है कि पृथ्वी की आयु पाँच अरब चालीस लाख वर्ष निकलती है। परन्तु साथ ही उनका यह भी कहना है कि इस गणना में बीस प्रतिशत की भूल हो सकती है। सही आयु निकालने में अभी कई वर्ष और लगेंगे।

वैज्ञानिकों की इस गणना में यदि ४० लाख की जगह, ४० करोड़ प्रतिशत की भूल मान ली जावे, तो पाठक हैरान हुए बिना न रहेंगे कि पृथ्वी की आयु शत-प्रतिशत ठीक वही निकलती है, जिसे भारत के ऋषियों ने बतलाया था।

अब देखिये, वह किस प्रकार? ५ अरब ४० करोड़ का २० प्रतिशत हुआ, १ अरब ८ करोड़। ५ अरब ४० करोड़ में से १ अरब ८ करोड़ कम कर देने से शेष ४ अरब ३२ करोड़ रहे। बस, ठीक यही सृष्टि की आयु है।

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।

मैं संसार के सब प्राणियों (मनुष्य, पशु, पक्षी आदि) को मित्र की दृष्टि से देखूं। किसी से भी द्वेष न करूं, न किसी को हानि पहुंचाऊं।

अव्यक्त से व्यक्त

आचार्य उदयवीर शास्त्री, विद्यावाचस्पति, गाजियाबाद

आदिकाल—

सर्वप्रथम जब से मानव ने आंखें खोलीं, अपने सामने उसने विशाल भूमण्डल को फैला पाया। दिन में देदीप्यमान दिवाकर और रात में तारे-भरे नभोमण्डल तथा चाँद की चांदनी ने उसके मस्तिष्क को चमत्कृत कर दिया। मानव की कल्पना उड़ान भरने लगी। हरे-भरे जंगल, ऊँची-नीची पर्वत श्रेणियाँ, छलछलाते जलस्रोत, निरन्तर प्रवाहित सरिताओं की धारा एवं प्रकृति के विविध वैभव ने मानव के ज्ञानतन्तुओं को उत्तेजित कर दिया। जैसे अचिन्त्यशक्ति भगवान् की अपार कृपा से मानव की अभ्युदय निःश्रेयस-सिद्धि के लिये ऐश्वर्यसम्पन्न संसार का सृजन हुआ, वैसे ही उसके मानस अथवा बौद्धिक सन्तुलन के लिये ज्ञानमय वेद का उपदेश प्राप्त हुआ। मानव ने तब अपने को सच्ची माता की सुखमय गोद में आसीन पाया, उसकी वृत्ति संयत हो सन्मार्ग पर आरूढ़ होगई। इसकी शान्त सुखद छाया में उसने विश्व-पहेली को समझाने का प्रयत्न किया।

आदिकाल से विश्व की व्याख्या आज तक की जाती चली आ रही है और आगे भी इस क्रम के रुद्ध हो जाने की कोई आशा नहीं दीखती। साधारण मानव ही नहीं, असाधारण व्यक्तियों के लिए भी यह एक बड़ी समस्यापूर्ण पहेली है। यह जगत् कहाँ से आ जाता है? इस आशंका का समाधान अनेक रूपों में किया गया है, जिसने जिज्ञासु सम्प्रदाय को और उलझन में डाल दिया है। उन विभिन्न विचारधाराओं का कोई एक उद्गम मालूम किया जा सका होता, तो सच्चे लक्ष्य तक पहुँचने में अधिक सुविधा हो गई होती।

व्यक्त से व्यक्त—

गौतमकृत न्यायदर्शन के चौथे अध्याय के पहले आह्निक में जगदुत्पत्ति विषय पर विभिन्न ग्याहर मतों का उल्लेख किया गया है। परन्तु गौतम का अपना सिद्धान्त वहाँ यही प्रतिपादित है कि इस व्यक्त जगत् की उत्पत्ति व्यक्त कारण से ही होती है। 'व्यक्ताद् व्यक्तानां प्रत्यक्षप्रामाण्यात्' उस

प्रकरण में यह गौतम का सूत्र है। इस पर व्याख्या करते हुये वात्स्यायन मुनि ने लिखा है—भूत कहे जाने वाले व्यक्त, परम-सूक्ष्म पृथिवी आदि से शरीर आदि व्यक्त द्रव्य उत्पन्न होते हैं। जो इन्द्रियों से जाना जाता है, वह व्यक्त है, उसके समान होने से उसका कारण भी व्यक्त है। दोनों में समानता क्या है ? रूप आदि गुणों का योग। रूप आदि गुणों से युक्त नित्य पृथिवी आदि से रूपादिगुणयुक्त शरीर आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण से देखा जाता है कि रूपादि-गुणयुक्त जैसी मिट्टी होती है वैसा ही घड़ा आदि द्रव्य उत्पन्न होता है। इसी के अनुसार न देखे हुये का अनुमान कर लिया जाता है। मूल उपादान और उसके विकार में रूप आदि का अन्वय देखे जाने से अतीन्द्रिय पृथिवी आदि की कारणता का अनुमान हो जाता है।

वात्स्यायन के इस लेख से स्पष्ट है, कि शरीर घट आदि इन्द्रियग्राह्य व्यक्त पदार्थों के मूल-कारण नित्य अतीन्द्रिय पृथिवी आदि (पृथिव्यादि के परमाणु) भी व्यक्त तत्त्व हैं, अव्यक्त नहीं। इससे व्यक्त की उत्पत्ति व्यक्त से ही होती है, यह सिद्धान्त स्थिर होता है।

अव्यक्त से व्यक्त—

इस के विपरीत दूसरे स्थलों पर हम यह देखते हैं, कि यह सब व्यक्त जगत् अव्यक्त से उत्पन्न होता बताया है। भगवद्गीता के दो श्लोक इस विषय का स्पष्ट शब्दों में कथन करते हैं—

> **अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।**
> **अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२।२८॥**
> **अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।**
> **रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ ८।१८॥**

हे अर्जुन ! सब भूत, आदि अवस्था में अव्यक्त रहते हैं, इनकी आदि दशा अव्यक्त है। परिणत होकर मध्य में व्यक्त हो जाते हैं, नाश होने पर फिर अव्यक्त अवस्था में चले जाते हैं। उत्पत्ति से पूर्व अव्यक्त उत्पन्न होने पर व्यक्त, बिनाश होने पर पुनः अव्यक्त। इनकी परिस्थिति ही ऐसी है, इस विषय में चिन्ता क्या करनी ?

जब सर्ग का समय आता है, तब समस्त व्यक्त पदार्थ अव्यक्त तत्त्व से प्रादुर्भूत हो जाते हैं। रात्रि अर्थात् प्रलय काल आने पर उसी अव्यक्त संज्ञक तत्त्व में इन सब का लय हो जाता है।

मनुस्मृति के प्रारम्भिक श्लोकों में भी गीता के समान व्यक्त जगत् का प्रादुर्भाव अव्यक्त से बताया है। इनके अतिरिक्त वेद में भी इस विषय के संकेत मिलते हैं। ऋग्वेद के दशम मण्डल के १२९ सूक्त की एक ऋचा है—

> **कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।**
> **सतो बन्धमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥**

सर्ग के आदिकाल में अध्यक्ष सर्वनियन्ता का वह संकल्प है, जो मन का पहला बीज होता

है। क्रान्तदर्शी ऋषि प्रतिभासम्पन्न बुद्धि द्वारा विचार कर मस्तिष्क में व्यक्त के [सतः] सम्बन्ध को (बन्धु) अव्यक्त (असति) में समझ लेते हैं।

सर्वसाधारण को यह विषय पूर्णरूप से हृदयंगम करना कठिन है, विचारशील विद्वान् इसकी वास्तविकता को जान लेने में समर्थ हो जाते हैं, फिर भी सर्व कल्याण की भावना से प्रयत्न इस ओर होता ही है। अव्यक्त से व्यक्त का प्रादुर्भाव होने का कथन जिज्ञासु को अचम्भे में डाले रखता है और वह अपने विश्वास को एक लक्ष्य में टिका नहीं पाता। इसी कारण विचार धारा अनेक दिशाओं में बहने लगती है, जो अनेक प्रकार के संशयों को दृढ़ बनाने में सहायक हो जाती है। अभी हमने गौतम-न्यायसूत्रों के वर्णन का उल्लेख किया है, पर इस समय हम उसके विस्तार में जाना नहीं चाहते। हमारे सामने दो ही स्थिति हैं—(१) गौतम, कणाद का कहना है, कि व्यक्त जगत् व्यक्त उपादान कारण से बनता है। (२) अन्य ऋषियों तथा स्मृति एवं श्रुति का कहना है कि व्यक्त जगत् का उपादान कारण अव्यक्त है, इस पर हमें विचार करना चाहिए।

व्यक्त का स्वरूप—

इस दिशा में सर्वप्रथम यह जान लेना अपेक्षित है कि 'व्यक्त' का स्वरूप क्या है? वस्तु की वह कौनसी अवस्था है, जिसे हम व्यक्त कहते हैं? प्रायः यह समझा जाता है कि जो वस्तु इन्द्रियों द्वारा ग्रहण की जा सके, वह 'व्यक्त' मानी जाती है। ऐसा नहीं, कि व्यक्त का यह रूप समझा जाना सर्वसाधारण या अनजान लोगों का हो, ग्रन्थकारों के भी उल्लेख उपलब्ध होते हैं। मनुस्मृति के प्रारम्भिक ग्यारहवें श्लोक के 'अव्यक्त' पद की व्याख्या करते हुए टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने लिखा है—'अव्यक्त बहिरिन्द्रियागोचरम्' अर्थात् 'अव्यक्त' वह है, जो बाह्य इन्द्रियों से ग्रहण न किया जाय। इसका स्पष्ट अर्थ है, जो बाह्य इन्द्रियों से ग्रहण किया जाय, वह 'व्यक्त' है। परन्तु गौतम, कणाद के विचार से 'व्यक्त' का यह स्वरूप मान्य नहीं है।

अभी हमने इस लेख में ऊपर वात्स्यायन के एक संस्कृत सन्दर्भ का हिन्दी रूपान्तर दिया है। वहाँ व्यक्त जगत् के जिस उपादान कारण को व्यक्त कहा है, उसके लिये तीन विशेषण पदों का प्रयोग किया गया है—परमसूक्ष्म, अतीन्द्रिय, नित्य। स्पष्ट है, वहाँ इन पदों के द्वारा पृथिवी आदि के परमाणुओं का निर्देश है। परमाणुओं के अतीन्द्रिय (इन्द्रियों से ग्रहण न किया जाना) होने में कोई सन्देह नहीं है, पर उनको 'व्यक्त' माना गया है। अन्यथा गौतम-कणाद का यह सिद्धान्त ही उखड़ जाता है, कि व्यक्त जगत् की उत्पत्ति 'व्यक्त' से होती है। इससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं, कि इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होना व्यक्त का रूप—एक मोटा कथन है। 'व्यक्त' की कोई अन्य परिभाषा होनी चाहिये।

परमाणु व्यक्त है—

वात्स्यायन के उक्त सन्दर्भ में इसको स्पष्ट किया है। वह कहता है, रूपादि गुणयुक्त कार्य व्यक्त है, और वह 'व्यक्त' कारण से ही उत्पन्न होता है। शंका की गई, उस कारण में व्यक्तता का

स्वरूप क्या है ? भाष्यकार समाधान करता है—जैसे रूपादिगुणयुक्त कार्य है वैसा ही उस कार्य का मूल उपादान कारण भी रूपादि गुणों से युक्त है। कार्य के साथ कारण की यह समानता कारण के 'व्यक्त' भाव को स्पष्ट करती है। इससे यह परिणाम निकलता है, कि किन्हीं भी रूपादि विशेषताओं से युक्त होना वस्तु के 'व्यक्त' भाव को सिद्ध करता है। गौतम-कणाद के विचार से व्यक्त घटादि कार्यों में रूपादिगुणनिमित्तक जो विशेषता है, वैसी ही उनके उपादान कारण परमाणुओं में भी हैं, इसलिए परमाणु अतीन्द्रिय होता हुआ भी 'व्यक्त' है और इस आधार पर गौतम कणाद का—व्यक्त से व्यक्त उत्पन्न होने का—सिद्धान्त सम्पन्न होता है।

न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार परमाणु अति सूक्ष्म है, इसका नाम पी 'परम-अणु' है, छोटेपन की सीमा। वात्स्यायन ने उक्त सन्दर्भ में इसे परमसूक्ष्म कहा है। ये परमाणु चार प्रकार के बताये गए हैं—पार्थिव, आप्य, तैजस, वायवीय। पृथिवी-परमाणु पृथिवी का छोटे से छोटा कण है, इसका अब पृथिवी रूप में विभाग नहीं किया जा सकता, अर्थात् वह पृथिवी के दो कण नहीं हैं, वह निरवयव पृथिवी तत्त्व है। इसका आगे विभाग न होने का यह अभिप्राय नहीं है कि इसका आगे विश्लेषण न होसकता हो, प्रत्युत इतना ही तात्पर्य है कि पृथिवीरूप में अन्तिम तत्त्व है। इसमें उन विशेषताओं का उद्भव है जिनके आधार पर इसका नाम पृथिवी, जलादि नहीं। गन्ध और रूप आदि की वह विशेषता इसमें रहने पर भी घटादि के समान इन्द्रियग्राह्य नहीं है, क्योंकि उसके लिए एक और विशेषता की आवश्यकता है, जिसे 'महत्त्व' कहा जाता है, वह अभी इस में उत्पन्न नहीं हुआ। इस प्रकार परमाणु अतीन्द्रिय रहता हुआ भी व्यक्त है।

परमाणु-विश्लेषण—

पृथिवीरूप में अन्तिम तत्त्व होने पर भी पृथिवी परमाणु का आगे विश्लेषण किया जासकता है। पर विश्लेषण होने पर जो भी वह तत्त्व होगा, उसे पृथिवी नहीं कहा जासकेगा, क्योंकि वहां उन विशेषताओं का अन्तर्धान हो चुका है, जिन के कारण उसका नाम पृथिवी हुआ। तत्त्व की उस अवस्था में वहां उन सब विशेषताओं का अभाव होने से—जिनके कारण तत्त्व का पृथिवी, जल आदि विशेष नाम रक्खा गया—उसको 'अविशेष' कहेंगे। यह विषय अब न्याय-वैशेषिक की प्रतिपाद्य सीमा से बाहर निकल जाता है, और सांख्य के प्रतिपाद्य की सीमा में प्रवेश कर जाता है। न्याय-वैशेषिक में पृथिवी आदि के आद्य मूलभूत कणों से ही जगदुत्पत्ति की व्याख्या का प्रारम्भ किया गया है। सूक्ष्म से स्थूलभाव की प्रक्रिया और प्रमाणों द्वारा उसकी परीक्षा करना इन शास्त्रों का प्रतिपाद्य विषय है। फलतः दृश्यमान स्थूल जगत् के तदनुकूल सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों को मूल मान कर इन शास्त्रों की प्रवृत्ति है। इन मूल कणों की नित्यता इतने ही अंश में है कि कोई भी पार्थिव आदि विकार उनके अस्तित्व के विना संम्भव नहीं, और उसके आगे प्रतिपादन की यहां अपेक्षा नहीं।

परमाणु का उत्पाद—

परमाणु की विशेषता और उसके स्वरूप विवेचन तक हम 'व्यक्त' ससार में ही परिचरण

करते हैं। परमाणु का विश्लेषण किये जाने पर तत्त्व की जो अवस्था है, उसका नाम 'अविशेष' है, यह अभी ऊपर कहा, सांख्य में इसका यही नाम है। इसका दूसरा नाम वहां 'तन्मात्र' बताया है। जैसे 'अविशेष' पद में किन्हीं भी विशेषताओं के न होने की ध्वनि है, वैसे ही 'तन्मात्र' पद में भी वही भाव है। केवल उतना' अर्थात् सब प्रकार की विशेषताओं से रहित। सांख्य-योग ग्रन्थों में इस का स्पष्ट प्रतिपादन है, कि 'अविशेष' अथवा 'तन्मात्र' से विशेष की उत्पत्ति होती है। साँख्य के तीसरे अध्याय का पहला सूत्र है—

"अविशेषाद् विशेषारम्भः"

अविशेष से विशेष का आरम्भ अर्थात् प्रादुर्भाव होता है। पृथिवी आदि विशेषों का जो सब से पहला रूप है, वह पृथिवी आदि का परमाणु है। अभिप्राय यह हुआ, कि अविशेष-तन्मात्रों का सर्वप्रथम जो परिमाण होता है, वह पृथिव्यादि परमाणु हैं। इसका स्पष्ट उल्लेख वाचस्पति मिश्र ने योगदर्शन (१।४४) के व्यासभाष्य टीका तत्त्ववैशारदी में किया है। विस्तारभय से हमने उसे यहाँ नहीं लिखा जिज्ञासु पाठक वहां देख सकते हैं।

अतीन्द्रिय व्यक्त परमाणु से इन्द्रियग्राह्य पदार्थ की रचना कैसे हो जाती है, इस प्रक्रिया का उल्लेख न्याय-वैशेषिक के व्याख्याग्रन्थों में स्पष्ट रूप से किया गया है। वहाँ परमाणु से आगे उत्पत्ति-क्रम इस प्रकार बनता है—दो परमाणु का मिल कर एक द्वयणुक बनता है, और तीन द्वयणुकों के संयोग से एक त्रसरेणु अथवा त्र्यणुक। इस में द्वयणुकों की बहुत्त्व संख्या के कारण महत्त्व गुण का उत्पाद हो जाता है, जो वस्तु के इन्द्रियग्राह्य होने में विशेष निमित्त है। इस तरह जो अभी तक व्यक्त होता हुआ भी अतीन्द्रिय था, अब वह इन्द्रियग्राह्य अवस्था में आ जाता है।

परमाणुपूर्व-तत्त्व

अब हमें परमाणु से पहले की 'अविशेष' अवस्था के तत्त्व की परीक्षा करनी चाहिये। हम जानते हैं, परमाणु व्यक्त पदार्थ है। भौतिक रचना की दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है, कि यह पहला पदार्थ है, जो व्यक्त अवस्था में आया है। इससे पहली अवस्था में तत्त्व 'अव्यक्त' माना जाना चाहिये। वस्तुस्थिति यह है, भौतिक जगत् की स्थिति की अपेक्षा से मोटे तौर पर भले ही उसे अव्यक्त कहा जाय, पर है वह भी व्यक्त। यह ठीक है, कि परमाणु को व्यक्त माने जाने का जो निमित्त है, वह निमित्त अविशेष में नहीं है। भूतरचना से ही उस विशेषता का आरम्भ होता है। यद्यपि भूत रचना का कारण होने से 'अविशेष' अवस्था के तत्त्व को भी गौण रूप से यह नाम दे दिया जाता है, और उस अवस्था में इन तत्त्वों को 'सूक्ष्म भूत' कह देते हैं; पर इनके सच्चे रूप के बोधक पद 'अविशेष' अथवा 'तन्मात्र' ही हैं।

अध्यात्म-अधिभूत

समस्त जगद्रचना का दो भागों में विभाजन माना गया है। एक अध्यात्म, दूसरा अधिभूत। 'तन्मात्र' से अधिभूत रचना का प्रारम्भ होता है। इससे पहला जगत् अध्यात्म है। इसमें दस इन्द्रिय, मन, अहंकार और बुद्धि का समावेश है। इन्द्रिय, अध्यात्म और अधिभूत के अन्तराल का एक

आवश्यक सूत्र है, जो अधिभूत को अध्यात्म के साथ जोड़ता है। अधिभूत की अपेक्षा अध्यात्म का आत्मतत्त्व के साथ समीप का सम्पर्क है। समीपता में भी तारतम्य है। बुद्धितत्त्व आत्मा के सर्वाधिक समीप सम्पर्क में रहता है, उसके बाद अहंकार, तब मन और इन्द्रियाँ। अध्यात्मजगत् में इन्द्रियों की स्थिति भूतों के सर्वाधिक समीप है। यह सूत्र यदि अपनी मध्यगत स्थिति से छिन्न हो जाय, तो बाह्य जगत् के साथ आन्तर जगत् का सम्बन्ध टूट जाता है। यह वर्णन यहां प्रसंगवश किया गया। इससे हम यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि परमाणु के प्रादुर्भाव में आने से पूर्व, और परमाणु के कारण 'अविशेष' से भी पूर्व जगत् की इतनी रचना हो चुकी होती है।

अविशेष अथवा तन्मात्र का कारण 'अहंकार' है। परन्तु अहंकार से तन्मात्रों का परिणाम होने के पूर्व कतिपय निमित्तों के सहयोग से अहंकार, मन तथा इन्द्रियों को प्रादुर्भूत करता है। अहंकार का उपादान बुद्धि है, और बुद्धि का कारण अव्यक्त प्रकृति। समस्त कार्य विश्व का मूल उपादान तत्त्व यही है। इसका और कोई उपादान नहीं है। यह अव्यक्त तत्त्व है। इसके कार्य बुद्धि आदि समस्त पदार्थ व्यक्त हैं।

अतीन्द्रिय परमाणु को व्यक्त मानने की जो परिभाषा पहले कही गई है, वह 'बुद्धि' आदि तत्त्वों के व्यक्त माने जाने में लागू नहीं होती। परमाणु भौतिक जगत् का प्रथम 'व्यक्त' तत्त्व है, वहाँ रूपादिगुणयोग व्यक्तता का नियामक है। परन्तु अध्यात्मजगत् में यह स्थिति नहीं है। यहां मूल प्रकृति 'सत्त्व-रजस्-तमस्' की साम्यावस्था है। यह मूल उपादान का 'अव्यक्त' रूप है। त्रिगुण में साम्य न रहने पर अर्थात् वैषम्य हो जाने पर 'अव्यक्त' अवस्था नहीं रहती, वैषम्य से होने वाला प्रत्येक परिमाण व्यक्त' है। उस स्थिति में 'त्रिगुण' का 'साम्य' ही अव्यक्तभाव का नियामक है।

उपसंहार—

यद्यपि समस्त अध्यात्म अधिभूत, त्रिगुण वैषम्य का ही परिणाम है पर किसी स्तर पर विशेष विचार के लिये विभिन्न पद्धतियों का आश्रय ले लिया जाता है। यह केवल वस्तुतत्त्व के विवेचन की भावना से होता है। इसमें किसी प्रकार के पारस्परिक विरोध की आशंका का अवकाश नहीं। फलतः न्याय-वैशेषिक के आरम्भवाद के अनुसार, किस प्रकार अतीन्द्रिय तत्त्व से इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थ बन जाते हैं, यह स्पष्ट कर दिया है। परिणामवाद के अनुसार त्रिगुण में वैषम्य आते ही पदार्थों की अभिव्यक्ति होने लगती है। यह सब त्रिगुण के विषमतापूर्ण अन्योन्यमिथुन का चमत्कार है। यदि हम इस रहस्य को समझ पाते हैं, कि त्रिगुण की साम्य अवस्था जब त्रिगुण सर्जनोन्मुख नहीं है—उसका 'अव्यक्त' रूप है, तब अव्यक्त से व्यक्त हो जाने की पहेली समझने में निस्सन्देह हमें सुविधा हो जाती है। 'अव्यक्त' और 'व्यक्त' इन विरोधी प्रतीत होने वाले पदों को देख कर ही हमें भयभीत नहीं होना चाहिए। इस प्रक्रिया के अनुसार 'अव्यक्त' से 'व्यक्त' होने पर तत्त्व के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। अव्यक्त और व्यक्त का यह सञ्चर और प्रतिसञ्चर निरन्तर निर्बाध चला करता है।

मानव के महान् पाँच कर्तव्य

श्रीमती शकुन्तला देवी, मेरठ

आज जब कि अपना देश स्वतन्त्र है और अपनी सरकार लौकिक अभ्युदय के लिए सर्वात्मना प्रयत्नशील है, तब युग की याचना है कि जन-जन में नैतिकता के जागरण के लिए महर्षि दयानन्द द्वारा संस्थापित आर्यसमाज वैदिक क्रियाकलाप को पुनर्जीवित करे। आर्य-जनों के सरस, संयमी, स्वस्थ जीवन ही इतर जनों के लिए चुम्बक की भाँति आकर्षण सिद्ध हो सकते हैं। सम्प्रति संसार सत्य सिद्धान्तों के पोषक कोरे आदर्शवाद को सुनने के लिए ही नहीं अपितु आपके आचरण को भी परखने का अभिलाषी है। वह आर्य की करनी एवं कथनी का एकत्व देखने का इच्छुक है। अतः राजनैतिक अखाड़ों से दूर रह कर हमारा आभ्यन्तरीय और व्यावहारिक जीवन-चरित्र का चित्र एक ही सुनहरे रंग से चित्रित अथवा रंजित होना योग्य है। जीवन के इस सौन्दर्य को आत्मसात् करने के लिये हमें अपने जीवन के दैनिक नित्य कर्मों की ओर सूक्ष्मता से दृष्टिपात करना होगा। मनु भगवान् ने दिव्य जीवन बनाने के लिये निम्नलिखित वेदविहित मार्ग का निर्देश किया है:—

ब्रह्मयज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा। नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥१॥

अमूल्य नरतन को पाकर मनुष्य को अपने एवं लोककल्याण के निमित्त नित्यप्रति नियमानुसार इन पांच कर्त्तव्यों का अनुष्ठान करना चाहिए। वेद की उक्ति है:—

"ईजानाः स्वर्गं यान्ति लोकम्"

अर्थात् यज्ञों के करने वाले पुरुष परमधाम को जाते हैं तथा "अयज्ञीयो हुतवर्चा भवति" और जो यज्ञ नहीं करते वह निस्तेज दीपक के तुल्य बुझ जाते हैं। श्रेष्ठतम कर्म करने का नाम यज्ञ है। "यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म्म"। शास्त्रों में यज्ञ की संज्ञा "अध्वर" है अर्थात् तुम्हारे यज्ञ हिंसाशून्य होने चाहियें। इस यज्ञीय आचरण से जहां मनुष्य का आत्मा निष्पाप, निष्कलंक होता है, वहां हम (१) ऋषि ऋण (२) पितृ ऋण (३) देव ऋण इन तीनों ऋणों से भी उऋण हो जाते हैं। इन

उपर्युक्त पाँच यज्ञों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मनु महाराज मानवशास्त्र में लिखते हैं:—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः, पितृयज्ञस्तु तर्पणम् । होमो दैवो, बलिर्भौतो, नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥२॥

भावार्थ यह है कि आचार्य कुल में गुरुशुश्रूषापूर्वक ब्रह्मचर्य के साथ वेदों का पढ़ना-पढ़ाना तथा आत्मनिरीक्षण करते हुए प्रातः-सायं ब्रह्म का ध्यान करना (ब्रह्मयज्ञ) है। इस आचरण के द्वारा प्राणी ऋषि ऋण से छूट जाता है। दूसरा—अपने परिवारों में जो जीवित वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध हों, उनकी प्रीति-संतुष्टि के लिये श्रद्धापूर्वक नित्यप्रति सेवा, सम्मान का भाव रखना पितृयज्ञ है। इस व्यवहार से मनुष्य पितृ ऋण से उऋण होकर वृद्धजनों के आशीर्वाद से लोक में फलते व फ़लते हैं। तीसरा—सुगन्धित, रोगनाशक, पौष्टिक औषधियों के द्वारा वेदमन्त्रों से अग्नि में होम करके (अपने से दूषित किये गये वातावरण को शुद्ध, पवित्र, शक्तिशाली, नीरोग बनाना देवयज्ञ कहाता है। देव शब्द से जहाँ जड़ देवताओं का ग्रहण होता है, वहाँ 'विद्वांसो हि देवाः" शतपथ के इस प्रमाण से विद्वान्, चरित्रवान्, परोपकारी, धर्मात्मा, महात्माओं को पूजनीय देवयज्ञ की मर्यादा के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। इस दिव्य क्रिया से मित्र, शत्रु सबका उपकार करता हुआ पुरुष देव ऋण के भार से मुक्त हो जाता है। चौथा—जितने भी जलचर, स्थलचर, नभचर योनियों में कोटानुकोटि कीट-पतंग, पशु-पक्षी हैं उनमें एक आत्मतत्त्व के दर्शन करते हुए सबके जीवनरक्षार्थ यथाशक्ति सुख-साधनों की सुव्यवस्था करना (भूतयज्ञ) कहलाता है। इसको ही शास्त्र "अहिंसा परमो धर्मः" के नाम से स्मरण करते हैं। अहिंसा सब धर्मों का मूल है।

पाँचवाँ—लोकरक्षार्थ भूखे, प्यासे, बीमार, बेरोजगार व्यक्तियों का अन्न, जल, वस्त्र, स्थान, औषध इत्यादि से देशकाल का विचार करते हुए स्वागत-सत्कार करना, मधुर भाषण से दूसरों के दिल के घावों पर प्रेम का मरहम लगाना नृयज्ञ, मनुष्य यज्ञ (अतिथि यज्ञ) कहाता है। हां, सर्वत्र पात्र-कुपात्र का विचार रखना बुद्धिमत्ता है। सोचिये, गोमाता सूखे तिनके खाकर मधुर अमृतमय क्षीर देती है और विषधर सर्प क्षीर पीकर विष वमन करता है। यह है महान् अन्तर। अतः दान का पात्र में सदुपयोग हो, इसका विचार करना दाता का अपना दायित्व है। दानों में भी गुप्त दान की विशेषता है।

यह है हमारे पूर्वजों द्वारा प्रचलित, प्रस्थापित, साम्यवाद, समाजवाद अथवा मानवधर्म, जिसको प्रतिदिन नियम से पूर्ण करके पुनः अपने जीवन के निर्वाह करने का नाम है, आर्य जीवन, अमर जीवन। वैदिक संस्कृति का एक ही लक्ष्य है "तेन त्यक्तेन भुंजीथाः" "जीओ और जीने दो" इस भव्य भावना को ही जन-जन के हृदय घट में भरना आज के युग की मुख्यतम माँग है। वेद भगवान् स्पष्ट शब्दों में कहते हैं "केवलाघो भवति केवलादी" जो केवल मात्र अपने लिए पकाते हैं वह पापी केवल पापों को खाते हैं। स्मृति ग्रन्थों में तो यहाँ तक कहा गया है कि जो नर-नारी इन पाँच यज्ञों के अनुष्ठान बिना भोजन करते हैं वे दानव "केवलं मलमश्नन्ति ते नरा न संशयम्" केवल मल को खाते हैं। और जो यज्ञ का शेष भोगते हैं "यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः" वह सन्त पुरुष सब पापों से विरक्त होकर ब्रह्मधाम में विश्राम पाते हैं। इन उपर्युक्त मानवीय पंच दैनिक

कर्तव्यों को यज्ञ नहीं महायज्ञ कहते हैं। "यज्ञमहायज्ञौ व्यष्टिसमष्टिसम्बन्धात्" अर्थात् जब मानव स्वार्थ के संकुचित क्षेत्र से हटकर "वसुधैव कुटुम्बकम्" की उदात्त भावना से भूषित हुआ विश्वकल्याण के निमित्त निष्कामकर्म के रूप में इन यज्ञों का व्यवहार करता है उस स्थिति में इन यज्ञों की संज्ञा महायज्ञ हो जाती है। ठीक है नररूप नारायण की सच्ची सेवा ही सच्चे अर्थों में सच्ची प्रभुभक्ति है। यज्ञ, तप, व्रत, उपवास, अनुष्ठान सब साधन हैं। समता, सहृदयता और श्रद्धा को धारण करने के लिए चरित्र का निर्माण ही ईश्वर की उपासना है। इन पंचयज्ञों का अनुष्ठान लोक में सम्पन्न ही व्यक्ति करें ऐसी बात नहीं है। एक निर्धन अपनी आधी रोटी में से एक ग्रास भी भगवदर्पण करके धनिकों से कई गुणा अधिक पुण्य का भागी बन सकता है। "भक्त की भावना के भूखे हैं भावुक भगवान्" यह किंवन्ती जगत् प्रसिद्ध ही है। जब मानव का मानव स्तर इतना महान् बन जायेगा तब ही हमारा लौकिक अभ्युदय होगा और निःश्रेयस की सिद्धि तो स्वतःसिद्ध हो जायेगी। उस स्थिति में ही हमारे परिवार शिवसदन तथा सकल संसार स्वर्ग का आगार बन जायेगा। राष्ट्र की यह स्थिति उस परिस्थिति में ही संभव है, जबकि घर-घर में मातृशक्ति धर्म-परायणता के रूप में प्रकट होगी। धर्म का पालन करने वाली अथवा परिवार में धर्म का पालन कराने वाली धर्मपत्नी ही होती है। महर्षि दयानन्द का स्त्रीसमाज के कन्धों पर भारी ऋण है, जहाँ अन्य आचार्य "द्वारं किमेकं नरकस्य ? नारी" लिखकर नारी की अवहेलना निंदा करते रहे, वहाँ भगवान् दयानन्द एक धर्माचार्य हैं जिन्होंने युगों से मुरझाये मातृशक्ति के मलिन मुखमण्डल को भूमण्डल में सर्वप्रथम मण्डित किया। उन्होंने बतलाया कि मानव में मनुष्यत्व का मेल कराने वाली माता ही है। "माता निर्मात्री भवति"। इस प्रकार ऋषि द्वारा प्रदर्शित स्वस्वरूप को पहचान कर यदि देवियाँ ऋषिऋण से अनृण होने की भावना से आगे बढ़ें तो वह कौनसा असाध्य काम है, जिसे अबला कहलाने वाली मातायें पूर्ण नहीं कर सकतीं। इस भौतिकता के प्रवाह में बहते हुए बहरे जगत् को आध्यात्मिकता के सन्देश को सुनाने की आज आवश्यकता है, जिसका आदि स्रोत मातृशक्ति है। बड़े-बड़े जगद्विजयी सूरमा, धर्मसंस्थापक महात्मा जननी की ही गोद में पलकर बड़े हुये थे। स्त्रियां नरक का सामान नहीं, नर की खान है। वे गुरुजन धन्यवाद के पात्र हैं, जो ज्ञानगंगा के प्रसाद से जनता जनार्दन के मानसतल को प्रकाशित करते हैं, हमें अन्धकार से प्रकाश में ले चलते हैं। प्रकाश जीवन है, अन्धकार मृत्यु है। वह हमें अमरत्व के पीयूष का पान करवाते हैं। आर्य जगत् ऐसे ज्ञानी जनों का यदि अभिनन्दन सत्य अर्थों में करना चाहता है, या वह देव दयानन्द के सुनहरे स्वप्नों का साकार संसार बसाना चाहता है तो एक मार्ग है "स्वकर्मणा समभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः" अपने कर्मों के फूलों से हम उनका अभिवादन करें।

दयानन्दं वन्दे जगद् गुरुम्।

पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में वैदिक वाङ्मय

डा० सूर्यदेव शर्मा साहित्यालंकार,
एम. ए., डी-लिट्, अजमेर

अब यह तथ्य तो विश्व की प्रायः समस्त विद्वन्मण्डली द्वारा स्वीकार किया जा चुका है कि प्रोफेसर मैक्समूलर के शब्दों में "The Rigved is the oldest book in the library of the world" अर्थात् संसार के पुस्तकालय में सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद ही है। हमें इस छोटे से लेख में देखना यह है कि हमारा वैदिक साहित्य केवल प्राचीनता की दृष्टि से ही नहीं, किन्तु अन्य दृष्टियों से भी पाश्चात्य विद्वानों को कहां तक प्रभावित कर सका है ? उन्होंने समय-समय पर उस के सम्बन्ध में क्या उद्गार व्यक्त किये हैं ?

यद्यपि ईसाई प्रचारकों ने अपने प्रारम्भिक काल में भारत में आकर यूरोपीय विद्वानों को भ्रम में डालने के लिये एक Ezour Vedam "यजुर्वेदम्" की रचना भी फ्रेंच भाषा में कर डाली और वाल्टेयर आदि विद्वानों के सम्मुख वेद के नाम से प्रस्तुत की गई। लेकिन वैदिक साहित्य से यूरोप के विद्वानों को सर्वप्रथम चमत्कृत और प्रभावित करने का कार्य तो फ्राँस के एक नवयुवक विद्वान् Duperron (डूपरोन) ने किया जो सन् १७६० में भारत आया था और ८० से अधिक हस्त-लिखित प्राचीन ग्रन्थ यहाँ से फ्राँस को ले गया था। उन ग्रन्थों में मुगल सम्राट् शाहजहां के पुत्र दाराशिकोह द्वारा कृत उपनिषदों का फारसी अनुवाद भी था। डूपरोन ने उसको Latin लैटिन) भाषा में अनुवाद करके "औपनिखत" (Oupnekchat) के नाम से प्रकाशित किया, जिसको जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् शोपनहावर ने पढ़ा और तब उसने ये उद्गार प्रकट किये:—"यह अनुपम ग्रन्थ आत्मा की गहराइयों तक को हिलोर डालता है। इसके प्रत्येक वाक्य से मौलिक, गम्भीर और अत्यन्त ज्योतिष्मान् विचार ऊपर उठते हैं। हमारे चारों ओर भारतीयता का वाता-वरण आप से आप ही खड़ा हो जाता है और ऐसा प्रतीत होता है कि मानो ये विचार हमारे अपने आत्मिक बन्धु के विचार हों। हमारे मनों पर यहूदी तथा ईसाई सस्कारों की जा रूढ़ियां और अन्ध-विश्वास छाये हुए हैं वे इन विचारों से एकदम धुल जाते हैं। समस्त संसार में इसके जोड़ का इतना

उदात्त कोई अन्य ग्रंथ नहीं हो सकता। अपने जीवन में मुझे उपनिषदों से ही शान्ति मिली है और उन्हीं से मृत्यु के पश्चात् भी शान्ति प्राप्त होगी। "They have been the solace of my life and they will be the solace after death."

यूरोप में संस्कृत भाषा के प्रचार से वैदिक साहित्य का मान अधिकाधिक वृद्धिगत होता गया। सन् १७८६ में विलियम जोन्स ने रायल एशियाटिक सोसाइटी के अधिवेशन में यह घोषणा की थी कि "संस्कृत परम अद्भुत भाषा है। यह यूनानी (ग्रीक) से अधिक पूर्ण और लैटिन से अधिक सम्पन्न है"। इससे यूरोपीय विद्वानों में संस्कृत पढ़ने की इच्छा उत्पन्न हुई। सन् १८०२ में एक अंग्रेज अलैक्जेन्डर हैमिल्टन भारत से संस्कृत सीख कर फ्रांस की राजधानी पैरिस में ठहरा था, जब कि अंग्रेजों का नैपोलियन बोनापार्ट से युद्ध आरम्भ हो गया और हैमिल्टन पैरिस में ही बन्दी बना लिया गया। उसने जेल में ही लोगों को सस्कृत पढ़ाना आरम्भ कर दिया। उससे चेजी ने संस्कृत पढ़ी, चेजी से श्लीगल और बर्नफ ने और बर्नफ से जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने संस्कृत पढ़ी, जिसने अपने जीवन के अधिकांश वर्ष वैदिक साहित्य के अध्ययन में ही लगा दिये। उसी ने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान और तुलनात्मक धर्म के अध्ययन की परम्परा प्रचलित की। ऋग्वेद का प्रामाणिक संस्करण उसने इस श्लोक को भूमिका में देकर छपायाः—

"शार्मण्यदेशजातेन श्री "गोतीर्थ" निवासिना।
मोक्षमूलरभट्टेन ग्रंथोऽयं संविशोधितः ॥

अर्थात् शर्मणी (जर्मनी) देश में उत्पन्न, गोतीर्थ (Oxford) में निवास करने वाले मोक्ष मूलरभट्ट ने इस ग्रंथ का संशोधन किया है।

इसी प्रकार वेदों की प्राचीनता के संबन्ध में रैवरेंड मौरिस फिलिप नामक पादरी ने अपने ग्रन्थ "The Teachings of the Vedas" में लिखा है:—"After the latest researches into the history and chronology of old Testameut, we may safely now call Rigved as the oldest book, not only of the Aryan race but of the whole world."

अर्थात् पुराने अहदनामे के इतिहास के अनुसन्धान के बाद अब हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि ऋग्वेद कवल आर्य जाति का ही नहीं, समस्त संसार का सब से प्राचीनतम ग्रथ है। प्रोफेसर हीरेन (Heeren) ने भी ऐतिहासिक अनुसन्धानों (Historical Researches) में यही भाव इस प्रकार व्यक्त किया है।

"The Vedas are without doubt the oldest works composed in Sans-krit....They stand alone in their solitary splendour, as becon of Divine light for the onward march of humanity.'

अर्थात् "निस्सन्देह संस्कृत में रचित वेद ही सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। मानवता की अग्रगामी प्रगति के लिये "ईश्वरीय प्रकाश" के प्रदर्शक एकाकी चमत्कार के रूप में वेद ही हमारे सम्मुख

उपस्थित हैं।" कितने सुन्दर भाव हैं। इसी प्रकार फ्रांस के विद्वान् Leon Delbos ने घोषणा की– "The Rigved is the most sublime conception of thc great highways of humanity." अर्थात् मानवता के सर्वोच्च श्रेष्ठ मार्गों का महान् उच्च विचार प्रदानकर्त्ता ऋग्वेद ही है। इसी प्रकार अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान् थोरी, नोबेल पुरस्कार विजेता मैटरलिंक, फ्रांस के डा० जेम्स कजिन्स, रूस के विद्वान् वोलिगार आदि अनेक विद्वानों ने वेदों के उच्च ज्ञान से प्रभावित होकर अपने बहुमूल्य उद्‌गार प्रकट किये हैं। प्रो० मास्करो ने तो "Himalayas of the soul" नामक ग्रंथ में वेदों, उपनिषदों को आत्मा के लिये हिमालयसदृश महान् एव विशाल गौरवास्पद स्वीकार किया है। यही नहीं वैदिक साहित्य की बात तो अलग रही, नीत्से नामक विद्वान् ने तो मनु-स्मृति तक को पढ़ने के पश्चात् ही लिखा था "A work which is spiritual and superior beyond comparison, even to name in one breath with the Bible would be a sin." अर्थात् मनुस्मृति समस्त तुलनाओं से परे एक आध्यात्मिक उच्च स्तर का ग्रंथ है जिसके नाम के साथ बाइबिल का नाम भी एक सांस में लेना पाप होगा। कहां तक गिनाया जाय, वेदों और वैदिक साहित्य के संबन्ध में पाश्चात्य विद्वानों ने जो उद्‌गार प्रकट किये हैं, जिस श्रद्धा वे वेदों का स्तवन करते हैं, वह वास्तव में अनुकरणीय है। यद्यपि कुछ विरोधी विचारधारा के दर्शन भी यत्र तत्र होते हैं और वेदों के निर्माण काल के संबन्ध में तथा वेदों में इतिहास है या नहीं, इसमें भी उनका मतवैभिन्य मिलता है, फिर भी ऋषि दयानन्द द्वारा निर्मित आर्यसमाज के तीसरे नियम में कही गई इस बात से सभी सहमत हैं कि "वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना, सुनना सुनाना सब का परम धर्म है।" अतः हम भी श्रद्धावनत हो वेदभक्त कवि के शब्दों में वेदों का स्तवन करते हैं।

वेद भगवन्! तुम हमारे पूर्वजों के प्राण हो।
रूप में पुस्तक के हो पर तत्त्व में भगवान् हो॥ "सूर्य"

जात-पाँत को मिटा दो—क्यों ?

श्री सन्तराम, बी० ए०, होशियारपुर

प्रत्येक धर्म के दो अंग होते हैं—एक उसका अध्यात्मवाद या दार्शनिक अंग और दूसरा उसका समाजवाद या लौकिक अंग। अध्यात्मवाद प्राय: अपरिवर्तनीय होता है। उसके सिद्धान्तों में कोई फेर-बदल नहीं हो सकता, परन्तु सामाजिक नियम काल और परिस्थिति के अनुसार सदा बदलते रहते हैं। जो व्यक्ति या समाज काल और परिस्थिति के अनुसार अपने लौकिक व्यवहार और प्रथाओं को नहीं बदलता, जो युगबाह्य बातों के साथ ही चिपटा रहने का दुराग्रह करता है, वह धराधाम से मिट जाता है। हिन्दू लोग जिसे आज सनातन धर्म के नाम से पुकारते हैं उसके इतिहास पर भी जब हम दृष्टि डालते हैं तो हमें अपनी उपर्युक्त बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं। हमारे पूर्वज आवश्यकतानुसार समय-समय पर अपने सामाजिक नियमों में नि:सङ्कोचभाव से परिवर्तन करते रहे हैं। उदाहरण लीजिए—

मानव धर्मशास्त्र के प्रारम्भिक श्लोकों में ब्राह्मणों को शूद्र स्त्रियों से विवाह की अनुमति थी (३।१२-१३), परन्तु बाद के श्लोकों में यह अनुमति वापिस ले ली गई (३।१४-१९)। इसमें लिखा है—"इतिहास और कथाओं में कहीं इस बात का उल्लेख नहीं है कि ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने आपत्काल में भी शूद्र स्त्रियों से विवाह किया हो (३।१४)। यह कितनी अनैतिहासिक बात है! पुराने इतिहास में और अर्थशास्त्र में असवर्ण विवाह के प्रचुर उदाहरण मिलते है—अर्थशास्त्र, भाग ३, अध्याय ७—१६४।

मानव धर्म शास्त्र में एक जगह लिखा है—"दासी के पुत्र उसके स्वामी की सम्पत्ति हैं" (९-५५)। अर्थात् यह धर्म-शास्त्र पशुओं और दासों की सन्तान में कोई अन्तर नहीं देखता। इसके विपरीत 'अर्थशास्त्र' में स्पष्ट लिखा है कि दासी-पुत्र भी "आर्य" है। सम्राट् अशोक ने घोषणा की थी कि कानून की दृष्टि में ब्राह्मण और शूद्र सब बराबर हैं। परन्तु मनुस्मृति ने सम्राट् अशोक की इस व्यवस्था को रद्द करके एक ही अपराध में ब्राह्मण और शूद्र के लिए पृथक्-पृथक् दण्डों का विधान कर दिया (८।२६७-२७७,३६६-३७६)। "अर्थशास्त्र" की व्यवस्था के अनुसार शूद्रों को वेद

पढ़ने और यज्ञ करने दोनों का अधिकार था (अर्थशास्त्र, भाग, १, अध्याय १०-१६), परन्तु मनुस्मृति ने इस अधिकार को छीन लिया।

जैसे आजकल स्त्री-पुरुष का नियमपूर्वक सभा-मण्डप में विवाह होता है और किसी दूसरे पुरुष का उस विवाहित स्त्री से संबन्ध रखना निषिद्ध एवं पाप समझा जाता है, वैसी बात आदि-काल में न थी। इससे अनेक बार, साँडों की भाँति, पुरुषों की आपस में लड़ाइयाँ हो जाती थीं। इससे सामाजिक जीवन अशान्त रहता था। इसी बुराई को दूर करने के लिए विवाह की प्रथा चलाई गई। इस प्रथा के बनाने वाले उद्दालक मुनि के पुत्र श्वेतकेतु थे।

श्वेतकेतु के संबंध में कथा है कि एक दिन श्वेतकेतु ऋषि अपनी माता के पास थे। उनके पिता भी वहीं पर थे। इसी बीच एक ब्राह्मण आकर उनकी माता का हाथ पकड़, कहने लगा—"युवति, तुम मेरे साथ चलो।" अब वह ब्राह्मण, मानो बलपूर्वक श्वेतकेतु की माता को लेकर चल दिया। इससे श्वेतकेतु को बहुत क्रोध हो आया। श्वेतकेतु को कुपित देख उनके पिता उद्दालक ने कहा—"बेटा, क्रोध न करो। अत्यन्त प्राचीन काल से यह धर्म चला आ रहा है। संसार में सभी वर्णों की स्त्रियाँ इस विषय में स्वाधीन हैं। सब मनुष्य अपने वर्ण की स्त्रियों से गाय-बैल के समान आचरण करते हैं। जो जिस में चाहे विहार कर सकता है।"

उद्दालक ने इस प्रकार पुत्र को समझाया। परन्तु श्वेतकेतु ने उस धर्म का अनुमोदन न किया। कुपित श्वेतकेतु ने स्त्री और पुरुष के लिए यह सामाजिक नियम बना दिया कि एक स्त्री एक ही पुरुष की होकर रहे।+

दूसरा उदाहरण एक स्त्री के अनेक पति होने की प्रथा है। द्रौपदी के पति पांच* पांडव थे। इसी प्रकार जटिला गौतमी× के सात पति थे और वाती नाम की एक मुनि कन्या ने प्रचेतस नाम वाले दस भाइयों से विवाह किया था। (महाभारत, आदि पर्व, अध्याय १९८,१५) परन्तु आज इन प्रथाओं को हानिकारक समझ कर बन्द किया जा चुका है।

+ मा तात कोपं कार्षीस्त्वमेष धर्मः सनातनः।
अनावृता हि सर्वेषां वर्णानामंगना भुवि॥
यथा गावः स्थितास्तात स्वे स्वे वर्णे तथा प्रजाः।
महाभारत आदि पर्व, अ० १२३, श्लोक १४-१५

* युधिष्ठिर उवाच—
सर्वेषां धर्मतः कृष्णा महिषी नो भविष्यति। १९७।२३
आनुपूर्व्येण सर्वेषां गृह्णातु ज्वलने करान्॥ अ० १९७।२६

× श्रूयते हि पुराणेऽपि जटिला नाम गौतमी।
ऋषीनध्यासितवती सप्त धर्मभृतांवरा॥आदिपर्व अध्याय १९६।१४

इसी प्रकार वर्णभेद और जात-पांत भी कोई सनातन या अपरिवर्तनीय नियम नहीं। आदि-काल में चार वर्णों की वांट नहीं थी। यह विभाजन पीछे से किया गया। उसके प्रमाण महाभारत और पुराणों में भी मिलते हैं। श्रीमद्भागवत पुराण (स्कन्ध ९।१४) कहता है—

एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः।
देवो नारायणो नान्य एकोऽग्निर्वर्णमेव च ॥४॥

श्रीधर स्वामी इस का अर्थ करते हुए कहते हैं कि पहले सर्ववाङ्मय प्रणव (ओंकार) ही एकमात्र वेद था। एकमात्र देवता नारायण थे और कोई नहीं। एकमात्र लौकिक अग्नि ही अग्नि और एकमात्र हंस ही एक वर्ण था।

महाभारत कहता है—

एकं वर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर।
कर्मक्रियाविभेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम् ॥

अर्थात्—हे युधिष्ठिर, इस जगत् में पहले एक ही वर्ण था। गुण-कर्म के विभाग से पीछे से चार वर्ण स्थापित किये गये।

भविष्य महापुराण के ब्रह्मपर्व, अध्याय ४२ में लिखा है—"यदि एक पिता के चार पुत्र हैं तो उन चारों की एक जाति होनी चाहिये। इसी प्रकार सब लोगों का पिता एक परमेश्वर ही है। इस लिये मनुष्य-समाज में जाति-भेद है ही नहीं। जिस प्रकार गूलर के पेड़ में, अगले भाग, मध्य भाग और जड़ के भाग, तीनों में, एक ही वर्ण और आकार के फल लगते हैं, उसी प्रकार विराट् पुरुष परमेश्वर के मुख, बाहु, पेट, और पैर में उत्पन्न हुये मनुष्यों में स्वाभाविक) जातिभेद कैसे माना जा सकता है ?"

इतना ही नहीं, विष्णु पुराण (अंश ४.८.१) कहता है—

गृत्समदस्य शौनकश्चातुर्वर्ण्यप्रवर्त्तयिताऽभूत्।

अर्थात् गृत्समद के पुत्र शौनक ने चातुर्वर्ण्य व्यवस्था प्रवर्त्तित की।

इसी पुराण में दूसरी जगह कहा गया है—

भार्गस्य भार्गभूमिः अतश्चातुर्वर्ण्यप्रवृत्तिः। चतुर्थ अंश ८.९

अर्थात् भार्ग में भार्गभूमि उत्पन्न हुये, उनसे चातुर्वर्ण्य प्रवर्त्तित हुआ।

इन प्रमाणों में स्पष्ट हो जाता है कि चातुर्वर्ण्य विभाग ईश्वरकृत नहीं, मनुष्यकृत है। हानिकारक सिद्ध होने पर इसे भी निषिद्ध ठहराने में धर्म की कोई हानि नहीं। धर्म मनुष्यों के लिये होता है, मनुष्य धर्म के लिये नहीं। जो नियम, जो अनुष्ठान और जो प्रथा मनुष्य-समाज में सुख के स्थान में दुःख की वृद्धि का कारण बन जाय, उसका त्याग ही पुण्य कर्म है। यह जातिभेद आजकल के साम्यवाद और समाजवाद के सदृश एक समाजिक प्रयोग मात्र था जो बुरी तरह से असफल रहा। इसी लिए ऋषि दयानन्द ने भी श्रीयुत कल्याणानन्द को विक्रमी संवत् १९४० कार्तिक वदी प्रतिपदा को अपने एक पत्र में लिखा था कि "आजकल वर्णव्यवस्था तो आर्यों के लिये मरण-

व्यवस्था बन गई है। देखें, इस डाकिन से आर्यों का पीछा कब छूटता है।" इतना ही क्यों, उन्होंने तो उसी पत्र में प्रत्येक प्रान्त के समाजों को आदेश दिया है कि वे मिल कर जात-पांत के बन्धनों को तोड़ कर विवाहों का प्रचार करें।

[१]

भूमिका के रूप में इतनी बात कहने के उपरान्त अब मैं बताना चाहता हूं कि जात-पांत को मिटाने की क्यों आवश्यकता है ?

जात-पांत और वर्णभेद कार्यतः दोनों एक ही चीज हैं। इन को अलग-अलग मानकर जात-पांत को मिटाने और वर्णभेद को बनाए रखने का यत्न करना अपने आप को धोखा देना है। इससे समाज की कठिनाई दूर नहीं होगी। सत्य पर आंखें मूंद लेने से लाभ के स्थान में हानि ही है। ऋषि दयानन्द कहते हैं कि असत्य को छोड़ कर सत्य को ग्रहण करने के लिए सदा उद्यत रहना चाहिये। उन्हों ने तो यहाँ तक कह दिया है कि "यदि कोई मेरी भी गलती आगे पाई जाय तो युक्तिपूर्वक परीक्षा करके उस को भी सुधार लेना। यदि ऐसा न करोगे तो आगे यह भी एक मत-हो जायगा, और इसी प्रकार से बाबा वाक्य प्रमाण करके इस भारत में नाना प्रकारके मत मतान्तर प्रचलित होके, भीतर-भीतर दुराग्रह रख के, धर्मान्ध होके, लड़ के, यह भारतवर्ष दुर्दशा को प्राप्त हुआ है, इस में यहां भी एकमत बढ़ेगा।" (देखो बम्बई आर्यसमाज का इतिहास। गुजराती, पृष्ठ ८)। आपको मानना पड़ेगा कि आज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, शर्मा, वर्मा, ठाकुर, चौधरी आदि जातियां हैं; गुण-कर्म-स्वभाव की परीक्षा करके किसी धर्मसभा द्वारा दिए गये वर्ण नहीं। इनमें से प्रत्येक जाति अपने में ही बेटी-व्यवहार करती है—राजपूत राजपूतों में और ब्राह्मण ब्राह्मणों में। अब अनेक जातियाँ ऐसी हैं जिन में स्त्रियाँ कम और पुरुष अधिक हैं। उनमें स्त्रियाँ बिकती हैं। वहाँ एक भाई का विवाह होने से कार्यतः शेष सब भाइयों का विवाह होता है। वहां स्त्री कार्यतः सब भाइयों की पत्नी होती है। इसके विपरीत जहां स्त्रियाँ अधिक और पुरुष कम हैं, वहां लड़के बिकते हैं, भारी-भारी दहेज माँगे जाते हैं, एक पुरुष कई-कई स्त्रियाँ रख लेता है और व्यभिचार फैलता है।

"जात-पाँत-तोड़क" लाहौर के मई १६३७ के अंक में किसी सज्जन का एक लेख छपा था। उसमें आपने लिखा था कि "सारे भारत में केवल ३०० घराने ऐसे हैं जिन में मालवीय ब्राह्मणों का लेन-देन और बेटी-व्यवहार हो सकता है। शोध करने पर हमें मालूम हुआ है कि इस जाति में लड़कों की अपेक्षा कन्याएं कहीं अधिक है। परिणाम यह है कि कई एक ऐसे मालवीय घराने देखे गये हैं जिन की कन्याएँ निर्धन, कुपात्र, रोगी वरों को केवल इस लिये ब्याही गई हैं क्योंकि लड़के नहीं मिलते। कई सम्बन्धियों के बारे में देखा गया है कि कन्या की मौसी के लड़के अर्थात् बहन का विवाह भी इसीलिए हुआ है। कई लड़कियों का विवाह राजयक्ष्मा के रोगी नवयुवकों के साथ हुआ। वे विवाह के पहले रोगग्रस्त थे। दो वर्ष तक इसी रोग में घुलकर उनकी मृत्यु हो गई, और रक्त के आंसू बहाते हुए कन्या ने उस पिशाच पुरी से प्रस्थान किया। ऐसे एक नहीं कई उदाहरण हमारे सामने हैं।"

उसी लेख में लिखा था कि श्री लक्ष्मीकान्त भट्ट मालवीय ब्राह्मणों में एक उदार विचार के क्रियात्मक व्यक्ति हैं। उन की एक लड़की श्री मदनमोहन मालवीय के लड़के को ब्याही है। दूसरी लड़की का विवाह एक दूसरी ब्राह्मण जाति के सुयोग्य और सुपात्र लड़के से कर दिया। इस पर श्री रमाकान्त मालवीय ने मालवीय ब्राह्मणों की एक सभा करके श्री लक्ष्मीकान्त को जाति से बहिष्कृत कर दिया। इतना ही क्यों, लक्ष्मीकान्त जी की पत्नी का जब देहान्त हुआ तो मालवीय बिरादरी ने अर्थी उठाने से इन्कार कर दिया और श्री मदनमोहन मालवीय ने अपनी बहू को उस की माता के देहान्त पर मायके नहीं जाने दिया, क्योंकि श्री लक्ष्मीकान्त ने अपनी दूसरी लड़की एक गैर मालवीय ब्राह्मण से ब्याह दी थी।

ब्राह्मणों की ही नहीं, दूसरी जातियों की भी ऐसी ही दशा है। उड़ीसा के अन्तर्गत कटक में जो कुम्हार खड़े होकर बड़े मटके बनाते हैं वे उन कुम्हारों के साथ बेटी व्यवहार नहीं करते जो बैठ कर छोटे घड़े बनाते हैं। इसी प्रकार जो ग्वाले कच्चे दूध से मक्खन निकालते हैं वे उन ग्वालों के साथ बेटी व्यवहार नहीं करते जो दूध जमा कर मक्खन निकालते हैं। दाएँ से बायें को जाल-बुनने वाले मछेरे बायें से दाएँ को जाल बुनने वालों के साथ रोटी बेटी-व्यवहार नहीं करते।

स्वर्गीय श्री वी० जे० पटेल के शब्दों में 'अनमेल विवाह, बाल-विवाह, विधवाओं के निकाल देने, स्त्रियों के बेचने और खरीदने, अदला बदली करने—यहां तक कि अस्थायी भार्या या रखैल के रूप में किराए पर लेने जैसी बुराइयों का कारण यही जात-पाँत है। यह जातियाँ दुराचार के विवाहों—जहां स्त्रियों की संख्या अधिक है, वहाँ एक पुरुष के कई स्त्रियाँ करने, और जहां लड़कियों की कमी है वहाँ बाजारी व्यभिचार क जीवन—का कारण होती हैं। जात-पांत की तंग कोठरियों के कारण ही अपने ही रक्त में सन्तान उत्पन्न करने की प्रक्रिया बराबर जारी रहती है और सदोष दुर्बलेन्द्रिय बच्चे उत्पन्न होते हैं।"

[२]

सुप्रजाजननशास्त्र (यूजेनिक्स) का सिद्धान्त है कि निकटस्थ आत्मीय जनों का आपस में एक ही रक्त में विवाह होते रहने से सन्तान सदोष और निर्बल होती है। जितने भी दूर के दो रक्तों का मिश्रण होगा सन्तान उतनी ही अधिक गुणवान् और सबल होगी। डा० मत्थू यक्ष्मा रोग के विशेषज्ञ हैं। उनका कहना है कि यक्ष्मा की समस्या का संबन्ध उतना चिकित्सा से नहीं, जितना कि समाज से है। यह वास्तव में एक सामाजिक कलंक है। जात-पांत इस महारोग को फलाने में बड़ी सहायक है। कारण यह कि अन्तर्जातीय विवाह न होने से हिन्दुओं की जीवनी-शक्ति बहुत घट गई है। इस से यह रोग मनुष्य को बहुत शीघ्र अपना शिकार बना लेता है। चूहे और चुहिया का एक जोड़ा लें और उसकी आपस में ही सन्तान उत्पन्न कराएँ तो आप देखेंगे कि उन्हें चार पीढ़ियों में प्रातक नासूर हो जायगा। कुछ समय पूर्व लन्दन निवासी अनुदारदल के लोग केवल लन्दन निवासियों से ही बेटी-व्यवहार किया करते थे, परन्तु जब चौथी पीढ़ी में उन्हें मालूम हुआ कि उन

के यहाँ सन्तान नहीं होती तो उन्होंने देहाती लड़कियों से विवाह करना आरंभ कर दिया।

डीन इङ्ग नामक विद्वान् अपनी पुस्तक, "आऊटस्पोकन एसेज़" में कहता है×—

'सदा अपनी ही छोटी सी जाति के भीतर विवाह करते रहना अहितकर है। बीच-बीच में जाति से बाहर भी विवाह करना चाहिए। बाहर से अच्छा रक्त लाकर मिलाना और फिर उसमें और रक्त की मिलावट करनी चाहिये। ऐसा करने से ही देश में उत्तम कोटि के स्त्री पुरुषों के जन्म लेने की अधिक संभावना है।"

समान संस्कृति वाले दो समूहों में मिश्र अर्थात् जात-पाँत तोड़कर विवाह निषिद्ध तो बिलकुल नहीं ; वरन वे नितान्त वान्छनीय हैं। वैज्ञानिकों का स्पष्ट मत है कि इससे अगली पीढ़ी की शक्ति और कर्तृत्व बढ़ता है। गेटस नाम का विद्वान् एक पग और भी आगे जाता है। वह रक्त की इस सीमा के भीतर की मिलावट का एक दूसरा लाभ भी बताता है। पर्ल और लिटल नामक दो विद्वानों द्वारा किए अध्ययन के आधार पर वह कहता है कि अंग्रेज, आयरिश, रूसी, इटालियन, जर्मन और ग्रीक के मिश्र विवाहों को देखा जाय तो कम से कम उनकी पहली पीढ़ी में तो लड़कों की उत्पत्ति अपेक्षाकृत बहुत बढ़ी+ दिखाई देती है। विशुद्ध संतान और मिश्र संतान में लड़के और लड़कियों की संख्या आगे लिखे के अनुसार है। विशुद्ध—लड़कियां १००, लड़के १०६.२ ; मिश्र—लड़कियां १००, और लड़के १२१.५६। जात-पांत तोड़कर विवाहों का यह बहुत बड़ा लाभ है।

भारत का इतिहास भी जात-पांत तोड़कर विवाह का ही समर्थन करता है। हमारे बड़े-बड़े महर्षि सब जात पाँत तोड़क विवाहों की ही सन्तान थे। महर्षि वसिष्ठ गणिका के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। जगद्वंद्य महात्मा वेदव्यास और उनके पिता पाराशर दोनों वर्णसंकर सन्तान थे। बुद्धि बल में वह कितने बढ़े-चढ़े थे। मुस्लिम काल में हमारे यहां तुर्क अफगान और मुगल का रक्त राजपूत के रक्त के साथ बार-बार मिलता रहा है और उस का परिणाम बुरा नहीं हुआ। वरन् एक बड़े अंश में अच्छा ही देख पड़ा है। अकबर, जहांगीर, शाहजहां और औरंगजेब इन चारों मुगलों की पत्नियां हिन्दू राजपूतानियां थीं। और सलीम, खुसरो, कामबख्श जैसे उनके लड़के कर्तृत्व वाले थे। यूसुफ आदिल शाह की स्त्री उसके मन्त्री मुकुन्दराव की बहन थी। इतिहास कहता है कि उनका पुत्र इस्माईल न्यायप्रिय, दूरदर्शी, रसिक एवं विद्वान् था। लोदी बहलोल की स्त्री एक सुनार की लड़की थी। उसका बेटा भी ऐसा ही था। शम्सुद्दीन ने कश्मीर के राज्य और रानी पर अधिकार

×Continued breeding in a small society is certainly prejudicial. Probably alternate periods of fusion with immigrants and stabilising the results give a nation the best chance of producing a fine type of men and women. "Outspoken Essays", page 26.

+In crosses between European races there is a higher ratio of male births at least in the first generation. "Heredity and Eugenics" page 230.

कर लिया था। उसकी रानी कमलदेवी के गर्भ से उस को पांच पुत्र हुए। वे पांचों के पांचों साहसी एवं वीर थे। समूचा तुगलक वंश तो तुर्क और राजपूत रक्तों की मिलावट से ही बना था। बाबर तुर्क और मगोल के रक्त-संकर से बने कबीले में उत्पन्न हुआ था। बाजीराव पेशवा और उसकी मुसलमान स्त्री मस्तानी का बेटा शमशेर बहादुर और उसका पुत्र आलीजाह बहादुर दोनों ही बड़े पराक्रमी थे। समुद्रगुप्त भी चन्द्रगुप्त और शूद्रवंश के लिच्छिवी घराने की लड़की कुमारदेवी का पुत्र था।

वर्ण संकर सन्तानें केवल बुद्धिमती ही नहीं, वरन् तीव्र और तीक्ष्ण बुद्धि वाली भी होती हैं। ग्रेट ब्रिटेन के दो-दो बार बनने वाले प्रधान मन्त्री श्री विन्स्टन चर्चिल के पिता लार्ड रडोल्फ अंग्रेज थे और उनकी माँ कुमारी जैनी जैरम अमेरिकन थीं। इस रक्त-मिश्रण के कारण वे इतने बड़े सफल राजनीतिज्ञ, महान् वक्ता और प्रभावशाली लेखक माने जाते हैं। गत महायुद्ध में उन्होंने ही ग्रेट ब्रिटेन की डूबती नैया को किनारे पर लगाया था। वर्तमान अंग्रेज प्रधान मन्त्री श्री० हेरल्ड मैकमिलन भी वर्णसंकर सन्तान हैं। उनकी मां अमेरिकन है और पिता अंग्रेज। मैकमिलन केवल राजनीतिज्ञ ही नहीं, एक बढ़िया व्यंग्यचित्रकार भी हैं।

पशु-जगत् में भी हम देखते हैं कि दो विभिन्न जातियों के जन्तुओं के मिलाप से उन दोनों से अधिक बलवान् सन्तान उत्पन्न होती है। गधे और घोड़े के संयोग से उत्पन्न होने वाला खच्चर उन दोनों से अधिक मजबूत होता है। जामनगर के राजा स्वर्गीय रणजीतसिंह ने अपने रानीबाग में एक सिंह और एक बाघिन को एक ही पिंजड़े में रखा। उन दोनों को दाम्पत्य जीवन का अवसर दिया। उनसे एक सन्तान उत्पन्न हुई। उसका नाम सिंबाघ रक्खा गया। वह इतना प्रचंड था कि उसे पिंजड़े में रखना कठिन हो गया।

बेतार के तार के आविष्कारक मारकोनी के पिता इटली के और मां आयरिश थी। इस वर्णसंकर सन्तान मारकोनी ने अपने आविष्कार से जगत् को आश्चर्य-चकित कर दिया। रेडियो या आकाशवाणी उन्हीं के आविष्कार का फल है।+

[३]

स्वस्थ और पूर्ण मनुष्य उसे ही कहा जा सकता है जिसके सब अंग मजबूत और ठीक अनुपात में हों। जिस मनुष्य का सिर तो कद्दू के समान बड़ा परन्तु भुजाएँ सरकंडे के समान पतली, अथवा जिसकी भुजाएँ तो लोहे के लट्ठ के सदृश सुदृढ़ परन्तु टांगें पक्षाघात की मारी हुई हैं, उसे आप नीरोग और बलवान् नहीं कह सकते। ऐसा मनुष्य न तो कोई बड़ा काम कर सकता है और न ही जीवन में सफल हो सकता है। अपनी ही जाति या वर्ण के संकीर्ण क्षेत्र में होते रहने वाले विवाहों के कारण हमारा ब्राह्मण विद्या में चाहे उन्नत हुआ है, परन्तु साथ ही घमंडी भी पहले

+इस विषय में अधिक जानकारी के लिए मेरी पुस्तक "हमारा समाज", (साधु आश्रम, होशियारपुर, मूल्य चार रुपया) देखिए।

दर्जे का हो गया है। क्षत्रिय निर्भय और लड़ाकू बेशक हो, परन्तु दूरदर्शिता से शून्य है। हमारा वैश्य धन कमाने में तो निपुण है परन्तु साथ ही मूर्तिमान् कायरता भी है। हमारा शूद्र परिश्रम करने में तो कदाचित् संसार के सभी श्रमिकों को मात दे सकता है, परन्तु सोच समझ की दृष्टि से पशु से भी बुरा है। ब्राह्मण का ब्राह्मणों से और भंगियों का भंगियों से ही बेटी-व्यवहार सहस्रों वर्ष से होता आ रहा है। इसी का यह परिणाम है कि जहाँ एक ओर ऐसे ब्राह्मण उत्पन्न हो गये हैं जो लकड़ी भी धोकर जलाते हैं, वहाँ साथ ही ऐसे भंगी प्रकट हो गये हैं जिनमें स्वच्छता का कुछ भी भाव नहीं, जो एक हाथ से टट्टी साफ करते हुए साथ-साथ दूसरे हाथ से रोटी भी खाते जाते हैं। हमारे राजपूत मरना-मारना तो जानते थे, परन्तु लड़ाई जीतना नहीं। कारण यह कि लड़ाई जीतने के लिए केवल मरना-मारना आना अर्थात् केवल निर्भयता एवं वीरता की ही नहीं वरन् दूरदर्शिता की अपेक्षा है। ये दोनों गुण एक व्यक्ति में तभी हो सकते हैं जब ब्राह्मण और क्षत्रिय का रक्त-मिश्रण हो। परन्तु वर्णभेद की व्यवस्था या अव्यवस्था ने इस रक्त-मिश्रण का निषेध कर रक्खा है। इसी से हमारे यहाँ लड़ाकू और प्राणों पर खेल जाने वाले सिपाही तो उत्पन्न हुए हैं परन्तु युद्ध को जीतने वाले सेनापति नहीं। इतिहास में हम देखते हैं कि जिस सेना का नायक अंग्रेज होता था वह जीत जाती थी और भारतीय सेनापति की सेना हार जाती थी। अंग्रेजों ने पहले उत्तर प्रदेश के सिपाहियों की सेना से पंजाब के सिक्खों को जीता और फिर सन् १८५७ में उन्हीं सिक्खों की सेना से उत्तरप्रदेश में विद्रोह का दमन किया। अंग्रेजों में जात-पाँत न होने से, क्योंकि बेटी-बन्दी नहीं, इसलिये एक अंग्रेज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी रक्तों का मिश्रण रहता है। वह सभी काम कर सकता है। लड़ाई के समय उनके पादरी अध्यापक और व्यापारी सभी शस्त्र लेकर रणक्षेत्र में कूद पड़ते हैं। हमारे यहाँ यह बात संभव नहीं।

जात पाँत में फँसे होने के कारण अपनी संकीर्ण जाति में विवाह करने और बाहर का नया रक्त न आने से हमारे कला-कौशल पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा है। उसकी उन्नति रुक गई है। हमारा चमार जो वंश-परम्परागत व्यवसाय के रूप में जूते बनाने का काम करता आ रहा है, कठिनाई से छः-सात रुपये का जूता बना पाता है। इसके विपरीत यूरोप का चमार चालीस-चालीस रुपये का बूट बना रहा है। यूरोप के चमार में केवल जूते बनाने वालों का ही नहीं, वरन् विभिन्न व्यवसाय करने वालों का रक्त विवाह-शादी द्वारा मिलता रहता है। इसलिये उसमें केवल जूता सीने की ही नहीं, वरन् नये-नये सुधार सोचने की भी बुद्धि बढ़ती रहती हैं। इसी कारण हमारा वंशपरम्परागत ब्राह्मण जहाँ केवल जन्मपत्र ही बना पाता है, वहाँ यूरोप का ब्राह्मण टेलीविजन और स्पूतनिक तैयार कर रहा है।

श्रीयुत सहस्रबुद्धे नामक एक महाराष्ट्र-विद्वान् ने महाराष्ट्र के कुछ घरानों की तालिका तैयार की है। उससे पता लगता है कि जो घराने एक ही व्यवसाय करते रहे, वे पाँच-छः पीढ़ी चलकर समाप्त हो गये। अर्थात् उनका कोई लड़का नहीं रहा। इसके विपरीत जिन घरानों ने

अपना वंशपरम्परा का व्यवसाय छोड़कर कोई दूसरा व्यवसाय ग्रहण कर लिया उनके वंश तेंतीस-तेंतीस† पीढ़ियों तक चलते रहे। इस दृष्टि से भी जात-पाँत के भीतर बेटी-व्यवहार और वंशपरम्परागत व्यवसाय हानिकारक हैं।

शताब्दियों से अपनी ही छोटी सी बिरादरी के भीतर विवाह होते रहने से सारी बिरादरी का रक्त एक हो गया है। अब बिरादरी में होने वाले विवाह एक प्रकार से भाई और बहन के विवाह हैं। अमेरिका में यूरोप के सभी देशों के लोग जाकर बस गये हैं। वहाँ ब्याह शादी द्वारा सब का रक्त-मिश्रण हुआ। इसका परिणाम कुछ भी बुरा नहीं हुआ। वरन् अमेरिका इस समय प्रत्येक दृष्टि से संसार के सभी राष्ट्रों में उन्नत एवं समृद्ध है।

[४]

जिस अस्पृश्यता को आज हिन्दू समाज का वरन् मानवता का कलंक कहा जाता है और जिसे दूर करने के लिए आज कांग्रेसी सरकार कानून बना रही है वह भी जात पांत का ही अनिवार्य परिणाम है। जात-पांत के कारण प्रत्येक हिन्दू दूसरे हिन्दू के लिए अछूत है। अन्तर केवल अछूतपन के अंश में है। कोई कम अछूत है और कोई अधिक। एक हिन्दू के हाथ का आप दाल-भात खा सकते हैं, परन्तु उसके साथ बेटी-व्यवहार नहीं कर सकते। इसके बाद दूसरा हिन्दू ऐसा है जिसके हाथ का बना आप खाना भी नहीं खा सकते, बेटी-व्यवहार की बात तो दूर। इसके उपरान्त तीसरा हिन्दू ऐसा है जिसके साथ छू जाने से भी आप अपने को अपवित्र या भ्रष्ट हुआ मानने लगते हैं। इस प्रकार अस्पृश्यता का विष सारे समाज में व्याप्त है। जिनको आज अस्पृश्य कहा जाता है वे तो समाज का वह अंग हैं जहाँ यह विष नासूर के रूप में फूट कर वह रहा है। जब तक सवर्ण है तब तक अवर्ण जरूर रहेगा। जात-पाँत की समाप्ति से ही अस्पृश्यता की समाप्ति संभव हो सकती है। इस सत्य का हरिजन सेवक संघ, दिल्ली के प्रधान मन्त्री ठक्कर बाबा ने भी अपने १९३२-३३ के प्रतिवेदन में स्वीकार किया है।

जात-पांत के कारण हम किसी अहिन्दू को हिन्दू बना कर अपने में आत्मसात् नहीं कर सकते। इसी से आर्यसमाज का 'शुद्धि' आन्दोलन दम तोड़ बैठा है। आज हिन्दू और आर्यसमाजी समाचार-पत्र मुसलमानों और ईसाइयों को कोसने के सिवा अपनी समाज की रक्षा के लिए और कुछ नहीं कर सकते। इन की इतनी चिल्लपों के रहते भी हिन्दू धड़ाधड़ ईसाई, मुसलमान और बौद्ध हो रहे हैं। हिन्दू समाज आज उस मरणासन्न पशु की भान्ति असहाय पडा टुकुर-टुकुर देख रहा है जिस की लाश को नोचने के लिए गिद्ध, कौए और शृगाल आदि जन्तु ताक लगाये बैठे हैं। आर्यसमाजी पत्र चिल्ला रहे हैं कि ईसाई मिशनरियों को देश से निकाल दिया जाय। किसी को धर्मान्तरण की अनुमति न दी जाय। यह बात आर्य-हिन्दुओं की विवशता की द्योतक है। मालूम नहीं "सारे जगत् को आर्य बनाओ" का उपदेश करने वाला समाज ईसाई मिशनरियों को निर्वासित करने

†देखिए 'हमारा समाज' (साधु आश्रम, होशियारपुर द्वारा प्रकाशित। मूल्य ४ रुपया)

की बात किस मुंह से कह सकता है। सारे विश्व को आर्य बनाने के लिए आर्यसमाज के प्रचारकों को भी दूसरे देशों में जाना पड़ेगा। यदि वह देश भी वैदिक मिशनरियों को अपने देशों से निकल जाने का आदेश दे दें, तो 'विश्व को आर्य' कैसे बनाया जा सकेगा? चाहिए तो यह कि जिस जात-पांत के दुःख से दुःखित हो कर हिन्दू धर्मान्तर और समाजान्तर करते हैं उस जात पांत को जात-पांत तोड़क विवाहों द्वारा मिटा दिया जाय. जिस से किसी को समाजान्तर की आवश्यकता ही न रहे। परन्तु किया जा रहा है यह कि वर्ण-व्यवस्था का नाम लेकर जात-पांत को तो हिलाया नहीं जाता, सारा बल ईसाई मिशनरियों को देश से निर्वासित करने पर दिया जाता है। इस से कुछ न बनेगा। जो अछूत और अस्पृश्य शूद्र इस वर्णव्यवस्था से दुःखी हैं, वे अपने उद्धार और मुक्ति के लिए दूसरे धर्म का आश्रय क्यों न लें। वे कथित उच्चवर्णों से कहते हैं—"हमारा स्वामी बना रहने में, हमें हिन्दू बनाये रखने में तुम्हारा तो स्वार्थ और हित हो सकता है, परन्तु तुम्हारा दास बना रहने, हिन्दू कहलाने रहने में हमारा हित कैसे है?"

जब एक ब्राह्मण एक हिन्दू जाट या कायस्थ को बेटी-व्यवहार द्वारा आत्मसात् नहीं कर सकता, तब वह एक विधर्मी मुसलमान या ईसाई को "शुद्ध" कर a अपना अग कैसे बना सकता है? लोक-परलोक की बातें सुना कर अब दुनिया को बहुत दिन तक धोखे में नहीं रखा जा सकता। परलोक में सुख पाने की अपेक्षा आज इसी लोक को सुखी बनाने की अधिक आवश्यकता है—

तेरी दुनियां, तेरे उकबे तो कब के मिट चुके वाइज़।
ज़माने में नई इंसानियत की अब खुदाई है।

अर्थात् हे धर्मप्रचारक! इस लोक और परलोक की तेरी किस्से-कहानियाँ कब की मिट चुकी हैं। अब तो एक नई मानवता का राज्य आ रहा है।

आर्यसमाज ने कितने ही विधर्मियों को "शुद्ध" किया, परन्तु वह एक को भी बेटी व्यवहार द्वारा अपना अभेद्य अंग न बना सका। सचमुच 'वर्ण-व्यवस्था आर्यों के लिये मरण-व्यवस्था' है।

[५]

भारत के इतिहास पर दृष्टि डालने से पता लगता है कि इस के सहस्रों वर्ष तक दूसरों का गुलाम बना रहने का मुख्य कारण भी यही जात-पाँत थी। जात-पाँत ने हिन्दू समाज के संगठन-सूत्र को बिलकुल नष्ट कर दिया है। एकता नाम की कोई चीज इस ने रहने नहीं दी। इसने भाई को भाई का शत्रु बना दिया है। इसने ब्राह्मणों और क्षत्रियों को अभिमानी और घमंड़ी बना दिया है। इसने शूद्रों की आत्मा में जोंक लगाकर उनसे वह मानवी प्रतिष्ठा छीन ली है जिस के बिना मनुष्य को अपना जीवन दूभर जान पड़ने लगता है। द्विज के हाथों सब समय पग-पग पर होते रहने वाला सामाजिक तिरस्कार शूद्र को जितना दुःख देता है उतना उस की निर्धनता नहीं। इस में संदेह नहीं कि प्राण मनुष्य को बहुत प्यारे होते हैं, परन्तु कई चीजें ऐसी हैं जो प्राणों से भी अधिक प्यारी हैं, जिन के लिये मनुष्य अपने प्राणों तक को भी न्यौछावर कर देता है। उन चीजों में से एक आत्मसम्मान भी है। वर्णभेद ने शूद्र को उसी स्वाभिमान या आत्मप्रतिष्ठा से

वंचित कर दिया है। शूद्र अपने को, ऐसी दशा में, कभी भी ब्राह्मण का भाई या देश-बंधु अनुभव नहीं कर सकता।

जात-पाँत के कारण भारत में एक सुदृढ़ राष्ट्र का बनना असम्भव है। यहाँ जितनी जातियां और उपजातियां हैं, उतने ही विभिन्न राष्ट्र हैं।

एक विदेशी विद्वान् लिखता है—

"विभिन्न वर्णों और उपवर्णों को सदा के लिये एक-दूसरे से पृथक् रखने का परिणाम यह हुआ है कि रंग-रूप, आकार-प्रकार और रहन-सहन की दृष्टि से हिन्दुओं का आपस में कुछ भी सादृश्य नहीं रहा। दूसरे देशों की भांति यह धनी और निर्धन का, नगर और ग्राम का, स्वामी और सेवक का प्रश्न नहीं। इन का अन्तर तो उस से भी कहीं अधिक गहरा है। किसी एक जिले या नगर को ले लीजिए। वहाँ के लोगों को देख कर आप को ऐसा नहीं लगता कि वे सब एक ही राष्ट्र के हैं। वे आप को विभिन्न राष्ट्रों का—वरन् मनुष्य जाति के विभिन्न वंशों का समुदाय प्रतीत होंगे, जो एक-दूसरे के साथ न खाते-पीते और न ब्याह-शादी करते हैं, और जिन का संसार केवल उनकी अपनी ही छोटी सी बिरादरी है। इस में कुछ भी अतिशयोक्ति न होगी यदि हम कहें कि जातिभेद ने भारत के अधिवासियों को २००० से भी अधिक जातियों में बाँट रखा है। इन जातियों का आपस में उस से बढ़ कर सम्बन्ध नहीं जितना चिड़िया-घर के पशु-पक्षियों का आपस में होता है।

"जो देश सामाजिक रूप से इस प्रकार छोटी-छोटी जातियों एवं उपजातियों में और राजनीतिक रूप से अनेक छोटे-छोटे रजवाड़ों में बंटा हुआ था उसके भाग्य में पहले ही प्रबल आक्रमणकारी के सामने हार खा जाना स्पष्ट रूप से बदा गया था। यह आक्रामक इस्लाम था। मुस्लिमों को एक बड़ा लाभ था। वे हिन्दुओं के विरुद्ध इकट्ठे हो जाते थे। इस्लाम हिन्दू धर्म का बिलकुल उलटा है। उसका सिद्धान्त है कि सब मुस्लिम (मोमिन) भाई हैं। इसने अछूत और नीच वर्णों की बहुत बड़ी संख्या को आकर्षित किया। इस्लाम ग्रहण कर लेने पर उन लोगों की स्थिति शासकों के बराबर होती थी। भारतीय मुसलमानों की संख्या के इतना अधिक होने का कारण यही है। ये अधिकांश में उन हिन्दुओं के वंशज हैं। जिन्होंने विभिन्न कालों में इस्लाम ग्रहण किया था"—Blasting Tides of colour, by Lothrop Stoddards, pp. 285-286। जाति भेद लोकतंत्र के प्रतिकूल है। लोकतंत्र का आधार समता, बन्धुता और स्वतन्त्रता होता है। लोकतन्त्र सबको उन्नति के समान अधिकार देता है। लोकतन्त्र में एक श्रमिक और पादरी का, एक निर्धन और धनकुबेर का वोट बराबर होता है। वहां किसी एक अपराध के लिये ब्राह्मण और शूद्र दोनों को एक जैसा दण्ड मिलता है। वहां जन्म से सब बराबर होते हैं। जन्म से कोई ऊँचा या नीच नहीं होता। परन्तु जाति-भेद में ऐसी बात नहीं। मनु कहता है, ब्राह्मण यदि पूर्णतया पापों में लिप्त हो तब भी उसे न मारे (८,३८०)। ब्राह्मण जन्म लेते ही पृथ्वी के समस्त जीवों में श्रेष्ठ होता है, सब प्राणियों का ईश्वर होता है और धर्म के खज़ाने का पथिक होता है (मनु १-९९)। सब अनिष्ट और

पाप-कर्म करते रहने पर भी, ब्राह्मण सदा पूज्य ही है, क्योंकि वह परम महान् देवता है। (मनु ९ ३१७-३१९)। शूद्र यदि वेद सुन ले तो उसके कानों में पिघला हुआ सीसा या लाख भरा देनी चाहिये। यदि शूद्र वेदमंत्र का उच्चारण करे तो उस की जीभ काट डालनी चाहिये। यदि वेद को याद करे तो उसका शरीर चीर डालना चाहिये (गौतम धर्म-सूत्र १२,४ और ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य अध्याय १ पाद ३, अधिकरण ९, सूत्र ३८) तुलसीदास का कथन है।

पूजिए विप्र शील-गुन हीना।
शूद्र न गुन-गन-ज्ञान-प्रवीना॥

[६]

देश के विभाजन का मूल कारण भी यही जातिभेद है। इस के कारण हिन्दुओं ने करोड़ों अपनों को तो पराया बनाया है, परन्तु एक भी पराये को अपना नहीं बना सके। नवीं शताब्दी में काबुल में भी पाल वंश के हिन्दू राजे राज्य करते थे, परन्तु आज अमृतसर से आगे भी हिन्दू का निशान तक मिट गया है।

कुछ वर्ष हुये, कदाचित् सन् १९४१ में, मैंने स्वर्गीय श्री० मुहम्मद अली जिन्ना से पूछा था कि चीन में भी मुसलमान बसते हैं और इंग्लैंड में भी लार्ड हेडले जैसे मुसलमान हैं, पर वे लोग कभी नहीं कहते कि अंग्रेजी हमारी भाषा नहीं, हमारी भाषा अरबी है। नेलसन और क्रामवेल हमारे महापुरुष नहीं हमारे महापुरुष महमूद गजनवी और हारूँ रशीद हैं। हमारी संस्कृति, हमारी सभ्यता, हमारा इतिहास, हमारे सामाजिक और राजनीतिक हित सब ईसाई अंग्रेजों से भिन्न हैं। पर क्या कारण है कि भारत में ज्यों ही कोई हिन्दू इस्लाम धर्म ग्रहण करता है वह कहने लगता है कि हिन्दी मेरी भाषा नहीं, मेरी भाषा उर्दू-फारसी है; रामकृष्ण मेरे महापुरुष नहीं, मेरे महापुरुष नादिरशाह और औरंगजेब हैं। मेरा इतिहास, संस्कृति, राजनीतिक और आर्थिक हित सब हिन्दुओं से अलग हैं ?

इसका उत्तर देते हुये श्री० जिन्ना ने कहा था कि "इस का कारण यह है कि इंग्लैंड में जब कोई व्यक्ति इस्लाम ग्रहण करता है तो उसका सामाजिक वहिष्कार नहीं कर दिया जाता; लोग उसे म्लेच्छ नहीं कहने लगते। पर भारत में तो जब से हम मुसलमान बने हैं, हमारा पूरा-पूरा सामाजिक वहिष्कार है। इसी से हमारी भाषा, हमारी सभ्यता, हमारी संस्कृति, हमारा इतिहास सब कुछ हिन्दुओं से अलग हो गया है। जिस शिवाजी और प्रताप को हिन्दू अपना महापुरुष समझते हैं, हम उनको अपना शत्रु मानते हैं और जिस औरंगजेब को हम अपना महापुरुष मानते हैं, उसे हिन्दू अपना शत्रु समझते हैं। जो हिन्दुओं की हार है वह हमारी जीत है, जो हमारी हार है वह हिन्दुओं की जीत है। इस सामाजिक वहिष्कार से ही हमारे राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक हित भी हिन्दुओं से भिन्न हो गये हैं।"

आप कहेंगे कि हिन्दुओं की विभिन्न जातियाँ भी तो आपस में खान-पान और ब्याह-शादी

नहीं करतीं, वे भी एक-दूसरे को नीच-ऊंच समझती हैं ; वे सब इक्ट्ठी रहती हैं तो फिर मुसलमानों को ही क्यों शिकायत हो ? इसका उत्तर यह है कि कोढ़-घर में सभी कोढ़ी तो इक्ट्ठे रह सकते हैं, पर कोई नीरोग मनुष्य उनके बीच नहीं रह सकता। सभी हिन्दू जात-पाँत के कोढ़ में ग्रस्त हैं। वे इस कोढ़ का अनुभव नहीं कर सकते। परन्तु मुसलमान और ईसाई, जिन में यह महारोग नहीं, इन कोढ़ियो में रहना गवारा नहीं कर सकते।

सच्ची बात तो यह है कि जाति-भेद से बढ़ कर दूसरा कोई अनादर और दुर्गति नहीं। यह एक ऐसी व्यवस्था है जो लोगों को निर्जीव, पंगु और लूला बना कर उन्हें उपकारक कार्यो के लिये असमर्थ कर देती है—इसमें रत्ती भर भी अतिशयोक्ति नहीं। इतिहास में इसके पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। भारतीय इतिहास में केवल एक ही काल-खंड ऐसा है जिसे स्वतन्त्रता, महत्ता और कीर्ति का काल कह सकते हैं। वह मौर्य साम्राज्य का काल है। शेष सब कालों में देश पराजय और अन्धकार से ही पीड़ित रहा। परन्तु मौर्यकाल वह काल था जब कि चातुर्वर्ण्य का पूर्ण विध्वंस हो चुका था। जब कि शूद्र, जो प्रजा का अधिकांश थे, होश में आ गये थे। पराजय और अंधकार के वे कालखंड थे जबकि चातुर्वर्ण्य खूब जोरों पर था और देश की अधिकांश प्रजा शूद्र के रूप में धिक्कारी जाती थी।

प्राध्यापक वाडिया ने अपनी पुस्तक "कंटैम्परेरी इंडियन फिलासोफी" पृ० ३६८) में ठीक ही लिखा है कि "जातिभेद के अत्याचार के कारण उपनिषदों का उच्च ब्रह्मज्ञान और गीता की आचार-नीति केवल बातें रह गई हैं। भारत बल तो देता है समूचे और चेतन जगत् की एकता पर, परन्तु उसने पोषित किया है एक ऐसी समाज रचना को जिसने इसके बच्चों को शताब्दियों से अलग-अलग कोठरियों में बन्द कर दिया है। इसी समाज-रचना के कारण इसको विदेशी आक्रमणकारियों से हार खानी पड़ी है। इससे यह दरिद्र और दुर्बल हो गया है। सब से बुरी बात यह है कि इस समाज-रचना ने भारत में ऐसे मनुष्य उत्पन्न कर दिये है जो अस्पृश्य माने जाते हैं, जिनको देखने से ही हिन्दू अपवित्र हो जाता है। इसने भारत में भाई को भाई का हत्यारा बना दिया है।"

आर्यसमाज यदि अपना सारा बल जातिभेद को मिटाने पर लगा दे तो वह न केवल देश की वरन् सम्पूर्ण मानवता की एक अनुपम सेवा कर देगा। स्मरण रहे कि यदि जाति-भेद बना रहा, यदि इसे समाप्त न किया तो यह सारे हिन्दू समाज को और साथ ही भारत की स्वतन्त्रता को समाप्त कर देगा। जातिभेद और स्वतन्त्रता दोनों एक साथ नहीं रह सकते।

जीवन-दर्शन

श्री उमेशचन्द्र स्नातक, शिरोमणि,
एम० ए०, आर्यमित्र-सम्पादक

प्राणि-संसार में मानव सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। मनुष्य-जन्म जीव के अनेक शुभ कर्मों का परिणाम होता है। मनुष्य जीवन की सफलता का एक ही मापदण्ड हो सकता है कि मनुष्य पशु-प्रवृत्तियों से अपने को कितना मुक्त कर सका है। इस सफलता के लिये मनुष्य की सबसे बड़ी सम्पत्ति उसकी बुद्धि है। बुद्धि के इस माहात्म्य और चमत्कार को प्रत्येक व्यक्ति जानता और मानता है। बुद्धि एक ऐसा शस्त्र है जिसका उपयोग सन्मार्ग और कुमार्ग दोनों दिशाओं में सफलतापूर्वक किया जा सकता है। इसीलिये शिक्षा की आवश्यकता होती है।

शतपथ ब्राह्मण में मनुष्य को पशु की संज्ञा दी गयी है और शिशु पशु को आचार्य के संरक्षण में सौंपे जाने की प्रक्रिया को पशु-यज्ञ का रूपक दिया गया है। ब्राह्मणकार के इस रूपक की भावना यह है कि मनुष्य में पशुप्रवृत्तियों का परिष्कार और संस्कार करके मनुष्य को पशुता से मानवता की ओर अग्रसर किया जा सके।

मनुष्य और पशु के भेद का उल्लेख करते हुये भर्तृहरि ने लिखा है—

> आहारनिद्राभयमैथुनं च, सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
> धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

इस आधार पर हम मानवता और पशुता की विभेदक रेखा धर्म को ही पाते हैं। मनुष्य का शिक्षा द्वारा संस्कार करके गुरु उसे धर्म के महान् पथ पर अग्रसर करता है। इस प्रकार शिक्षा, धर्म और संस्कृति एक समान पर्याय के रूप में व्यवहृत होते दीखते हैं।

साधारणतः आज के बौद्धिक वर्ग में शिक्षा के वास्तविक स्वरूप, धर्म के तात्त्विक रहस्य

और संस्कृति के पवित्र सन्देश के विषय में गम्भीर मतभेद पाया जाता है। परन्तु यदि तात्विक दृष्टि से विचार किया जाय तो तीनों समानार्थक और एक ही लक्ष्य की सिद्धि के साधन हैं।

आज विश्व के रंगमंच पर विकासवाद के अनिर्णीत सिद्धान्त की भाषा में एक पृथ्वी और एक मानव जाति में अनेक संस्कृतियों का प्रभुत्व-संघर्ष संव्याप्त है। प्रत्येक समुदाय अपने विचारों को मानव-संस्कृति का सही रूप मानकर दूसरों की संस्कृति को हेय और अवनत सिद्ध करने के संघर्ष में संलग्न है। मानव-मानव में विभेद करने वाले इस संघर्ष को सांस्कृतिक संघर्ष कहना भी संस्कृति का अपमान है; वास्तव में मानव जाति और उस की संस्कृति एक और अविभाज्य है। इस तथ्य को जब तक एक स्वर से स्वीकार नहीं किया जायगा, विश्व में कभी शान्ति का स्वर्गीय जीवन सम्भव न हो सकेगा।

आज के युग को संस्कृति और सभ्यता के युग के रूप में विकासवादी स्मरण करते हैं। परन्तु क्या मानव जाति के ज्ञात इतिहास में आज से भयंकर विनाश की काली घटायें और कभी भी छाई हुई मिलती हैं। आज के सम्पूर्ण विज्ञान की एक ही दिशा है, विनाश की शक्ति का अधिकतम संग्रह। विकासवाद की परम्परा को यदि स्वीकार कर लिया जाय तो हम यही कहना चाहेंगे कि मानव के अन्दर की पशुप्रवृत्तियां संस्कृत और परिष्कृत होने के स्थान पर पशुता की दिशा में आज अधिक विकसित हुई हैं।

वास्तव में संस्कृति, धर्म और शिक्षा की वही दिशा है, वही कार्य है, वही सफलता है जो मानव में पशुता का ह्रास कर सके। सामान्यतः संस्कृति को सामाजिक चेतना के रूप में ग्रहण किया जाता है, परन्तु संस्कृति की साधना सामाजिक से अधिक व्यक्ति पर आश्रित है और यही कारण है कि भारतीय परम्परा के महामनीषियों ने व्यक्ति-निर्माण के लिये संस्कार-प्रणाली और आश्रम-व्यवस्था का विधान किया था। सामाजिक दृष्टि से सांस्कृतिक उन्नति के लिये वर्ण-व्यवस्था को व्यावहारिक रूप दिया था।

इस प्रकार हम व्यक्ति-निर्माण की उस पृष्ठभूमि पर पहुंच जाते हैं कि मानव का व्यक्तित्व-निर्माण ही सांस्कृतिक उन्नति का आधार है। गुरु की शिष्य-परम्परा में अधिष्ठित हो बालक अपनी समस्त दुष्प्रवृत्तियों, पशुप्रवृत्तियों को भस्मसात् करने का यत्न करता है। इस यत्न में कितनी सफलता मिलती है। यह भावी जीवन में स्पष्ट हो जाता है।

ऐसी कौन-सी घुट्टी या औषध है जिसके प्रयोग से शिष्य पशुता से मानवता में परिवर्तित होता है, इसकी खोज ही मानवता के रहस्य की खोज है।

भारतीय मनीषियों ने मानवता के इस पथ की खोज आचार-शास्त्र के विकास में की थी और उस आचार को ही धर्म की संज्ञा दी थी। इस निर्णीत स्वरूप को मनु ने धर्म के दस लक्षणों से अंकित किया है।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

जो गुरु और अभिभावक अपनी सन्तानों के जीवन में धर्म की इस लाक्षणिक परम्परा का विकास करने में सफल होते हैं, उनकी सन्तानें मानवता के लिये आदर्श बन जाती हैं। उनसे मानवता उपकृत होती है।

धर्म की इस लाक्षणिक परम्परा की मीमांसा करने पर यह भली भांति कहा जा सकता है कि इन सभी लक्षणों को मानवता के सार्वजनिक नियमों के रूप में स्वीकार किया जाता है और किसी भी देश में संस्कृति का कितना विकास हो सका है, इसका मूल्यांकन धर्म-लक्षणों के आधार पर ही किया जा सकता है।

धर्म के इन शाश्वत लक्षणों को हम एक साधारण-से-साधारण व्यक्ति के जीवन में विकसित कर सकते हैं और उसके अभाव में महान् से महान् व्यक्ति चाहे वह जीवन में कितना सांस्कृतिक विकास प्राप्त कर चुका हो, एक क्षण में पतित और पशुतुल्य बन जाता है। उसी के लिये शास्त्र ने लिखा है कि—'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः" । इसको पर्वत की चोटी पर पहुंचे हुए व्यक्ति की पैर फिसलने से नीचे गिरने की स्थिति में जो दशा होती है वैसा ही समझना चाहिए।

जीवन में विकास और पतन की धुरी मनुष्य का मन है; मन की पवित्रता ही विकास की कसौटी है। इसीलिये शास्त्र ने लिखा है—"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" मन के इस माहात्म्य को समझने का प्रयत्न ही वास्तविक शिक्षा है।

जब मन पशुवृत्तियों को वश में रखता है, तब वह सांस्कृतिक आदर्श प्रस्तुत करता है। और जब उसके सामान्य व्यवहार में काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष संव्याप्त रहते हैं उसमें और पशु में अन्तर करना दिमागी कसरत ही कहा जायगा।

"प्रमाथि बलवद् दृढं" मन के निग्रह का नाम ही संस्कार है और जिन आदर्शों की प्रेरणा से हम उस दिशा में प्रवृत्त होते हैं उसी का नाम संस्कृति है।

ज्ञान की जिस परम्परा द्वारा मानव अपना सांस्कृतिक विकास कर सकता है वही सच्ची शिक्षा है।

शिक्षा की इस खोज के लिए ही ब्रह्मचारी समित्पाणि बन कर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप पहुँचता था। गुरु के समीप अहंकार का त्याग कर जाने का प्रतीक ही समित्पाणि है और गुरु के पास जो रहस्य खोजा जाना है उसका प्रतीक ब्रह्मनिष्ठ शब्द है।

इस प्रकार मन की अहंकार भावना का परित्याग कर विश्वनियन्ता के रहस्य की खोज ही जीवन की दिशा होनी चाहिये।

ब्रह्म की खोज का मार्ग इतना सरल नहीं है जैसा उसे आज के सम्प्रदायवादियों ने बना रखा है। कर्मकाण्ड के आडम्बर और भक्तिमार्ग की नाना कल्पनाओं पर आश्रित ब्रह्म की खोज वास्तविकता से दूर पड़ जाती है।

ज्ञान और कर्म के अतिवाद ने धर्म के वास्तविक स्वरूप को आच्छन्न कर दिया, कर्मकाण्ड

ने यज्ञीय प्रक्रिया के विधि-विधान के हिंसावाद को प्रोत्साहन दिया और दूसरी ओर ज्ञान-मार्ग के मायावाद विरोधी प्रचार ने प्रकृति के उपयोग के विरुद्ध जन-मनोवृत्ति का निर्माण किया। फलतः दोनों ही प्रकार से भारतीय जनता को दिग्भ्रम हुआ जिससे जीवन-साधना विश्रृङ्खलित हो उठी। लोग वैदिक विचारधारा को छोड़ मानवीय सम्प्रदायों के आधार पर विभक्त हो गये। जीवन वाम-मार्ग, भक्ति के अन्ध विश्वास और त्यागवाद के अतिवाद में फँसकर स्वच्छन्द हो गया और इस स्वच्छन्दता ने राष्ट्र को पद-दलित और पराधीन बना दिया।

मानवमात्र के संबंध में विचार करते हुये यहाँ भारत के पतन के जिन कारणों का उल्लेख किया गया है, उसी प्रकार के उदाहरण आज विश्व के विविध समुदायों और राष्ट्रों में पाये जा सकते हैं।

पश्चिमीय सभ्यता के चमत्कारपूर्ण जीवन की आधारभूमि भौतिक सुखोपभोग है प्रकृति की शक्तियों को वश में करके उनका अपनी इच्छानुसार उपभोग करना ही आज यूरोप और उसके अनुयायियों का जीवन-दर्शन बना हुआ है। प्रकृति पर अधिकार के अहं में आज मानव अपनी इच्छा-शक्तियों का दास बना हुआ है। इच्छाओं को वश में करने के स्थान पर इच्छाओं की दासता मानव जाति को पशुता में संलिप्त रखने वाली सिद्ध हो रही है। भौतिकवादी स्वच्छन्दता के आधुनिक अतिवाद ने विश्व में एक प्रतियोगिता का रूप धारण कर लिया है। फलतः भौतिक सुख-समृद्धि के लिए क्षेत्रिय और सामुदायिक सघर्ष चल रहा है। प्रत्येक समुदाय चाहता है, दूसरों के शोषण पर मैं अपनी सुख-साधना करूँ। दूसरों का शोषण कर प्राप्त होने वाले भौतिक सुख के पीछे जो मानसिक क्लेश छाया रहता है वह सुख की वास्तविकता को समाप्त कर देता है। इस प्रकार सुख के उस स्वरूप को सुखाभास मात्र कह सकते हैं।

सुखाभास वह इसलिये है कि देखने वाले उसे सुख समझते हैं, परन्तु सुखोपभोक्ता उस ऐन्द्रिक सुख के साथ-साथ मानसिक क्लेश से पीड़ित रहता है। जो स्थिति इस प्रकार के एक व्यक्ति की होती है वही उस प्रकार के राष्ट्रों की, मानव समुदायों की होती है। इस मानसिक पीड़ा से मुक्त होने के लिए धर्म के तात्त्विक विवेचन की आवश्यकता है। एक स्थल पर धर्म का स्वरूप "स्वस्य च प्रियमात्मनः" के शब्दों में प्रकट किया गया है। वास्तव में यदि कोई व्यक्ति अपने जीवन को मानवीय उदारताओं से परिपूर्ण बनाना चाहता है तो उसे दूसरों के प्रति वही व्यवहार करना चाहिए जिसे वह अपने लिये ठीक समझता है; और उन बातों का व्यवहार नहीं करना चाहिए जिन्हें वह अपने लिये ठीक नहीं समझता है। प्रत्येक व्यक्ति और समुदाय व्यवहार के इस मंगल-सूत्र को अपनाकर जीवन को सफलता की ओर अग्रसर कर सकता है। आज के व्यवहार का सिद्धान्त है, येन केन प्रकारेण स्वार्थसिद्धि, और जब तक मानव मन में यह भावना कार्य करती रहेगी, उसे पशुता से मुक्त कहना या मानना मानवता की हत्या ही समझना चाहिये।

स्वार्थवाद का यह दुर्गम दुर्ग भौतिकवादी मनोवृत्ति से तो सुदृढ़ होता ही है, आस्तिकवादी अन्धविश्वासी अन्ध भक्तों द्वारा भी इस हेय भावना का पर्याप्त प्रश्रय मिलता रहा है और मिल

रहा है। भगवान् भक्त के वश में होते आये, इस भक्तिभावना ने भगवान् के साथ सौदा करने की प्रवृत्ति को जन्म दिया है। जैसे पहले कहा जाता था कि कितने ही पाप कर्म किये हों, भगवान् का नाम लेने से सब पाप नष्ट हो जाते हैं, आज भी मानव-समाज में इस मिथ्या धारणा का प्रचार कर पशुता की अपहरण और उपभोग-वृत्तियों को यथापूर्व रहने में सहयोग दिया जा रहा है। क्या इस प्रकार की भक्ति-भावना, दुराचार, भ्रष्टाचार आदि के लिये उत्तरदायी नहीं क्योंकि उसमें पश्चात्ताप के स्थान पर क्षमा-दान की कल्पना सन्निहित है। दुष्कर्मकर्ता सोचता है कि इस समय तो कर्म कर ही लूं, बाद में प्रभु की भक्ति कर उसे प्रसन्न कर लूंगा। इस प्रकार के भक्तिमार्ग की महत्ता और कर्मफलवाद का परित्याग ही आज के मानवीय संकटों का आधार है।

भारत के ही नहीं, इस्लाम और ईसाइयत जैसे अन्य सम्प्रदायों में भी कर्मफल पर जोर न देकर खुदा और ईसा पर विश्वास लाने पर क्षमादान मिल जायगा, इस विश्वास का प्रचार किया गया है। इस्लामी देशों और रोमन पोपों के क्षेत्र में विश्वास और क्षमा-दान के इस सिद्धान्त के क्या-क्या परिणाम हुए, यह इतिहास के पृष्ठों में सर्वसुलभ है।

तब क्या हमारा उद्देश्य भक्ति-मार्ग की निन्दा है, नहीं हम प्रभु-भक्ति को मानवता का आधार मानते हैं। परन्तु साथ ही प्रत्येक कर्म का फल जीवात्मा को अवश्य भोगना होगा। इस मन्तव्य की पुष्टि करना चाहते हैं। कर्मवाद के इस दृष्टिकोण का परिणाम यह होना चाहिए कि कोई व्यक्ति अपराध कर उसके फल से नहीं बच सकेगा। ईश्वर भी उस फल को रोक नहीं सकेगा। कर्मवाद की इस भावना को स्वीकार करते ही मानव पाशविक प्रवृत्तियों से ऊपर उठने का यत्न आरम्भ कर देगा। कर्मफलदाता प्रभु की शक्तियों में विश्वास भी उसके मानवता की दिशा में उन्मुख कर्मों का प्रेरणा-स्रोत रहेगा। इस प्रकार आस्तिकता, कर्मवाद और "स्वस्य च प्रियमात्मनः" की भाव-भूमि हमें मानवता के आदर्श पथ की ओर बढ़ने में सहायता देती है। मानव यदि स्वयं कुछ नहीं है और यदि प्रकृति मायारूप है तो विश्व में नैराश्य और उदासीनता ही संव्याप्त हो उठेगी। परन्तु हम प्रकृति की नित्यता, जीव की कर्मप्रियता और ईश्वर द्वारा न्यायपूर्वक कर्मफल का व्यवहार देखते और मानते हैं। यदि जगन्मिथ्या के दर्शन पर विश्वास किया जाय तो जीवात्मा को सुख-दुःख अच्छे-बुरे आदि के पचड़े में न पड़कर उदासीन भाव रखना चाहिए; पर क्या जीवात्मा इस रूप में कोई महत्व रख सकता है? सम्पूर्ण जीवन नैराश्य और वैराग्य का कारण बन जायगा। शूरता, वीरता, धीरता, सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि की क्या आवश्यकता होगी और फिर पशुता से मानवता की विभाजक रेखा भी व्यर्थ होगी।

इसलिये मानवता के वास्तविक स्वरूप को आत्मसात् करने के लिये जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता को यदि हम अनित्य मान लें तो फिर ऐन्द्रिक सुखवाद मानने का हमें कोई विरोध नहीं करना चाहिए। परन्तु हम भौतिकवाद को पशुता का सम्वर्द्धक मानते हैं। इस कारण हमें जीवात्मा के नित्यत्व को ईश्वर की सत्ता की भांति स्वीकार करना चाहिए और जब हम आत्मा को नित्य मान लेंगे तो

पुनर्जन्म का नियम स्वतः सिद्ध हो जायेगा। पुनर्जन्म का आदर्श आत्मा के उदात्तगुणों की स्थिरता और दृढ़ता के लिए सुदृढ़ सम्बल है। आत्मा की नित्यता का विश्वास नश्वर देह के मोह को नष्ट कर कर्तव्यपालन के लिये प्रेरक बनता है।

अर्जुन को कृष्ण का कर्तव्योपदेश आत्मा की नित्यता और कर्तव्यभावना की प्रेरणा का प्रत्यक्ष उदाहरण है। इसीलिये उपनिषद् ने रहस्य का उद्गुम्फन करते हुए कहा—

आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो ज्ञातव्यो निदिध्यासितव्यश्चेति।

इस प्रकार मानवता के आदर्श विकास के लिए परमात्मा की सत्ता, आत्मा की नित्यता प्रथम शर्त होनी चाहिए। कर्मफल की अनिवार्यता आवश्यक रूप से स्वीकार की जानी चाहिए।

परमात्मा और जीवात्मा की सत्ताओं की भावभूमि के पश्चात् कर्मभूमि के रूप में प्रकृति का उपभोग मानवी आवश्यकता है। प्रकृति को मिथ्या मानना प्रत्यक्ष को अस्वीकार करना है, अतः आस्तिकता और आत्मवाद के विश्वास के साथ प्रकृति का उचितोपभोग मानवता के असिधारा-पथ को ऋजु बना देगा। आज का विश्व प्रकृतिवादी होने का दुष्परिणाम भुगत रहा है। अन्य विनाशों के अतिरिक्त नर-नारी के मानसिक सन्तुलन का भी ह्रास हो रहा है; अधिकार और वासना का वातावरण व्याप्त है। नर-नारी जाति के शोषण और उपभोग में संलिप्त हैं और नारी जाति अपने शरीर और सौन्दर्य के अहंकार में मातृत्व की पवित्रता को समाप्त कर रही है। इस स्थिति का निराकरण प्रकृति के उचित उपभोग की भावना का विकास करके ही किया जा सकता है। मानवता का युग्म समानता और आदर के उदात्त गुणों के साथ ही सफलता की ओर बढ़ सकता है। मानवता पशुता की भावभूमि से ऊपर उठ कर उन्नति करने लगेगी और जीवन सफलता के वास्तविक लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकेगा।

इस प्रकार मानवीय उदात्त भावनाओं का चरमोत्कर्ष ही धर्म का रहस्य है, संस्कृति का निष्कर्ष है और शिक्षा की दीक्षा है।

जीवन की सफलता के उपर्युक्त मार्ग को सरल तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु किसी भी सरल मार्ग की मृगमरीचिका से उसे श्रेष्ठ ही समझना चाहिए। जीवन में ज्ञान, कर्म और उपासना की त्रिवेणी बहाकर एक समन्वित जीवन का निर्माण किया जा सकता है। इसी पथ को महर्षि दयानन्द ने मानव-जाति के सम्मुख स्पष्ट करने का प्रयत्न किया, त्रित्ववाद की उनकी विचारधारा भारतीय वाङ्मय का सार है और उसी की ओर चलने की प्रेरणा कर उन्होंने मानवता का महान् उपकार किया है।

इस पथ पर चलने का प्रयत्न कर धर्म के अभ्युदय और निःश्रेयस लक्ष्यों की सिद्धि प्राप्त कर मानव अपने जीवन को सफल और सुखी बना सकता हैं।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के मानवीय लक्ष्य को समन्वित रूप से देखा और समझ जाना चाहिए। किसी एक के प्रति आग्रह ही जीवन को अपूर्ण बना देता है। जीवन एक कला है और उसकी सफ-

लता के लिये साधना की आवश्यकता है। जो जीवन के समन्वय के इस ऋजुपथ को चुनते हैं, वे अवश्य सफलता प्राप्त कर लेते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम उस मार्ग तक पहुंचने के लिये अपने मस्तिष्क को पूर्वाग्रहों से मुक्त कर लें और फिर जब कोई इस मार्ग को पकड़ लेगा, अन्य किसी मार्ग की ओर नहीं जायगा। जो लोग सफलता के सामयिक आकर्षण से अपनी साधना को भंग कर भटक जाते हैं, उन्हें पछताना ही पड़ता है। इसलिये समन्वय के मार्ग तक पहुंचने के लिये मानव प्रभु से बुद्धि की पवित्रता की याचना करता है और "तमसो मा ज्योतिर्गमय" कह कर अन्धकार से प्रकाश तक पहुँचाने का सहयोग मांगता है।

प्रत्येक व्यक्ति का अपने जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण होना चाहिये और दृष्टिकोण जितना ही व्यापक और उदार होगा, मानव उतना ही अच्छा सफलता के श्रेयपथ का पथिक बन सकेगा।

———

ओ३म् । असतो मा सद्गमय ।

हे प्रभु, आप मुझे बुराइयों से हटाकर अच्छाईयों की ओर
चलाइये। मैं बुरे कार्य छोड़कर अपने जीवन
को अच्छा बनाऊँ।

व्यक्ति और समाज

श्री प्रेमचन्द जी, एम. एल. सी.
मन्त्री, आ. प्र. नि. सभा, उत्तर प्रदेश

मानव जाति के विकास के लिये आवश्यक है कि उसकी प्रत्येक इकाई अपने समूह की महत्ता स्वीकार करे। सामाजिक उन्नति का व्यक्ति के जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इसीलिये वेद का आदेश है "संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मंनासि जानताम्"। समूह में तो पशु भी रहते और चलते हैं, पर मनुष्य और पशु की इस सामूहिकता में महान् अन्तर है। पशुओं की भाँति दस हजार मनुष्यों का समूह तो आसानी ने वन सकता है, पर उसे समाज कहना कठिन ही नहीं, समाज शब्द की भावना का उपहास कहना चाहिये।

मनुष्य समाज के निर्माण का आधार एक आदर्श, एक लक्ष्य और एक मानव संस्कृति होना चाहिये। मनुष्य में बुद्धि और विचार शक्ति की दिशा स्वतन्त्र रूप से विकसित होनी कठिन है। इसी लिये समाज की आवश्यकता का महत्त्व है। एक व्यक्ति को यदि जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर (अन्न-जल-वस्त्र का प्रबन्ध कर) एकान्त में छोड़ दिया जाय तो उसका विकास नहीं हो सकेगा। उसे अपने बौद्धिक विकास के लिए समूह और समाज के सम्पर्क की आवश्यकता होगी। इस सम्पर्क से आत्मा अपना विकास कर सकता है, क्योंकि आत्मा का व्यवहार ही आत्मा की उन्नति या पतन का प्रतीक होता है। और आत्मा बिना अपने समान वालों के साथ व्यवहार किये आत्मिक उन्नति और पतन को समझ या स्पष्ट नहीं कर सकता है। इस प्रकार आत्माओ के सम्पक के साथ ही सामाजिक व्यवहार का प्रश्न उपस्थित होता है।

सामाजिक व्यवहार का आधार संस्कृति के उच्च आदर्श ही हो सकते हैं। क्योंकि आत्मिक विकास का अर्थ होता है कि एक आत्मा दूसरे आत्मा पर सूक्ष्म और अदृष्ट प्रभाव डालकर आभ्य-

न्तरिक उन्नति और मानवीय गुणों का विकास करे। पारस्परिक सहयोग, आत्म-संयम तथा अन्य उदात्त गुणों की ओर प्रेरणा देना ही संस्कृति का स्वरूप है।

संस्कृति का स्वरूप सामाजिक संगठन के बिना स्पष्ट नहीं हो सकता। इसलिये समाज का संगठन जिन इकाइयों से हो उन के निर्माण की प्रक्रिया पर भी विशेष विचार किया जाना चाहिये। यही कारण है कि जहाँ 'संगच्छध्वं' के आदर्श पर बल दिया जाता है, व्यक्ति के विकाश पर भी भारतीय मनीषियों ने विशेष वल दिया है और इस बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि आदर्श समाज का निर्माण आदर्श और चरित्रवान् व्यक्तियों से ही हो सकता है। यदि किसी मकान की चिनाई खराब ईंटों से की जायगी तो वह मकान शीघ्र ही नष्ट हो जायगा। इसके विपरीत मजबूत और पक्की ईंटों का मकान शताब्दियों तक खड़ा रहेगा। यही बात किसी समाज की उन्नति और स्थायित्व के सम्बन्ध में समझी जानी चाहिये। इसीलिये भारतीय चिन्तकों ने व्यक्ति के निर्माण पर विशेष बल दिया है और आश्रम व्यवस्था का निर्देश किया है। व्यक्तिगत चरित्र की उन्नति वाले व्यक्तियों का समूह ही आदर्श समाज बन सकता है। और इस प्रकार के समाज का विभाजन मनुष्य की आत्मिक और बौद्धिक क्षमताओं के आधार पर वर्ण-व्यवस्था के रूप में स्वीकार किया गया है।

आज विश्व में समाजवाद के नाम पर व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को समाप्त करने का प्रयत्न हो रहा है, परन्तु सच्चा समाजवाद वही हो सकता है जिस में व्यक्ति अपनी आत्मा की आवाज को स्वतन्त्रता और साहसपूर्वक प्रकट कर सके। आज का समाजवाद तो भौतिक साधनों के सामाजिक उपयोग की संघर्ष भूमि पर विकसित और पुष्पित हो रहा है, पर उसमें जिन ईर्ष्या, घृणा और हिंसा की भावनाओं का खाद दिया जा रहा है, उसकी सदैव प्रतिक्रिया होती रहेगी। इसलिये सच्चे समाजवाद का निर्माण व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और समाज के हितों का सन्तुलन रखते हुए ही किया जा सकता है।

धर्म के उदात्त नियम, संस्कृति के उच्चतम आदर्श, अध्यात्म और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य सभी मानव जाति के लक्ष्य सार्वजनीन अभ्युदय और निःश्रेयस की ओर उन्मुख हो रहे हैं। इन आदर्शों द्वारा व्यक्ति और समाज के हितों का समन्वय और सन्तुलन रखने वाला समुदाय ही मानव-जाति के लिये पथप्रदर्शक बन सकता है।

वैदिक विचारधारा के विशुद्ध स्वरूप की खोज में प्रयत्नशील मानवोद्धारक महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना कर हम सबके ऊपर आदर्श समाज के निर्माण का दायित्व सौंपा है। आज के विश्व की संत्रस्त मानवता स्नेह, प्रेम, अहिंसा के आदर्श गुणों के लिये व्याकुल हैं। विश्व की वैज्ञानिक साधना भी विनाश की दिशाओं में उन्मुख है और एक समुदाय दूसरे समुदाय के लिये विनाशक शक्तियों के उपयोग के लिये होड़ कर रहा है। क्या मानवसमाज को इस संकट में कोई शान्ति और सुख का सन्देश दे सकता है? हम समझते हैं वेद मार्ग ही मानवता के लिये आदर्श और

नित्य सन्देश है। वेद के व्यक्ति-विकास, आत्मिक उन्नति और सामाजिक उत्थान के समन्वयवादी मार्ग से ही मानव जाति सुखी और समृद्ध हो सकती है। मानव जाति की एकता ही वेद का मानव जाति के लिये सन्देश है। किसी प्रकार के जाति-धर्म-समुदाय-राष्ट्र आदि भेदों से रहित एक मानव समुदाय की विश्वबन्धुत्व भावना ही सामाजिक चेतना का चरम विकास है। जो समुदाय इस दिशा में सहयोग देता है वही मानवता का हितैषी है और उसका एक ही आदर्श हो सकता है; उस की समस्त गतिविधियों का एक ही केन्द्रविन्दु हो सकता है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत॥

ओ३म्। समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।

सब मनुष्यों की भावनायें, विचारधारायें, चेष्टा आदि
एक-जैसी हों और सब के हृदय एक-जैसे हों।

महर्षि दयानन्द और मेरठ नगर

श्री विश्वम्भरसहाय प्रेमी, मेरठ

आर्यसमाज के प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द के जीवन-चरित्र, उनके हस्तलिखित पत्रों के अध्ययन से विदित होता है कि उनका भारत के विख्यात ऐतिहासिक नगर मेरठ से घनिष्ठ सम्पर्क रहा। यहाँ महर्षि ने अनेक प्रश्नों पर गम्भीर विवेचन किया और गोवध-निवारण के लिये एक विशेष घोषणापत्र भी यहीं तैयार किया था।

महर्षि दयानन्द की दीक्षाशताब्दी के पुनीत अवसर पर मैंने इस बात का यत्न किया है कि उनके जीवन की उन घटनाओं को संगृहीत करूँ, जिनसे न केवल इनके मेरठ में आने पर प्रकाश पड़े अपितु महर्षि के सिद्धान्तों की भी कुछ जानकारी प्राप्त हो। जहाँ तक मेरठ नगर या मेरठ जनपद का सम्बन्ध है, यह एक प्राचीन नगर और ऐतिहासिक जनपद रहा है। कई युगों का इतिहास इसके साथ जुड़ा है। किंवदन्तियों के अनुसार राजा मय ने रामायण काल में इस जनपद पर शासन किया। रामायणकाल की कथाओं का यहाँ विस्तार से वर्णन करना व्यर्थ जान पड़ता है क्योंकि उनके पुष्ट प्रमाण नहीं मिल रहे हैं। इस काल के उपरान्त महाभारत काल में कौरव-पाण्डवों के नाम पर हस्तिनापुर जनपद ने बड़ी ख्याति प्राप्त की जो उस समय भारतीय राजनीति का महान् केन्द्र था। उसी हस्तिनापुर जनपद का मेरठ जनपद भी एक अंग था। मेरठ जनपद को बौद्धकाल में भी बड़ा महत्त्व प्राप्त हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि हस्तिनापुर नगर के ध्वस्त हो जाने पर मेरठ नगर एक वैभवशाली नगर बना। यहाँ सम्राट् अशोक का एक स्तम्भ भी स्थापित था जिसे फीरोजशाह तुगलक १००६ ई० में यहाँ से दिल्ली ले गया। मेरठ से पाँच छः मील दूरी पर बुद्ध की एक प्रतिमा भी खुदाई में मिली थी। इसी प्रकार से जैनकाल में इस जनपद के हस्तिनापुर नगर को पुनः महत्त्व प्राप्त हुआ।

मुगलकाल में इस नगर और इस जनपद के अनेक स्थानों पर आक्रमण हुये। औरंगजेब

कुछ समय तक हस्तिनापुर के समीप गंगातट पर रहा। मरहटा काल में भी इसे काफी प्रसिद्धि मिली और उस समय के अनेक चिह्न यहाँ अभी तक विद्यमान हैं।

अंग्रेजी शासनकाल–

१८५७ की राज्यक्रान्ति अंग्रेजों के शासन को समाप्त करने के लिये इसी नगर से प्रारम्भ हुई थी। सेनाओं ने उस समय अंग्रेजों के विरुद्ध खुला विद्रोह किया था। अपनी जान पर खेलकर स्वतंत्रता के मतवाले अंग्रेजी शासन को समाप्त करने के लिये मचले। इसके उपरान्त गांधी युग में इस जनपद के नर-नारियों ने आन्दोलन में खुलकर भाग लिया।

जहां तक आर्यसमाज के कार्य का प्रश्न है, इस नगर के साथ स्व० स्वामी तुलसीराम जी, स्व० बाबू घासीराम जी जैसे विद्वानों का सम्बन्ध रहा, जिन्होंने अपने साहित्य-निर्माण से आर्य-समाज को गौरव प्रदान किया। यहाँ मैं उन तथ्यों को विस्तार के साथ प्रस्तुत कर रहा हूं जो महर्षि दयानन्द के मेरठ आगमन और उनके महान् कार्य से सम्बन्ध रखते हैं।

जिस समय महर्षि दयानन्द ज्ञानवर्द्धन एवं योगियों की खोज में उत्तराखण्ड की ओर हिमालय पर्वत के अनेक स्थानों में गये, उस समय वे मेरठ की ओर से गये या नहीं, यह ज्ञात नहीं हो सका। हरिद्वार जाने का ही उल्लेख मिलता है। हो सकता है कि स्वामी जी यहाँ होकर गये हों।

स्वामी जी महाराज गुरु विरजानन्द से दीक्षा प्राप्त करने के उपरान्त सम्वत् १६२१ में मथुरा से आगरा गये। वहाँ से वे अन्य स्थानों में जाकर प्रचार करते रहे। कार्तिक बदी ६ सम्वत् १६२३ को वे पुनः आगरा आये। उन दिनों वहाँ लार्ड लारेन्स के दरबार की तैयारी हो रही थी। स्वामी जी दरबार में आये हुये लोगों को धर्म-उपदेश देते रहे। उन्होंने वैष्णवों के खण्डन में एक छोटी-सी पुस्तिका भी छपवाई और उसकी कई सहस्र प्रतियां वहाँ वितरित कराईं।

आगरा से स्वामी जी मथुरा गये। स्वामी जी ने गुरु विरजानन्द की सेवा में उपस्थित होकर उन्हें दो अशर्फियां और एक मलमल का थान भेंट किया। उनको अपनी पुस्तिका भी भेंट की और बताया कि अब मैं हरिद्वार प्रचार के लिये जाता हूं। गुरु जी ने उनको आशीर्वाद प्रदान किया।

प्रथम वार मेरठ आगमन–

मथुरा से स्वामी जी मेरठ आये। उनके आगमन की ठीक तिथि नहीं मिल पाई। मेरठ से हरिद्वार पहुँचने की तिथि फाल्गुन शुक्ला प्रतिपदा सम्वत् १६२३ अर्थात् १२ मार्च सन् १८६६ दी गई है। इसका अभिप्राय यह है कि स्वामी जी फरवरी के अन्त में यहाँ पधारे। उनके मेरठ आगमन का विवरण स्व० देवेन्द्रनाथ मुख्योपाध्याय द्वारा संगृहीत "महर्षि दयानन्द का जीवन-चरित्र" में इस प्रकार दिया गया है—

"मेरठ पहुंचकर सूर्यकुण्ड पर देवी के मन्दिर में ठहरे। मेरठ में वहाँ के सुप्रसिद्ध रईस पं० गंगाराम डाकवाले से साक्षात् हुआ। उन दिनों स्वामी जी दोशाला ओढ़ते, जुर्राब पहनते थे और गले में स्फटिक की माला धारण करते थे। गोरक्षा और वेद के पठन-पाठन पर बल देते थे।

पंडित गंगाराम से गोरक्षा में सहायता देने के लिए स्वामी जी ने कहा तो उन्होंने उत्तर दिया कि "यदि राजाओं की निज सम्मति इस विषय में ला दो तो मैं भी सहायता करूंगा।"

स्व० बाबू घासीराम जी ने श्री देवेन्द्रबाबू के विवरण को ज्यों का त्यों देकर अपनी विशेष टिप्पणी नहीं दी है जिससे यह विदित नहीं होता कि पं० गंगाराम कौन व्यक्ति थे। उन दिनों स्व० पं० गंगाराम एक वह व्यक्ति थे जिनकी एक विशाल धर्मशाला केसरगंज मंडी के सामने अब तक विद्यमान है और जिनका उस समय केसरगंज मंडी के एक बड़े भाग पर स्वामित्व भी था। परन्तु उनके नाम के सामने डाकवाले लगता था या नहीं, यह एक विचारणीय प्रश्न रह जाता है। यदि वे डाकवाले कहलाते थे तब तो वे ही स्वामी जी से मिले अन्यथा अन्य व्यक्ति भी हो सकता है।

दूसरी बात यह है कि सूर्यकुण्ड पर देवीमंदिर में अब भी कभी न कभी कोई साधु महात्मा आकर ठहर जाते हैं। सूर्यकुण्ड पर उस समय मुख्य रूप से साधु-महात्मा आकर ठहरा करते थे। वहीं वे सत्संग भी लगाते थे।

दिल्ली में दरबार—

जनवरी सन् १८७७ में दिल्ली में लार्ड लिटन गवर्नर जनरल व वायसराय ने एक बहुत बड़ा दरबार किया था जिसमें भारतवर्ष के सब राजा-महाराजा, नवाब आदि सम्मिलित हुये थे। स्वामी जी भी उस अवसर पर दिल्ली पधारे थे। वे चाहते थे कि राजा-महाराजाओं से मिलकर प्रचार की योजना बनायें। स्वामी जी कुतुबरोड पर शेरमल के अनारबाग में ठहरे थे। इसी के पास महाराजा काश्मीर का कैम्प था। दरबार में ब्राह्मसमाज के नेता बाबू केशवचन्द्र सेन, अलीगढ़ के मुस्लिम नेता सर सैयद अहमद खां, राजा जयकृष्णदास, मुन्शी अलखधारी आदि भी आये थे। स्वामी जी ने सुधारकों की एक सभा में इस बात पर बल दिया कि सब लोग मिलकर देश का सुधार करें, उनका कहना था कि सब लोग वेदों को ईश्वरीय ज्ञान स्वीकार कर लें और वेदों के अनुकूल ही धर्मप्रचार का कार्य करें। परन्तु उनकी इस बात पर सुधारक सहमत न हुये।

दूसरी बार मेरठ आगमन—

दरबार की समाप्ति पर स्वामी जी दूसरी बार १६ जनवरी १८७७ ई० को मेरठ पधारे और सूर्यकुण्ड के समीप डिप्टी महताबसिंह की कोठी में ठहरे। इसे बब्बू वाली कोठी भी कहते थे। यह कोठी मेरठ के कलक्टर ग्लाडएन साहब की स्मृति में यूरोपियन लोगों के ठहरने के लिये बनाई गई थी। स्वामी जी उसमें १० दिन ठहरे और फिर लेखराज के बाग में चले गये।

एक दिन निद्धि पंडित अपने कुछ साथियों सहित स्वामी जी के पास पहुँचा। वह एक गठरी पुस्तक भी ले गया और उसने यह डींग मारी कि मैं उस नास्तिक पंडित को हराऊंगा। इस सम्बन्ध में 'महर्षि दयानन्द जीवन-चरित्र' में निम्न उल्लेख किया गया है—

"स्वामी जी निद्धि पंडित को देखते ही ताड़ गये कि वह कितने पानी में है और उसके आने का क्या अभिप्राय है। निद्धि पंडित के कमरे में प्रविष्ट होते ही स्वामी जी ने विचित्र ढंग से पुकारते

हुये पूछा कि कहिए पंडित जी कैसे आना हुआ ? इसके उत्तर में जो कुछ पंडित जी ने कहा वह किसी की समझ में न आया, क्योंकि पंडित जी की घिग्गी ही बंध गई और एक अक्षर भी उनके मुख से स्पष्ट न निकला। यह दृश्य देखकर सब लोग हंस पड़े और पंडित जी लज्जित होकर फिट्टे मुंह वापिस चले गये।"

इस अवसर पर वहां कई व्यक्ति विद्यमान थे जो स्वामी जी से वार्तालाप करने के लिये आये हुये थे। उनमें पं० गंगाप्रसाद रिटायर्ड चीफ जज के पिता लाला फकीरचन्द, स्व० लाला शिवलाल तथा स्व० पंडित घासीराम जी के पिता जी सम्मिलित थे।

मेरठ के इस निवास के सम्बन्ध में भी खेद है कि उपर्युक्त दोनों कोठियों के चित्र आदि तक सुरक्षित न किये जा सके। मेरठ में स्वामी जी ने धार्मिक विषयों पर सत्संग भी किये।

अनेक स्थानों में प्रचार–

स्वामी जी ने ४ फरवरी सन् १८७७ को मेरठ से सहारनपुर के लिए प्रस्थान किया। यहां से वे चांदपुर मेले में आये। वहां उनका ईसाई और मुसलमानों के साथ शास्त्रार्थ भी हुआ। अनेक स्थानों में भ्रमण करते हुये स्वामी जी उत्तरी भारत के जेहलम आदि स्थानों में भी गये। पंजाब और पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त (फ्रन्टियर) के अनेक स्थानों में धर्मप्रचार करते हुए वे पुनः अलीगढ़ आये। २३ अगस्त सन् १८७८ को मुस्लिम नेता सर सैयद अहमदखां ने स्वामीजी तथा अन्य सज्जनों को अपने यहां भोजन के लिये भी आमन्त्रित किया था, परन्तु स्वामी जी उस में सम्मिलित न हुये थे। इस सम्बन्ध में स्वामी जी ने कहा था "यद्यपि मुसलमानों के भोजन में सम्मिलित होने और भोजन करने में कोई दोष नहीं है, परन्तु ऐसा करने से हमारे देशवासियों में हमारे प्रति अश्रद्धा का उदय होगा और हमारे उद्देश्यों की सिद्धि में बाधा पड़ेगी।"

तीसरी बार मेरठ आगमन–

२८ अगस्त १८७८ ई० को स्वामी जी अलीगढ़ से मेरठ पधारे। इस बार वे दामोदरदास की कोठी में उतरे। उनके पधारने पर मेरठ शहर और छावनी में उनकी चर्चा फैल गई। एक सप्ताह तक महाराज ने इसी कोठी के बरामदे में बैठकर उपदेश दिये। उपदेश की समाप्ति पर शंका-समाधान भी होता था। इसके पश्चात् राय गनेशीलाल मालिक 'जलवएतूर प्रेस' की कोठी में स्वामी जी के व्याख्यानों का प्रबन्ध किया गया। इन व्याख्यानों की सूचना विज्ञापन द्वारा दी गई।

पहला व्याख्यान १ सितम्बर सन् १८७८ को हुआ। इसमें सभा में आने और प्रश्नोत्तर करने के लिए भी कहा गया। उत्तर देने के लिये अन्तिम दिन निश्चित किया गया। दूसरा व्याख्यान धर्माधर्म के लक्षणों पर और तीसरा ईश्वर की प्रार्थना-स्तुति विषय पर हुआ। चौथा दिन प्रश्नोत्तर के लिये नियत किया गया था, परन्तु जब किसी ने कोई प्रश्न न किया तो स्वामी जी ने सृष्टि विषय पर व्याख्यान दिया। एक मुसलमान ने इस दिन एक पत्र दिया जिस में लिखा था कि मुसलमान प्रश्नोत्तर करने पर उद्यत हैं यदि स्वामी जी किसी हिन्दू रईस के उत्तरदायित्व पर स्टाम्प पर एक

इक़रारनामा शास्त्रार्थ करने और मेरठ में ठहरने व रहने का लिख दें। यह पत्र यह कह कर लौटा दिया गया कि यह किसी मुसलमान रईस के हस्ताक्षरों से आना चाहिये।

५ सितम्बर से नौ दिन तक मेरठ में लाला रामसरनदास के घर पर व्याख्यान हुये। छः दिन तक तो विविध विषयों पर भाषण हुये और तीन दिन तक सब प्रश्नों के उत्तर दिये गये। सनातन-धर्मरक्षिणी सभा मेरठ ने अनेक विषयों पर अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्न भेजे। इनमें मूर्तिपूजा, सृष्टि-उत्पत्ति, तीर्थों का महत्त्व तथा अवतारवाद आदि विषय सम्मिलित थे। स्वामी जी ने इन सब का सप्रमाण उत्तर दिया।

७ सितम्बर को एक व्यक्ति अब्दुल्ला ने स्वामी जी को शास्त्रार्थ सम्बन्धी एक पत्र दिया। महाराज ने इसका उत्तर दे दिया कि शास्त्रार्थ लेखबद्ध होगा। आप शहर व छावनी के प्रतिष्ठित रईसों द्वारा लिखा-पढ़ी कीजिये, मुझे कोई आपत्ति न होगी। अन्त में मौलवी साहब चुप हो गये।

८ सितम्बर को मेरठ में बिल्वेश्वरनाथ मंदिर में कुछ पंडित और नगर के रईसों ने स्वामी जी के साथ शास्त्रार्थ करने का निश्चय किया। स्वामी जी के पास एक पत्र भेजा गया कि १३ सितम्बर सन् १८७८ को बिल्वेश्वर महादेव मंदिर में एक सभा होगी, आप भी उसमें आवें। इस पत्र पर नाम तो कई पंडितों और रईसों के थे, परन्तु हस्ताक्षर नहीं थे। महाराज ने यह कहकर यह पत्र लौटा दिया कि जब तक कोई लिखित सूचना ला० किशन सहाय रईस के हस्ताक्षर युक्त न आयेगी, मैं उस पर कार्य न करूंगा।

१२ सितम्बर को लाला मुन्नालाल ने अपने पिता लाला किशन सहाय का एक समाचार देते हुए स्वामी जी से कहा कि पिता जी कहते हैं कि यदि आप शास्त्रार्थ में परास्त हो गये तो मूर्तिपूजा माननी होगी। परन्तु स्वामी जी के कहे अनुसार लाला किशन सहाय ने शास्त्रार्थ के नियमों पर हस्ताक्षरसहित स्वीकृति न दी। अतः शास्त्रार्थ नहीं हो सका।

१३ सितम्बर को स्वामी जी ने लाला रामसरनदास के भवन पर व्याख्यान देने बन्द कर दिये। १४ सितम्बर से २२ सितंबर तक स्वामी जी ने बाबू छेदीलाल गुमाश्ते कमसरियट की कोठी पर व्याख्यान दिये। इस बीच सनातन धर्मी स्वामी जी के साथ शास्त्रार्थ करने की बात उठाते रहे, परन्तु लिखित रूप में उन्होंने नियमों की स्वीकृति नहीं दी अतः उनके साथ कोई शास्त्रार्थ न हो सका।

आर्यसमाज की स्थापना—

स्वामी जी के धर्मप्रचार का मेरठ शहर और छावनी में रहने वालों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। स्वामी जी महाराज के द्वारा २९ सितम्बर सन् १८७८ को मेरठ में आर्यसमाज की स्थापना की गई। इसके ८१ सदस्य उसी समय बन गये। नगर के सेठ, साहूकार, व्यापारी एवं राज्य कर्मचारियों ने इसमें भाग लिया। प्रसन्नता की बात यह हुई कि पौराणिक धर्म के स्तम्भ लाला किशनसहाय के पुत्र लाला मुन्नालाल ने भी आर्यसमाज का सदस्य बनना स्वीकार किया। इतना ही नहीं, किन्तु वे समाज के कोषाध्यक्ष बने और जीवनपर्यन्त इस पद पर कार्य करते रहे।

हमारा रक्षक परमेश्वर है—

मेरठ छावनी का एक सेठ स्वामी जी का घोर विरोधी हो गया। उसने अपने प्रभाव के कुछ गूजरों को बुला कर महाराज को पिटवाने की योजना बनाई। स्वामी जी के कुछ भक्तों को इसका पता चल गया। उन्होंने उनसे निवेदन किया कि आपको सावधान रहना चाहिये। स्वामी जी ने उत्तर दिया कि आप मेरी चिन्ता न करें, हमारा रक्षक परमेश्वर है।

स्वामी जी के श्राद्धखण्डन से नगर के ब्राह्मण और महाब्राह्मण बहुत चिढ़ गये। लाला रामसरनदास के मकान पर स्वामी जी के भाषण होते थे। ब्राह्मणों ने कुछ लट्ठबन्द तैयार किये जो रात्रि के समय व्याख्यान समाप्त होने पर स्वामी जी पर आक्रमण करें। आर्यजन को इस बात का पता चल गया। उन्होंने प्रस्ताव किया कि स्वामी जी अपने डेरे पर किसी बन्द गाड़ी में जायें। स्वामी जी ने इसे अस्वीकार कर दिया और वे कहने लगे 'आप लोग क्यों डरते हैं, मेरा कोई कुछ नहीं कर सकता।' स्वामी जी इन लट्ठबन्दों के सामने से निर्भयतापूर्वक अपने स्थान को गये।

ब्राह्मण कर्त्तव्य पालन नहीं करते—

स्वामी जी के पास नगर के अनेक व्यक्ति भेंट करने के लिए जाते थे। नगर के विख्यात ज्योतिषी पंडित गौरीशंकर ने भी एक दिन स्वामी जी से भेंट की थी। परन्तु स्वामी जी फलित ज्योतिष में विश्वास नहीं करते थे। अतः ज्योतिषी जी वापिस चले गये।

एक दिन कुछ तिलकधारी ब्राह्मण स्वामी जी के पास बैठे थे। तभी एक सज्जन आये और स्वामी जी को नमस्ते कहकर उनका कुशल पूछा। स्वामी जी ने कहा कि हमें कुशल कहां। उस सज्जन ने पूछा कि क्या कोई मानस खेद है। स्वामी जी ने उत्तर दिया कि इससे अधिक खेद क्या होगा कि ये ब्राह्मण अपना कर्तव्य पालन नहीं करते। आडम्बर से अधिक प्यार करते हैं, धर्म के प्रचार का इन्हें ध्यान तक नहीं।

मेरठ में स्वामी जी पैंतालीस दिन तक रहे। इस लम्बे निवास में स्वामी जी ने पौराणिक पंडितों से अनेक विषयों पर बातें कीं। मेरठ आर्यसमाज की स्थापना की। अन्त में वे ९ अक्तूबर को यहां से दिल्ली चले गये। वहाँ पहुँच कर उन्होंने अपने व्याख्यानों का क्रम प्रारंभ किया। उनके निवास का प्रबन्ध सब्जीमण्डी में लाला बालमुकुन्द व केसरीचन्द के बाग में किया गया।

चौथी बार मेरठ आगमन—

अनेक देशी रजवाड़ों और अन्य स्थानों में वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए स्वामी जी चौथी बार १५ जनवरी १८७९ ई० को मेरठ पधारे। यहां आने पर स्वामी जी ने हरिद्वार कुम्भ पर प्रचार करने की तैयारी की। यहाँ स्वामी जी ने कुम्भ पर वितरित करने के लिए २२ जनवरी १८७९ ई० को कई सहस्र विज्ञापन छपवाये।

मेरठ में इस बार स्वामी जी तेतीस दिन तक रहे। १६ फरवरी १८७९ ई० को स्वामी जी ने सहारनपुर के लिए प्रस्थान किया। २० फरवरी १८७९ ई० को स्वामी जी ज्वालापुर पहुँचे। मूला मिस्तरी के बगीचे में उनके निवास का प्रबन्ध किया गया।

स्वामी जी ने मेरठ में जो विज्ञापन छपवाये उनमें निम्नस्थ उपदेश था—

सब मनुष्यों के लिये वेदोक्त उपदेश—

ऐसा कौन मनुष्य होगा जो अपना, अपने बन्धु वर्गों का हित और परमेश्वर की आज्ञा का पालन करना न चाहे। क्या कोई ऐसा भी मनुष्य है, जो परस्पर मित्रता, सदुपदेश, प्रीति, धर्मानुष्ठान, विद्या की वृद्धि, दुष्ट कर्म और आलस्य के त्याग, श्रेष्ठ कामों के सेवन, परोपकार और पुरुषार्थ के बिना सर्वहित कर सके और ईश्वर प्रतिपादित वेदों के अनुसार आचरण किये बिना सुख को प्राप्त हो सके। इसलिए आर्यों के इस महा समुदाय में वेद मन्त्रों के द्वारा सब सज्जन मनुष्यों के हित के लिए ईश्वर की आज्ञा का प्रकाश संक्षेप से किया जाता है, जिसको सब मनुष्य देख, सुन और विचार कर ग्रहण करें। और इस मेले में तन, मन और धन से आने के सत्य सुख रूप फलों को प्राप्त हों। और अपने मनुष्य देह रूप वृक्ष के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी चार फलों को पाकर जन्म सफल करें, और अपने सहचारी लोगों को भी उक्त फलों की प्राप्ति करावें। इस विषय में नीचे लिखे वेदमन्त्रों का प्रमाण देख लीजिये।

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रंतन्न आ सुव।

ऋ० मं० ५। अ० ६। सूत्र ८२ मं० ५॥

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥५॥
यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ॥६॥
सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः।
किल्बिषस्पृत्पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय ॥२०॥
सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥२॥

ऋ० मं० १०। अ० ६। सू० ७१

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥ तैत्तिरीयारण्यक प्र० ९। अनु० १।

विज्ञापन में इन मन्त्रों के अर्थ दिये गये हैं, जो संक्षिप्त रूप में इस प्रकार हैं—

हे सर्वसुखदाता, जगत् के स्रष्टा और धारण करने वाले परमेश्वर हमारे सब दुष्ट कर्मों और दुःखों को दूर कीजिए और शुभ कर्म और नित्य सुख को हमें प्राप्त कराइये।

जिस मनुष्य को विद्वान् लोग अज्ञानी कहते हैं वह साधन रूप पुष्पों और अर्थ, काम, मोक्ष-रूप फलों से रहित तथा सुशिक्षा, शब्द अर्थ और सम्बन्ध के बोध से रहित वाणी को सुनकर और छल कपट आदि दुष्कर्मों से युक्त हो कर चलता है उसे विद्वान् लोग दृढ़ विद्यायुक्त करके और श्रेष्ठ कर्मयुक्त करके बढ़ाने और मित्रता के लिए प्राप्त करते हैं।

जो मनुष्य सब से प्रेम करके सुख देने वाले मित्रों को छोड़ देता है, उसका सुशिक्षित विद्या वाणी में कोई भाग नहीं होता, जो कुछ वह सुनता है वह अर्थ प्रयोजन रहित सुनता है, वह धर्म के मार्ग को नहीं जानता।

जो मनुष्य विद्यादि की प्राप्ति करने कराने के लिये पाप वा स्वार्थ करता है वह सुख नहीं पाता और जो अत्यन्ताहितकारी, कीर्तिमान, सभा का भार उठाने वाले और उसकी उन्नति करने वाले, सबसे प्राप्त होने योग्य मित्रों से मित्रता करते हैं वह सब सुखी होते हैं।

जैसे सत्तू को चलनी से छानकर साफ करते हैं, ऐसे ही धार्मिक विद्वान् विज्ञान से वाणी को सुशिक्षित और विद्यायुक्त करने वाले, सुहृद्भाव से युक्त होकर, मित्रों के कर्मों और भावों को जानने वाले जिस देश, समुदाय वा सभा में होते हैं, उनकी ही वाणी में कल्याण और सुख करने वाली विद्या, शोभा, चक्रवर्ती राज्य की श्री सदा स्थिर रहती है।

इसलिये हमें चाहिये कि हम एक दूसरे की रक्षा करते, एक दूसरे के साथ आनन्द भोगते, एक दूसरे के बल पराक्रम को बढ़ाते रहें, हम में विद्या का पठन-पाठन अत्यन्त प्रकाशयुक्त हो और हम लोग आपस में वैर विरोध कभी न करें।

इस के आगे यह बतलाया है—प्राचीन काल से आर्यावर्त्त की उन्नति का कारण वेदोक्तधर्म पर चलना था और इस समय की अवनति का कारण वेदोक्त धर्म का त्याग है। जिस का फल दुःख हो वह कभी धर्म और जिस का फल सुख हो वह कभी अधर्म नहीं हो सकता। अब भी यदि उन्नति हो सकती है तो उन्हीं कामों से हो सकती है जिन्हें आर्य समाज के सभासद् करना चाहते हैं, अर्थात् संस्कृत विद्या के पाने वाले, स्वदेशियों की बढ़ती के अभिलाषी, परोपकारक, निष्कपट होके सत्य विद्या देने की इच्छायुक्त, धार्मिक विद्वानों की उपदेशक मंडली बना और वेदादि सत्य शास्त्रों के पढ़ाने के लिए पाठशाला स्थापित करना। आशा है कि इस बात को सुनकर सब भद्र लोग स्वीकार करके आर्योन्नति करने में तन, मन, धन से प्रवृत्त होंगे।

इस विज्ञापन के प्रचारित होते ही कुम्भ के मेले पर स्वामी जी के आगमन की धूम मच गई और शतशः-सहस्रशः लोग उनके दर्शनों के लिये उनके स्थान पर पहुँचे।

मेरठ में पाँचवीं कर आगमन—

हरिद्वार कुम्भ की समाप्ति पर स्वामी जी देहरादून गये। वहां उन्होंने २९ अप्रल १८७९ को आर्यसमाज देहरादून की स्थापना की। देहरादून में स्वामी जी ने एक जन्म के मुसलमान की शुद्धि भी की और उसका नाम अलखधारी रक्खा।

देहरादून से १ मई १८७९ ई० को स्वामी जी सहारनपुर आ गये। कर्नल अल्काट और मैडम ब्लावेस्ट्की भी यहां स्वामी जी के दर्शनों को आये हुए थे। स्वामी जी ने दो दिन सहारनपुर में निवास किया। ६ मई को स्वामी जी ने कर्नल अल्काट और मैडम ब्लावेस्ट्की को साथ लेकर मेरठ के लिये प्रस्थान किया। मेरठ रेलवे स्टेशन पर आर्यपुरुषों ने बड़े प्रेम से उनका स्वागत किया। मैडम और कर्नल को एक कोठी में और स्वामी जी को दूसरी कोठी में ठहराया गया।

६ मई तक कर्नल और मैडम स्वामी जी से मिलते रहे और अधिकतर योग विषय पर बात-चीत करते रहे। इस सम्मिलन में उन्होंने अपने किसी आचार-विचार से यही प्रकट नहीं किया कि वे ईश्वर और वेद में श्रद्धा और विश्वास नहीं रखते, बल्कि क्या वचन से, क्या कर्म से, उन्होंने अपने आपको वैदिकधर्मी और आर्य ही प्रकट किया। वे आर्यों के समान खान-पान और व्यवहार करते रहे। कर्नल और मैडम के व्याख्यान भी हुए। उनमें उन्होंने वैदिक धर्म का महत्त्व वर्णन किया और ईसाई धर्म का खंडन किया। ७ मई को कर्नल और मैडम बम्बई चले गये।

देवबंद के प्रसिद्ध मौलवी मुहम्मद कासिम मेरठ आये। उन्होंने स्वामी जी से शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रगट की। स्वामी जी ने शास्त्रार्थ के नियम निश्चय करने पर जोर दिया। मुसलमान शास्त्रार्थ के नियमों को मानने के लिये तैयार न हुए। अतः शास्त्रार्थ न हो सका। २२ मई १८७९ ई० को स्वामी जी मेरठ से अलीगढ़ के लिए प्रस्थान कर गये।

मेरठ में छठी बार आगमन—

८ जुलाई १८८० ई० को स्वामी जी छठी बार मैनपुरी से मेरठ पधारे। उनके निवास की व्यवस्था लाला रामसरनदास की कोठी में की गयी।

मेरठ में इस अवसर पर कलकत्ता से पंडित रमाबाई भी आईं। वे एक महाराष्ट्र महिला थीं, जो संस्कृत का अच्छा ज्ञान रखती थीं। बाबू छेदीलाल की कोठी में उनको ठहराया गया था, जहां कर्नल अल्काट और मैडम ब्लैवस्ट्की भी पहिले से ठहरे थे।

रमाबाई स्वामी जी से सांयकाल को वैशेषिक दर्शन पढ़ा करती थीं। उनके चार व्याख्यान स्त्रीशिक्षा विषय पर हुए।

स्वामी जी चाहते थे कि रमाबाई ब्रह्मचारिणी रह कर स्त्रियों में वैदिक धर्म का प्रचार करे, परन्तु वह ऐसा करने को सहमत न हुई। अतः उसे यहां से लौट जाना पड़ा। आर्यसमाज ने उसे समुचित सत्कार के साथ १२५ रुपये और कपड़े का एक थान देकर विदा किया। बाद में रमाबाई ईसाई हो गयी और उसने पूना में शारदा सदन नाम से एक विधवा आश्रम खोल कर सैकड़ों हिन्दू विधवाओं को ईसाई बनाया।

रमाबाई ने महर्षिदयानन्द जीवन चरित्र के लेखक स्व० देवेन्द्रनाथ मुख्योपाध्याय को एक पत्र लिखते हुए स्वामी जी के सम्बन्ध में निम्नस्थ उद्गार प्रकट किये—

"मैं मेरठ में तीन सप्ताह से अधिक रही और इस कारण मुझे आर्यसमाज के मुख्य मन्तव्यों को स्वयं उसके प्रवर्त्तक से सीखने का अवसर मिला। स्वामी जी के सम्बन्ध में जो भाव मेरे मन पर अङ्कित हैं वह वास्तव में बहुत उत्तम हैं। वह सर्व-भावेन दयास्वरूप थे। वह प्रांशु-विशाल-दर्शन, भद्र पुरुष थे। वह सच्चे और शुद्ध भावयुक्त पितृ-प्रकृति के पुरुष थे। उनका मेरे साथ वर्त्ताव कृपापूर्ण और पितृतुल्य था। वह शुद्ध भाषा प्रभावोत्पादक स्वर में बोलते थे। वह कभी हिन्दी और कभी संस्कृत में बातें किया करते थे, परन्तु संस्कृत उनकी प्यारी भाषा थी।... उन्होंने मुझ से यह कहा था कि मैं चाहता हूँ कि तुम आर्यसमाज में सम्मिलित हो जाओ, मैं तुम्हें शिक्षा दूंगा और तुम्हें आर्य

समाज के सिद्धांतों के प्रचार के लिये तैयार करूंगा। मैं धार्मिक विषयों में अव्यवस्थित थी, अतः मैंने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया।"

स्वामी जी कर्नल और मैडम के सम्बन्ध में अब तक ऐसी धारणा बनाये हुये थे कि वे दोनों आर्यसमाज के सिद्धांतों में विश्वास रखते हैं, परन्तु इस बार उन्होंने ऐसा रंग दिखाया जिससे प्रगट हो गया कि वे न तो ईश्वर में विश्वास रखते हैं और न वेदों में।

कर्नल और मैडम ने यहां पंडित पालीराय से स्पष्ट कह दिया था कि हम ईश्वर में विश्वास नहीं करते। स्वामी दयानन्द के साथ इन दोनों ने तीन दिन तक वादविवाद भी किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि स्वामी जी को घोषणा करनी पड़ी कि थ्योसोफिस्टों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। कर्नल और मैडम यहां से शिमला चले गये। उन्होंने भी आर्यसमाज से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया।

परोपकारिणी सभा की स्थापना—

मेरठ में १६ अगस्त १८८० ई० को स्वामी जी ने एक स्वीकार-पत्र लिखा। उसकी रजिस्ट्री १८ अगस्त को कराई गई। उसके द्वारा परोपकारिणी सभा की स्थापना की गई थी। इसका प्रधान राय मूलराज एम० ए० को बनाया गया था। रायबहादुर पंडित सुन्दरलाल, कर्नल अल्काट और मैडम ब्लैवस्ट्की आदि १४ सज्जन उसके सदस्य थे। रजिस्ट्री हो जाने के पश्चात् कर्नल और मैडम का आर्यसमाज से सम्बन्ध टूटा था।

१५ सितम्बर १८८० ई० को स्वामी जी मेरठ से मुज़फ्फरनगर चले गये। राय बहादुर लाला निहालचंद के बंगले में उनके निवास की व्यवस्था की गयी।

• मेरठ निवास की सत्तर दिन की अवधि में स्वामी जी ने अनेक विषयों पर पत्र भी लिखे। उनके कुछ पत्र प्रकाश में भी आ चुके हैं। लाला रामसरनदास जी से उनका बड़ा प्रेम था। उनके पुत्र स्व० बनारसीदास के पास स्वामी जी के सम्बन्ध में बहुत वर्षों तक अनेक कागज पत्र रहे। कई पत्र श्री भगवद्दत्त जी रिसर्च स्कालर भी उनके यहां से आर्यसमाज मेरठ शहर की मार्फत ले गये थे।

मेरठ में सातवीं बार आगमन—

मुज़फ्फरनगर में स्वामी जी के दस व्याख्यान हुये। वहां से स्वामी जी मेरठ लौट आये। इस बार उन्होंने आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव में भाग लिया। उत्सव बड़ी धूम-धाम के साथ हुआ। स्वामी जी ने आर्यसमाज और थ्योसौफिक सोसाइटी के सम्बन्ध में विशेष रूप से अपने विचार प्रगट किये। उन्होंने आर्यपुरुषों को सावधान किया कि उक्त सोसाइटी के सभासद् न बनें।

मेरठ में स्वामी जी ने अपने भक्तों से वार्त्तालाप करते हुये, अपने जीवन की कुछ घटनायें भी सुनाई थीं। उन्होंने कहा कि एक स्थान पर कलक्टर साहब ने मेरा व्याख्यान सुन कर कहा था कि यदि सब लोग आप के कथन के अनुसार चलने लगें तो हमें भारत छोड़ना पड़ेगा। इस का उत्तर

मैंने यह दिया कि आप मेरा अभिप्राय नहीं समझे। मेरा तात्पर्य यह है कि मूर्ख और विद्वान् का मेल नहीं हो सकता। जब तक भारत के मनुष्य आप के समान सुशिक्षादि गुणों से अलंकृत न हो जायें तब तक परस्पर के मेल से सच्चा सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

आप इस समय आश्चर्य करते हैं कि मैं इतनी दूर तक वायुसेवन के लिये जाता हूँ, परन्तु अवधूत दशा में चालीस-चालीस मील चलना मेरे लिये कोई बात न थी। मैं एक बार गंगोत्री से चलकर गंगा सागर तक और एक बार गंगोत्री से रामेश्वर तक गया था। बद्रीनाथ में रहकर मैंने गायत्री का जपानुष्ठान किया था। रात्रि में जब तेल न रहता था तो मैं बाजार के दीपकों के प्रकाश में पढ़ा करता था। मैं लगातार कई दिन तक मध्याह्न में तप्तरेत में पड़ा रहा हूँ और हिमाच्छादित पर्वतों में और गंगातट पर नग्न और निराहार सोया हूँ।

पाठक उनके इस कथन से अनुमान लगा सकते हैं कि महर्षि ने कितनी घोर यातनायें सहकर वैदिक धर्म की महत्ता का ज्ञान प्राप्त किया था।

मेरठ से स्वामी जी सहारनपुर चले गये। वहां से वे ७ अक्तूबर १८८० ई० को देहरादून पहुँच गये।

अन्तिम आठवीं बार आगमन—

अपने जीवन में अन्तिम बार स्वामी दयानन्द २१ नवम्बर १८८० ई० को देहरादून से मेरठ आये। यहाँ वे छः दिन तक ठहरे। इस बार उनके व्याख्यानों का सार्वजनिक रूप में कोई कार्य-क्रम नहीं रक्खा गया। इन दिनों वे वैदिक ग्रन्थों के प्रकाशन कार्य में ही मुख्य रूप से व्यस्त रहे। यहां से वे आगरा चले गये।

गोरक्षा की योजना—

ऐसा ज्ञात होता है कि स्वामी दयानन्द जी ने मेरठ में गोरक्षा के लिये विशेष योजना बनाई थी। उन्होंने अपने एक पत्र में इस सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये हैं उनसे विदित होता है कि लाला रामशरणदास जी को कुछ कार्यभार भी सौंपा गया था। स्वामी जी का यह पत्र इस प्रकार है—

पंडित सुन्दरलाल असिस्टेन्ट पोस्ट मास्टर जनरल प्रयाग आनन्दित रहो—

मैं आप परोपकारप्रिय धार्मिकजनों को सब लोगों के उपकारार्थ गाय, बैल और भैंस की हत्या के निवारणार्थ, एक तो सही करने का और दूसरा जिसके अनुसार सही करनी करानी है दोनों पत्र भेजता हूँ। इसको आप लोग उत्साह पूर्वक स्वीकार कीजिये जिससे आप महाशय लोगों की कीर्त्ति इस संसार में सदा विराजमान रहे। इस काम को सिद्ध करने का विचार इस प्रकार किया गया कि दो करोड़ से अधिक राजा महाराजे और प्रधान आदि महाशय पुरुषों की सही कराके आर्यावर्त्तीय श्रीमान् गवर्नर जनरल सहाब बहादुर से इस विषय की अर्जी करके उपरिलिखित गाय आदि पशुओं की हत्या छुटवा देना। मुझ को दृढ़ निश्चय है कि प्रसन्नतापूर्वक आप लोग इस महोपकारक काम को

शीघ्र करेंगे। अधिक प्रति भेजने का प्रयोजन यह है कि जहाँ-जहाँ उचित समझें वहाँ-वहाँ भेजकर सही करा लीजिये। पुनः नीचे लिखे स्थान में रजिस्टर कराके भेज दीजिये (लाला रामशरणदास रईस मंत्री आर्यसमाज मेरठ मुहल्ला कानूगोयान)। अलमतिविस्तेरण धार्मिवरशिरोमणिषु ॥

चैत्र कृष्णा ८ चन्द्रवार संवत् १९३८ ह० दयानन्द सरस्वती।

महर्षि के इस पत्र के साथ ही मैं यहां उनके उस पत्र को भी प्रस्तुत कर देना आवश्यक समझता हूँ जो सही (हस्ताक्षर) कराने के लिए भेजा गया था। पत्र इस प्रकार है—

सही करने का पत्र—

"ऐसा कौन मनुष्य जगत् में है, जो सुख के लाभ होने में प्रसन्न और दुःख की प्राप्ति में अप्रसन्न न होता हो। जैसे दूसरे के किये अपने उपकार में स्वयं आनन्दित होता है, वैसे ही परोपकार करने में सुखी अवश्य होगा, जो परोपकार रूप धर्म और परहानि स्वरूप अधर्म के सिवाय धर्म अधर्म की सिद्धि कर सके। अन्य वे महाशय जन हैं, जो अपने तन, मन और धन से संसार का अधिक उपकार सिद्ध करते हैं। निन्दनीय मनुष्य वे हैं जो अपनी अज्ञानता से स्वार्थवश होकर अपने तन, मन और धन से जगत् में परहानि करके बड़े लाभ का नाश करते हैं। सृष्टिक्रम से ठीक-ठीक यही निश्चय होता है कि परमेश्वर ने जो-जो वस्तु बनाया है, वह पूर्ण उपकार लेने के लिये है। अल्प लाभ से महाहानि करने के लिये नहीं। विश्व में दो ही जीवन के मूल हैं, एक अन्न और दूसरा पान। इसी अर्थ अभिप्राय से आर्यावर्त शिरोमणि राजे महाराजे और प्रजाजन महोपकारक गाय आदि पशुओं को न आप मारते और न किसी को मारने देते थे। अब भी वे इस गाय, बैल और भैंस को मारने और मरवाने देना नहीं चाहते हैं. क्योंकि अन्न और पान की बढ़ती इन्हीं से होती है। इससे सब का जीवन सुख से हो सकता है। जितनी राजा प्रजा की बड़ी हानि इनके मारने और मरवाने से होती है, उतनी अन्य किसी कर्म से नहीं। इसका निर्णय गौकरुणानिधि पुस्तक में अच्छे प्रकार प्रगट कर दिया है अर्थात् एक गाय के मारने और मरवाने से चार लाख बीस हजार मनुष्यों के सुख की हानि होती है। इसलिये हम सब लोग स्वयं प्रजा की हितैषिणी श्रीमती राजराजेश्वरी महारानी विक्टोरिया की न्यायप्रणाली में जो यह अन्याय रूप बड़े-बड़े उपकारक गाय आदि पशुओं की हत्या होती है। उसको उनके राज्य में से प्रार्थना से छुड़वाके अति प्रसन्न होना चाहते हैं। यह हमको पूरा निश्चय है कि विद्या, धर्म, प्रजाहित प्रिय श्रीमती राजराजेश्वरी महारानी विक्टोरिया पार्लियामेण्ट सभा और सर्वोपरि प्रधान आर्यावर्तस्थ श्रीमान् गवर्नर जनरल साहिब बहादुर सम्प्रति इस बड़ी हानिकारक गाय बैल तथा भैंस की हत्या को हटा उत्साह और प्रसन्नतापूर्वक शीघ्र बन्द करके हम सबको परम आनन्दित करें। देखिये कि उक्त गुण युक्त गाय आदि पशुओं के मारने और मरवाने से दूध घी और किसानों की कितनी बड़ी हानि होकर राजा प्रजा दोनों की बड़ी हानि हो रही है, और नित्य प्रति अधिक-अधिक होती जाती है। पक्षपात छोड़ के जो कोई देखता है तो वह परोपकार ही को धर्म और परहानि को अधर्म निश्चित जानता है। क्या विद्या का यह

फल और सिद्धान्त नहीं है कि जिस-जिस से अधिक उपकार हो उसका पालन, वर्धन करना और नाश कभी न करना। परमदयालु न्यायकारी सर्वान्तर्यामी सर्वशक्तिमान् परमात्मा इस जगदुपकारक काम करने में समस्त राजा प्रजा की एक सम्मति करे।"

खेद हैं कि महर्षि दयानन्द अपने जीवन में इस महत्त्वपूर्ण कार्य को पूर्ण न करा सके। उन्हें यदि दीर्घायु प्राप्त होती तो सम्भव था कि भारत से गोवध जैसा महापाप समाप्त हो जाता। खेद इस बात का है कि आज गोरक्षा के प्रति सभी ओर से उपेक्षा की जा रही है। गोवंश का भारी ह्रास हो रहा है जिसके रोकने का उत्तरदायित्व जहां सरकार पर है वहां ऋषि के भक्तों पर भी है।

मैंने यहां महर्षि दयानन्द के उन कार्यों को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया है जो मेरठ नगर की गतिविधियों से सम्बन्धित थे। उन सब तथ्यों को मैंने स्व० देवेन्द्रनाथ मुख्योपाध्याय द्वारा लिखित तथा स्व० बाबू घासीराम जी द्वारा अनूदित 'महर्षि दयानन्द जीवन चरित्र' तथा श्री पं० भगवद्दत्त रिसर्च स्कालर द्वारा एकत्रित 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' पुस्तकों से संग्रह किया है। अतः मैं उनका आभार मानता हूँ। मुझे विश्वास है कि महर्षि के इन विचारों से आर्य नर-नारियों को प्रेरणा प्राप्त होगी।

ओ३म् अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु। ऋ० ६।९।४

यह मुख्य होता है, इसको देखिये, मर्त्यों में यह अमर ज्योति है।

पावका नः सरस्वती

श्रीमती अनिला देवी, काव्यतीर्थ

जिस समय भारत में आर्यसंस्कृति का साम्राज्य था, यहां के बच्चे राष्ट्र के धन माने जाते थे। उन्हें योग्य शिक्षा-दीक्षा से दीक्षित करने के लिए अनुभवी गुरुओं को सौंप दिया जाता था। इनका अपना एक विशाल कुल होता था जिसे गुरुकुल नाम से पुकारा जाता था। बालक परिवार से अलग होकर भी पारिवारिक आनन्द का उपभोग इस विशाल कुल में करता हुआ अपने जीवन का विकास करता था। स्नेह-सौजन्य के साथ ज्ञान-सुधा का पान कराने वाले गुरुजन, तथा सहपाठियों के मध्य खेलते-खाते और उन्मुक्त विचरते हुए एक अलौकिक आनन्द की अनुभूति एवं मस्ती में मस्त रहता था। गुरुकुलों में पढ़ने से बच्चों में वह झूठी मोह-ममता, स्वार्थ एवं अहंकार की भावना नहीं रहती थी, जो समाज को खोखला बनाकर निकम्मा कर देती है। गुरुकुल में अध्ययन करने वाला बालक विश्व-बन्धुत्व एवं विश्व-प्रेम के लक्ष्य तक पहुँचने वाले पाठ को नित्य प्रति के व्यवहार से स्वतः सीखता था। "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना उसके हृदय में निरन्तर प्रबल होती थी।

गुरुकुल में रहने वाला बालक ब्रह्मचारी कहा जाता था। ब्रह्मचारी का जीवन तपस्या का जीवन था। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य सूक्त में ब्रह्मचारी का वर्णन आता है। इस सूत्र के २६ मन्त्रों में १५ बार तप शब्द को दुहराया गया है। "स आचार्यं तपसा पिपर्ति" "रक्षति तपसा ब्रह्मचारी" ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत"। ब्रह्मचारी तप से अपने जीवन की साधना करता है। शहर से दूर जंगल में जहाँ ऋषि-मुनियों के पवित्र आश्रम बने हुए थे। जहाँ शहर का प्रलोभन, कोई आकर्षण या चकाचौंध ब्रह्मचारियों के मन और मस्तिष्क को विकृत नहीं कर सकते थे, वहाँ हमारे बच्चे सरस्वती के मन्दिर में अपना सुस्थिर आसन जमा कर ज्ञानगरिमा के गौरव से गौरवान्वित होकर, देश की अमूल्य देन बन कर जीवन-पथ पर अग्रसर होते थे।

सब को मित्र की दृष्टि से देखे, किसी के धन को लेने का लोभ न करे। अपने प्रतिकूल व्यवहार का आचरण दूसरों के प्रति न करे। "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमिति" वास्तविक शांति

श्रेयस् में, अध्यात्म में है। "अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन" आदि भावनायें थीं, जिनकी आवृत्ति नदी किनारे शीतल समीर तरंगों से अठखेलियां करते हुए तपोवन में और अरण्यों में हमारे ब्रह्मचारी किया करते थे। वन उनके लिए प्राणदाता थे। एकान्त में हुई तपस्या, अभ्यास एवं साधना विद्यार्थियों को विद्या का पात्र बना देती थी। "विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेहमस्मि, असूयकायानृजवेयताय न मा ब्रू या वीर्य्यवती यथास्याम्" विद्या ब्राह्मण के पास आकर बोली कि ब्राह्मण मैं तेरा खजाना हूँ। तू मेरी रक्षा कर। मुझे कभी ऐसे मनुष्य को न देना जो ईर्ष्यालु हो, कुटिल हो, या जितेन्द्रिय न हो। यदि तू ऐसा करेगा तो मैं वीर्य्यवती होऊंगी। विद्या देने से पूर्व विद्या का पात्र बनाना आवश्यक है।

आज शिक्षा का अभाव नहीं है। स्कूल भी और कालेज भी बहुत हैं। परन्तु हमें ऐसे नागरिक चाहियें, जिस भांति हमें जीवन निर्वाह करना है उसके अनुकूल हमारी शिक्षा नहीं है। सरस्वती के समाज में हम केवल मजदूरी करके मरते हैं। रटते-रटते हमारी कमर झुक जाती है। फिर भी हमारे मनुष्यत्व का सर्वांगीण विकास नहीं हो पाता। हम बड़ी-बड़ी बी० ए०, एम० ए० की पदवियां पा लेते हैं और ढेर के ढेर पुस्तकें निगल जाते हैं, तथापि मानवता कहीं दूर शून्य के किसी कोने में ओझल सी रहती है। विजयी की भाँति उच्च उपाधियों को प्राप्त करके शिक्षागृहों से बाहर आने वाले संसार क्षेत्र में अकर्मण्य और हतप्रभ से रह जाते हैं। बरसाती घास की तरह डाक्टर, वकील, और मास्टर बढ़ रहे हैं, फिर भी रोग, झगड़े और अज्ञान वैसे ही अट्टहास करते हुए दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

आज भौतिकवादी विज्ञान का बोलबाला है। पहले खुटुरपुटुर बैलगाड़ियां चलती थीं। अब सड़कों पर सरपट मोटरें दौड़ती हैं। आकाश में हवाई जहाज उड़ते हैं। पानी में जलपोत भाग रहे हैं। पहले मिट्टी का दिया जलाया जाता था। अब बटन दबाते ही प्रकाश हँसने लगता है। नये-नये आविष्कारों के जरिये मनुष्य प्रकृति का स्वामी बनता जा रहा है। एक मनुष्य आज बम्बई में है. कल आप उसे योरुप में सैर करता पायेंगे। रेल, तार, रेडियो, टेलिविजन, हवाई जहाज ने मनुष्य को इतना निकट कर दिया है, मानो एक दूसरे की बगल में ही बैठे हों, परन्तु हमारी बगल में बैठे प्रत्येक के हाथ में छुरा है, तलवार है, जेब में रिवाल्वर है। सब एक दूसरे से भयभीत हैं। किसी को पता नहीं किस समय कौन वार कर बैठे? भौतिक दृष्टि से समीपस्थ होकर भी मनुष्य मनुष्य से दूर, अतिदूर हो गया है। वह काम, क्रोध, लोभ, मोह के सामने क्षण-क्षण अपने को निर्बल पा रहा है। इन मनोविकारों ने इसे पागल बना रक्खा है। मोटर पर चढ़ कर वह दूसरों को लूट रहा है। विमान से निहत्थों पर बम बरसा रहा है। मशीन द्वारा आग उगल रहा है। प्रकृति पर विजय पाकर संसार को भस्म कर रहा है।

हमारे पूर्वजों ने इन विचारों का खूब मंथन किया था। भौतिकवाद, अध्यात्मवाद, दोनों ही मार्ग उनके लिए परिचित थे। "द्वे विद्ये वेदितव्ये परा च अपरा" भौतिकवाद को अपरा विद्या, प्रेयमार्ग से संबोधन किया था। अध्यात्मवाद को परा विद्या, श्रेय मार्ग के नाम से पुकारा था। उन्होंने

जीवन की यात्रा वर्तमान युग से तो बहुत पूर्व शुरू की थी। जब वे दिगम्बर रूप में जंगलों में घूमते थे, तब हमारे प्रासाद केतन-पट चन्द्र को चूमते थे। परन्तु यह सब कुछ जानकर भी उन्होंने यह ही निष्कर्ष निकाला था कि "तरति शोकं आत्मवित्" आत्मज्ञानी मनुष्य ही शोकसागर से पार हो सकता है। प्रकृति का ज्ञान मन्त्रज्ञान है। अपना "ज्ञान" आत्मज्ञान है। आज हम "मन्त्रवित्" हो रहे हैं, "आत्मवित्" नहीं।

आत्मा के विकास की पांच कसौटियां हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। इन्हीं पांच तत्त्वों को जीवन में ढालने के पश्चात् मनुष्य मनुष्य बन सकता है। ये ही पाँच यम और पांच नियम वे आध्यात्मिक तत्त्व थे जिनका उपदेश भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को दिया था। जिहोबा ने मूसा को माउण्ट सेनार्य पर बुला पत्थर की दो पट्टियां दीं, जिन पर दस आज्ञायें लिखी हुई थीं। वे दस आज्ञायें यही यम-नियम थे। हजरत मसीह ने पर्वत पर खड़े होकर उपदेश दिया था, जिसे "सरमन आन दी माउण्ट" कहा जाता है। इसमें भी यम-नियमों की व्याख्या के अतिरिक्त कुछ नहीं। संसार के धर्म चाहे किन्हीं बातों में आपस में लड़ते हों, परन्तु आर्यसंस्कृति के सामने सबका मस्तक नत है।

सदियों पर्यन्त पराधीनता की शृंखला में जकड़े रहने के पश्चात् भारत अब स्वाधीन हुआ है। स्वातन्त्र्य उषा की सुनहली किरणें भारत के मानव को नव-जीवन एवं नवचेतना से आप्लावित कर रही हैं। इस नवीन युग में प्रवेश करने के उपरान्त हमें समाज का नव-निर्माण करना है। हमारे चारों ओर योजनाओं का तांता सा लग रहा है, परन्तु इन योजनाओं में मनुष्य को मनुष्य बनाने की योजना की झलक कहीं नहीं दिखाई देती। यह योजना हमारे पास यानि आर्य-संस्कृति के पास है। जब तक हमारी शिक्षाप्रणाली में सुधार नहीं होगा, हमारी कोई योजना सफल नहीं हो सकती। गुरु तथा शिष्य का पिता-पुत्र का सम्बन्ध हो ऐसी शिक्षाप्रणाली की आज आवश्यकता है और वह है गुरुकुल शिक्षाप्रणाली। "आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भ-मंतः" माता नौ मास तक बच्चे को गर्भ में धारण करती है। दिन-रात उसके निर्माण में लगी रहती है। विद्या पढ़ने के साथ आत्मा को जगा देने का महत्त्वपूर्ण कार्य वह करता है। कहने का तात्पर्य यही है कि आज के नव-निर्माण के युग में हमें गुरुकुल शिक्षाप्रणाली का पुनः आरम्भ करना चाहिये, जिससे एक दूसरे के रुधिर की प्यासी, बावली दुनियां प्रकृति की चकाचौंध में अपने को खो देने के स्थान में आत्मतत्त्व को समेटना सीखे। और मशीन बनने के स्थान में मनुष्य बन कर "तेन त्यक्तेन भुंजीथाः" के पाठ को स्मरण करे। आज का शिक्षित मानव और उसका ज्ञान-विज्ञान समाज एवं राष्ट्र को पवित्र करने वाला बने।

गुरुकुल शिक्षाप्रणाली

श्री नरदेव स्नातक, सदस्य लोकसभा

सम्प्रति देश की शिक्षापद्धति विदेशी शासन के समय की ही चल रही है। आशा तो यह की गई थी कि स्वतन्त्र होने पर कम से कम आने वाली पीढ़ी इस भयंकर बीमारी से बच जायगी। अंग्रेजी राज्य ने सदियों तक गुलाम बनाये रखने के लिए ही अपनी विचारधारा, रहन-सहन, खानपान, वेषभूशा और आचार-विचार को इस देश में पूरी तरह से फैलाया। इन विदेशियों ने हम को यह बताया कि तुम्हारे पूर्वज असभ्य और जंगली थे। वे कुछ भी नहीं जानते थे। यदि तुम्हें कुछ सीखना है तो पश्चिमी दुनिया को अपना गुरु मानों, वह तुम को ज्ञान-विज्ञान की, कला-कौशल की और आचार-विचार की दीक्षा से दीक्षित कर सकेगी। वैसे तो हम हजार वर्ष से भी अधिक समय से गुलाम बने रहे, परन्तु इन पौने दो-सौ वर्ष की अंग्रेजों की गुलामी ने हमारे अस्तित्व को ही पूरी तरह से समाप्त कर दिया है। जिधर भी दृष्टिपात करते हैं, उधर अंधेरा ही दिखाई पड़ता है। विदेशी शासन होने के कारण हमने अपनी शिक्षा, सभ्यता, कलाकौशल, उद्योग-धन्धे आदि सभी चीजें छोड़ कर विदेशियों की इन चीजों को स्वीकार कर लिया है। सब से अधिक खराबी शिक्षा ने की है। विदेशी शिक्षा से शिक्षित कोई भी युवक अपने पैरों पर खड़े होने में असमर्थ है। यहाँ रहता हुआ भी विदेशों के स्वप्न देखता है। अंग्रेज यही चाहते थे कि भारतवासी रंग-रूप में काले रहें, परन्तु विचारों में वे सच्चे अर्थों में अंग्रेज बन जायें। और इस योजना में अंग्रेज शतप्रतिशत सफल हुए। १२ वर्ष की आजादी के बाद भी हमारे हर कार्य में अंग्रेजियत टपकती है। मां-बाप की गाढ़ी कमाई का पैसा मानव से दानव बनाने में लग रहा है। आये दिन बच्चे स्कूल-कालेजों में हड़ताल करते रहते हैं। अनुशासनहीनता की तो पराकाष्ठा ही हो गई हैं। जीवन दूभर बनता जा रहा है। आज देश के बड़े से बड़े नेता गला फाड़ फाड़ कर चिल्ला रहे हैं कि मौजूदा शिक्षाप्रणाली निकम्मी है, खर्चीली है और अनुपयोगी है। शिक्षा-

शास्त्री तथा समाजसुधारक भी इस शिक्षापद्धति को पसन्द नहीं कर रहे हैं। उनका कहना है कि जितनी भी जल्दी वर्तमान शिक्षापद्धति का काला मुख हो सके उतना ही अच्छा है। भारत की प्राचीन शिक्षा, सभ्यता एवं विचारधारा का मन्थन करने वाले कुछ मनीषी विद्वानों को तत्कालीन शिक्षापद्धति में दासता की दुर्गन्ध आने लगी और उन्होंने देशवासियों को सावधान कर दिया कि यह मार्ग तुम्हारे लिये उपयुक्त नहीं है, तुम्हें अपने पुराने आदर्शों की ओर ही लौटना होगा। उन मनीषी विद्वानों में कदाचित् सर्वप्रथम स्वामी दयानन्द जी ही थे। उसी समय से देश में दो प्रकार की विचारधारा चलने लगी। एक अंग्रेजी शिक्षापद्धति में तथा दूसरी अपनी पुरानी सदियों से चली आने वाली शिक्षा-पद्धति में विश्वास करती थी। आर्यसमाज तथा उसके नेताओं ने पुरानी शिक्षा-पद्धति में विश्वास कर, स्वामी श्रद्धानन्द तथा स्वामी दर्शनानन्द ने गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की नींव डाली। यद्यपि आर्यसमाज के दूसरे वर्ग के नेताओं ने अंग्रेजी शिक्षापद्धति में विश्वास करते हुए डी० ए० वी० कालेज जैसी उन्नतिशील शिक्षणसंस्थाओं की स्थापना की, परन्तु साथ ही साथ गुरुकुल शिक्षाप्रणाली से भी उनका कोई विरोध नहीं था। आर्यसमाज प्रतिवर्ष करोड़ों रुपया शिक्षा पर व्यय कर रहा है, उस में से बहुत बड़ी राशि गुरुकुलों पर भी व्यय हो रही है। गुरुकुल शिक्षाप्रणाली पर चलने वाले बालक एवं बालिकाओं की शिक्षण संस्थायें देश में पर्याप्त है और वे समय के अनुसार कार्यरत हैं।

गुरुकुलों को चलते हुए काफी समय हो गया है और कुछ गुरुकुलों को, जैसे कांगड़ी, वृन्दावन, महाविद्यालय ज्वालापुर आधी शताब्दी से भी अधिक समय हो गया है। लोगों को गुरुकुलों से बहुत आशायें थी। वे समझते थे कि इन्हीं संस्थाओं से कपिल, कणाद एवं गौतम जैसे ऋषि-मुनि निकलेंगे जो संसार से धूम मचा देंगे। यद्यपि यह स्वप्न पूर्ण न हो सका, परन्तु अभी हम निराश नहीं हुये हैं। आज अपने ही लोग इस शिक्षाप्रणाली का विरोध कर रहे हैं और अपने बच्चों को उन्हीं स्कूल-कालेजों में पढ़ा रहे हैं जिनसे हमारी संस्कृति एवं सभ्यता विषाक्त हो रही है। वर्तमान समय में जनता तथा सरकार ने गुरुकुल जैसी संस्थाओं को कोई सहयोग एवं प्रोत्साहन नहीं दिया और इसी कारण हमारे स्वप्न अधूरे दिखाई दे रहे हैं। हमारा पुराना इतिहास इस बात का साक्षी है कि शिक्षा सम्बन्धी सारा व्यय सरकारी कोष से होता था और इसी कारण उस युग के मनीषी-विद्वान् संसार में अपना नाम अमर कर गये। यदि हमको भी पूरा सहयोग न सही, आधा-चौथाई ही सहयोग सरकार से प्राप्त हो जाय तो हम दावे के साथ कह सकते हैं कि पुनः पुराने आदर्श हम देश में स्थापित कर सकेंगे। गुरुकुल शिक्षाप्रणाली के प्रचलन से तत्कालीन शिक्षाक्षेत्र में एक बड़ी क्रान्ति उत्पन्न हुई जिससे लोगों का ध्यान पुस्तकी शिक्षा के साथ-साथ चरित्र-निर्माण की ओर गया। गुरुकुल शिक्षाप्रणाली की प्रमुख विशेषता यही है, आश्रमवास तथा चरित्र निर्माण। बिना आश्रमवास के चरित्र-निर्माण सम्भव नहीं। बालक अपने माँ-बाप की गोद को छोड़ कर आचार्य की गोद में आकर माँ की ममता तथा पिता के प्यार को पाता है। योग्य आचार्य चौबीसों घन्टे ब्रह्मचारी को अपनी देख-रेख में रखकर उदात्त एवं श्रेष्ठ गुणों को धारण कराता है। जब

ब्रह्मचारी विद्या-व्रत स्नातक होकर संसार में आता है तो मानो बूढ़ा आचार्य कायाकल्प करके नवयुवक के रूप में समाज एवं राष्ट्र की सेवा करने के लिये अवतीर्ण हो गया हो।

गुरुकुल शिक्षाप्रणाली में ब्रह्मचर्यव्रत तथा विद्या के साथ-साथ छात्र-छात्राओं के रहन-सहन, निवास, दिनचर्या, भोजन-वस्त्र आदि सभी कार्य सादगी एवं नियमपूर्वक होने के कारण उनमें सहिष्णुता आती है और वे पूर्ण आयु प्राप्त करने वाले होते हैं। शरीर की तरह उनके मन को भी शुद्ध, पवित्र बनाने का प्रयत्न किया जाता है। चरित्र को भ्रष्ट करने वाले साहित्य से उनको दूर रखा जाता है। सभा-सोसाइटी में किस प्रकार बैठना चाहिये तथा वार्तालाप करने का क्या ढंग है; सत्संगों में शुद्ध-पवित्र विचार रखना और समय पड़ने पर प्रकट करना आदि उपयोगी बातों से वे पूर्ण जानकारी रखते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वे सादा-जीवन, उच्च-विचार के प्रतीक होते हैं। गुरुकुल शिक्षाप्रणाली की यही विशेषता है और इसी बिशेषता के कारण वह आदर्श शिक्षाप्रणाली है। अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति तथा अपनी पुरानी शिक्षापद्धति इन दोनों के गुण-दोषों की आलोचना करते रहना श्रेयस्कर नहीं। एक अच्छी है और दूसरी बुरी है, इस पचड़े में पड़ना बुद्धिमान् लोगों का काम नहीं है। अपितु इन दोनों पद्धतियों में से दोषों को निकाल कर गुणों का एक स्थान पर संग्रह कर एक आदर्श पाठ-विधि जो राष्ट्रीय भावनाओं को पूर्ण करने वाली, चरित्रनिर्माण में सहायक होने वाली, श्रेष्ठ भावनाओं को उद्बोधन देने वाली और मानव को श्रेष्ठ जीवन की ओर ले जाने वाली हो, तैयार करने की परमावश्यकता है। आर्य-समाज के कर्णधारों तथा शिक्षा-शास्त्रियों ने बड़े सोच-विचार के बाद ही, प्रचलित पद्धतियों के गुण-दोष का विवेचन कर देश की प्राचीनतम शिक्षापद्धति का अनुसरण कर नवीन शिक्षापद्धति को जन्म दिया जो कि वर्तमान समय में गुरुकुलशिक्षापद्धति के नाम से प्रसिद्ध है।

वर्तमान शिक्षाप्रणाली की जहां और बहुत सी बुराइयां हैं, वहाँ सबसे बड़ी बुराई शिक्षित लोगों को बेकार कर देने की है। पढ़े-लिखे बेकार लोगों की इतनी बड़ी फौज तैयार हो गई है कि सरकार के सिरदर्द का एक प्रमुख कारण बन गयी है। प्रति वर्ष लाखों लोगों को भारतीय विश्व-विद्यालयों से निकल कर नौकरियों की तलाश में सरकारी दफ्तरों के दरवाजों को खटखटाते रहने पर भी नौकरी नहीं मिल रही है। केवल मात्र क्लर्क पैदा कर देने से ही शिक्षा का उद्देश्य पूर्ण नहीं हो पाता, अपितु इस से परे कुछ और भी है—और वह है भारतीय भावनाओं का उद्बोधन, मानव जीवन को सुन्दरतम भारतीय आदर्श की ओर ले जाना तथा राष्ट्रिय विचारों में ओत-प्रोत युवक पैदा करना। मां-बाप अपने बच्चों को पढ़ाने से पूर्व ही कुछ कमाने की सोच लेते हैं। वे चाहते हैं कि हमारा बच्चा पढ़ने से पूर्व कुछ कमाने वाला हो जाय। परन्तु प्रचलित पद्धति में सिवाय क्लर्की के और कोई सहारा नहीं और क्लर्की मिलती नहीं, अन्ततोगत्वा बेकारी अपना भयंकर मुंह फाड़ कर सामने खड़ी हो जाती है। अतः किताबी शिक्षा के साथ कुछ जीवनोपयोगी साधनों को भी जुटाना पड़ेगा। पढ़ाई के साथ-साथ छोटे-छोटे कुटीरोद्योग, हाथों की दस्तकारी, सिलाई, बुनाई, कढ़ाई, कृषिकार्य, नर्सिङ्ग तथा सैनिक प्रशिक्षण का होना सभी बच्चों को परमावश्यक है। प्रसन्नता

की बात है कि सरकार का ध्यान इस ओर गया है और कुछ कार्य हो भी रहा है। इस प्रकार करने पर बेकारी की समस्या हल हो जायगी। हर पढ़े-लिखे नवयुवक को क्लर्की की ओर दौड़ना नहीं पड़ेगा। वह अपने पैरों पर खड़ा होकर जीवनोपयोगी साधनों को जुटाकर स्वावलम्बी बन जायगा और देश के कर्णधारों को इस महामारी से छुटकारा मिल जायगा। आर्यसमाज के नेताओं ने गुरुकुल शिक्षाप्रणाली में भी स्वावलम्बी बनाने के साधन जुटाये हुए हैं। गुरुकुल से पढ़कर निकाला हुआ कोई भी स्नातक बेकार नहीं मिलेगा।

गुरुकुल शिक्षाप्रणाली के सम्बन्ध में हम जितना भी विचारेंगे उतनी ही उस में विशेषतायें अनुभव होंगी। इस पद्धति में समयानुसार थोड़ा सा हेरफेर करके अपने देश में ही नहीं अपितु संसार के प्रत्येक देश में गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली सफल सिद्ध होगी, ऐसी मेरी धारणा है। आज के इस युग में अपने देश के लिये यह शिक्षापद्धति अमृततुल्य है; इससे राष्ट्र को बल, उद्बोधन, प्रोत्साहन तथा साहस मिलेगा। देश के समझदार नागरिकों से मेरा नम्र निवेदन है कि गुरुकुल शिक्षाप्रणाली को सफल बनाने में तन, मन, धन से सहयोग करें। यदि ऐसा किया जायगा तो देश, जाति तथा धर्म की उन्नति में कोई संदेह नहीं रहेगा।

ओ३म् नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद् देवासो अमृतत्वमानशुः। ऋ० १०।६३।४

मनुष्य मात्र को सुशिक्षा देने वाले, आलस्य रहित उत्साही योग्य विद्वान् ही विराट् अमरता को प्राप्त करते हैं।

गायत्री महिमा

विद्याभास्कर पं॰ सत्यव्रत शर्मा गु॰ कु॰ म॰ ज्वालापुर

बृहदारण्यक उपनिषद् में गायत्री के सम्बन्ध में कुछ ऊहापोह किया गया है। उसकी महिमा का वर्णन ऋषि ने जिस श्रद्धा और भक्ति के साथ किया है इस पर विचार और मनन किया जाना चाहिए।

गायत्री २४ अक्षरों का एक वैदिक छन्द है। इसीसे इस मन्त्र का नाम गायत्री पड़ा, सविता देवता होने से सावित्री कहाया। उपनयन और वेदारम्भ संस्कार के समय आचार्य गुरु रूप से उपनीत शिष्य को इसी मन्त्र की दीक्षा से दीक्षित करता है, अतः इस का नाम गुरु-मन्त्र है। इसके तीन पाद (चरण) होते हैं। तीनों में आठ-आठ अक्षर हैं। उनका समन्वय किस प्रकार किया गया है यह मनन करने योग्य है—

१—भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ अर्थात् "दिवौ" इन तीनों पदों में आठ (८) अक्षर हैं। इसी प्रकार आठ अक्षर वाला गायत्री मन्त्र का प्रथम पाद या चरण है—"तत्सवितुर्वरेण्यम्"। इस पद में "वरेणियम्" ऐसा पाठ मानने से ८ अक्षर पूरे होते हैं। यह त्रिलोकी का सार है। जो उपासक इसके प्रथम पद को अच्छी प्रकार जानता है, वह तीनों लोकों में प्राप्तव्य पदार्थों को प्राप्त करके परम सुख का अनुभव करता है।

२—ऋचो यजूंषि सामानि, इस वेदत्रयी के आठ अक्षर हैं। आठ अक्षरों वाला गायत्री मन्त्र का द्वितीय पद है—"भर्गो देवस्य धीमहि"। इस पद में भी आठ अक्षर हैं। यह पद ही गायत्री का त्रयीज्ञान है। यही त्रयीविद्या का सार है। साधक इस पद को भलीभाँति जान लेने पर वेदत्रयी के सारभूत फल को जान जाता है।

३—प्राण, अपान, व्यान, (वि+आन) ये आठ अक्षर हैं। आठ अक्षरों वाला गायत्री का

तृतीय पद है—"धियो यो नः प्रचोदयात्" इस पद में भी आठ अक्षर हैं। यही इस गायत्री का सार है।

गायत्री ही आत्मिक सौर लोक का प्राण-जीवन सब में संचरित करती है।

जो उपासक इसके इस पद को यथार्थ रूप में जानता है वह जितना प्राणी समूह है उस सब को आत्मसात् कर लेता हैं। वे सब उसके मित्र बन जाते हैं। यही इसका तुरीय (चौथा) दर्शत और परो+रजा पद है जो आदित्य वर्ण-भगवान् प्रकाशमान हो रहा हैं। जो चौथा है वही तुरीय है। दर्शत पद का अर्थ दृश्यमान है। भगवान् भक्तों को दीखते हुये प्रतीत होते हैं। यही इसका परोरजा स्वरूप है। समस्त विकारमय जगत् रज है, कामनामय तथा वृत्तिमय है। परन्तु वह सविता इस रजोमय जगत् से सर्वथा ऊपर है, उत्कृष्ट है, सर्वदा निर्लेप है। जो उपासक इसके इस पद को इस प्रकार जानता है वही शोभा और यश से प्रकाशमान हो जाता है; अर्थात् गायत्री का उपासक प्रतापी यशस्वी और श्रीमान् बन जाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन से गायत्री चौथे दर्शत परोरजपद में प्रतिष्ठित है।

यही पद गायत्री के वाच्यार्थ का आधार है। इसी में गायत्री आश्रित है। वह पद उस सत्य स्वरूप परमात्मा में प्रतिष्ठित है। संसार में चक्षु ही सत्य है; चक्षु ही निश्चय से सत्य है। अतः यदि दो मनुष्य परस्पर कलह करते हुए हमारे सम्मुख आवें और कहें कि मैंने यह देखा और मैंने यह सुना, तो उनमें जो कहे मैंने देखा उसी पर श्रद्धा करते हैं, सुनने वाले पर नहीं। दृष्ट पदार्थ में निश्चय होता है। इसी प्रकार दर्शन पद-सत्य का धाम—भक्तों का ज्ञान से तथा आत्मा से देखा हुआ है। बल में ही सत्य रहता है। जीवनशक्ति ही बल है। इस कारण वह बल प्राण में प्रतिष्ठित है।

सार यह है कि गायत्री की प्रतिष्ठा सत्य में है, सत्य बल में प्रतिष्ठित है, प्राण ही बल है—आत्मजीवन ही बल है। अतः यह सुतरां सिद्ध है कि सत्य और बल दोनों का अधिष्ठान आत्मा है।

इसीलिए कहा जाता है कि बल सत्य से ओजस्वी है। इस प्रकार यह गायत्री अध्यात्म में प्रतिष्ठित है।

अब ऋषि गायत्री का शब्दतः विवेचन करते हैं। गायत्री शब्द में दो चीजें हैं—एक धातु और एक प्रत्यय। "गायन्तं त्रायते—इति गायत्री," गाने वाले की रक्षा करती है, अतः गायत्री कहाती है। "गै शब्दे" धातु से तृच् प्रत्यय होने पर गायत्री शब्द निष्पन्न होता है। गायत्री शब्द का दूसरा विवेचन—'गया' प्राणों की संज्ञा है, "प्राणो वै गयाः"। "गयाँस्तत्रे" गायत्री गयों को बचाती है। प्राण ही 'गया' हैं। वह प्राणों को, जीवनों को बचाती है। इसी कारण इसका नाम गायत्री है। इसी गायत्री को आचार्य अर्थात् गुरु उपनयन के समय शिष्य से कहता है—उसका उपदेश करता है। "अधीहि भो सावित्रीम्" सावित्री का अध्ययन करो। तब शिष्य कहता है—"भो अनुब्रूहि" श्रीमन्! उपदेश कीजिए। भक्त एवं श्रद्धावान् शिष्य की प्रार्थना पर आचार्य गायत्री मन्त्र की दीक्षा देता है। अतः यह मन्त्र गुरुमन्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

गुरु शिष्य को गायत्री का उपदेश करते हुए उसके प्राणों की रक्षा करता है। उसकी आत्म-शक्तियों की रक्षा करता है। गायत्री के जप और उसके अर्थानुष्ठान के साथ तदनुरूप आचरण करने से आत्मा की रक्षा होती है। उसमें बल का संचार होता है। यही गायत्री की बाह्य परीक्षा है। उपर्युक्त वर्णन के द्वारा ऋषि गायत्री के सम्बन्ध में सूक्ष्म विवेचन करते हुए, उसके फल की ओर संकेत करते हैं—

गायत्री मन्त्र के जाप करने वाले व्यक्ति को प्रतिग्रह (दान लेने) का दोष नहीं लगता। गायत्री का आराधक, उसका उपासक, पापों से मुक्त हो जाता है। उसकी प्रवृत्ति शुद्ध एवं पवित्र हो जाती है। पाप की वासना ही नष्ट हो जाती है। गायत्री के तीन पद या चरणों में विश्व का समस्त ज्ञान ओत-प्रोत है।

तीनों लोकों का प्रतिग्रहण-दान, इसके प्रथम पद की महिमा है। समस्त त्रयीविद्या का ज्ञान जो गुरु से प्राप्त किया जाता है, वह सारा ज्ञान गायत्री के द्वितीय पद की महिमा है। एवं संसार का यावज्जीवसमूह है उस सबको ग्रहण करने वाला इसके तृतीय पद को प्राप्त करता है। सारा प्राणि-समूह गायत्री के तृतीय पद की महिमा है।

गायत्री का चतुर्थ पद जो स्वयं अनुभवगम्य है, रजोरहित आदित्य पद है। जो सर्वत्र प्रकाश-मान भगवान् का ज्योतिर्मय स्वरूप है वह किसी भी धन, ज्ञान, सम्पत्ति से कम नहीं है। न वह पद इनसे प्राप्त होता है। उस परम पद की प्राप्ति भगवान् की कृपा से ही होती है। उसका कोई मूल्य नहीं है। गायत्री मन्त्र का उपस्थान किस प्रकार किया जाय इस सम्बन्ध में ऋषि का आदेश है—

हे गायत्री ! तू त्रिलोकी में आराध्य एकपदी है। वेद त्रयी का सार द्विपदी है। प्राणशालिनी त्रिपदी है। वाच्य रूप में चतुष्पदी है। इतना होने पर भी तू अपदी, अज्ञेय है, अगम्य है, क्योंकि बिना अन्तर्मुख हुए तेरा अगाध ज्ञानभण्डार प्राप्त करना असम्भव है। तेरे चतुर्थ दर्शन और परम निर्मल पद को बारम्बार श्रद्धा भक्ति से नमस्कार है। हे भगवति ! यह सांसारिक विघ्न या विघ्नकारक प्राणी मुझ को न प्राप्त हो। तेरा साधक जिस दुष्ट जन से द्वेष करे उस दुष्ट जन का वह मनोरथ समृद्धि को प्राप्त न हो। हे मातः ! तेरा उपासक जिस दुष्ट के निवारण के लिये ऐसा ध्यान करे उस विघ्नकारी का व्रत मनोरथ न समृद्ध हो। मैं इस मनोरथ को अवश्य प्राप्त करूँ। प्राचीन काल में यह पापनाशक गायत्री का संदेश वैदेह जनक ने आश्वत्तराश्वि बुडिल को दिया था। 'हे बुडिल ! आश्चर्य है कि तू गायत्री का ज्ञाता होकर भी हस्ती (हाथी) के समान पाप के भार को ढो रहा है।' बुडिल ने उत्तर दिया कि हे राजन् ! मैंने गायत्री का मुख नहीं जाना था। इस पर राजा जनक ने उत्तर दिया—'अग्नि ही गायत्री का मुख है, जिस प्रकार अग्नि यावत् काष्ठसमूह को भस्म-सात् कर देता है उसी प्रकार गायत्री का ज्ञाता भी अपने समस्त पापों को गायत्री जप के प्रभाव से भस्मसात् कर देता है और शुद्ध पवित्र, अजर-अमर हो जाता है।' यही गायत्री मन्त्र की उपासना का फल है।

गायत्री के उसी महत्त्व को ध्यान में रखकर छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है—

"गायत्री ह वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च। वाग्वै गायत्री वाग्वा इदं सर्वं भूतं गायति च त्रायते च।"

संसार में यह जो कुछ है निश्चय से सब गायत्री है। गायत्री ही सारे जगत् का सार है। वाणी ही गायत्री है, क्योंकि वाणी ही समस्त संसार का गान करती है और बचाती है। गायत्री मन्त्र ही सारे सारों का सार है, क्योंकि वह भगवान् को गाता है और उपासक को पाप करने से बचाता है।
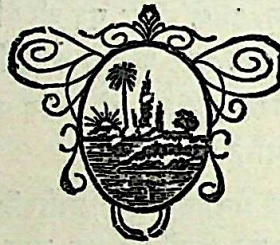
ओ३म् पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती।
यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥ ऋ० १।३।१०

पवित्र करने वाली, बुद्धि के साथ रहने वाली, अनेक बलों से बलवती
सरस्वती विद्यादेवी हमारे वाग्यज्ञ की कामना करे।

आर्यसाम्राज्य की रूपरेखा

श्री पंडित बिहारीलाल जी शास्त्री "व्याख्यान वाचस्पति"

आर्यसाम्राज्य कोई कल्पना का विषय नहीं, किन्तु अनुभूत प्रयोग है।

लाखों वर्ष तक भूमण्डल पर आर्य साम्राज्य का शासन रहा है। आर्य साम्राज्य का इतिहास एक स्वर्णयुग का इतिहास है। आर्यसाम्राज्य में जनता जितनी सुखी और सचरित्र रही इसका साक्ष्य हमारे लिखे ग्रंथ नहीं किन्तु विदेशियों के लेख हैं मेगास्थनीज यूनानी; फाह्यान, ह्यूनत्सांग, इत्सिंग चीनी तथा अनेक अरब सौदागरों के लेख, आर्यसाम्राज्य की कीर्ति की पताका आज भी फहरा रहे हैं।

आर्यसाम्राज्य वोटों से बनता था व राजा में सब शक्ति निहित थी। इस विषय का स्पष्ट प्रमाण इतिहास में तो मिलता नहीं। जो प्रमाण बौद्धकाल के श्री जायसवाल आदि ने चुनाव प्रणाली के होने के दिये हैं वे कुछ गणतन्त्रों के हैं। परन्तु प्रजातन्त्र का उद्देश्य उस समय पूर्ण रूप से पाला जाता था। प्रजा की सुख समृद्धि और भावना की रक्षा आर्यसम्राट् अपने व्यक्तिगत सुखों से अधिक करते थे। आर्य राजा का आदर्श ही रहता था।

संवर्द्धनं च साधूनां दुष्टानां निग्रहस्तथा।
राजधर्मं बुधाः प्राहुर्दंडनीतिविचक्षणाः॥

कविवर कालिदास ने दिलीप का वर्णन करते हुए लिखा है—

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद् भरणादपि। स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः।

पिता के समान आर्य राजा अपनी प्रजा का भरण-पोषण, रक्षण और आचरण निर्माण करते थे। वोट की शक्ति के बिना भी राजा के दरबार में एक धोबी तक की आलोचना पर ध्यान दिया जाता था; कुत्ते तक को न्याय मिलता था।

राजा जनतन्त्र का प्रधान होता था, यह तो राज्याभिषेक के वेद मन्त्रों से ही प्रमाणित है। "महते जानराज्याय" बड़े जनराज्य के लिए। इस यजु प्रतीक से ध्वनित होता है कि राज्य जनता का होता था। राजनैतिक गुट्ट तो उस समय थे नहीं। न साम्प्रदायिक और प्रान्तीय उलझनें थीं। सामाजिक दबाव ही राजा को ठीक रखता था। और समाज के बिना चुने प्रतिनिधि थे, तपस्वी, त्यागी ब्राह्मण एवं संन्यासी। "मुखं वै राष्ट्रस्य य एष ब्राह्मण:" ब्राह्मण राष्ट्र के मुखिया थे। अनियन्त्रित और अपरिमित अधिकार सम्पन्न राजा भी शास्त्रों के विरुद्ध नहीं जा सकता था। शास्त्र विरुद्ध जाने पर राजासन से ही नहीं, वेन के समान उसे प्राणों से भी हाथ धोने पड़ते थे। जहां शास्त्रों के आशय में उलझन होती थी वहां राज्यपरिषद् का काम अर्थों को सुलझाना था। परिषद् में धार्मिक विद्वान् वे होते थे, जो अपने आचरण के बल पर समाज में आहृत होने से राजसभा में आते थे। यदि इनमें भी मतभेद हुआ तो संन्यासियों की सम्मति सर्वप्रधान रहती थी।

राजा वोटों से निर्वाचित न होकर शास्त्रों के बताये आचरणों से निर्मित होता था। बचपन में उसे संस्कृत बनाया जाता था। यजुर्वेद के २०वें अध्याय में राजा के अंग-अंग का संशोधन शुभ गुणों से हो ऐसा वर्णन है।

शिरोमे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि ।५।

आदि मन्त्रों में राजा के अंग-अंग में उच्च गुण कर्म आधान करने का वर्णन है। गुट्टतंत्र में योग्यता की उपेक्षा ही रहती है।

गुट्टतंत्र मे देखिये, मानवता का मोल।
देखे गिनती वोट की, नहीं चरित्र की तोल॥

आजकल के प्रजातन्त्र में समाज अपने उच्च-नीच स्तर के अनुसार कानून बनाता है और उसे सुधार का नाम देता है। परन्तु आर्य राज्य में शास्त्रों के कठिन-कठिन आचारों की ओर प्रजा को बढ़ना होता था। राजा का काम था समाज को उच्च नियमों की ओर चलावे। इससे समाज का स्तर ऊँचा रहता था और समाज के संघटन में स्थायित्व बना रहता था। गीता में सिद्धान्त के रूप से भगवान् कृष्ण ने कहा है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानं च कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

शास्त्रतन्त्र राज्य ही आर्यों का लक्ष्य है।

राज्य का उद्देश्य—आर्य राज्य व्यर्थ के दिखावे के सुहावने कानून न बनाकर आचरणात्मक कार्य पर ध्यान देता था। प्रजा सुखी रहे, समृद्ध रहे, प्रजा में शुभ गुण बढ़ें, दुर्गुणों का दमन रहे, यही उद्देश्य मनुस्मृति, महाभारत, रामायण तथा नीतिग्रन्थों में राजा का निर्धारित किया है। जब तक लोकस्थिति सुन्दर बनी रहती थी प्रजा तब तक चुप रहती थी और जहां प्रजा के सुख में बाधा आई कि प्रजा के मुखियों ब्राह्मणों ने ब्रह्म दण्ड साधा।

"समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः"

खाने-पीने का सुख सबको समान रहे। स्वास्थ्यरक्षा के साधन सभी को सुलभ हों। बस इससे अधिक प्रजा को चाहिये ही क्या ?

कर—आर्य साम्राज्य में कर बहुत सुलभ और हल्के होते थे। प्रजा उत्साह पूर्वक जिन करों को दे सके ऐसे कर लगाये जाते थे। महाभारत में कहा है—

मृदुदोहं दुहेन्द्राष्ट्रम्।

कोमलता से कर ले। "कर" देना प्रजा को अखरे नहीं। और यह "कर" प्रजा की सुख समृद्धि में व्यय हो न कि राजा की विलासिता में। राजा प्रजा की दी हुई शक्तियों का केन्द्र है। राजा प्रजा के वैभव का प्रतीक है। इसीलिये राजा का ऐश्वर्य बढ़ाया जाता था।

समानता और न्याय—सब मनुष्य शास्त्रदृष्टि में समान हैं। सबके साथ एक सा न्याय हो, यह तो आर्यसाम्राज्य का भूषण रहा। विदेशियों के साथ भी न्याय-व्यवहार, समानता का प्रयोग हमारे इतिहास में भरा पड़ा है। अरब लोगों ने अनहिलबाड़े के राजा बल्लभराज के न्याय की बड़ी प्रशंसा की है।

महाभारत में भी न्याय करने और सबके साथ निष्पक्ष बरतने विदेशियों के साथ भी मानवता का व्यवहार करने की शिक्षा दी है।

युद्ध—महाभारत में युद्ध की नीति को अच्छा नहीं बताया है। जहां तक हो समझा-बुझाकर नीति से ही कार्य करने की शिक्षा दी गई है। परन्तु अवसर आ जाने पर ही, किसी भी प्रकार काम न देखकर ही, वीरता के साथ युद्ध करने का उपदेश दिया है।

विदेश नीति—शोषण के लिए विदेशों में अपना राज्य स्थापित करना आर्य नीति के विरुद्ध है। विदेशों को जीत कर भी उसी देश के लोगों को राज्य सौंप देना आर्य इतिहास में पाया जाता है, जैसे लंका जीतकर विभीषण को दे दी। उस पर कोई आर्थिक बोझ भी नहीं डाला गया। केवल सदाचरण पर चलाने के लिये ही विदेशों में आर्य लोगों ने पदार्पण किया, इसीलिये विदेशों में आर्य लोगों सम्राटों के आक्रमणों की घटनाओं से इतिहास शून्य है। आर्यसम्राट् की धर्माज्ञाओं का पालन प्रजा करती रहे, बस इतना ही लक्ष्य आर्यों के सार्वभौम राज्य का रहा है।

आर्य राजकुमारों ने बरनियों द्वीप, बालि. सुमात्रा, जावा द्वीप आदि में अपने राज्य स्थापित किये तो वहीं बस कर, वहीं की जनता में मिलकर वहां की जनता को सुसंस्कृत बनाया। मत-मतान्तर के पक्षपात रहित आर्य साम्राज्य केवल आचरण को प्रधान मानता है। वेद कहते हैं—

"जनं बिभ्रति बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथोकसम्"

नाना वाणी और धर्म विचार वालों को पृथिवी धारण करती है। हाँ कर्म एक दूसरे के विरोधी नहीं। नैतिक आचरण पर ही आर्य धर्म ने जोर दिया है। और नैतिक आचरण ही पालन कराने पर आर्यसाम्राज्य बल देगा। अनैतिकता पर उद्यत के लिए दण्ड होना आर्य-साम्राज्य की क्षमता होनी ही चाहिये।

इसलिए आर्यसाम्राज्य की मोटी-मोटी बातें इस प्रकार रहेंगी—

(क) कोई भूखा, नंगा और आश्रयहीन न होगा।

(ख) शक्ति और योग्यतानुसार सब को काम मिलेगा और करना पड़ेगा।

(ग) धन व्यक्तिगत तो होगा परन्तु विलासिता के लिये नहीं, उपकार करके यशोर्जन के लिये।

जैसा कि आचार्य बृहस्पति कहते हैं—

समाप्रपादेवगृहास्तटाकारामसंस्कृतिः तथानाथ दरिद्राणां संस्कारयोजनाक्रियाः पालनीयाः समर्थस्तु यो समर्थो विसंवदेत् सर्वस्वहरणं दण्डस्तस्य निष्कासनं पुरात्।

धनी यदि परोपकार में धन न लगाये तो सर्वस्व की जब्ती और देश से निर्वासन का दण्ड भोगना पड़ेगा। जबकि प्रारम्भ से शिक्षा ही उदार और उदात्त भावों की मिलेगी तो ऐसा धनी कोई रहेगा ही नहीं जो कि उक्त दण्ड भोगे।

(घ) शिक्षा द्वारा प्रजा को आचरणवान् और बुराई से घृणा करने वाली बनाया जायगा, जिससे कि दण्ड का प्रयोग ही न हो। आदर्श प्रजा का चित्र बाण कवि ने कितना सुन्दर खींचा है।

यस्मिश्च राजनि जितजगति पालयति महीं चित्रकर्मसु वर्णसंकराः, रतेषु चिन्ता, स्वप्नेषु विप्रलम्भाः, छत्रेषु कनकदण्डाः, ध्वजेषु प्रकम्पाः गीतेषु रागविलसितानि, करिषु मदविकाराः, चापेषु गुणच्छेदाः, गवाक्षेषु जालमार्गाः, शशिकृपाणकवचेषु कलंका, रतिकलहेषु दूतप्रेषणानि, सार्यक्षेषु शून्यगृहाः, न प्रजानामासन्।

अर्थात् प्रजा में न दुराचार था न किसी प्रकार के दण्ड, न कलंक, न झगड़े, न नशे, न छल। सब प्रकार प्रजा फूली फली थी।

आर्यसाहित्य में राज्य का गौरव प्रजा का सुखी होना ही प्रतिपादित किया गया है। एष एव परो धर्मो यद्राजा रक्षति प्रजाः भूतानां हि यदा धर्मो रक्षणं परमा दया ॥ किं तस्य तपसा राज्ञः किंच तस्याध्वरैरपि। सुपालितप्रजो यः स्यात् सर्वधर्मविदेव सः ॥ प्रजा का पालन ही सर्वोपरि राज्य धर्म है।

(ङ) विदेशों के शासन और धन से कोई प्रयोजन न होगा, केवल उनमें सदाचार का प्रचार किया जायगा और वहाँ की जनता सुखी रहे, शोषित न हो यह ध्यान रखना होगा।

(च) निरर्थक किसी जीव का वध न होगा और उपकारी गौ आदि पशुओं का वध बन्द कर दिया जायगा।

(छ) श्रेणीगतभेद, रंग, जन्म और मतमतान्तर तथा धन के कारण न होगा। किन्तु त्याग, तप, ज्ञान और जन-कल्याण के कारण पद-भेद रहेगा। गुण कर्म स्वभाव ही मनुष्यों में प्रतिष्ठा का आधार रहेंगे।

(ज) देशों की सीमायें मनुष्यों में भेद न कर सकेंगी। मानवमात्र मित्रभाव से रहेंगे।

(झ) प्राकृत सम्पत्ति पर सब को समानोपभोग का अधिकार होगा जिसका प्रबन्ध राजशक्ति करेगी।

(झ) शिक्षा आचरणात्मक होगी, गुरुकुल प्रणाली पर। केवल मौखिक शिक्षा का महत्त्व न होगा।

(ञ) त्याग, तप और ज्ञान को महत्त्व और मान देकर प्रोत्साहित किया जायगा, ताकि स्वार्थपरता मिटे, अर्थात् ब्राह्मी शक्ति की पूजा और प्रतिष्ठा स्थापित की जायगी। भौतिकता की नहीं।

विधान—आर्य साम्राज्य का विधान ऐसा होगा जो प्रजा के नैतिकस्तर को ऊँचा करे। प्रजा विधान के उच्चादर्शों की ओर बढ़ेगी न कि प्रजा की नैतिक निर्बलता की ओर विधान नीचे उतरेगा। ऐसा आर्य साम्राज्य तभी स्थापित हो सकता है जबकि प्रजा में आर्यभाव जागृत हों। अतः सार्वभौम जनता में शुभ भावनाओं का प्रसार करने की आवश्यकता है। "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" इस वेदाज्ञा को पूरा करने से ही भूतकालीन आर्यसाम्राज्य वर्तमान का रूप ले सकता है। इसी के लिये हमको यत्न करना चाहिये।

ओ३म् त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि॥
अ० ३।४।२

हे राजन्! राज्य के लिए प्रजायें तुझे ही स्वीकार करें। राष्ट्र के ऐश्वर्य-सम्पन्न स्थान पर तेरा आश्रय हो और फिर तू शूरवीर बन कर हम सब के लिये धन का संविभाग कर।

आर्यसमाज क्या है ?

श्री पं० रामकृष्ण जी, विद्यावाचस्पति

आज संसार में सनातन वैदिक धर्म, पारसी धर्म, बुद्ध धर्म, मुस्लिम धर्म ऐसे अनेक धर्म हैं। इन सबमें वैदिक धर्म सब प्रकार से अत्यन्त प्राचीन और जीवित धर्म है।

धर्मों की विभिन्नताएं—

कोई भी धर्म क्यों न हो, कुछ वर्षों के पश्चात् उस धर्म के मानने वालों की बुद्धि की मलीनता से उसमें मलीनता प्राप्त होती है। स्वार्थी मनुष्य अपने स्वार्थ सफल करने के लिये धर्म के नाम पर चाहे जैसा नग्न नृत्य करते हैं। धर्म की ज्योति के नीचे अंधेरा कालान्तर से अधिक घना होने लगता है और धर्म के पर्दे में चाहे जैसा अधर्म छिप जाता है। ऐसी अवस्था प्राप्त होने पर कोई भी महात्मा, लोगों को जागृत करके फिर मूलभूत शुद्ध धर्म में उन्हें लाता है।

धर्म की संस्थापना के लिये महात्माओं का जन्म—

इस प्रकार के महात्मा लोग अपने सनातन हिन्दू धर्म के संचालक बहुत हो गए हैं और उन्होंने समय-समय पर लोगों को भ्रामक प्रवृति से दूर करके शुद्ध वैदिक धर्म की ओर आकर्षित किया है। इस प्रकार के महात्माओं में जिनकी गणना की जाती है वह स्वामी दयानन्द सरस्वती आधुनिक काल में वैदिक धर्म के निर्देशक थे। पहिले के सनातन धर्म के आचार्यों की तरह उन्होंने कोई नया धर्म स्थापन न करके प्रचलित धर्म के (१) वैदिक और (२) आधुनिक ऐसे दो हिस्से करके उनमें वैदिक ही सत्य धर्म बताया और आधुनिक को भ्रम और धर्माभास बताया।

वैदिक धर्म की जागृति और आधुनिक धर्माभास की निवृत्ति करने के लिये जो सभा उन्होंने स्थापित की उसका नाम "वैदिक धर्म सभा" अथवा आर्यसमाज प्रसिद्ध किया।

आर्य और आर्यसमाज—

इससे यह प्राप्त होगा कि आर्यसमाज कोई नवीन धर्म या संस्था नहीं है। यह एक सभा है।

और उसका विशिष्ट उद्देश्य स्वयं वैदिक धर्म का पालन और दूसरों को उसका अनुयायी बनाना है। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि आर्य और आर्यसमाज इनमें क्या अन्तर है। आर्य, ये आर्य-समाजी होंगे ही ऐसा कोई नियम नहीं है। जिन की वेद पर श्रद्धा है और जो वैदिक धर्म का पालन करते हैं वे सब आर्य हैं; फिर आर्य-आर्यसमाज के सभासद् हों, अथवा न हों। परन्तु जो सनातन वैदिक धर्मानुयायी लोग अपने धर्म की जागृति के लिये इस संस्था के सभासद् होते हैं उन्हें आर्य-समाजी कह सकते हैं।

आर्य-समाज के उदय से पूर्व हिन्दू समाज की अवस्था—

आर्य-समाज स्थापना के पूर्व हिन्दू समाज एक आसन्न मरण वृद्ध मनुष्य के अस्तव्यस्त शरीर की तरह था। आसन्नमरण और वार्धक्यग्रस्त मनुष्य जैसे स्वरक्षण में अशक्त रहता है उसी प्रकार हिन्दू धर्म की उस समय अवस्था थी। कानों से सुनाई नहीं देता, आंखों से दीखता नहीं, हिलने की शक्ति नहीं, इन्द्रियां अपने-अपने काम करती नहीं, पैरों को काटने के लिये कुत्ते उद्यत हैं ऊपर गिद्ध फिरते हैं। शरीर का दिन प्रतिदिन शोषण ही हो रहा है, प्रतिक्षण अस्वस्थता बढ़ रही है। इसी प्रकार आसन्नमरण शरीर की कल्पना करें तो हिन्दू समाज की कल्पना ठीक ही होगी। इस प्रकार शोचनीय अवस्था सैकड़ों वर्षों तक क्यों थी और उनके परिवर्तन के क्या-क्या कारण हुए यह देखने के लिये आगे दी हुई हिन्दू समाज और आर्य-समाज की कुछ तुलनात्मक तालिका सूक्ष्म और शान्त विचार से निरीक्षण करने से बात वाचकों के ध्यान में आयेगी।

हिन्दू समाज	*आर्य समाज*
१. भिन्न-भिन्न मूर्ति-उपासना।	१. एक ईश्वर की उपासना।
२. ईश्वर अवतार लेता है।	२. ईश्वर अवतार नहीं लेता।
३. परमेश्वर और जीव अभिन्न हैं।	३. परमेश्वर और जीव अलग-अलग हैं।
४. संसार भ्रान्ति है।	४. संसार भ्रान्ति नहीं, सत्य है।
५. मतमतान्तरों की पुस्तकें।	५. वेद यही सत्य धर्म पुस्तक है।
६. नाना प्रकार के जाति भेद।	६. जाति-भेद नहीं।
७. जन्म से ऊँच-नीच का भेद।	७. गुण कर्म स्वभाव से ऊँच-नीच भेद है।
८. जाति-भेद से स्पर्शास्पर्श का विचार।	८. जातिभेद न होने से स्पर्शास्पर्श नहीं।
९. बाल विवाह।	९. तरुण विवाह।
१०. असंगत विवाह।	१०. संगत विवाह।
११. चार आश्रमों का अभाव।	११. चार आश्रमों की व्यवस्था।
१२. द्वैताद्वैत शैव गणमत्यादि मत।	१२. एक वैदिक मत।
१३. अनेक मत होने से मतभेद।	१३. एक वैदिक मत होने से ऐक्यभाव।
१४. धर्मश्रद्धा के लिये अन्धविश्वास।	१४. धर्मश्रद्धा के लिए तर्क का आश्रय।
१५. परदेश गमन का प्रतिबन्ध।	१५. परदेश गमन आज्ञा।

१६. वेद मन्त्र ब्राह्मणों के अतिरिक्त किसी के सुनने पर मन्त्र भ्रष्ट होने की सम्भावना।	१६. वेद मन्त्र पंच्यावत् मनुष्यों के श्रवण करने वाले श्रेष्ठ होंगे। ऐसा विश्वास।
१७. अन्य धर्मावलम्बियों को स्वधर्म में लाने का प्रतिबन्ध।	१७. अन्य धर्मावलम्बियों को अपने धर्म में प्रवेश का द्वार।
१८. मृत पितरों का श्राद्ध।	१८. मृत पितरों के उद्देश्य से श्राद्ध नहीं है, परन्तु जब तक मा-बाप जीवित हैं तब तक सेवा करना।
१९. भूत-प्रेत पर विश्वास।	१९. भूत-प्रेत पर अविश्वास।
२०. फल ज्योतिष पर विश्वास।	२०. ज्योतिषी के फल और ज्योतिषी पर अविश्वास।
२१. मुक्ति अनन्तकाल पर्यन्त।	२१. मुक्ति से पुनरावृत्ति।
२२. जीव के स्वरूपक के विषय में अनेक वाद।	२२. जीव अणु है।
२३. चतुर्मुख व मनुष्याकृति ब्रह्मा ने सृष्टि उत्पन्न की।	२३. ईश्वर ने स्वसामर्थ्य से सृष्टि उत्पन्न की।
२४. विद्याध्ययन अनार्ष प्रणाली।	२४. विद्याध्ययन आर्ष प्रणाली।
२५. अनेक प्रकार की संस्कृति।	२५. वैदिक संस्कृति।

इस प्रकार से इन दोनों समाजों के विचारों का स्वरूप है—

आज से ४००, ५०० वर्ष पूर्व मुस्लिम धर्मानुयायियों ने हिन्दु धर्म की दीवार तोड़ कर अपना उदर पोषण किया था, परन्तु हिन्दु धर्मियों ने एक भी मुहम्मदी को अपने धर्म में लाने की खटपट न की थी। ईसाईयों ने २००, ३०० वर्षों तक शान्त मार्ग से हिन्दुओं को स्वधर्मानुयायी बनाया तो भी एक भिस्ती को हिन्दू बनाने का श्रेय शंकराचार्य को न मिला। कुएं में गिरा हुआ ईसाईयों के हाथ का डबल रोटी का टुकड़ा सैकड़ों हिन्दुओं को बांटने का सामर्थ्य रखता था, परन्तु ब्राह्मणों के शुद्ध वैदिक मन्त्रों से अभिमन्त्रित उदक एक भी ख्रिस्ती को शुद्ध करने में समर्थ न हो सके।

इस प्रकार की विषम अवस्था को दूर करके स्वामी दयानन्द ने आज्ञा दी कि अपने धर्म के दरवाजे खोलो और बाहर के जन-समूह को अन्दर प्रवेश कराओ। इस प्रकार से पतित पावन के शुद्ध कार्य आर्यसमाज कर रहा है। आज तक अनेकों ईसाई और मुसलमानों को इसने दीक्षा दी है।

भारतवर्ष में सम्प्रति मुसलान और ख्रिस्ती वगैरा इतर धर्मानुयायी लोक मूलरूप से आर्य ही हैं। उनकी देह में आज तक ऋषियों का खून खेलता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है। फिर उन्हें उनके प्राचीन धर्म की दीक्षा में क्या हरकत है? यह प्रश्न स्वामी दयानन्द जी ने लोगों के मन में उत्पन्न करके उसका योग्य उत्तर भी उन्होंने ही दिया।

जाति निर्बन्ध और स्पर्शास्पर्श–

हिन्दु धर्म, जाति के बन्धन से और जाति निर्मित स्पर्शास्पर्शं के पाशों से ग्रसित था, इसलिये उसका संचार बन्द था। हाथ, पैरों का स्पर्श न करता था और पैर इतर शरीर की चिन्ता न करते थे। आंख और पेट की चिन्ता न थी और पेट इतर अवयवों की फिक्र नहीं करते थे। प्रत्येक जाति-इतर जाति का द्वेष करती थी।

जातिभेद के कारण परस्पर प्रेम नहीं था, स्पर्शास्पर्श के कारण सहकारिता नष्ट हो चुकी थी। एक जाति के लोग मतभेद से अपने को पृथक्-पृथक् समझते थे, तो इतर जाति से संघटन कैसे होता। इस प्रकार सम्बन्ध के टूट जाने से इतर जाति के मिशनरी लोग नीच लोगों पर अपना प्रेम दर्शाकर उनको स्वजाति में मिलाते थे।

इस प्रकार से अन्य धर्म के मिशनरियों का प्रेमभंजक कोई न था, जिसे स्वामी दयानन्द जी ने बताया। उन्होंने दर्शाया कि जन्म के श्रेष्ठपने पर खड़ा हुआ यह जातिभेद मिटाओ और श्रेष्ठ गुण कर्म की कसौटी पर वर्णभेद करो। स्पर्शास्पर्श मत मानो। यही उपदेश महाराष्ट्र के साधु-सन्तों ने किया।

बाल विवाह—

आर्यसमाज की स्थापना के पूर्व हिन्दू समाज में बाल विवाह की प्रथा चालू थी। बच्चों के छोटी सी अवस्था में ही विवाह हुआ करते थे। बाल विवाह से बाल विधवाओं की संख्या हिन्दु समाज में बहुत बढ़ गई थी। दुःख की बात है कि एक दो वर्ष की बाल-विधवाएँ भारत वर्ष में सैकड़ों की तादाद में थीं। एक लड़की बाल विधवा हुई कि फिर उसकी अवस्था समाज में शोचनीय हुआ करती थी। भ्रूणहत्याओं का ठिकाना न था। इस निन्दनीय प्रथा पर स्वामी दयानन्द ने रामबाण उपाय का अन्वेषण किया और आर्यसमाज के द्वारा उसे क्रियान्वित किया। बालविवाह और वृद्ध-तरुणी-विवाह बन्द करके उसके स्थान पर प्रौढ़ विवाह क्रियान्वित किया।

धार्मिक दासता—

आर्य समाज के उदय होने के पूर्व लोगों में धार्मिक दासता ओत-प्रोत थी। धर्म का ज्ञान कराने वाला गांव में एक दूसरा ब्राह्मण हुआ करता था। वह अपनी बुद्धि से सद् बुद्धि लोगों को दिया करता था। सबको धर्म का ज्ञान वा वाङ्गमय देखने का मौका न था। वह एक विशिष्ट वर्ग देखा करता था और दूसरे लोग सुना करते थे। उपाध्याय के मुख से सुनने पर ही धर्म की कल्पना हुआ करती थी। परन्तु मूल पुस्तक का आन्दोलन करना किसी को सूझता न था। अर्थात् धार्मिक ज्ञान की कुञ्जियां विशिष्ट वर्ग के पास थीं इसलिये जो वे कहते सो धर्म और जो वे दिखाते वह पूर्व दिशा के रूप में मानते थे। इस प्रकार की धार्मिक दासता ठीक नहीं, ऐसी प्रभु इच्छा हुई और उसने स्वामी दयानन्द को प्रेरणा की, जिन्होंने समस्त शृंखलाएँ तोड़ गिराईं। इसी कारण से आज सब लोग मूलग्रन्थान्वेषी हुये हैं। सब को वेदाधिकार देने से उसकी दासता

नष्ट हो गई है। स्वामी जी ने गुलाम गिरी का बीज उखाड़ फककर, जो ज्ञानवान् होगा वही ब्राह्मण होगा, ऐसा उपदेश किया।

विविध मूर्ति की उपासना और हजारों ग्रन्थ—

आर्यसमाज की स्थाना के पूव नाना विभूतियों की उपासना बड़े जोरों से थी।

अनेक प्रकार के लोगों का अनेक प्रकार से एक शिविर बना हुआ था। शैव वैष्णवों की लातें खाते थे और शाक्त गाणपत्यों से द्वेष रखते थे। लिंगायत और ब्राह्मणों का खड़े-खड़े झगड़ा हुआ करता था। ईश्वर और वेद पर लोगों का दुर्लक्ष्य था। लोग आध्यात्मिक उन्नति से वंचित थे। द्वेष भावना का मूल उखाड़ कर और विभिन्न मूर्तिपूजा तथा अनेकों पुस्तकों को दूर करके स्वामी दयानन्द ने एक ईश्वर और वेद की वाणी का समर्थन किया और इस प्रकार लोगों का ध्यान आकर्षित किया।

अद्वैत—

आर्यसमाज उत्पन्न होने के पूर्व लोग संसार को भ्रान्ति समझते थे और प्रत्येक प्राणी ईश्वर है ऐसा मानते थे, परन्तु स्वामी जी ने संसार है और प्रत्येक को उन्नति के लिये प्रयत्न करना चाहिए, ऐसा प्रचार किया। इसी प्रकार से फलित ज्योतिष और भूत, प्रेत से लोगों को स्वामी जी ने बचाया। इन सारी बातों से हमारे देशकी उन्नति हुई अथवा अवनति, इसका भार मैं पाठकों पर छोड़ता हूं। अतः दुनियां में वैदिक संस्कृति और वैदिक धर्म ही ऐक्य का प्रसारक और मानवता का दाता तथा उन्नति का कर्ता हो सकता है और इसका साधन आर्यसमाज है।

———

ओ३म् ऋषीणां प्रस्तरोऽसि नमोस्तु दैवाय प्रस्तराय। अ० १६।२।६

तू ऋषियों के दिव्यज्ञान का प्रचारक है, तुझ दिव्यज्ञान के प्रचारक के लिए नमस्कार हो।

आर्ष ग्रन्थों के प्रति महर्षि दयानन्द की श्रद्धा

श्री भगवान्देव, आचार्य गुरुकुल झज्जर, रोहतक

वेद के प्रति और वेदज्ञ ऋषि-महर्षियों के बनाये आर्षग्रन्थों के प्रति महर्षि दयानन्द जी की कितनी अगाध श्रद्धा थी, इसका ज्ञान उनके जीवनचरित और उनके बनाये सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि ग्रन्थों के अध्ययन से होता है।

आर्ष ग्रन्थों के प्रति महर्षि दयानन्द की यह श्रद्धा प्रातःस्मरणीय व्याकरणसूर्य प्रज्ञाचक्षु गुरुवर विरजानन्द जी महाराज की कृपा से उत्पन्न हुई थी। उन्हीं सद्गुरुवर की कृपा से महर्षि दयानन्द ने अपनी ज्ञानपिपासा शान्त की और जो ज्ञान तीस-बत्तीस वर्ष तक भटकते रहने पर भी नहीं मिला था, वह लगभग तीन वर्ष में दण्डी जी की कृपा से हृदयङ्गम कर लिया।

"मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्" (ऋ० १०।५३।६)

इस वेद के आदेशानुसार मुनिवर विरजानन्द जी ने एक दैव्य-जन अर्थात् दिव्यपुरुष=महर्षि तैयार किया। पाठकवृन्द ! आप जानते हैं, गुरु विरजानन्द जी ने महर्षि दयानन्द सरस्वती सदृश युग-पुरुष का निर्माण कर संसार का कितना कल्याण किया है। यदि महर्षि दयानन्द न होते तो वेद और वैदिक धर्म का पुनरुद्धार भी न होता।

जिस समय महर्षि दयानन्द जी महाराज कार्य-क्षेत्र में आये, उस समय ऋषियों की भूमि भारत की इतनी दुर्दशा हो चुकी थी कि आर्यजाति मरणासन्न थी। अज्ञान का इतना भयंकर रूप दृष्टि-गोचर हो रहा था कि भारतवासी अपने सिंहस्वरूप को सर्वथा भूल गये थे और समझ बैठे थे कि हम सदा से ही विदेशियों के दास रहे हैं। छोटे-छोटे सहस्रों मतमतान्तर और सम्प्रदायों में विभक्त होकर भारतवासी अपनी संघशक्ति को नष्ट कर चुके थे। वेदादि सत्यशास्त्रों का पठन-पाठन बन्द हो गया था। सर्वत्र भोग-वाद का ही बोल-बाला था।

अनार्ष शिक्षा का दुष्परिणाम—

यह सब अनार्ष शिक्षा का ही दुष्परिणाम था, क्योंकि अनार्ष-शिक्षा ने मानव-जीवन की प्रगति को उल्टा करने का प्रयत्न किया है। जिस मनुष्य ने अमृत (मोक्ष) की प्राप्ति के लिये जन्म लिया था उसको अनार्ष शिक्षा ने दो कोड़ी का क्रीत-किंकर बना दिया। "सा विद्या, या विमुक्तये" के लक्ष्य को भुलाकर 'सैव विद्या, या भुक्तये" ही लक्ष्य बना दिया। इस अनार्ष शिक्षा के ही कारण आज का शिक्षित कहा जाने वाला समाज; प्रायः अपने वास्तविक उद्देश्य को भूल कर केवल धन कमाने और भोगविलास की सामग्री जुटाने में लगा हुआ है।

पहले जहाँ संयम, तप, त्याग, अपरिग्रह एवं ब्राह्मणवृत्ति प्रधान पद पर आसीन थी, वहाँ आज अनार्षशिक्षा के कारण भोग, विलास, परिग्रह और वैश्यवृत्ति विराजमान है।

अनार्ष शिक्षा के प्रभाव से समाज का मस्तिष्क एकदम अर्थ का दास बन गया है—

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः।
यस्यार्थाः स नरो मान्यो यस्यार्थाः स च पण्डितः॥

जिस के पास धन है लोग उससे बड़ी दोस्ती गाँठते हैं, उस से अनेक प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करते हैं और उसी को लोग माननीय एवं पण्डित समझते हैं।

देश के प्रति, धर्म के प्रति, समाज के प्रति अथवा राष्ट्र के प्रति भी हमारा कोई कर्त्तव्य है, यह विचारधारा आज के नवयुवकों के मस्तिष्क से बाहर की वस्तु बन गई है। अहर्निश यदि कोई विचार मस्तिष्क में है तो केवल धनोपार्जन वा नौकरी का चिन्तन। जैसे-जैसे बड़े होते जाते हैं— "तृष्णैका तरुणायते" तृष्णा वट की भान्ति बढ़ी चली जाती है और एक दिन आता है, खाली हाथ संसार से विदा हो जाते हैं। 'दुविधा में दोनों गये माया मिली न राम।'

महाराजा भर्तृहरि की यह चेतावनी सदा स्मरण रखनी चाहिये—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः,
तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव याताः,
तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥

भोग भोगने से कभी भोगेच्छा समाप्त नहीं होती और तृष्णा कभी शान्त नहीं होती। इसका एक ही मार्ग है—संयम।

महर्षि दयानन्द ने सर्वप्रथम शिक्षा में क्रान्ति की, क्योंकि हमारी शिक्षाप्रणाली दूषित हो चुकी थी। उस दूषित अनार्ष पद्धति को हटा कर, पुनः प्राचीन आर्षपाठविधि से पठन-पाठन का मार्ग ऋषि ने हमें बतलाया कि कौन-कौन से ग्रन्थ किस क्रम से पढ़ने-पढ़ाने योग्य हैं और कौन-कौन से त्याज्य हैं।

स्वामी श्रद्धानन्द जी और स्वामी दर्शनानन्द जी आदि महात्माओं की कृपा से गुरुकुलों की स्थापना हुई। किन्तु आर्यसमाज ने भी शिक्षणपद्धति के विषय में महर्षि दयानन्द के सिद्धान्त की घोर उपेक्षा की है। जितनी उपेक्षा की है उतनी हानि भी उठा रहे हैं। ऋषि दयानन्द-प्रदर्शित शिक्षण-पद्धति को अपनाकर भारतीय संस्कृति और सभ्यता की रक्षा करने और वास्तव में विद्वान् बनाने का अब भी समय है। यदि हम कल्याण चाहते हैं तो हमें, आज नहीं तो कल ऋषिप्रदर्शित आर्ष-पाठविधि अपनानी ही होगी, अन्यथा उत्थान सम्भव नहीं।

आर्ष पाठविधि की विशेषता—

१—अल्प परिश्रम, अधिक ज्ञान।
२—एक काल में एक विषय का अध्ययन।
३—एक विशेष पाठ्यक्रम।
४—शब्दाडम्बर से मुक्ति।
५—आदर्श साम्यवाद।
६—अनिवार्य शिक्षा।
७—गुरु शिष्य परम्परा।
८—देशभक्ति और आस्तिकता।
९—पहिले धर्म पीछे धन।
१०—ब्रह्मचर्य और सदाचार।

उक्त १० विशेषताओं पर क्रमशः संक्षिप्त विचार प्रकट करता हूं—

१. अल्प परिश्रम अधिक ज्ञान—

आर्ष पाठ विधि की सर्वप्रथम विशेषता यह है कि विद्यार्थी स्वल्प काल में और थोड़े परिश्रम से अधिक ज्ञानोपार्जन कर लेता है। वास्तव में यह विद्याप्राप्ति का सीधा और सरलतम मार्ग है, जो कि हमारे पूर्वजों के गम्भीर परिश्रम और तप के द्वारा हमें मिला है। विदितवेदितव्य साक्षात्कृत-धर्मा ऋषियों ने शिक्षा के प्रत्येक अंग पर गूढ चिन्तन करके वास्तविक तथ्य हमारे सम्मुख रखा है। सीधा-सुन्दर राजमार्ग बना हुआ है, जो इस पर चलेगा शीघ्र लक्ष्य प्राप्ति कर सकेगा और जो इधर-उधर पगडंडियों में घूमता रहेगा वह व्यर्थ अपना समय नष्ट करेगा।

अनार्ष पाठविधि से पढ़ने वाला छात्र संस्कृत व्याकरण ज्ञान के लिये दस-बारह वर्ष तक निरन्तर घोर श्रम करने के उपरान्त भी संस्कृत-व्याकरण का मर्मज्ञ नहीं बन पाता। लघुकौमुदी, मध्यकौमुदी और व्याकरण सिद्धान्तकौमुदी की पंक्तियां रटते-रटते विद्यार्थी का गला सूख जाता है, किन्तु तेली के बैल की भांति घूम-फिरकर रहता है वहीं का वहीं।

इसके विपरीत आर्ष पाठविधि के अनुसार पढ़ने वाला विद्यार्थी तीन-चार वर्ष में पूर्ण वैयाकरण बन सकता है। महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में लिखा है कि—

"........बुद्धिमान्, पुरुषार्थी, निष्कपटी, विद्यावृद्धि के चाहने वाले नित्य पढ़ें पढ़ावें तो डेढ़ वर्ष में अष्टाध्यायी (प्रथमा और द्वितीयावृत्ति) और डेढ़ वर्ष में महाभाष्य पढ़ के तीन वर्ष में पूर्ण वैयाकरण होकर, वैदिक और लौकिक शब्दों का व्याकरण से बोध कर पुनः अन्य शास्त्रों को शीघ्र सहज में पढ़-पढ़ा सकते हैं। किन्तु जैसा बड़ा परिश्रम व्याकरण में होता है वैसा श्रम अन्य शास्त्रों में करना नहीं पड़ता। और जितना बोध इनके पढ़ने से तीन वर्षों में होता है उतना बोध कुग्रन्थ अर्थात् सारस्वत, चन्द्रिका, कौमुदी मनोरमादि के पढ़ने से पचास वर्षों में भी नहीं हो सकता।"

"ऐसा प्रयत्न पढ़ने पढ़ाने वाले करें कि जिससे बीस वा इक्कीस वर्ष के भीतर समग्र विद्या, उत्तम शिक्षा प्राप्त होके मनुष्य लोग कृतकृत्य होकर सदा आनन्द में रहें। जितनी विद्या इस रीति से बीस वा इक्कीस वर्ष में हो सकती है उतनी अन्य प्रकार से शत वर्ष में भी नहीं हो सकती।"

"क्योंकि जो महाशय महर्षि लोगों ने सहजता से महान् विषय अपने ग्रन्थों में प्रकाशित किया है वैसा इन क्षुद्राशय मनुष्यों के कल्पित ग्रन्थों में क्योंकर हो सकता है।"

"ऋषि प्रणीत ग्रन्थों को इसलिये पढ़ना चाहिये कि वे बड़े विद्वान् सब शास्त्रवित् और धर्मात्मा थे और अनृषि अर्थात् जो अल्पशास्त्र पढ़े हैं और जिनका आत्मा पक्षपात सहित है उनके बनाये हुए ग्रन्थ भी वैसे ही हैं।"

पं० श्याम जी कृष्ण वर्मा महर्षि दयानन्द के प्रमुख शिष्य थे। इन्होंने पाणिनीय संस्कृत व्याकरण का अध्ययन किया था। सम्पूर्ण अष्टाध्यायी इनको कण्ठस्थ थी। यूरोप में इनकी विद्वत्ता की कितनी धाक थी यह निम्नलिखित सन्दर्भ से भली-भांति ज्ञात हो जाता है।

२. एक काल में एक विषय का अध्ययन—

"I can certify that Pandit Shyamji is conversant with the best known works of Sanskrit literature and that he is profoundly acquainted with the best native grammars and that he knows the great grammar of Panini by heart........Assuredly no English or European teacher could possibly be his equal in expounding the grammar of the Indian language according to the principles of native grammarians. I may add that I know no other Pandit who combines a considerable knowledge of Greek and Latin with great Sanskrit attainments.

Shyamji Krishna Varma by Harbilas sarda. Page 52

प्रो० मोनीयर विलियम लिखते हैं कि—"मैं प्रमाणित कर सकता हूं कि पण्डित श्याम जी संस्कृत साहित्य के ज्ञान में निपुण हैं और इन्होंने गम्भीरता से सबसे अच्छे स्वदेशीय व्याकरण का ज्ञान किया है। इन्होंने बहुत बड़े पाणिनि के व्याकरण को हृदयंगम कर रखा है।......मैं दृढ़ निश्चय से कहता हूं कि कोई भी अंग्रेज वा यूरोपियन अध्यापक इनके समान भारतीय भाषा के व्याकरण की, व्याकरण के मूलसिद्धान्तों और नियमों के अनुसार व्याख्या करने में समर्थ नहीं है।

मैं यह भी कह सकता हूं कि मैं किसी भी ऐसे दूसरे पंडित को नहीं जानता जो एक विशाल संस्कृत भाषा के गहन ज्ञान के साथ ग्रीक और लेटिन भाषा की मान्य और उच्च योग्यता रखता हो।"

आर्ष पाठविधि की यह दूसरी मौलिक विशेषता है। एक समय में विशेषतया एक ही विषय का मर्म समझाया जाता है। आज की अनार्ष शिक्षापद्धति की भांति एक साथ अनेक विषयों को लादकर विद्यार्थी के मस्तिष्क में खिचड़ी नहीं पकाई जाती।

जब विद्यार्थी एक विषय को हृदयङ्गम कर लेता है तब दूसरा और फिर तीसरा विषय उपस्थित करके तत्-तत् विषय का पूर्ण पंडित बनाना ही इस पाठविधि की अपनी विशेषता है।

इसके विपरीत आज के स्कूल आदि की अनार्ष पद्धति के द्वारा विद्यार्थी दस वर्ष में मैट्रिक पास करता है। आज के मैट्रिक पास छात्र की योग्यता से सभी परिचित हैं। न उसे भली-भांति हिन्दी आती है और न अंग्रेजी का ही ठीक-ठीक बोध होता है। यही दशा भूगोल, इतिहास, गणित आदि विषयों में होती है। अनेक विषयों के एक साथ अध्ययन से आज के विद्यार्थी को कुछ भी नहीं आता। उसकी स्थिति "धोबी का कुत्ता घर का न घाट का" वाली हो रही है।

यह केवल विद्यार्थी और अध्यापकों का ही दोष नहीं, अपितु शिक्षण पद्धति का सबसे अधिक दोष है।

३. एक विशेष पाठ्यक्रम—

शिक्षा=अ, इ, की पढ़ाई से लेकर सम्पूर्ण वेदादि के पठन-पाठन का एक विशेष क्रम है। आर्ष पाठविधि की शिक्षणपद्धति एक सूत्र में मणियों की भांति पिरोकर माला बनाई गई है।

शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त आदि वेदाङ्ग, उपांग, वेद, उपवेद आदि को ऐसे ढंग से पढ़ने-पढ़ाने का विधान किया है कि एक के पश्चात् दूसरा विषय समझने में विलम्ब न हो। अनार्ष शिक्षणपद्धति की भांति साथ-साथ पारिभाषिक शब्दावलि विशेष घोटने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

उदाहरणार्थ—सर्वप्रथम वर्णोच्चारण शिक्षा एक मास के भीतर पढ़ा दी जाती है, जिससे विद्यार्थी प्रत्येक अक्षर के उच्चारण-स्थान आदि को भली-भांति जान लेता है और भविष्य में उच्चारण की अशुद्धियों से सर्वथा दूर रहता है। शिक्षा के पश्चात् संस्कृत व्याकरण तीन चार वर्ष में पढ़ा दिया जाता है, जिससे प्रत्येक शब्द का वास्तविक अर्थ समझने में कोई किसी भी प्रकार की कठिनता उपस्थित नहीं होती और न ही शब्दार्थ के लिये कोष आदि घोटने की आवश्यकता होती है। अर्थ के आधार पर नवीन शब्दरचना भी छात्र अपने बुद्धिकौशल से कर सकता है।

इस प्रकार विद्यार्थी का पर्याप्त अमूल्य समय बच जाता है। छात्र न्यूनतम समय और परिश्रम द्वारा अधिकतम विद्या का अध्ययन कर लेता है।

४. शब्दाडम्बर से मुक्ति—

ऋषियों ने भाषा का जगडवाल नहीं बनाया। गूढ से गूढ विषय को भी सरलतम भाषा द्वारा समझाकर विषय को अध्येता के हृदयङ्गम कर देना यह आर्ष पाठविधि की चतुर्थ विशेषता है।

नव्य नैय्यायिकों की भांति एक-एक शब्द को समझाने के लिए दस पंक्ति के अनुच्छेद लिख कर विषय को और भी क्लिष्टतर बनाकर पांडित्य प्रकट करना ऋषियों का ध्येय नहीं था। अपितु छोटे-छोटे सूत्रों में सरल एवं सुबोध शब्दों द्वारा असीम ज्ञानभंडार को सीमित कर गागर में सागर भर दिया है। इसीलिये महर्षि दयानन्द ने लिखा है—

"महर्षि लोगों का आशय जहाँ तक हो सके वहाँ तक सुगम, और जिसके ग्रहण में समय थोड़ा लगे इस प्रकार का होता है। और क्षुद्राशय लोगों की मनसा ऐसी होती है कि जहाँ तक बने वहाँ तक कठिन रचना करनी, जिसको बड़े परिश्रम से पढ़ के अल्प लाभ उठा सके, जैसे पहाड़ का खोदना कौड़ी का लाभ होना। और आर्ष ग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है कि जैसा एक गोता लगाना बहुमूल्य मोतियों का पाना।" (सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास)

महाकवि हर्ष ने तो इस दोष को स्वयं स्पष्ट स्वीकार किया है—"ग्रन्थग्रंन्थिरिह क्वचित् क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया" (नैषधमहाकाव्य २२।३) अर्थात् मैंने अपने काव्य में कहीं-कहीं ऐसी शब्द ग्रन्थियाँ लगा दी हैं जिनको साधारण व्यक्ति समझ न सके।

५. आदर्श-साम्यवाद—

सब विद्यार्थियों के साथ समान व्यवहार और समान खान-पान आदि देना तथा प्रत्येक को तपस्वी बनाना आर्ष पाठविधि की पाँचवीं विशेषता है।

शैशव में तो बच्चा समता और विषमता के व्यवहार का विशेष ज्ञान नहीं रखता। बालक ८ वर्ष का होने पर जब कुछ विवेकशील होने लगता है तब उसे एकान्त स्थान गुरुकुल में भेज दिया जाता था, जहाँ निर्धन-धनी के, और नीच उच्च के भेदभाव से सर्वथा पृथक्-पृथक् रहकर एक आचार्य के शिष्य एवं पुत्र होकर भाई-भाई की भांति पढ़ते थे। इससे अधिक शुद्ध और साम्यवाद का आदर्श संसार के किसी कोने में नहीं मिल सकता। ऐसे ही गुरु के कुल में महाराज श्रीकृष्ण और सुदामा ने शिक्षा ग्रहण की थी।

महर्षि दयानन्द जी लिखते हैं—"पाठशालाओं से एक योजन अर्थात् चार कोस दूर ग्राम वा नगर रहें। सबको तुल्य वस्त्र, खान-पान, आसन दिये जायें। चाहे वह राजकुमार वा राजकुमारी हो, चाहे दरिद्र के सन्तान हों, सब को तपस्वी होना चाहिये।" (सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास)

आर्ष शिक्षणपद्धति में गुण कर्मों के आधार पर ब्राह्मणादि वर्ण माने गये हैं और यदि किसी की सन्तान अपने वर्ण-निहित कर्म न करे तो माता-पिता को चाहिये कि वे अपनी सन्तान का परिवर्तन गुण, कर्म के आधार पर कर लें। सन्तति व्यक्ति की नहीं अपितु राष्ट्र की सम्पत्ति है।

६. अनिवार्य शिक्षा—

"..........राजनियम और जातिनियम होना चाहिये कि पांचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़के और लड़कियों को घर में न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवें, जो न भेजे वह दंडनीय हो।" (सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास)

मध्यकाल में धर्म के ठेकेदारों ने वेदादि शास्त्रों के पढ़ने पढ़ाने के अधिकार को केवल द्विजों तक ही सीमित कर दिया और स्त्री जाति तथा द्विजेतर पुरुषों की उन्नति और विकास को रोककर घोर अन्याय ही नहीं अपितु वेदाध्ययन के अधिकार को अत्यन्त सीमित कर महापाप किया है और संकुचित हृदय और मस्तिष्क का परिचय दिया है।

आर्ष पाठविधि में पढ़ने-पढ़ाने का प्रत्येक स्त्री-पुरुष का समान अधिकार है। प्रत्येक अपनी उन्नति जितनी चाहे कर सकता है। किसी के विकास को रोक कर बुद्धि को कुण्ठित नहीं किया जाता। समाज के प्रत्येक व्यक्ति के सर्वाङ्गीण विकास के लिये खुला अवसर दिया गया है।

अनिवार्य शिक्षा के साथ-साथ न्यूनतम शिक्षा का उल्लेख भी महर्षि दयानन्द ने किया है—
"जैसे पुरुषों को व्याकरण, धर्म और अपने व्यवहार की विद्या न्यून से न्यून अवश्य पढ़नी चाहिये, वैसे स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्पविद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिये"
(सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास)

७. गुरु-शिष्य परम्परा—

आर्ष शिक्षापद्धति में गुरु तथा शिष्य का वैसा ही सम्बन्ध रहता है जैसा कि गर्भस्थ बालक का माता के साथ। जैसे माता के गर्भ में बालक का पालन-पोषण होता है, वैसे ही आचार्यकुल में ब्रह्मचारी का निर्माण होता है। उपनयन से समावर्तन तक ब्रह्मचारी आचार्यकुल में रहता है। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्यसूक्त में गुरु शिष्य का सम्बन्ध इस प्रकार से बतलाया है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥
(अथर्वकाण्ड ११ सू० ५)

आचार्य ब्रह्मचारी का उयनयन संस्कार करके उसे गर्भ अर्थात् गुरुकुल में प्रविष्ट करता है। बालक को तब तक उदर (गुरुकुल) में ही रखता है, जब तक उसकी तीन अज्ञानरूपी रात्रियाँ समाप्त नहीं हो जातीं। तीन रात्रियों से शारीरिक, मानसिक और आत्मिक अज्ञान, अथवा पृथिवी, द्यौ और अन्तरिक्ष सम्बन्धी अज्ञान का ग्रहण समझना चाहिए। अथवा निकृष्ट, मध्यम और उत्तम तीन प्रकार का ब्रह्मचर्य जब तक पूर्ण न हो तब तक गुरुकुल में रखा जाता है। इसके उपरान्त जब ब्रह्मचारी स्नातक बनता है तब उसे विद्वान् लोग देखने के लिये आते हैं।

इस मन्त्र से गुरु शिष्य की परम्परा के सम्बन्ध में अनेक गम्भीर बातें विदित होती हैं—

१—जब ब्रह्मचारी आचार्य के अधीन अर्थात् गर्भ में है, तब निश्चित अवधि से पूर्व पृथक् होना अथवा अवकाश आदि पर जाना स्वयमेव निषिद्ध हो जाता है।

२—आचार्य के प्रतिकूल किसी भी प्रकार का आचरण करना गर्भस्थ शिशु की भान्ति अपने आचार्य को कष्ट देना है। इसलिये सूत्रकारों ने कहा है कि—

"आचार्याधीनो भवाऽन्यत्राऽधर्माचरणात्" अधर्माचरण को छोड़ कर ब्रह्मचारी को सर्वथा आचार्य के आधीन रहना चाहिए।

३—गर्भस्थ शिशु की भान्ति ब्रह्मचारी के पालन-पोषण, निर्माण एवं सर्वाङ्गीण विकास का उत्तरदायित्व आचार्य वा गुरु का ही हो जाता है।

४—आचार्य के सुख में सुखी और दुःख में दुःखी, आचार्य की उन्नति और यश में ब्रह्मचारी की उन्नति और यश निहित है। अभिप्राय यह है कि यह आचार्य और अन्तेवासी का संबन्ध इतना उत्कृष्ट और घनिष्ठ है कि जन्मदाता माता-पिता से भी अधिक महत्त्व रखता है। इसीलिये मनु महाराज ने कहा है—

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजरामरा॥

(मनुस्मृति २। १४८)

माता-पिता जो जन्म देते हैं, उसमें परिवर्तन हो सकता है, अर्थात् ब्राह्मण का पुत्र क्षत्रियादि और शूद्र का पुत्र ब्राह्मणादि बन सकता है। किन्तु आचार्य समावर्तन के समय शिष्य को जिस वर्ण की दीक्षा देता है वह वर्ण गुणकर्मानुसार होने के कारण परिवर्तनरहित होता है।

५—जिस प्रकार पिता का गोत्र जन्म से चलता है उसी प्रकार आचार्य का गोत्र विद्या से चलता है। स्मृतिकारों ने पिता के संबन्ध को "यौन" और आचार्य के संबन्ध को "मौख" संज्ञा दी है।

इस प्रकार आर्ष पाठविधि में गुरु-शिष्य की परम्परा अविच्छिन्न रूप में बनी रहती है। बहुत सी बातें ऐसी होती हैं कि जो ग्रन्थों के अध्ययन से नहीं किन्तु गुरु-परम्परा से ही उपलब्ध हो सकती हैं। गुरु-परम्परा के नष्ट हो जाने से अनेक गभीर तत्त्व भूत के निबिड अन्धकार में तिरोहित हो चुके हैं।

अनार्ष शिक्षाप्रणाली में गुरु शिष्य का पवित्र सम्बन्ध पिता-पुत्रवत् नहीं रहा। गुरु को एक किंकर (नौकर) से भी गया-बीता समझा जाता है। इसी दूषित मनोवृत्ति के कारण अनेक स्थानों की घटनायें हैं कि प्रिंसिपल और अध्यापकों को छात्रों ने नंगा करके, पीट-पीट कर प्राण तक भी ले लिये हैं।

विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता और उच्छृङ्खलता इस अनार्ष शिक्षा का ही दुष्परिणाम है।

८. देशभक्ति और आस्तिकता—

आर्ष शिक्षाप्रणाली में विद्यार्थी को प्रारम्भ से अन्त तक जो शिक्षा दी जाती है वह देशभक्ति

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति से ओत-प्रोत होती है। आर्ष पाठविधि से शिक्षित छात्र का केन्द्र-बिन्दु वेद और वैदिक-संस्कृति होने से उसका हृदय देश-भक्ति के रंग से रंगा जाता है। कभी भी देशद्रोह का अङ्कुर उसके मन में उत्पन्न नहीं होता।

आर्ष पाठविधि में देशभक्ति के साथ आस्तिकता एवं धार्मिकता की शिक्षा भी बाल्यकाल से ही दी जाती है। कोई भी व्यक्ति धार्मिक और ईश्वरविश्वासी हुए बिना पूर्णतया दुर्गुणों से नहीं बच सकता। हमारी सरकार की धर्मनिरपेक्ष नीति अथवा धर्मरहित राजनीति लङ्गड़ी है और भयंकर से भयंकर पापों का मूलकारण है। प्रत्येक देशवासी जब तक धार्मिक एवं आस्तिक नहीं बनता तब तक सच्चा देशभक्त बनना कठिन है।

६. पहिले धर्म पीछे धन—

आर्ष पाठविधि में सर्वप्रथम स्थान धर्म का है। इसीलिए वेद, वेदाङ्ग, उपाङ्ग के पश्चात् उपवेदों के पठन-पाठन का विधान किया गया है—

"इस प्रकार सब वेदों को पढ़ के आयुर्वेद अर्थात् जो चरक, सुश्रुत आदि ऋषिमुनिप्रणीत वैद्यक शास्त्र हैं उसको अर्थ, क्रिया, शस्त्र, छेदन, भेदन, लेप, चिकित्सा, निदान, औषध, पथ्य, शरीर देश, काल और वस्तु के गुण ज्ञान पूर्वक चार वर्ष के भीतर पढ़ें पढ़ावें।"

आयुर्वेद तथा व्यवहार विद्या एवं अर्थवेद के सबसे पीछे पढ़ने-पढ़ाने का अभिप्राय यही है कि वेदादि शास्त्रों के पढ़ने के पश्चात् मनुष्य को धर्माधर्म का ज्ञान होने के कारण अधर्म से बच सकेगा। वेदादि पढ़े बिना ही आयुर्वेद एवं अर्थवेदादि पढ़ कर पैसा इकट्ठा करने वाला अर्थ के स्थान में अनर्थ ही कमायेगा। क्योंकि "अर्थ" वह है जो धर्म ही से प्राप्त किया जाये और जो अधर्म से सिद्ध होता है उसको अनर्थ कहते हैं।" (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश १८)

विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम् ।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम् ॥

यहाँ धन से धर्म कमाने का अभिप्राय दूसरा है। यहाँ भी पहले विद्या के द्वारा विनयी और पात्र बनने की चर्चा की गई है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी पुरुषार्थचतुष्टय में भी पहले धर्म और पश्चात् अर्थ तथा काम एवं मोक्ष का उल्लेख मिलता है। आज के युग में इसके सर्वथा विपरीत अवस्था होना अनार्ष शिक्षा का ही दुष्प्रभाव है।

प्राचीन काल में जब आर्ष पाठविधि के अनुसार शिक्षा दी जाती थी तब प्रथम वेद-वेदाङ्गादि का अध्ययन और पश्चात् व्यवहारविद्या अर्थात् जीविका के लिए आयुर्वेद-धनुर्वेद आदि भी पढ़ाये जाते थे।

ब्रह्मचारी हनुमान् को बन्दर बना देना भी तुलसीकृत रामचरितमानस आदि अनार्ष ग्रन्थों

की कृपा है। ब्रह्मचारी हनुमान् वेद-वेदाङ्ग आदि का पण्डित था। रामचन्द्र जी ने हनुमान् का प्रशसा इस प्रकार की है—

नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं प्रभाषितुम् ॥२९॥
नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्याहरताऽनेन न किञ्चिदपशब्दितम् ॥३०॥

(बाल रामायण । किष्किन्धाकाण्ड सर्ग ३)

१०. ब्रह्मचर्य एवं सदाचार—

ब्रह्मचर्य एवं सदाचार आर्ष पाठविधि की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है और अनार्ष शिक्षा-प्रणाली का सब से भयंकर दोष है ब्रह्मचर्य पालन का और सदाचार का अभाव। अश्लील ग्रन्थों का पठन-पाठन और सहशिक्षा प्रज्वलित अग्नि में घृत का कार्य करते हैं। सिनेमादि के कारण दूषित हुआ भोगविलासमय वातावरण रूपी वायु कामाग्नि को और भी प्रचण्डतर बना देता है। निनानवें प्रतिशत नवयुवक और नवयुवतियां यौवन से पूर्व विद्यार्थी जीवन में ही कामाग्नि में भस्मसात् हुए जा रहे हैं। यौवन के कान्ति, रूप, उल्लास आदि गुण उनके ललाट से कोसों दूर हैं। शरीर निस्तेज और अस्थिपञ्जर मात्र शेष दिखाई देता है।

मक्खन निकाले हुए दूध (सप्रेटा) अथवा दही को मथ कर नवनीत निकाली हुई छाछ की, रस निचोड़े हुए निम्बू की, कोल्हू में पेले हुए तिल और गन्ने की और निस्तैल टिमटिमाते हुए दीपक की जो दशा होती है, ठीक वही दशा आज नष्टवीर्य छात्र छात्राओं की होती जा रही है।

आप जानते हैं कि जिस प्रकार साइकिल व मोटर आदि का वायु निकल जाता है तो उस पर सवारी नहीं की जा सकती, उलटी वह भार बन जाती है। आपको विदित है जिस घड़े के नीचे छिद्र हो जाता है वह शनैः शनैः खाली हो जाता है। इसी प्रकार जिस लकड़ी में घुन लग जाता है वह शीघ्र ही नष्ट हो जाती है।

आपने देखा होगा, एरण्ड की लकड़ी के चौखट, किवाड़, कड़ी, सैंतीर और थुणी आदि नहीं बनाये जाते, क्योंकि वह सारहीन होता है। एरण्ड की निःसार लकड़ी किसी विशेष काम में नहीं आती। इसी प्रकार जो मनुष्य अपने जीवन के सार, वीर्य की रक्षा नहीं करता, वह भी जीवन में कोई विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकता। उसकी जीवनज्योति शीघ्र ही बुझ जाती है।

हम प्रतिदिन देखते हैं कि दीपक की ज्योति तभी तक जलती रहती है जब तक उसमें तेल है। तेल जल जाने पर कुछ काल में बत्ती भी जल जाती है और दीपक बुझ जाता है। यही अवस्था वीर्यहीन मनुष्य की होती है। उसकी ज्योति भी निस्तेज होकर शान्त हो जातो है। चरक में लिखा है—

आहारस्य परं धाम शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः।
क्षयो ह्यस्य बहून् रोगान् मरणं वा नियच्छति ॥

(निदान स्थान अ० ६ श्लोक ८)

अर्थात्—आहार का परम धाम अर्थात् सार वीर्य है उसकी रक्षा करनी चाहिये। इसका क्षय हो जाने से बहुत से रोग वा मृत्यु हो जाती है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी लिखते हैं—"जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है तब उस को आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम बढ़ के बहुत सुख की प्राप्ति होती है।"

"जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता वह नपुंसक, महाकुलक्षणी और जिसको प्रमेह रोग होता है वह दुर्बल, निस्तेज, निर्बुद्धि, उत्साह, साहस, धैर्य, बल, पराक्रम आदि गुणों से रहित होकर नष्ट हो जाता है। जो तुम लोग सुशिक्षा और विद्या के ग्रहण, वीर्य की रक्षा करने में इस समय चूकोगे तो पुनः इस जन्म में तुम्हें यह अमूल्य समय प्राप्त नहीं हो सकेगा।"

(सत्यार्थप्रकाश द्वितीय समुल्लास)

विद्याध्ययन और ब्रह्मचर्यपालन इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। ब्रह्मचर्यपालन किये बिना विद्या की प्राप्ति नहीं हो सकती और पूर्ण विद्या के बिना उत्तम ब्रह्मचर्य का पालन सम्भव नहीं। इसलिए "विद्यार्थं ब्रह्मचारी स्यात्" विद्या के लिए ब्रह्मचर्य का पालन अनिवार्य है। बिना ब्रह्मचर्य पालन किये वीर्य के अभाव में मस्तिष्क का निर्माण और विकास नहीं हो सकता। वीर्य कभी वीर्य के रूप में शरीर में नहीं रह सकता। अपितु विचाराग्नि का इन्धन बनाने पर मस्तिष्क का निर्माण करता है और शरीराग्नि का इन्धन बनाने पर शरीर का निर्माण करता हैं। वीर्य को ओज के रूप में परिणत करके शरीर को अतुल शक्ति का भंडार बनाया जा सकता है।

आर्ष पाठविधि में जितना ध्यान विद्यार्थी के अध्ययन पर दिया है उससे कहीं अधिक ब्रह्मचर्यपालन पर दिया गया है। आर्ष पाठविधि में सहशिक्षा के लिए कोई स्थान नहीं। महर्षि दयानन्द जी ने लिखा है—

"विद्या पढ़ने का स्थान एकान्त देश में होना चाहिंए। और वे लड़के और लड़कियों की पाठशाला दो कोस एक दूसरे से दूर होनी चाहिएँ जो वहाँ अध्यापिका और अध्यापक पुरुष वा भृत्य, अनुचर हों वे कन्याओं की पाठशाला में स्त्री और पुरुषों की पाठशाला में सब पुरुष रहें। स्त्रियों की पाठशाला में पांच वर्ष का लड़का और पुरुषों की पाठशाला में पांच वर्ष की लड़की भी न जाने पावे।"

(सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास)

इसलिए विद्योपार्जन के लिए ब्रह्मचर्यपालन वा वीर्यरक्षा करना अत्यावश्यक है। असंयमी, इन्द्रियदास व्यक्ति कभी विद्वान् नहीं बन सकता।

इस लेख में महर्षि दयानन्द की आर्ष ग्रन्थों के प्रति कितनी अगाध श्रद्धा थी, इसका सकारण निर्देश करते हुए आर्ष पाठविधि की दश विशेषताओं पर विचार किया गया है। इसका अर्थ यह नहीं कि आर्ष पाठविधि में इतनी ही विशेषतायें हैं, अपितु उदाहरण के रूप में मुख्य-मुख्य दश विशेषताओं पर विचार प्रकट किये हैं। वास्तव में आर्ष पाठविधि का मर्म और महत्त्व तो इसके अनुसार पढ़ने-पढ़ाने से ही ज्ञात हो सकता है।

ओ३म् यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते ।।

ऋ० १०।७१।३

विद्वद्गण अध्ययन-यज्ञ से वाणी के प्राप्तव्य ज्ञान को पाते हैं,
और ऋषियों में प्रविष्ट उस वेदवाणी को प्राप्त करते हैं।
उसे फिर सर्वत्र फैलाते हैं।

प्राचीन विद्यालयों की रूप-रेखा

डा० श्रीराम जी उपाध्याय, एम० ए०, डी० फिल०

सुदूर प्राचीन काल से लेकर आज तक भारत में अध्यापन पुण्य का कार्य माना गया है। गृहस्थ ब्राह्मण के पांच महायज्ञों में ब्रह्मयज्ञ का महत्वपूर्ण स्थान है। ब्रह्मयज्ञ में विद्यार्थियों को शिक्षा देना प्रधान है। इस यज्ञ का सम्पादन करने के लिये प्रत्येक विद्वान् गृहस्थ के साथ कुछ शिष्यों का होना आवश्यक था। इन्हीं शिष्यों में आचार्य के पुत्र भी होते थे, आचार्य का ही विद्यालय था। इस प्रकार के विद्यालयों का प्रचलन वैदिक काल में विशेष रूप से था।

उपर्युक्त वैदिक विद्यालयों के सम्बन्ध में इतना तो निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि वे बड़े नगरों में नहीं होते थे। विद्यालयों की स्थिति साधारणतः नगरों से दूर वनों में होती थी, कभी-कभी विद्यालयों के आसपास छोटे गाँव भी बस जाते थे। विद्यालय तो वैदिक काल में वहीं हो सकते थे, जहाँ आचार्य की गौओं को चरने के लिये घास का विस्तृत भूभाग हो, हवन की समिधा वन के वृक्षों से मिल जाती हों और स्नान करने के लिए निकट ही कोई सरोवर या सरिता हो। तत्कालीन विद्यार्थी जीवन में ब्रह्मचर्य और तप का सर्वाधिक महत्व था, ब्रह्मचर्य और तप के लिये नगर और ग्राम से दूर रहना अधिक समीचीन है। उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान की शिक्षा देने वाले ऋषियों की आवासभूमि अरण्य को ही बताया गया है। इन्हीं ब्रह्मज्ञानियों के समीप तत्कालीन सर्वोच्च ज्ञान के अधिकारी पहुंचते थे। अरण्य में रहना ब्रह्मचर्य का एक पर्याय समझा जाने लगा था।

महाभारत के अनुसार आचार्य भरद्वाज का आश्रम गंगाद्वार हरिद्वार में था। इस विद्यालय में वेद-वेदांगों के साथ अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा भी दी जाती थी। अग्निवेश और द्रोणाचार्य को इसी आश्रम में आग्नेयास्त्र की शिक्षा मिली थी। राजकुमार भी इस आश्रम में धनुर्वेद की शिक्षा पाते थे। महेन्द्र पर्वत पर परशुराम के आश्रम में भी द्रोण ने अध्ययन किया था। परशुराम ने प्रयोग.

रहस्य और उपसंहारविधि के साथ सभी अस्त्र-शस्त्रों की शिक्षा द्रोणाचार्य को दी थी।

महर्षि व्यास का आश्रम हिमालय पर्वत पर था। आश्रम रमणीय था। इस आश्रम में व्यास वेदाध्ययन करते थे। पर्वत पर अनेकों देवर्षि रहा करते थे। इसी आश्रम में सुमन्तु, वैशम्पायन, जैमिनि तथा पैल वेद पढ़ते थे।

जिस वन में महर्षि कण्व का आश्रम था, उसकी चारुता मनोहारिणी थी। इसमें सुखप्रद और सुगन्धित शीतल वायु का संचार होता था। वायु में पुष्परेणु मिश्रित होती थी। ऊँचे वृक्षों की छाया सुखदायिनी थी। वन के वृक्षों में कंटक नहीं होते थे और ये सदैव फल देते थे। सभी ऋतुओं में वृक्षों और लताओं के कुसुमों की शोभा मनोहारिणी रहती थी। पथिकों के ऊपर वृक्षों की अनायास पुष्पवृष्टि वायु के संचार के साथ-साथ होती रहती थी।

कण्व के आश्रम में न्याय-तत्त्व, आत्मविज्ञान, मोक्ष-शास्त्र, तर्क, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, द्रव्य, कर्म, गुण, कार्य-कारण आदि विषयों के प्रसिद्ध आचार्य थे। लोकायतिक भी वहाँ अपना व्याख्यान दते थे। आश्रम में जो यज्ञ होते थे, उसके सभी विधानों और कर्मकलापों के लिये आचार्य नियत थे।

महर्षि कण्व का आश्रम मालिनी नदी के तट पर था। आश्रम रम्य था, अनेक महर्षि विभिन्न आश्रमों में आस-पास रहते थे। चारों ओर पुष्पित पादप थे, घास पथिकों के लिये सुखदायिनी थी। पक्षियों का मधुर कल निनाद होता था। नदी के तट पर ही आश्रम ध्वजा की भान्ति उठा हुआ था। हवन की अग्नि प्रज्वलित थी, पुण्यात्मक वैदिक मन्त्रों के पाठ हो रहे थे। तपस्वियों से आश्रम की शोभा और अधिक बढ़ गई थीं।

रामायण के अनुसार प्रयाग में भरद्वाज के रम्य आश्रम के समीप विविध प्रकार के वृक्ष कुसुमित थे, चारों ओर होम का धूम छाया हुआ था। यह आश्रम गंगा, यमुना के संगम के सन्निकट था, दोनों नदियों के मिलने से जल के घर्षण की ध्वनि सुनाई पड़ती थी। विविध प्रकार के सरस वन्य अन्न, मूल और फल वहाँ मिलते थे। मुनियों के साथ मृग और पक्षी आश्रम प्रवेश में निवास करते थे। आचार्य भरद्वाज चारों ओर शिष्यों से घिरे रहते थे। अध्ययन-अध्यापन और आवास के लिये पर्णशालाएं बनी थी।

दण्डकारण्य में महर्षि अगस्त्य का आश्रम था। आश्रम के समीप पुष्पित लताओं से फूले-फले वृक्ष आच्छादित थे। वृक्षों के पत्ते स्निग्ध थे। इन्हीं लक्षणों से ज्ञात हो सकता था कि आश्रम समीप ही है। आश्रम का वन समीपवर्ती होम के धूम से व्याप्त था। मृगों का समूह प्रशान्त था, अनेक पक्षियों का कलरव हो रहा था। आश्रम में आचार्य अगस्त शिष्यों से परिवृत थे।

अगस्त्य के आश्रम में ब्रह्म, अग्नि, विष्णु, महेन्द्र, विवस्वान्, सूर्य, सोम, भग, कुबेर, धाता, विधाता, वायु, वरुण, गायत्री, वसुगण, नागराज, गरुड, कार्तिकेय और धर्म के स्थान बने हुए थे।

तक्षशिला का विद्यालय महाभारतकाल से ही सारे उत्तर भारत में विख्यात था। यहीं पर आचार्य धौम्य के शिष्य उपमन्यु, अरुणि और वेद थे। शिक्षा पाने के लिये काशी, राजगृह, पंचाल, मिथिला और उज्जयिनी से विद्यार्थी जाते थे। गौतमबुद्ध के समकालीन वैद्यराज जीवक ने तक्षशिला में सात वर्षों तक आयुर्वेद की शिक्षा पायी थी। आचार्य पाणिनि और कौटिल्य को भी सम्भवतः तक्षशिला में ही शिक्षा मिली। सिकन्दर के समय में तक्षशिला उच्चकोटि के दर्शन के विद्वानों के लिये प्रसिद्ध थी। तक्षशिला में वेदों की शिक्षा प्रधान रूप से दी जाती थी, पर साथ ही प्रायः सभी विद्यार्थियों को कुछ शिल्पों में विशेष योग्यता प्राप्त करनी पड़ती थी। विद्यालय में जिन १८ शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी उनकी गणना इस प्रकार है—

चिकित्सा, आयुर्वेद, शल्य, धनुर्वेद, युद्धविज्ञान, हस्तिसूत्र, ज्योतिष, व्यापार, कृषि, संगीत, नृत्यकला, चित्रकला, इन्द्रजाल, गुप्तकोशज्ञान, मृगया, अर्गविद्या, पशु-पक्षी की बोली समझना, निमित्तज्ञान, विषोपचार।

जातक युग में नैष्ठिक ब्रह्मचारियों की प्रचुर संख्या थी। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का परिपालन करने के लिये वेद और शिल्प मे निष्णात होकर विद्वान् ऋषि प्रव्रज्या लेकर हिमालय पर रहने लगते थे। महर्षियों के साथ रहने वाले तपस्वी शिष्यों की संख्या कभी-कभी ५०० तक जा पहुंचती थी।

उपर्युक्त युग में काशी भी भारतीय विद्याओं की शिक्षा के लिये प्रसिद्ध थी। जातक कथाओं के अनुसार बोधिसत्व के आचार्य होने पर उनके ५०० विद्यार्थी थे, जो वैदिक साहित्य का अध्ययन करते थे। बोधिसत्व के विद्यालय में १०० राज्यों से आये हुए क्षत्रिय और ब्राह्मण कुमार शिक्षा पाते थे। काशी के समीप परवर्ती काल में सारनाथ में बौद्ध दर्शन का महान् विद्यालय प्रतिष्ठित हुआ। इसमें १५०० बौद्ध भिक्षु शिक्षा पाते थे।

गुप्त कालीन विद्यालयों की रूपरेखा की कल्पना कालिदास की रचनाओं से की जा सकती है। कालिदास के अनुसार वसिष्ठ का आश्रम हिमालय पर था। निकटवर्ती वनों में तभी तपस्वियों के लिए समिधा, कुश और फल मिलते थे। पर्णशालाओं के द्वार पर नीवार के भाग पाने के लिए मृग खड़े रहते थे। आश्रम के चारों ओर उपवन लगाये गये थे। उपवन के नववृक्षों के थालों में मुनि कन्यायें जल डालती थीं। पर्णशालाओं के आंगन विस्तृत होते थे। आंगन में नीवार सूखने के लिये फैलाया जाता था। धूप चले जाने के पश्चात् नीवार के एकत्र कर लिये जाने पर आंगन में बैठकर मृग रोमन्थ किया करते थे। आश्रम में अग्निहोत्र का सुगन्धित धूम बहुत ऊँचाई तक उठता था। आश्रम में सोने के लिए कुशशयन प्रयुक्त होता था। कालिदास की कल्पना के अनुसार वरतन्तु के आश्रम में जो वृक्ष लगाये गये थे, उनको पुत्र की भाँति मानकर प्रयत्नपूर्वक बढ़ाया जाता था। श्रान्त पथिक इन्हीं के नीचे बैठकर अपनी थकावट मिटाते थे। स्नान के लिये आश्रम से सम्बद्ध जलाशय होते थे। इस आश्रम में १४ विद्यायें पढ़ाई जाती थीं।

सातवीं शती की रचनाओं से भी विद्यालयों की रूपरेखा प्रायः ऊपर जैसी ही मिलती है। बाण ने कादम्बरी में महर्षि जाबालि के आश्रम का वर्णन किया है। विद्यालय में वटुकसमूह के अध्ययन से सारा आश्रम गूंज रहा था। इस आश्रम में सदा पुष्पित और फलवान् वृक्षों और लताओं की रमणीयता मनोहारिणी थी। ताल, तमाल, हिन्ताल, वकुल, नालिकेर, सहकार आदि के वृक्ष, एला, पूगी आदि की लतायें, लोध, लवली, लवंग, आदि के पल्लव, आम्रमंजरी तथा केतकी का पराग, निर्भय मृग मुनियों के साथ समिधा, कुश, कुसुम, मिट्टी आदि लिए हुए मुखर शिष्य, मयूर, दीर्घिकाओं पर्णशालाओं के आंगन में सूखता हुआ श्यामाक, आमलक, लवली, कर्कन्धु, कदली, लकुच, पनस, आम और ताल के फलों की राशि आदि इस विद्यालय के प्राकृतिक सौन्दर्य को बढ़ा रहे थे। यज्ञविद्या पर व्याख्यान होते थे। धर्मशास्त्र की आलोचना होती थी, पुस्तकें पढ़ी जाती थीं। सभी शास्त्रों के अर्थ का विचार होता था। कुछ मुनि योगाभ्यास करते थे, समाधि लगाते थे और मन्त्रों की साधना करते थे। आश्रम में पर्णशालाएं बनी हुई थीं। सारा आश्रम अतिशय पवित्र और रमणीय था। बाण के शब्दों में वह दूसरा ब्रह्मलोक ही था।

प्राचीन विद्यालयों की जो रूपरेखा ऊपर प्रस्तुत की गई है, उससे ज्ञात होता कि सदा विद्याओं के सर्वोच्च केन्द्र महर्षियों के आश्रम थे। इन आश्रमों में सबसे अधिक महिमा तपोमय जीवन विताने वाले आचार्य के व्यक्तित्व की थी। आश्रमों में वैदिक साहित्य, दर्शन और याज्ञिक विधानों की शिक्षा प्रमुख रूप से दी जाती थी। आश्रमों से जो आध्यात्मिक ज्योति दिग्दिगन्त में परिव्याप्त होती थी उससे कृतज्ञ होकर सारा राष्ट्र उसके प्रति नतमस्तक था। आश्रमों की तीर्थ-रूप में प्रतिष्ठा रामायण और महाभारत काल से हुई। उसी समय से आश्रमों और तीर्थो के लिए आयतन और "पुण्यायतन" शब्दों का प्रयोग मिलता है। आयतन और पुण्यायतन पवित्र करने की शक्ति रखने वाले स्थान के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

ऋषियों और आचार्यो के आश्रमों की पुण्यदायिनी शक्ति से रामायण और महाभारत काल से ही लोग प्रभावित रहे हैं। आश्रमों में यज्ञ होते थे। पुण्यायतन ही आगे चलकर मन्दिर रूप में प्रतिष्ठित हुए। आचार्यों के विद्यालय आश्रम के स्थान पर मन्दिर बन गए। उन मन्दिरों की रूप-रेखा और वातावरण आधुनिक मन्दिरों से भिन्न थी। उनको यदि विद्यामन्दिर कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। मन्दिरों में पूर्ववर्ती आश्रम जीवन का आदर्श ही प्रतिष्ठित हुआ था। मन्दिर धर्म-सम्बन्धी अभ्युदय के प्रमुख प्रतीक रहे हैं। यहीं से धार्मिक भावनाओं की सरिता का सर्वत्र प्रवाह होता था। इस युग में भारतीय धर्म के उन्नायक मन्दिरों में अध्यापन करना पुण्यावह माना गया।

सरस्वती के मन्दिर में विद्यादान करना पुण्य का काम माना गया। ऐसे मन्दिरों में धर्म-शास्त्र की पुस्तकों का दान किया जाता था। प्राचीन युग के महर्षियों और तपस्वियो के आश्रम ही साधारणतः तीर्थ बने, तीर्थों को उन महर्षियों और तपस्वियों का स्मारक कहा जा सकता है।

मन्दिरों में शिक्षा के ऐतिहासिक उल्लेख दसवीं शती से मिलते हैं। बम्बई प्रान्त के बीजापुर जिले में सलोतगी के मन्दिर में त्रयीपुरुष की मूर्ति की स्थापना राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय के मन्त्री नारायण के द्वारा की गई थी। इसके प्रधान कक्ष में जो ९४५ ई० में बनवाया गया था, विद्यालय की प्रतिष्ठा की गई थी। इस विद्यालय में अनेक जनपदों से विद्यार्थी आते थे और उनके रहने के लिये सत्ताईस छात्रालय बने हुए थे। इस विद्यालय में लग-भग ५०० विद्यार्थी रहे होंगे। विद्यालय को सार्वजनिक सहयोग से तथा विशेष उत्सवों के अवसर पर दान प्राप्त हुआ करता था।

एन्नारियम के वैदिक विद्यालय की प्रतिष्ठा ११ वीं शती के आरम्भिक भाग में हुई थी। यह दक्षिणी अर्काट प्रदेश में था। इसमें ३४० विद्यार्थियों के अध्यापन की व्यवस्था की गई थी। जिसमें से ७५ ऋग्वेद, ७५ कृष्णयजुर्वेद, ४० सामवेद, २० शुक्लयजुर्वेद, १० अथर्ववेद, १० बौधायन धर्मसूत्र, ४० रूपावतार, २५ व्याकरण ३५ प्रभाकर मीमांसा और १० वेदान्त पढ़ते थे। इसमें १६ अध्यापक थे। इस विद्यालय को आस-पास की ग्रामीण जनता चलाती थी।

चिंगलीपुट जिले में तिरुमुक्कुदल के विद्यालय की स्थापना ११ वीं शती में वेंकटेश के मन्दिर में हुई थी। इस विद्यालय में ६० विद्यार्थियों के रहने और भोजन का प्रबन्ध किया गया था, जिनमें से १० ऋग्वेद, १० यजुर्वेद, २० व्याकरण, १० पंचरात्रदर्शन, ३ शैवागम के विद्यार्थी तथा ७ वानप्रस्थ और संन्यासी थे।

तिरुवोर्रियुर और मल्कापुरम् में उपर्युक्त कोटि के अन्य विद्यामन्दिर थे। इनकी स्थापना १४ वीं शती में हुई थी। तिरुवोर्रियुर के विद्यामन्दिर में व्याकरण की ऊँची शिक्षा का विशेष प्रबन्ध किया गया था। इसमें लगभग ५०० विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। मल्कापुरम् के विद्यामन्दिर में आठ अध्यापक थे। वे वैदिक साहित्य और व्याकरण, साहित्य, तर्कशास्त्र तथा आगम की शिक्षा देते थे।

११ वीं शती में हैदराबाद राज्य के नगई नगर में जो विद्यामन्दिर था, उसमें वेद पढ़ने वाले २००, स्मृति पढ़ने वाले २००, पुराण पढ़ने वाले १०० तथा दर्शन पढ़ने वाले ५२ विद्यार्थी थे। विद्यामन्दिर के पुस्तकालय में ६ अध्यक्ष थे। १०७५ ई० में बीजापुर के एक मन्दिर में योगेश्वर नामक आचार्य मीमांसा दर्शन की उच्च शिक्षा देते थे। ऐसे ही अनेकों विद्यामन्दिर १० वीं शती से लेकर १४ वीं शती तक बीजापुर जिले में मनगोली, कर्नाटक जिले में बेलगमवे, शिमोग जिले में वालगुन्ड, तंजोर जिले में पुन्नवयिल आदि स्थानों में थे।

विद्वानों, ब्राह्मणों का भरण-पोषण करने का उत्तरदायित्व प्रायः राजाओं पर रहा है। ऐसे ब्राह्मणों के उपभोग के लिये राजा या धनी लोगों की ओर से जो क्षेत्र या अन्य दान रूप में दे दिया जाता था, उसे अग्रहार कहा जाता था। गुरुकुलों से लौटे हुए स्नातकों को इस प्रकार के अग्रहार प्रायः मिल जाते थे। ऐसे अग्रहारों का उपभोग करने वाले ब्राह्मण स्वाध्याय और अध्यापन में अपना समय निश्चिन्त होकर लगा सकते थे। इस प्रकार अग्रहारों में विद्यालय की प्रतिष्ठा होते

देर नहीं लगती थी। अग्रहारों की कोटि की अन्य संस्थायें घटिका और ब्रह्मपुरी रही हैं। इस प्रकार की संस्थाओं की संख्या दक्षिण भारत में बहुत अधिक थी।

अग्रहार संस्था का आरम्भ वैदिकयुग के बाद हुआ। उस समय तक देश में जनसंख्या इतनी बढ़ गई कि आचार्यों को अपने भरण-पोषण तथा विद्यालय चलाने के लिये राजकीय सहायता की आवश्यकता विशेष रूप से हो गयी। इसके पहले तो किसी भी व्यक्ति के लिये वन के किसी भू-भाग को आश्रम रूप में परिणत कर लेना सरल था। अग्रहार संस्था इस बात को सूचित करती है कि तत्कालीन आचार्यों में से कुछ लोग प्राचीन प्रतिष्ठित तपोमय जीवन की कठिनाइयों को अपनाने के लिये तैयार नहीं थे और उन्होंने अपने विद्याभ्यास के लिये वन के स्थान पर नगर या गाँव को चुना।

अग्रहारों की रूपरेखा का परिचय उनके नीचे लिखे विवरण से ज्ञात हो सकता है। राष्ट्रकूट राजवंश की ओर से १० वीं शती में कर्नाटक के धारवाड़ जिले में कटिपुर अग्रहार २०० ब्राह्मणों के लिये दिया गया था। इसमें वैदिक साहित्य, काव्यशास्त्र, व्याकरण, तर्क, पुराण तथा राजनीति की शिक्षा दी जाती थी। विद्यार्थियों के निःशुल्क भोजन का प्रबन्ध अग्रहार की आय से होता था। सर्वज्ञपुर अग्रहार मैसूर के हस्सन जिले में प्रतिष्ठित था। इस अग्रहार के प्रायः सभी ब्राह्मण सर्वज्ञ ही थे और वे अध्ययन-अध्यापन तथा धार्मिक कृत्यों में तल्लीन रहते थे। मैसूर राज्य में वनवासी की राजधानी बेलगाँव से सम्बद्ध तीन पुर, पांच मठ, सात ब्रह्मपुरी, बीसों अग्रहार, मन्दिर और जैन एवं बौद्ध विहार थे। यहाँ पर वेद, वेदांग, सर्वदर्शन, स्मृति, पुराण, काव्य आदि की शिक्षा दी जाती थी।

अग्रहार की भाँति "टोल" नामक शिक्षण संस्था का प्रचलन उत्तरप्रदेश विहार और बंगाल में रहा है। यह संस्था नागरिकों की आर्थिक सहायता और भूदान से चलती थी। टोल गाँवों से सम्बद्ध होते थे। गांवों के पंडित आस-पास के विद्यार्थियों के लिये भोजन और वस्त्र का प्रबन्ध करते थे और साथ ही विद्यादान देते थे। विद्यार्थियों के लिये छात्रावास विद्यालय के समीप चारों ओर बने होते थे। टोलों का अस्तित्व छोटी पाठशालाओं के रूप में बहुत प्राचीनकाल से रहा है।

गौतमबुद्ध के समय से ही बौद्ध दर्शन और धर्म के अध्ययन और अध्यापन के लिये भारत के प्रत्येक भाग में असंख्य विहार बने। विहारों में बौद्ध दर्शन और धर्म के अतिरिक्त अन्य मतावलम्बियों के दर्शन तथा धर्म के शिक्षण का प्रबन्ध किया गया था और साथ ही लौकिक उपयोगिता के विषय भी इनमें पढ़ाये जाते थे। ह्वेनसांग के लेखानुसार भारत में ७ वीं शती में लगभग पाँच हजार विहार थे और इनमें सब मिलाकर दो लाख भिक्षुक शिक्षा पाते थे।

विहारों में भिक्षु आजीवन रहते थे और वे अध्ययन, अध्यापन तथा चिन्तन एवं समाधि में सारा समय लगा देते थे। नालन्दा, वलभी तथा विक्रमशिला के बौद्ध विश्वविद्यालय सारे एशिया महाद्वीप में अपनी उच्च शिक्षा के लिये प्रख्यात थे।

मठों का सर्वप्रथम उल्लेख महाभारत में मिलता है। बौद्ध विहारों के आदर्श पर शंकराचार्य ने मठों को प्रतिष्ठित किया। शंकराचार्य ने पुरी, कांची, द्वारिका, तथा बदरी में उच्चकोटि के मठीय विद्यालयों की स्थापना की। हिरण्यमठ, पंचमठ, कोडियठ, आदि अन्य प्रसिद्ध संस्थायें इस कोटि की हैं। धीरे-धीरे सारे भारत में छोटे-बड़े मठीय विद्यालयों की स्थापना हो गई। यह संस्था आज तक विद्यमान हैं, परन्तु प्राचीन आदर्शों को महाध्यक्ष भूल से गये और विद्या का स्थान विलासिता आदि दोषों ने ले लिया। फिर भी भारतीय वाङ्मय के अध्ययन की परम्परा प्राचीन प्रणाली के मठ-मन्दिरों और विद्यालयों में आज भी अपने अवशेषों के साथ जीवित है।

ओ३म् देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो निवर्तताम्।
ऋ० १।८९।२

परोपकारी लोगों की कल्याणमयी सुबुद्धि हमें प्राप्त हो
और देवताओं का दान हमें प्राप्त हो।

ऋषि दयानन्द की राजनीति

सुश्री सुशीलादेवी जी विद्यालंकृता, साहित्यरत्न

ऋषि दयानन्द वस्तुतः युगपुरुष थे। मानव समाज की हितसाधना का कोई विषय उनकी दृष्टि से बच न सका था। जहाँ समाज में घुसी बाल-विवाह, अस्पृश्यता, अशिक्षा, पर्दा-प्रथा आदि बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न ऋषि ने जी-जान से किया, वहाँ स्वदेशी, स्वभाषा, स्वराज्य के द्वारा राजनीति में भी क्रान्ति करने का प्रयत्न किया था। तब कभी सूर्यास्त न देखने वाले अंग्रेजों का शासन सूर्य भारत पर चमक रहा था। भारत को तन, मन, धन से गुलाम बनाने की कूटनीति का असर सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहा था। मेकाले साहिब एक ऐसी हवा हमारे देश में फैला देना चाहते थे, जिससे हमारे देशवासियों के मन भी अंग्रेज और अंग्रेजी के भक्त बन सकें। उनके अपने ही शब्दों में—

We want at present a class of persons Indian in blood and colour but Euglish in taste, in opinion, in morals and ittellect.

इन काले अंग्रेजों की जमात के द्वारा वे अपनी सभ्यता, संस्कृति की जड़े हमारे भारत में मजबूती से जमा देना चाहते थे। इसी ख्याल से उन्होंने पहिले हमारी भाषाओं का गला घोटा। संस्कृत को मृत भाषा बताया, शास्त्रों को जंगलियों की बिलबिलाहट, वेदों को कुत्तों-बिल्लियों की कहानि-ाँ बताया। इतिहास में मिलावट की, शिवाजी को लुटेरा सिद्ध किया गया, प्रताप को सिरफिरों का सरदार। आर्य विदेशों से आई हुई जाति है। आदिवासी नाम से नई हवा चलाई गई। फूट डालने के लिए यह कहा गया कि आदिवासी ही असली निवासी है। इस धरती को अपने इतिहास पढ़ाये जाने लगे। हमें सभ्य बनाने के नाम पर सर्वत्र अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाया जाने लगा। अंग्रेजी जानने, अंग्रेजी बोलने, अंग्रेजी में हंसने, अंग्रेजी में रोने वाले तो सभ्य; अपनी भाषा के धुरन्धर पंडित असभ्य। वह भारत जिसने कभी अपने आपको हीन न समझा था, जिसने "नात्मानमवसादयेत्" का मूलमन्त्र सदा शिरोमन्त्र बनाया था, जो अंग्रेजों को म्लेच्छ

समझते थे, वेदवाणी को ईश्वरीयवाणी मानते थे; अब उन्हीं की दृष्टि में अंग्रेज उनके आराध्य बन बैठे और अंग्रेजी आराध्यदेवी। यह अंगरेजों की कूटनीति की विजय थी, जिसका रंग आज स्वतन्त्र होने के १२ वर्ष बाद भी उतरने नहीं पाया है। ऋषि ने देखा कि तन गुलाम हो जाए तो उसे आजाद करना आसान है, पर मन हो गया तो सब चला जायेगा—

मन के जीते जीत है, मन के हारे हार।

जिसका मन आजाद है वह गुलाम हो कर भी आजाद है। पर जिसका मन ही गुलाम है, वह आजाद रहता हुआ भी गुलाम है, ऐसा ऋषि का विश्वास था। अतः उन्होंने सबसे पहले अंग्रेजों और अंगरेजियत से लोहा लेने के लिए अंग्रेजी के मुकाबिले हिन्दी को खड़ा किया तथा पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली के मुकाबिलेमें गुरुकुल शिक्षाप्रणाली को चलाया। उनकी भारतीय राजनीति को यह एक अपूर्व और कभी न भुलाई जा सकने योग्य देन थी। स्वयं गुजराती होते हुये भी अपने ग्रन्थ हिन्दी में लिखे; हिन्दी को आर्यभाषा का नाम देकर गौरवान्वित किया। विदेशी सुराज से अपना राज्य जैसा भी हो अच्छा है, इसका प्रचार किया। स्वदेशी का मूलमन्त्र दिया। यह स्वराज्य, स्वदेशी और स्वभाषा ऋषि के द्वारा दिए गए थे, जिस पर आगे जाकर महात्मा गान्धी ने भाष्य किया और जिनके आधार पर भारत स्वतन्त्र हो सका।

ऋषि के जीवन का वहुत बड़ा भाग रियासतों में घूम-घूम कर राजाओं के हृदय में स्वदेश प्रेम की ज्योति जगाने में व्यतीत हुआ। आज इतिहास की खोज करने वालों का विचार है कि प्रथम स्वातन्त्र्य युद्ध के सन् १८५७ के सिपाही विद्रोह के सूत्रधार स्वामी दयानन्द ही थे। उन के वेदभाष्य के हर मन्त्र के आखिर में चक्रवर्ती आर्य साम्राज्य की स्थापना का प्रबल संकल्प झलकता है। सत्यार्थ प्रकाश का तो पूरा छठा समुल्लास ही राजधर्म पर लिखा गया है। एक तरफ वे सामाजिक कूटनीतियों पर कुठाराघात करते थे, दूसरी ओर राजनीति को भी मानव हित-साधिका बनाना ऋषि का लक्ष्य था। धर्म और राजनीति दोनों अलग-अलग नहीं, दोनों मिलकर ही मानव का कल्याण कर सकते हैं। शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा इन चारों के संयोग का नाम ही मनुष्य है। मनुष्य की उन्नति का मतलब है शरीर का बल बढ़े, मन की शक्तियों का विकास हो, बुद्धि की वृद्धि हो और आत्मिक शक्तियाँ भी बढ़ें। इसीलिये पुरुषार्थ भी चार ही माने गये हैं। धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष। शरीर के लिये अर्थ, मन के लिये काम, बुद्धि के लिये धर्म और आत्मा के लिये मोक्ष है। इन चार में आर्य संस्कृति की जीवन के प्रति सम्पूर्ण विचारधारा प्रतिबिम्बित हो जाती है। मनुष्य की सब प्रकार की इच्छाएँ इन के अन्दर आ जाती हैं। शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये अर्थ की आवश्यकता है। मानसिक आवश्यकताओं के लिये काम की। यह दोनों मानव जीवन के आवश्यक अंग हैं। पर यह ही सब कुछ नहीं, क्योंकि हमारे जीवन का लक्ष्य सिर्फ अर्थ और काम का सम्पादन मात्र नहीं था। आज की सभ्यता अर्थ और काम-प्रधान सभ्यता है। इसी से जितने भी नये-नये वाद निकल रहे हैं, अर्थ का आकार ही बनाकर चलते हैं। पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद। आज का विचारक समझता है कि मनुष्य की असली समस्या आर्थिक है, पैसे

की है। पैसे की गुत्थी सुलझ गयी तो सब गुत्थियां सुलझ जायगी। पर आर्यसंस्कृति का दृष्टि-कोण यह है कि पैसे का प्रश्न हल होने पर भी मनुष्य की असली समस्या हल नहीं हो सकती। मनुष्य केवल शरीर नहीं; शारीरिक भूख के शान्त हो जाने बाद कोई और भी भूख है, जिसे शान्त करना है। हम शरीर नहीं आत्मा हैं। संसार की वास्तविक सत्ता केवल प्रकृति की नहीं जिसके रहस्यों के खोलने के लिए आज का वैज्ञानिक मतवाला हो रहा है। वह प्रकृति ही सब कुछ नहीं। परमात्मा है जो इस रंगमंच का वास्तविक सूत्रधार है। ससार में वे ही व्यक्ति महान् आत्मा बन सके जिन्होंने अर्थ और काम को अपना लक्ष्य न मान कर साधन माना। "तेन त्यक्तेन भुंजीथा:" को अपने जीवन का लक्ष्य मान कर चले। जीवन का लक्ष्य भोग नहीं, त्याग है। शरीर और मन से मुक्ति चाहिये। शरीर और मन के द्वारा ही। यह ऐसी पहेली है जिसे हमारे ऋषि आदि काल से हल करते आये हैं। एक तराजू लो, एक पलड़े पर अर्थ और काम को रखो, एक पर मोक्ष को तथा तराजू की डन्डी धर्म के हाथ में पकड़ा दो। तब तुम मोक्ष के भागी बन सकते हो। उस मुक्तावस्था के मोक्ष की बात, जो ऋषियों के जीवन का लक्ष्य थी, छोड़ दीजिए, शायद आपको रुचिकर न लगे। पर मोक्ष का सादा सा अर्थ है दुःखों से मुक्ति, दुःखों से छुटकारा। यदि धर्मपूर्वक अर्थ और काम का भोग किया जाय तो सांसारिक दुःखों से मोक्ष मिल सकता है। महामुनि वेदव्यास लिखते हैं।

ऊर्ध्वबाहु विरौम्येष, न च कश्चन शृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च, स धर्मः किं न सेव्यते ।।

यह थी ऋषियों की जीवन-योजना। अर्थ और काम का सम्पादन कैसे हो ? उत्पन्न पदार्थों का संविभाजन किस प्रकार हो ? यह काम है राजनीति का। पर जब तक उसकी डोरी धर्म के हाथों में न होगी तब तक राजनीति मुक्तिदायिनी कैसे बन सकती है ? ऋषि दयानन्द आर्यसंस्कृति के पुजारी तथा पुनरुद्धारक थे। वे मानवजाति के कल्याण के लिये इसी आर्य विचारधारा का प्रचार करना चाहते थे। वे जानते थे कि मानव भौतिकवादी लहरों में बह गया तो लक्ष्य तक न पहुँच सकेगा। राजनीति अन्धी है, यदि धर्म उसका मार्गदर्शन न करे। हमारा राष्ट्रीय गीत था

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्। आराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधि महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्योऽभिवर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्। योगक्षेमो नः कल्पताम् ।। यजुर्वेद ।।

हमारे राष्ट्र में ब्राह्मण तेजस्वी हो, क्षत्रिय शूरवीर हों, भर भर कर दूध देने वाली गायें हों। भारी भारी बोझ ढोने वाले बैल हों। शीघ्रगामी घोड़े हों, गांव-गाँव का पथप्रदर्शन करने वाली नारी हो, युवा और वीर सन्तान हो, सर्वत्र विजय हो, बादल समय पर बरसे, फल, धन-धान्य से सब समृद्ध हों, हम सबका योगक्षम हो, कल्याण हो, हम सबकी सब तरह की समृद्धि हो।

"सर्वे भवन्तु सुखिनः" यही हमारी सामूहिक प्रार्थना थी। आज तो भारत एक सैक्युलर स्टेट

है। हिन्दी में इसे धर्मनिरपेक्ष राज्य कहते हैं। सच पूछिये तो यह नामकरण ही गलत हैं। इसे सम्प्रदायनिरपेक्ष, मजहबनिरपेक्ष कहिये तो चल सकेगा। पर निवेदन है राज्य को धर्मनिरपेक्ष राज्य मत कहिए। इस धर्मनिरपेक्षता का ही परिणाम है कि सब को सब तरह की आजादी है। अधर्माचरण, अधर्म-व्यवहार छाया हुआ है। सरकार जानती है, प्रजा का नैतिक स्तर गिर रहा है। हमारे माननीय मन्त्रियों को कष्ट होता है। व्यापार में, बाजार में, सरकार में भ्रष्टाचार देखकर। यह पैसा-बुद्धि ही हमारे पतन का कारण है। अर्थ और काम की डोर धर्म के हाथों में न रहने से ही सर्वत्र हाहाकार मचा है। विश्व-शान्ति के जितने नारे लगते हैं, विश्व-शांति उतनी ही दूर खिंचती जा रही है, धर्म-निरपेक्षता के कारण। धर्म की अन्य व्याख्यायें छोड़ दीजिये, सीधी-सी व्याख्या है धर्म की अपने से उच्च शक्ति पर विश्वास, आस्तिकता। ऐसा विश्वास सदा मनुष्य को पाप से बचाता है। पर आज तो राजनीति के दलदल में फँसकर आस्तिकता और ईश्वर विश्वास की मान्यतायें, डावांडोल हो रही हैं। अर्थ और काम ही सब कुछ हैं। उनके लिए सब कुछ कुर्बान किया जा सकता है। फिर दुःखों से छुटकारा कैसे हो। ऋषि दयानन्द इसी विचार की प्रतिष्ठा मानव समाज और राजनीतिज्ञों में करना चाहते थे। वे चक्रवर्ती आर्यसाम्राज्य की स्थापना इसीलिए नहीं करना चाहते थे कि वे साम्राज्यवादी या साम्राज्यलोभी थे। जिसने अपने पिता की जायदाद पर ठोकर मारी, काम से बचने के लिये जिन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन किया, ऐसे अर्थ और काम निरपेक्ष महात्मा को अर्थ और काम का आकर्षण नहीं होता। वे तो आर्यसाम्राज्य के विस्तार द्वारा आर्यसंस्कृति की त्याग-प्रदान विचार धारा का प्रचार कर मानवमात्र को सुखी बनाना चाहते थे। सत्यार्थप्रकाश के छठे समुल्लास के अन्त में लिखते हैं कि मनुस्मृति, शुक्रनीति, विदुर प्रजागर और महाभारत के शान्ति पर्व आदि पुस्तकों में देखकर पूर्ण राजनीति को धारण करके मांडलिक अथवा सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य स्थापित करें और यह समझें कि "वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम" हम प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्रजा और परमात्मा हमारा राजा है। प्रभु हमारे हाथ से सत्य न्याय की प्रतिष्ठा करावे। इन वाक्यों में ऋषि दयानन्द की सम्पूर्ण राजनीति की झलक स्पष्ट रूप से प्राप्त होती है। उनका पूर्ण विश्वास था कि जब तक मनुष्य धार्मिक रहते हैं, तभी तक राज्य बढ़ता है। जब दुष्टाचारी होते हैं, तब नष्ट-भ्रष्ट होजाता है। भगवान् हमें सद्बुद्धि दें।

हिन्दी और आर्यसमाज

श्री प्रकाशवीर शास्त्री, सदस्य लोकसभा

आर्यसमाज और उसके प्रवर्तक महर्षि दयानन्द जी का आरम्भ से ही आर्यभाषा (हिन्दी) के साथ घनिष्ठतम सम्बन्ध रहा है। महर्षि स्वयं यद्यपि गुजराती थे और अध्ययन का क्रम भी विशेषतः संस्कृत में ही रहा, परन्तु अपने प्रायः सब ही ग्रन्थों के निर्माण का माध्यम उन्होंने हिन्दी को रखा है। हिन्दी में गुजराती शैली की पुट भी यद्यपि उनकी अन्त तक चली रही, लेकिन इतने पर भी स्वामी जी ने अपनी लेखनी और वाणी से हिन्दी की पर्याप्त सेवा की है। यह वह समय था जब भारत देश में उर्दू और पारसी का बोलबाला था तथा ब्रिटिश शासन की कृपा से अंग्रेजी भी धीरे-धीरे अपने पैर जमाने लगी थी। उस समय हिन्दी का प्रयोग न केवल आश्चर्य का ही कारण था अपितु राष्ट्रीय अपराध भी समझा जाता था; जनता की भाषा में जनता के गीत गाने वालों पर पैनी निगाह रखी जाती थी। हवा का रुख बहुत उलट जा रहा था। १८५७ की क्रांति के बीच में दब जाने से चारों ओर आतंक का राज्य था। पर उन विषम परिस्थितियों में भी राष्ट्रीय एकता का स्वप्न लेने वाला वह योगी घर-घर जा कर अलख जगा रहा था। समय थोड़ा था और काम बहुत था, फिर भी राष्ट्रभाषा का प्रश्न उनके लिए असाधारण रूप में ही सामने रहा। आर्यसमाजी अपने परस्पर के व्यवहार और लेख आदि में भी हिन्दी को अपनायें, इस पर कई बार अपने पत्रों में और भाषणों में भी स्वामी जी ने बल दिया।

आर्यसमाज का प्रचार स्वामी जी के जीवन काल में उत्तर-भारत में विशेष हुआ। पंजाब उसका एक प्रमुख केन्द्र था। आर्यसमाज की दूसरी पीढ़ी के नेता भाई परमानन्द, लाला लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानन्द जी तथा महात्मा हंसराज जी आदि का जन्म-स्थान पंजाब में ही था। पंजाब में आरम्भ में आर्यसमाज की दो प्रकार की शिक्षण-संस्थायें चालू हुईं। कुछ गुरुकुलों के रूप में और कुछ कालेजों के रूप में। शिक्षण-संस्थाओं का यह जाल पंजाब के अतिरिक्त और भी कई प्रांतों में फैलता चला गया। लगभग एक अरब रुपये से अधिक के भवन इन संस्थाओं के बनकर धीरे-

धीरे तैयार हो गये और एक करोड़ वार्षिक व्यय के रूप में शिक्षा पर धन भी लगने लगा। परन्तु शिक्षा का माध्यम सब जगह हिन्दी को ही रखा गया। पंजाब जैसे इस्लामिक संस्कृति से प्रभावित क्षेत्र में जहां सन्ध्या और हवन के मन्त्र भी आरम्भ में आर्यजन उर्दू में ही लिख कर याद करते थे। वहां आज की नई पीढ़ी आर्यशिक्षण-संस्थाओं क इस हिन्दी-प्रधान वातावरण से उतनी ही उर्दू से दूर चली गई है। हिन्दी के समाचार-पत्र जो दिल्ली से परे पंजाब में बहुत कम पढ़े जाते थे इन आर्यशिक्षण-संस्थाओं की कृपा से आज घर-घर में पहुंचते हैं।

दक्षिण में भी आंध्र, कर्नाटक, महाराष्ट्र और गुजरात जहां-जहां भी आर्य-समाज का संगठन था, वहां हिन्दी भी बराबर चलती रही। न केवल भारत में, अपितु अफ्रीका, मारीशस, स्याम, ब्रह्मा, मलाया तथा यूरोप के देशों में जहां भी आर्यसमाज है वहाँ हिन्दी में कार्य, हिन्दी में विद्यालय और प्रकाशन भी होते हैं। महात्मा गान्धी जी ने काशी विश्वविद्यालय के रजत-जयन्ती महोत्सव में अंग्रेजी के भाषणों की भरमार देखकर अपने भाषण में दुःखी होकर कहा था, हम कहाँ से कहां जा रहे हैं ? गंगा के किनारे और टेम्स की भाषा ? आर्यसमाज के उस दूरदर्शी महात्मा ने तो सन् १९०१ में हरिद्वार के जंगलो में गुरुकुल खोल कर हिन्दी के माध्यम से शिक्षा देने का कार्य किया था। स्वामी श्रद्धानन्द का यह कार्य सराहनीय था। आर्यसमाज की शिक्षण-संस्थाओं से सम्बन्धित कई आर्य विद्वानों ने हिन्दी में इतने उच्चकोटि के ग्रन्थ लिखे हैं, जिन पर हिन्दी का सर्वोच्च पुरस्कार 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' भी उन्हें मिला है। सम्पादकाचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय और श्री जयचन्द्र विद्यालंकार के नाम इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं। इन शिक्षण-संस्थाओं में जहां विदेशों से बहुत से छात्र शिक्षा प्राप्त करने आये वहाँ अहिन्दी भाषी प्रान्तों के भी कई सहस्र छात्र स्नातक होकर आज अपने-अपने प्रदेशों में राष्ट्र की सेवा कर रहे हैं।

प्रचार के क्षेत्र में भी आर्यसमाज के प्रचारकों और विद्वानों ने हिन्दी को व्यापक रूप देने में अद्भुत योग दिया है। आर्यसमाज के मंच से प्रायः भाषण हिन्दी में ही होते हैं। जो सामाजिक उत्थान के लिए गीत और कविताएं पिछली कुछ शताब्दियों में बनायी गई हैं, उनकी भाषा भी हिन्दी ही रही है। न केवल नगरों में अपितु ग्रामों में भी स्वर्गीय चन्द्र कवि, पंडित वासुदेव जी, ठाकुर नत्थासिंह और ठाकुर तेजसिंह जी के गीतों ने इतना लोकप्रिय वातावरण बनाया कि उनसे जहां आर्यसमाज का संदेश गांव-गांव तक पहुँचा है, वहां हिन्दी की परिमार्जित शैली को भी सर्वप्रियता प्राप्त हुई है। साहित्य के उच्चतम क्षेत्र में कविताकामिनीकांत स्वर्गीय पं० नाथूराम शर्मा 'शंकर' की कविताओं ने एक अद्भुत हलचल उत्पन्न कर दी थी। अमृतसर काँग्रेस के स्वागताध्यक्ष स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने कांग्रेस के मंच से प्रथम बार हिन्दी में भाषण दिया था। इस प्रकार आर्यसमाज और उसके कार्यकर्ताओं ने पराधीन भारत में हिन्दी के लिये वह क्षेत्र बना दिया था जिससे स्वतन्त्र होने के पश्चात् भारतीय संविधान में हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन कराने में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई।

अब संविधान में हिन्दी को राष्ट्रभाषा का स्थान मिल जाने के पश्चात् भी कुछ इस प्रकार की बाधाएं हिन्दी के मार्ग में हैं जिससे १५ वर्षों में हिन्दी को जितना लोकप्रिय होना चाहिए था

उतनी नहीं हो पाई। परन्तु फिर भी जहाँ तक आर्यसमाज के मंच और लेखनी का सम्बन्ध है वह इस दिशा में पर्याप्त सावधानी से कार्य करते रहे हैं। पीछे भारतीय गणराज्य के राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र-प्रसाद जी ने जब यह सुझाव दिया कि भारतीय एकता के लिए क्षेत्रीय भाषाओं की एक लिपि होना आवश्यक है, उसका और किन्हीं क्षेत्रों में स्वागत हुआ हो या न हुआ, परन्तु आर्यसमाज ने उसका खुले हृदय से स्वागत किया और आज गुजरात एव आन्ध्र प्रान्त में इस प्रकार की परम्पराएं चालू हो गई हैं कि भले ही भाषा अपनी हो, परन्तु लिपि के लिए देवनागरी का प्रयोग ही उन्होंने आरम्भ कर दिया है। आज नहीं तो कल, यह तो एक ध्रुव सत्य है कि हिन्दी को उच्चतम स्थान तक पहुँचने से कोई रोक न सकेगा और भारतीय राष्ट्र की दृढ़तम इकाई के लिए उसको इस स्थान पर यथाशीघ्र पहुंचाना होगा, परन्तु जो बाधाए हिन्दी के मार्ग में हैं उनका निराकरण करने में आर्यसमाज का संगठन, उसकी शिक्षण-संस्थाएं तथा प्रचारक आज भी पहले की तरह ही यत्नशील हैं।

ओ३म् बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रै रत नामधेयं दधाना: ।

हे वेदाधिपते परमात्मन्! आपकी कृपा से सृष्टि के आरम्भ में विद्वान् ब्राह्मण जिस वाणी को बोलते हैं, वही सब वाणियों में श्रेष्ठ है।

वेद में मानव-शरीर का वर्णन

श्री पं० रामनाथ जी वेदालंकार, एम० ए०

सचमुच मानव-शरीर की रचना और क्रियाशक्ति बड़ी अद्भुत है। इसलिये अथर्ववेद का कवि इसके एक-एक अंग पर मुग्ध होता हुआ "केन सूक्त" में कहता है,"अहो, किस विलक्षण कारीगर ने इस मानव-शरीर में एड़ियां बनाई है। किसने मांस भरा है, किसने टखने बनाये हैं। किसने पोरुओं वाली अंगुलियां बनाई हैं। किसने इन्द्रियों के छिद्र बनाये हैं, किसने तलुवे और किसने मध्य का आधार बनाया है। किस उपादान कारण से लेकर इस शरीर में नीचे टखने और उसके ऊपर घुटने बनाये गये हैं। जांघें जोड़ी गई है, दोनों घुटनों के जोड़ रचे गये हैं ? 'घुटनों से ऊपर यह धड़ जिसके चारों सिरों पर दो भुजा और दो जांघों के चार जोड़ हैं, किस कारीगर ने बनाया है, किसने कूले बनाये हैं जहां दोनों जांघों की हड्डियां जुड़ी हैं ? अहो, कितने और कौन से वे कारीगर थे जिन्होंने मनुष्य की छाती और गर्दन बनाई, स्तन बनाये, कपोल बनाये, कन्धे बनाये, पसलियां बनाईं। किस कारीगर ने वीरता के कार्य करने के लिये इसकी दोनों भुजायें बनाई हैं। किसने दोनों कन्धों को शरीर के साथ जोड़ा है। किसने इसके दो कान रचे हैं, दो नाक के छेद रचे हैं। दो आंखें रची हैं। मुख रचा है, सिर के सातों छेद किसने घड़े हैं। कहो, किसने दोनों जबड़ों के बीच में जिह्वा रखी है जिससे यह वाणी बोलती है। कौनसा वह कारीगर है जिसने उसका मस्तिष्क बनाया है, ललाट बनाया है, गले की घाटी बनायी है, कपाल बनाया है, किसने इसके दोनों जबड़ों में शृंखला-बद्ध दांत जड़े हैं, किसने इस शरीर में रक्त भरा है जो लाल-नीला रूप धारण कर हृदयसिन्धु से आता-जाता है और ऊपर-नीचे, इधर-उधर सब ओर प्रवाहित होता है, किसने शरीर में रूप भरा है किसने इसमें नाम और महिमा निहित की है, किसने प्रगति, ज्ञान और चरित्र को पैदा किया है। किसने इसमें प्राण-अपान का ताना-वाना किया है। किस देव ने, इसमें समान को निहित किया है। किसने इसे बल प्रदान किया है। किसने इसे वेग दिया है, किसने इसमें रेतस् भरा है जिससे यह

प्रजातन्तु का विस्तार करता है। किसने बुद्धि पैदा की है, किसने इसे वाणी और नृत्य कला दी है। देखो, अथर्व १०, २, १, १७।

मानव-शरीर की अद्‌भुत कृति पर ऐसे उद्‌गार सहसा प्रत्येक के मुख से निकल पड़ते हैं। मनुष्य व्यक्त वाणी द्वारा अपने विचारों को दूसरों पर प्रकट कर सकता है। मन से चिन्तन कर सकता है. बुद्धि से बड़ी-बड़ी समस्याओं को सुलझा सकता है। ये सब बातें अन्य शरीरों की अपेक्षा मानव-शरीर में विलक्षण हैं जिसके कारण उसे श्रेष्ठता का पद मिला है।

यह देवपुरी है—

इस मानव-शरीर को देवों की पुरी कहा गया है। ब्रह्मांड के सब देव इस शरीर के अन्दर प्रविष्ट होकर अपना अपना स्थान बनाकर बैठे हुए हैं। अथर्ववेद ११, ८ के अनुसार, शरीर की हड्डियों को समिधायें बनाकर, रस, रक्त आदि को जल बनाकर, रेतस् को घृत बनाकर सब देवपुरुष शरीर में प्रविष्ट हुए हैं और यज्ञ रच रहे हैं। इस शरीर में सब जल, सब देवता, समस्त विराट् जगत् प्रविष्ट है। प्रजापति ब्रह्मा भी इसके अन्दर है। सूर्य चक्षु रूप में शरीर में विद्यमान है। वायु प्राण रूप में, शरीर के अन्य अंग अग्नि को मिले हैं। जो विद्वान् है, वह इस मानव-शरीर को साक्षात् देव-पुरी या ब्रह्मपुरी समझता है, क्योंकि जैसे गौएं गोशाला में रहती हैं वैसे ही सब देव शरीर में आकर बसे हुऐ हैं।१ ऐतरेय उपनिषद् के अनुसार "अग्नि वाणी बनकर मुख में प्रविष्ट है, वायु प्राण बनकर नासिका में प्रविष्ट है, आदित्य चक्षु बनकर आंखों में प्रविष्ट है, दिशायें श्रोत्र बनकर कानों में प्रविष्ट हैं। ओषधि-वनस्पतियां लोम बनकर त्वचा में प्रविष्ट हैं। चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट है। मृत्यु अपान बनकर नाभि में प्रविष्ट है, जल रेतस् बनकर शिश्न में प्रविष्ट है।"

अथर्ववेद १०, २, ३१, ३३ के अनुसार मानव-शरीर देवपुरी अयोध्या है जिसमें आठ चक्र हैं, नौ द्वार हैं। इस पुरी के अन्दर एक ज्योति से आवृत हिरण्मय कोश है जिसका नाम स्वर्ग है। उस हिरण्मय कोश के अन्दर एक यज्ञ वास करता है जिसे वे जानते हैं, जो ब्रह्मवित् है, इस प्रभ्राज-माना, हृदयहारिणी, यशोमयी, अपराजिता, स्वर्णिम देवपुरी में ब्रह्मा का वास है।२

इस प्रकार मानव-शरीर के सम्बन्ध में वैदिक दृष्टिकोण यह है कि यह एक देवपुरी है। आंख,

---

१. अस्थि कृत्वा समिधः तदष्टापो असादयन्। रेतः कृत्वा ज्यं देवाः पुरुषमाविशन्॥ २९
या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह। शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेधिप्रजापति॥ ३०
सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य विभेजिरे। अथास्येतरमात्मानं देवा: प्रायच्छन्नग्नये॥ ३१
तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते। सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते॥ ३२

२. अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वगरँ ज्योतिषावृतः॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते। तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः॥
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्। पुरं हिरण्मयीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम्॥
आठ चक्र शरीर में नीचे से ऊपर की ओर क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, ललित, आज्ञा, सहस्रार,
नौ-द्वार-दो कान, दो नाक के छेद, दो आंखें, एक मुख, दो अधोद्वार, हिरण्मय कोश।

नाक, कान आदि सब अवयव एक-एक देवता के प्रतिनिधि ह। वैदिक विचार के अनुसार यह शरीर मल-मूत्र का चोला, या त्यागने योग्य वस्तु नही है। मानव आत्मा को अपना सौभाग्य समझना चाहिये कि देवताओं की यह पुरी उसे रहने के लिए मिली है।

यह यज्ञस्थली है—

इस शरीर के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य में यह विचार भी मिलता है कि यह एक यज्ञस्थली है। इस शरीर को हमें विषय-भोग का ही साधन न समझकर एक पवित्र यज्ञगृह समझना चाहिये। अथर्व वेद १०, २, १४ "किस एक देव ने पुरुष-शरीर के अन्दर यज्ञ को निहित किया है।"३ यह कहता हुआ मानव-शरीर की यज्ञमयता को बताता हुआ कहता है। अथर्व ११, ८, २९, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, शरीर की यज्ञमयता को बताता हुआ कहता है कि शरीर में हड्डियां ही समधायें हैं, रुधिर-वस्ति आदि के आठ प्रकार के जल ही यज्ञिय जल हैं और रेतस् ही घृत है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी हड्डियों को समिधा तथा रेतस् को घृत कहा गया है×। यजुर्वेद ३४,४ में मन की महिमा वर्णन करते हुए कहा है कि इस मन के द्वारा ही सप्तहोता यज्ञ चलता है❋। यह सप्तहोता यज्ञ पांच ज्ञानेन्द्रियां, मन और बुद्धि इन सात होताओं से परिचालित होने वाला ज्ञानप्राप्ति रूपी यज्ञ ही है जो कि शरीररूपी यज्ञशाला में होता है। गोपथ ब्राह्मण में शारीरिक यज्ञ की व्याख्या इस प्रकार की गई है- पुरुष का शरीर यज्ञभूमि है, मन ही इस यज्ञ का ब्रह्मा है, प्राण उद्गाता है, अपान प्रस्तोता है, व्यान प्रतिहर्ता है, वाणी होता है, आँख अध्वर्यु है, प्रजापति सदस्य है, अन्य अंग होत्रशंसी हैं, आत्मा यजमान है+। छान्दोग्य उपनिषद् के एक प्रकरण में मानव शरीर के यज्ञ का वर्णन इस रूप में मिलता है—पुरुष शरीर एक यज्ञ है, जिसकी आयु के प्रथम चौबीस वर्ष प्रातःसवन है, अगले चौवालीस वर्ष माध्यन्दिन सवन है···उससे आगे के अड़तालीस वर्ष तृतीय सवन है······इस प्रकार यह एक सौ सोलह वर्ष चलने वाला यज्ञ है। इस भावना से जो अपने शरीर को चलाता है वह एक सौ सोलह वर्ष जीवित रह सकता है।❁

यह ऋषिभूमि है-

यह शरीर ऋषियों की भूमि भी है। यजुर्वेद ३४, ५५ में कहा है कि शरीर में सात ऋषि बैठे हुए हैं, वे सातों बिना प्रमाद किये इस शरीर की रक्षा कर रहे हैं। जब यह शरीर सोता है, तब वे सातों ऋषि आत्मलोक में चले जाते हैं, पर दो देव ऐसे हैं जो उस समय भी शरीर में जागते

---

३ कोस्मिन् यज्ञमदधादेकोधिपूरुषे।

× अस्थि वा एतद् यत् समिधः। एतद् रेतो यदाज्यम्। तै० ब्रा० १, १, ६, ४॥

❋ येन यज्ञस्तायते सप्तहोता।

+ पुरुषो वै यज्ञस्तस्य मन एव ब्रह्मा, प्राण उद्गाता, अपानः प्रस्तोता, व्यानः प्रतिहर्ता, वाग् होता, चक्षुरध्वर्युः, प्रजापतिः सदस्यः, अंगानि होत्राशंसिनः, आत्मा यजमानः। गोपथ उ० ५।४।

❁ देखो छान्दोग्य उप० अध्याय ३, खण्ड १६

रहते हैं।% निरुक्त की व्याख्या के अनुसार पांच ज्ञानेन्द्रियां, छठा मन और सातवीं बुद्धि यह ही शरीर के सात ऋषि हैं। यह सदैव शरीर की रक्षा में तत्पर रहते हैं। यदि शरीर में से ये ऋषि निकल जायें और मनुष्य आंख से न देख सके, नासिका से गन्ध ग्रहण न कर सके, कान से न सुन न सके, जिह्वा से स्वाद का ज्ञान और त्वचा से स्पर्श का ज्ञान न कर सके। मन से चिन्तन और बुद्धि से विवेचन न कर सके तो कोई भी आकर उसकी हिंसा कर सकता है। आंख आदि के अभाव में उसे ज्ञान तक न होगा कि कोई उसकी हिंसा करने आया है। जब यह शरीर सोता है तब आंख आदि ऋषि स्थूल रूप में अपना कार्य करना बन्द कर देते हैं। उस समय वे आत्मलोक में चले जाते हैं। किन्तु उस समय भी आत्मा और प्राण यह दो देव शरीर में जागते रहते हैं, क्योंकि यह भी कहीं चले जायें तो शरीर मृत ही हो जाय।

अथर्व १०, ८, ९ में शरीर के विषय में यह वर्णन मिलता है कि "यह एक चमस, चम्मच या पात्र है,जिसका बिल नीचे की ओर और पृष्ठ ऊपर की ओर है, तो भी इसमें सब प्रकार यश निहित है। इस चमस में सात ऋषि भी बैठे हुए हैं जो इसकी रक्षा कर रहे हैं।* यह चमस शरीर का मूर्धा गर्दन से ऊपर का हिस्सा ही है। साधारण चमसों में पृष्ठ नीचे और छिद्र ऊपर रहता है। नहीं तो उनमें रक्खी वस्तु गिर जाय, पर यह ऐसा अद्भुत चमस है कि इसका छिद्र मुख नीचे की ओर है और पृष्ठ खोपड़ी ऊपर है। तो भी उस में विश्व रूप यश सर्वविध ज्ञान भरा हुआ है, गिरता नहीं। सात ऋषि पूर्वोक्त स.त इन्द्रिय रूपी ऋषि हैं। जो इसमें बैठे हुए इसकी रक्षा कर रहे हैं। यह सात ऋषि दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आंखें, और एक मुँह यह भी हो सकते हैं। जैसा कि अथर्ववेद १०, २, ६,× में परिगणित किये गये हैं। शतपथ ब्राह्मण १४।४।२ में भी इस चमस में रहने वाले यही ऋषि बतलाये गये हैं। और यह कहा गया है कि दा कान गौतम और भारद्वाज हैं। दो नासिकायें वसिष्ठ और कश्यप हैं, दो आंखें विश्वामित्र और जमदग्नि हैं, मुँह अत्रि है।

एवं वैदिक विचार के अनुसार हमें शरीर के प्रति यह भाव रखना चाहिये, कि यह ऋषियों की पवित्र तपोभूमि है और इसे किसी प्रकार दूषित नहीं होने देना चाहिये।

यह रथ है–

वैदिक साहित्य में इस शरीर को रथ भी कहा गया है। कठ उपनिषद् में यह रूपक इस प्रकार है–शरीर एक रथ है, आत्मा रथ का स्वामी है, बुद्धि उसका सारथि है, मन लगाम है, इन्द्रियां घोड़े हैं, विषय चारागाह है। जो बुद्धिरूपी सारथि का उपयोग नहीं करता और मनरूपी लगाम को ताने नहीं रखता, उसकी इन्द्रियां वश से बाहर हो जाती हैं। जैसे दुष्ट घोड़े सारथि के वश से

%सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ।

*तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो यस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।

×कः सप्त खानि वितर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षुषी मुखम्।

बाहर हो जाते हैं। पर जो बुद्धिरूपी सारथि का उपयोग करता है और मनरूपी लगाम को ताने रहता है, उसकी इन्द्रियां वश में रहती हैं। जैसे सधे घोड़े सारथि के वश में रहते हैं।[१]

शरीर की रथ से उपमा वेदों में भी दी गई है, ऋग्वेद २।१८।५ में कहा है "मनुष्य-शरीर इन्द्र का रथ है जिसमें चार युग हैं, तीन कशायें (चाबुक) हैं, प्रातःकाल साफ-सुथरा और नया करके जोता जाता है। सदिच्छाओं और बुद्धियों से चलाया जाता है।[२] ऋग्वेद १०।५९।१० में इसी शरीर-रथ के लिए कहा गया है कि "हे इन्द्र! तू शरीर-रथ को खींचने वाले बैल को ठीक प्रकार से चला जो कि उशीनराणी के रथ को खींचता है। सूर्य और पृथ्वी तेरे इस रथ के दोषों को दूर करते रहें। जिससे कोई भी रोग तुझको न सताये"[३]। इस मन्त्र में यह कल्पना की गई प्रतीत होती है कि यह शरीर एक रथ है जिसमें देवराज इन्द्र आत्मा अपनी रानी उशीनराणी[४] बुद्धि सहित बैठे हुए हैं। प्राण रूपी बैल (अनड्वान्[५]) इस रथ को खींच रहा है। इन्द्र आत्मा को कहा गया है कि तू इस प्राणरूपी बैल को ठीक प्रकार से चला। नहीं तो यह शरीर-रथ को रोगादि के गढ़ों में गिरा देगा। सूर्य की किरणों से और पृथ्वी की औषधि-वनस्पतियों से इस रथ के मलों को दूर करते रहना चाहिये। अन्यथा यह रथ रोगग्रस्त होकर चलना बन्द कर देगा।

ऋग्वेद १०।१३५।३ में मनुष्य को सम्बोधन कर कहा है—हे कुमार, बिना पहियों के चलने वाले एक ईषा दण्डवाले, चारों ओर वेग से चलने वाले, फिरने वाले जिस नवीन रथ को तूने मन से पसन्द किया, उस पर तू बिना समझे-बूझे ही बैठा हुआ है। यह बिना पहियों के चलने वाला नवीन रथ शरीर ही है। जिसमें मेरुदण्ड है। वेदमन्त्र मनुष्य को कहता है कि हे कुमार! जिस रथ को लोग जन्म-जन्मान्तरों की तपस्या के बाद कभी पाते हैं, ऐसा उत्तम मानव-शरीर रूपी रथ तुझे मिला, तो भी आश्चर्य की बात है कि उस पर बिना देखे-भाले, बिना सोचे-समझे तू बैठा हुआ है। तेरी

---

१. कठ, तृतीय वल्ली, श्लोक ३६।

२. प्राता रथो नवो योजि सस्निश्चतुर्युगस्त्रिकशः सप्तरश्मिः।
दशारित्रो मनुष्यः स्वर्षाः स इष्टिभिर्मतिभी रंह्योभूत्॥
इन्द्र आत्मा, चार युग दो भुजाएं, दो टांगें। तीन चाबुकें मन, बुद्धि, प्राण। सात लगाम सप्त शीर्षण्य प्राण, दस घोड़े दस इन्द्रियां।

३. समिन्द्रेरथ गामनड्वाहं य आवहदुशीनराण्या अनः।
भरतामप यद् रपो द्यौः पृथिवि क्षमा रपो मोषु ते किंचनाममत्॥

४. उशी इच्छावान्, नरः आत्मा, तस्य पत्नी उशीनराणी बुद्धिः।

५. अनः शरीररथं वहतीत्यनड्वान् प्राणः। "अनड्वान् प्राण उच्यते" अथर्व० ११।४।१३॥
यं कुमार नवं रथमचक्रं मनसाकृणोः एकेषं विश्वतः प्रांचमपश्यन्नधितिष्ठसि॥
यं कुमार प्रावर्तयो रथं विप्रेभ्यस्परि। तं समानु प्रावर्तत समितो नाव्याहितम्॥
ऋ० १०।१३५।४

स्थिति वैसी ही है जैसी उस मनुष्य की जो रथ पर तो बैठा हुआ है परन्तु जिसे यह नहीं मालूम कि जाना कहां है। तुझे चाहिये कि तू जीवन में अपना कोई उच्च लक्ष्य निर्धारित करे, और उस तक पहुँचने के लिए शरीररूपी इस उत्तम रथ का उपगोग करे।

इससे अगले मन्त्र में कहा है, हे कुमार ! यदि अपने शरीर-रथ को विप्रजनों के निर्देश के अनुसार ले चलेगा तभी यह समगति के साथ चल सकेगा। और तभी विघ्न-बाधाओं की नदियां बीच में पड़ने पर नौका पर चढ़ाये रथ की तरह यह कुशलता के साथ उस नदी को पार कर सकेगा।

ओ३म् देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे। ऋ० १।८९।२

देव लोग हमारे जीवन के लिये दीर्घायुष्य के साधन प्रदान करें।

महर्षि दयानन्द तथा अछूतोद्धार

डा० सीताराम जी पाकिस्तान में भारत के भू० पू० उच्चायुक्त

महर्षि दयानन्द ने जर्जरित और रोगग्रस्त हिन्दू समाज के लिए संजीवनी बूटी का काम किया। राम-रावण संग्राम के बीच लक्ष्मण को जब मेघनाथ की मूर्च्छा लगी तो राम का जैसे दाहिना हाथ ही जाता रहा था। हनुमान् जी ने मूर्च्छित लक्ष्मण के लिए हिमालय से संजीवनी बूटी लाकर राम के समस्त अनुचरों को बल प्रदान किया था, ठीक वैसे ही महर्षि दयानन्द ने हिन्दू समाज को नवीन जीवन दान दिया।

ऋषि दयानन्द के आर्य-जाति के उत्थान के लिए किए गए अनेक कार्यों में से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य अछूतोद्धार का था। कालान्तर में आकर जब आर्यसमाज का अछूतों को सामाजिक रूप में ऊपर उठाने का कार्य कुछ शिथिल सा हो गया तो उसी को महात्मा गांधी जी ने हरिजन-उद्धार के नाम से उठाया।

महर्षि दयानन्द अछूतों को हिन्दू समाज का अंग समझते थे और उन्होंने अपने अनुयायियों को आदेश दिया कि उनके साथ स्नेह तथा सहानुभूति का बर्ताव आर्य-जाति के जीवन और संगठन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वह उनके साथ मानवोचित व्यवहार के पक्षपाती थे।

सैंकड़ों वर्षों की गुलामी ही नहीं, बल्कि सामन्त प्रथा के कारण अछूत कहे जाने वाले वर्ग के साथ मानव का सा भी व्यवहार नहीं मिलता था। इस वर्ग के व्यक्ति सवर्ण कहे जाने वालों की सुख सुविधा के लिए अथक परिश्रम करते थे और बदले में उन्हें मिलता था, तिरस्कार, शोषण और अमानुषिक व्यवहार।

ऋषि दयानन्द के समय में ऐसा हो रहा था कि हमारे अछूत कहे जाने वाले वर्ग में से कुछ लोग विधर्मी होने लगे थे। उन्होंने हिन्दू समाज को चेतावनी दी कि यह दलित वर्ग यदि उच्च

कहलाने वाले वर्णों के अत्याचार से खिन्न होकर अन्य धर्मावलम्बियों की गोद में जाता रहा तो बड़ा अनर्थ हो जायगा।

उन्होंने हिन्दू समाज को यह स्पष्ट रूप से बता दिया कि यह इस वर्ग की उदारता है कि अब तक सवर्णों द्वारा कुत्सित व्यवहार होते हुए भी वह हिन्दू धर्म को अपना ही समझते हैं। विधर्मियों ने अनेक प्रकार के प्रलोभनों से अछूतों को अपने प्रभाव में लाने का यत्न किया, सवर्णों द्वारा जरा से भी कठोर व्यवहार का उन्होंने भरसक लाभ उठाने का यत्न किया, फिर भी यह हिन्दू समाज का सौभाग्य ही समझना चाहिए कि वह हिन्दू धर्म की ओर से किसी विशेष बड़ी संख्या में विमुख नहीं हुए।

महर्षि दयानन्द ने आज से बहुत पहले ही यह उपदेश दिया था कि यदि यह हिन्दूसमाज का चरण या पग कहा जाने वाला वर्ग विमुख हो जायगा तो हिन्दू समाज अपंग बन जायगा। स्वामी दयानन्द के सामने सम्भवतः अछूतोद्धार एक राजनैतिक समस्या के रूप में न रहा हो, पर वह इस बात का महत्व समझते थे कि इन्हें विधर्मी न होने दिया जाय तथा उनमें यह भावना कूट-कूट कर भरी जाय कि वह हिन्दू हैं और हिन्दू रहने में ही उनका हित है।

महर्षि दयानन्द के अछूतोद्धार कार्य के महत्त्व को हमारे अंग्रेज शासकों ने समझा था। स्वामी जी के उपरान्त उन्होंने इस बात के भरसक प्रयत्न किए कि हिन्दूसमाज के इस विशाल और महत्त्वपूर्ण अंग को उन से यथाशक्ति पृथक् कर दिया जाय। निर्वाचनों में अछूतों के विशेष हितों की दुहाई देकर उन्हें हिन्दू समाज से पृथक् करने का यत्न किया, परन्तु महात्मा गांधी की पैनी दृष्टि ने ऐसा नहीं होने दिया।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् इस दिशा में हम प्रायः उदासीन से हो गये हैं। हम ने सामाजिक अथवा आर्थिक दृष्टि से अछूतों अथवा हरिजनों की देखभाल छोड़ दी। सम्भवतः इसका कारण यह रहा हो कि सरकार ने भी समाज कल्याण कार्यों में हरिजन-उत्थान कार्य को अपना लिया है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि हम उदासीन रहे और हमारी इस उदासीनता से लाभ उठा कर अब अछूतों के धर्म-परिवर्तन का काम कुछ तीव्र सा होता दिखाई दे रहा है। आर्यसमाज का इसमें बड़ा उत्तरदायित्व है कि वह ऋषि दयानन्द द्वारा प्रशस्त मार्ग पर साहस और दृढ़ता के साथ चलकर इस आपत्ति का मुकाबला करे।

यह नहीं कहा जा सकता है कि आर्यसमाज के कार्यकर्ताओं को समाज सेवा के अन्य कामों में लगे रहने के कारण इस कार्य के लिए अवसर नहीं है। आर्यसमाज के सामने उन महान् नेताओं की स्मृति है जिन्होंने अन्य क्षेत्रों में कार्य करते हुए भी इस दिशा में प्रयत्न किया। इनमें महात्मा हंसराज, लाला लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानन्द के नाम प्रमुख रूप से लिए जा सकते हैं। ये महान् पुरुष एक ओर तो शिक्षा संस्थाओं और राजनीति में भाग लेते रहे, परन्तु साथ ही उन्होंने दलित वर्ग की उन्नति और हिन्दू समाज के संगठन में भी अपनी शक्ति लगाई।

अछूतोद्धार का प्रश्न केवल धर्म-परिवर्तन से सम्बन्धित नहीं है। पिछले दिनों हरिजन नेता

डा० अम्बेडकर के आदेशानुसार बहुत बड़ी संख्या में हरिजनों ने "बुद्धं शरणं गच्छामि", धम्मं शरणं गच्छामि", "संघं शरणं गच्छामि" का उच्चारण करते हुए बौद्ध धर्म की दीक्षा ली। ऐसा धर्म-परिवर्तन राजनैतिक महत्त्व का हो सकता है। उसका कोई अन्य अभिप्राय नहीं है। राग-द्वेष से उत्पन्न धर्म परिवर्तन की भावना हिन्दू समाज को तो विश्रृङ्खलित कर ही सकती है, उसके साथ-साथ वह हरिजनों का भी कोई भला नहीं करेगी। सम्भवतः राजनीतिक रूप में भी उन्हें कोई लाभ नहीं प्राप्त हो सकता।

मेरा विश्वास है कि हरिजनों को विधर्मी होने से बचाना आवश्यक है, उसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि उनमें इस प्रकार की भावना कूट-कूट कर भरी जाय कि वह हिन्दू हैं और उन का हिन्दू बने रहने में ही सब प्रकार से हित है। यह तभी सम्भव है जब हम हरिजनों को हर प्रकार से सामाजिक रूप से ऊचा उठाए और उन्हें सभी सामाजिक सुविधाएं प्रदान करें। शिक्षा का प्रसार, आर्थिक सहयोग, शारीरिक पुष्टि, मानसिक उत्थान— यह सभी उन्हें उन्नत करने में सहायक होंगे।

इसके लिए आवश्यक साधन जुटाने का कार्य जहां सरकार का है वहां आर्यसमाज का भी है। पिछले कुछ दिनों में आर्य समाज ने सामूहिक रूप में इस ओर वैसा ध्यान नहीं दिया जैसा वह पहिले देती था। आज नवीन उत्साह के साथ, जागरुकता के साथ सतत प्रयत्न की आवश्यकता है जिससे हिन्दू समाज के इस महत्वपूर्ण अंग को अपने से अलग होने से रोका जा सके। हमें इस प्रकार का वातावरण उत्पन्न करना होगा जिस में वह आत्म-सम्मान के साथ चल-फिर सकें। पाठशालाओं, सार्वजनिक व्यायामशालाओं, खेल-कूद की सामूहिक सुविधाओं, बार-बार परस्पर मिलन के बहु-विध साधनों के द्वारा, पूजा के इस प्रकार के स्थानों से जिन में सवर्ण और दलित कहे जाने वाले वर्ग साथ-साथ मिल कर भगवान् का स्मरण कर सकें, अछूतों को हम अपने साथ मिला सकेंगे। इसी में श्रेय है, इसी में आर्य जाति का हित निहित है, यह आर्यसमाज के सामने महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है।

———

'समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः"

सब का भोजन-पान समान (भेदभाव रहित) हो।

धर्म और संस्कृति

श्री सत्याचरण शास्त्री भूतपूर्व राजदूत

वीसवीं शताब्दी क्रान्तिमय युग है। प्रत्येक क्षेत्र में क्रान्ति के स्फुल्लिग विद्युत् वेग से दौड़ते हुए दिखाई देते हैं। रंगमञ्च की यवनिका की भाँति पल-पल में विश्व-मञ्च पर नवीन दृश्य उपस्थित हो रहा है। जो कुछ घंटों पहले करोड़ों नर-नारियों का अधिपति समझा जाता था आज उसका राज-मुकुट और राजसिंहासन धूलि-धूसरित हो अपने पूर्व गौरव की स्मृति दिला रहा है। सर्वत्र प्रजातन्त्र की शङ्खध्वनि से आकाश प्रतिध्वनित है। यह विप्लवोन्मुख गति केवल राजनैतिक क्षेत्र तक सीमित नहीं है। इसकी प्रलयङ्कारिणी छाया शुभ्र धर्म-मन्दिर पर अबाध रूप से पड़ रही है। ईश्वर और धर्म को मिथ्या और कल्पनामात्र मान कर इन्हें मिटाने की चुनौती दी जा रही है।

आडम्बरपूर्ण धर्म के सूत्रधार पादरियों और जार के क्रुर अत्याचार से कराहती हुई रूसी प्रजा ने सामूहिक शक्ति से उस उष्ण निःश्वास को छोड़ा जिसकी प्रचंड आंच में होनों ही जल कर राख हो गए। कार्ल मार्क्स के अनुयायी लेनिन ने जड़वाद को विशेष महत्त्व दिया। फलतः लोगों के हृदय में धर्म के प्रति अरुचि हुई और क्रान्ति की इस सुलगती हुई अग्नि के धुएँ समस्त विश्व में फैल उठे। स्थल-स्थल पर रूसी जनता की करुण अवस्था का कारण धर्म बतलाया गया। रूसी क्रान्ति को प्रभाव की पृष्ठ-भूमि का अध्ययन इस वस्तुस्थिति के विश्लेषण के लिये आवश्यक है।

जिनका धार्मिक अध्ययन है वे तो तथ्य को समझते हैं, किन्तु जिन्हें अंग्रेजी अनुवाद के माध्यम से भी आर्य-धर्म और संस्कृति के स्वरूप को जानने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ, वे सहज ही इन धर्म-विरोधी बातों पर लट्टू हो जाते हैं। इस बात को समझने का वह प्रयत्न नहीं करते कि आडम्बर अथवा बाह्य स्वरूप में धर्म नहीं रहता। उसका अधिवास सूक्ष्म अन्तस्थल में है। उस समय हमारे आश्चर्य की सीमा नहीं रहती जब हम इस धर्मविरोधी आन्दोलन को राष्ट्रीयता के नाम पर किया

जाता हुआ देखते हैं। कितनी ही बार राजनैतिक मञ्चों से अबोध वक्ताओं के मुख से यह सुनने को मिलता है कि हमारे सामाजिक एवं राजनैतिक अधःपतन का कारण धर्म है। वास्तव में उनके अभिभाषणों में रूस की आधुनिक धार्मिक क्रांति का प्रतिविम्ब वर्तमान है।

इसमें सन्देह नहीं कि रूस ने परम्परागत कुरीतियों की जड़ में कुल्हाड़ी मार कर आगामी सन्तान को दुःख से वचा लिया। संसार के आधुनिक संघर्ष को देख कर यह भी मानना पड़ेगा कि रूस का कायापलट होना अनिवार्य था, किन्तु रूस धर्म के विरोध में आन्दोलन उठा कर अर्वाचीनता की आन्तरिक शक्ति का समूलोच्छेदन कर रहा है। कदाचित् वह उस हठीले जर्मन तत्त्ववेत्ता की बातों की ओर विशेष रूप से आकर्षित है जिसने यह कहा था कि परमात्मा की मृत्यु हो गई और उसका अस्तित्व संसार में नहीं है।

रूस के सम्बन्ध में दूसरी क्षोभ उत्पन्न करने वाली बात उसका धर्म एवं संस्कृति को एक दूसरे का प्रतिद्वन्द्वी अथवा विरोधी समझना है। भारतीय विद्यार्थी भी संस्कृति-समर्थन की आड़ में बहुधा धर्म को कोसते हुए पाये जाते हैं। लगभग ४० वर्ष व्यतीत हो गए, रूस में एक अद्‌भुत घटना घटित हुई थी। क्रिसमस के अवसर पर लगभग दो हजार मनुष्यों ने खुली सड़कों पर मार्च करते हुए मार्कस्डट (Maxsdt) नगर के एक गिरजाघर में प्रवेश कर उसे 'कार्ल मार्क्स संस्कृति-भवन' का रूप दे दिया। क्रास हटा कर उसके स्थान पर क्रांति का रक्तवर्ण झंडा लगा दिया गया। वेदी (Altar) नष्ट-भ्रष्ट कर एक मञ्च का निर्माण किया गया जिसके एक किनारे पर यह अंकित किया गया कि हम से बढ़ कर हमारी रक्षा करने वाली कोई भी ऊँची शक्ति नहीं है। इसी प्रकार और बहुत से गिरजाघरों का नाम बदल कर 'संस्कृति-मन्दिर' रख दिया गया। यह व्याधि भारत में भी जोर पकड़ती जा रही है और ऐसी ईश्वर-विरोधी संस्कृति का उदय हो रहा है जिसका लक्ष्य समस्त विचार, विश्वास तथा जीवन को धर्म-निरपेक्ष बनाना है।

यथार्थ धर्म और संस्कृति एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। ऐतिहासिक और सामाजिक रूप से विचार करने पर यह स्पष्टतः ज्ञात हो जावेगा कि धर्म ने सभ्यता और संस्कृति के निर्माण में अधिक योग दिया है। इतिहास साक्षी है कि राष्ट्र के महान् धार्मिक आत्माओं ने ही सभ्यता का संरक्षण किया है। धर्म का वास्तविक स्वरूप सम्प्रदायवाद, कुतर्क और अन्ध-विश्वास के आवरण में विलुप्त हो जाता है। अतः धर्म के जीर्णोद्धार की बार-बार आवश्यकता पड़ती है। युग के महान् प्रवर्त्तक उद्धार और मुक्ति-संदेश के वाहक होते हैं। ठीक अर्थ में धर्म ही संस्कृति है। भारतीय दर्शन में धर्म का दूसरा नाम 'आत्मविद्या' है जिसका अर्थ 'आत्म-संस्कृति' है। स्वयं परमात्मा को परमपुरुष कहा गया है। धर्म और संस्कृति दोनों का ध्येय व्यक्तिगत आन्तरिक शुद्धि होता है जिससे मनुष्य जीवन के गम्भीरतम रहस्यों को समझकर आन्तरिक मुक्ति प्राप्त कर सके। हमारी निर्जीव सिसकती हुई सभ्यता को शक्ति, सादगी, भ्रातृत्व एवं विशाल मानव सहानुभूति के रंग में रंगने के लिए आन्तरिक काया-पलट की आवश्यकता है। इस सभ्यता के प्रमाणस्वरूप प्रत्येक युग में उत्पन्न अन्यान्य ऋषिगण हैं।

जहाँ तक आर्थिक समस्याओं का प्रश्न है, कार्लमार्क्स उसके सुलझाने में पथ-प्रदीप का कार्य कर सकता है, किन्तु विश्व के अन्तर्निरीक्षण के लिए उत्सुक जीव को उससे शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। रेनीज यूनीवर्सिटी के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता प्रोफेसर सी ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण शब्दों में कहा है "तथ्यता के सम्बन्ध में कार्लमार्क्स ने जो विचार प्रकट किया है उससे वह अधिक जटिल है।" मार्क्स उस वातावरण में उत्पन्न हुआ था जहाँ राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं के दुरूह प्रश्न उपस्थित थे। अध्यात्ममय जीवन का जड़वादमय जीवन के साथ एकीकरण उसे अभीष्ट नहीं था। उसके सिद्धान्त और विवेचन एकाङ्गी थे; इसीलिए उन्हें पूर्ण नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत भारतीय सिद्धान्त अध्यात्म और भौतिकवाद के समन्वित रूप का सन्निवेश कर जीवन की पूर्णता की कल्पना करना है।

वस्तुतः धर्म के नाम से चौंकना नहीं चाहिए। वह किसी विशेष सम्प्रदाय की वस्तु नहीं है। प्रचलित रीति-रिवाज, कथा-वार्ता तथा संस्थादि से धर्म को अभिहित करना ठीक नहीं है। धर्म इन सब से दूर रहते हुए उस मानव-कर्त्तव्य-पथ की ओर निर्देश करता है जहां मानव-हृदय की तन्त्रियां विश्व-शक्ति में अन्तर्लीन हो जाती हैं। किसी काल्पनिक अथवा साम्प्रदायिक धर्म का विरोध किया जा सकता है किन्तु धर्म के मूल-तत्त्व का विरोध बोलशेविक भी नहीं कर सकते।

आजकल स्वतन्त्र विचार एवं तर्क का प्राधान्य है। लोग सरल ढंग से बुद्धिसंगत धर्म के स्वरूप को जानना चाहते हैं। अतः नवीन युग की पुकार धर्म के पुनः संगठन अथवा निदर्शन की ओर उन्मुख है। यह कोई नवीन बात नहीं है। मानव-इतिहास धर्म के संशोधन और नवीन खोजों के इतिहास से भरा पड़ा है। धर्म के नाम पर कितनी ही ऐसी बातें प्रचलित हुई तथा हैं जिन्हें सुन कर लज्जा को भी लज्जा आती है। आत्मघात, पशु एवं नरबलि, शिशु-बलि, सतीदाह एवं ऐन्द्रिय पतनादि कितनी ही अपमानजनक बातों को धर्म के नाम पर प्रोत्साहित किया गया है। किन्तु इससे धर्म का वास्तविक स्वरूप विकृत नहीं हुआ। वह दर्पण के समान निर्मल रहता है। कुप्रथाओं के मलिन आवरण के अभ्यन्तर छिपे रहने के कारण साधारण जन की पहुँच से बाहर की चीज जान पड़ता है। पर जो इसका ठीक अन्वेषण करते हैं उनके नेत्र के सामने से पर्दा हट जाता है। स्वच्छ दर्पण के समान धर्म अपने वास्तविक आभास के साथ दृष्टिगोचर होता है। इसी आवरण अथवा मलिनता को हटाने के लिए युग-युग में महान् आत्माओं का आविर्भाव होता है। वे अपनी नई सूझ और अनुभव को धरातल पर उपस्थित कर लोगों का यथार्थ रूप से पथ-प्रदर्शन करते हैं। उनकी दृष्टि सूक्ष्म और अन्तर्मुखी होती है जिसके सामने भूत और भविष्य के चक्र समान रूप से खेलते हुए प्रतीत होते हैं। इसी अन्तर्मुखी वृत्ति को 'दर्शन' कहा जा सकता है, क्योंकि इसी से आत्म-निलय में चेतना एवं शक्ति समूह का प्रत्यक्षीकरण होता है। भारतीय दर्शन की दृष्टि से 'दर्शन' और 'धर्म' समान वस्तु के अभिव्यञ्जक अथवा एक ही विषय के दो भिन्न-भिन्न नाम हैं। यहीं पर पौरस्त्य और पाश्चात्य विचारों में अन्तर दीख पड़ता है। पाश्चात्य धर्मप्रणाली मनुष्यों को नियन्त्रित करने वाला एक नियम-समूह है किन्तु भारतीय धर्म का लक्ष्य बन्धनों से मुक्ति है

यदि धर्म स्वयं ही बन्धन हो तो उसे दासवृत्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। इसी बन्धनमय धर्म का प्रसिद्ध जर्मन तत्त्ववेत्ता नित्शे (Nietze) ने घोर विरोध किया है।

धर्म जीवन-विज्ञान है। संसार विशेष नियमों से संचालित होता है। उसके अन्तर्गत सभी वस्तुओं की गति के अलग-अलग नियम हैं। जिस नियम के द्वारा ग्रहों की गति नियमित होती है वही पशु-जीवन के लिए लागू नहीं हो सकते। फूल, पत्तियां, सभी के जीवन हिलोरों में नियम पूर्वक कार्य करते हैं। इन्हीं नियमों को जानने वाला तत्त्ववेत्ता कहलाता है। जिसकी जहां तक पहुंच होती है उसी के अनुरूप उसे पद प्राप्त होता है। भारतीय ऋषियों ने विश्व-रहस्य के नियमों का साक्षात्कार किया था। जीवन रहस्य के गूढतम नियमों का साक्षात्कार ही धर्म-दर्शन है। नियमों का साक्षात्कार इतना व्यापक विषय है कि इसकी परिधि के अन्तर्गत धर्म के सभी अङ्ग आ जाते हैं, क्योंकि जीवन और धर्म का अनिवार्य सान्निध्य है।

सच्चे धर्म का किसी सद्वस्तु से विरोध नहीं होता। विज्ञानादि सभी विषय उसके अनुकूल होते हैं। पार्थिव विज्ञान बाह्य प्रकृति के अन्वेषण तक पहुँच पाता है, किन्तु वहीं अपने सूक्ष्म रूप से अध्यात्म-तत्त्व के रहस्यतम मार्ग का ज्ञान प्राप्त करा सकता है। अर्वाचीन काल के सबसे महान् विज्ञानवेत्ता आयन्सटीन (Einstein) ने अपने अन्वेषण के सिलसिले में बहुत सी बातों का दर्शन किया है जिसके द्वारा वैदिक-धर्म-सम्मत पुनर्जन्मादि सिद्धान्तों पर विश्वास हो गया है। उसने अणु और परमाणुओं की सूक्ष्मतम गतियों की आधार-शिला ईश्वर को मानना स्वीकार कर लिया है। इससे यह सिद्ध होता है कि विज्ञान उच्चतम शिखर पर पहुंच कर धर्म के गुह्यतम तत्त्व में विलीन हो जाता है। यह सभी दर्शन के अध्येताओं को ज्ञात है कि अखिल ब्रह्माण्ड का आधारभूत तत्त्व परम पुरुष है। इसी परम पुरुष के द्वारा विभिन्न शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ है। क्या प्राकृतिक अथवा भौतिक या अन्य सभी विषय उसी आदिपुरुष के प्रकाश (Manifestations) हैं। सभी अन्ततोगत्वा उसी में विलीन हो जाते हैं। इसीलिए यदि विज्ञान धर्मादि सभी विषयों का आपस में विरोधाभास हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? भौतिक विज्ञान पार्थिव नियमों का अन्वेषण करता है, धर्म इससे परे आध्यात्मिकता का। अन्तर केवल वस्तु तत्त्व और परिधि का है।

धर्म सम्प्रदायवाद नहीं है। धर्म के पूर्व किसी विशेषण पद का रखना ही धर्म के दायरे को संकुचित करना है। बौद्ध, जैन, मुसलिम एवं क्रिश्चियन आदि विशेषण पद से यह घोषित होता है कि धर्म एक विशिष्ट एवं निर्धारित सीमा में बन्द है; पर यह विचार भ्रमात्मक है। जो धर्म मनुष्य को ठीक कर्त्तव्य-पथ पर आरूढ़ कर मुक्ति-दान की घोषणा करता है, वह स्वय बद्ध हो, इससे बढ़ कर विरोधात्मक कथन और क्या हो सकता है। साम्प्रदायिक धर्म के नाम पर ही आज तक सत्य, प्रेम और जीवन के आवश्यक सिद्धान्तों का विरोध किया गया है। प्रायः सभी सम्प्रदायों के सम्माननीय पुरुषों ने धर्म की परिभाषा की है, किन्तु उसे ही धर्म की वास्तविक परिभाषा समझना भूल है। मनुष्य अपने दृष्टिकोण के अनुसार ही किसी वस्तु की परिभाषा करता है; किन्तु धर्म किसी व्यक्तिविशेष के मस्तिष्क में पूर्णरूपेण अवतरित हो, यह कठिन है, क्योंकि धर्म का

प्रवाह अमित, अविच्छिन्न, सतत और विकासोन्मुख होता है; उसके विपरीत मनुष्य की गवेषणा-शक्ति सीमित होती है। यदि धर्म अथवा ज्ञान एक ही बार एक ही पुरुष में पूर्णतः प्रतिभासित होता तो अग्नि, वायु, आदित्य तथा अङ्गिरा में से किसी एक में प्रकाशित हो जाता। ब्राह्मणग्रंथ, उपनिषद्, गीतादि ग्रन्थों के प्रकाशक सैंकड़ों ऋषियों की व्याख्या की क्या आवश्यकता थी? जैसे अन्यान्य क्षेत्रों में विद्वानों की कोटियाँ उनकी प्रतिभा के अनुसार होती हैं। धर्म-द्रष्टाओं की भी श्रेणियाँ होती हैं। जो मनुष्य पक्षपातरहित हो सत्य को अपनाता है, उसे ही धर्म का वास्तविक आनन्द प्राप्त हो सकता है। वह साम्प्रदायिक द्वेष, कलह से दूर रह कर एक वैज्ञानिक की भांति सत्य का अन्वेषण करता जाता है। उसे धर्म, काल की छाया में बहता हुआ, शक्ति और साधना की लहरिकाओं से समन्वित, एक जीवन-स्रोत ज्ञात होता है। जिस प्रकार सूर्य की धवल किरणों की वर्षा से वृक्ष फल-प्रद हो जाता है, वैसे ही धर्म युग-युग में मानव-जीवन के प्राङ्गण में अमर-तत्त्व की दिव्य रश्मियों को छिटका कर मनुष्यत्व को सफल बनाता है।

इसी सम्बन्ध में संस्कृति (Culture) के ऊपर भी कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है। संस्कृति के विषय में बहुत से लेखकों ने अपने विचार प्रकट किये हैं। प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक मैथ्यू आर्नल्ड (Mathew Arnold) ने कहा है कि "संसार में जो सबसे अच्छी बात कही तथा सोची गई है उसी का संसर्ग संस्कृति है।" मैथ्यू आर्नल्ड का यह कथन केवल योरोपीय साहित्य, कला तथा दर्शन तक सीमित है। फिर भी इस परिभाषा से पर्याप्त विषय-निर्देश हो जाता है। संस्कृति के मूल भावों के विवेचन के पूर्व यह जान लेना अत्यावश्यक है कि यह केवल विद्वानों की ही सम्पत्ति नहीं है। बहुत से किसानों में संस्कृति के भाव वर्तमान रहते हैं किन्तु इसके विपरीत कितने ही उद्भट विद्वान् इससे शून्य रहते हैं। विद्वत्ता और संस्कृति को एक ही में मिश्रित करना असंगत है। यह आवश्यक नहीं कि बड़े काव्यों तथा समालोचनाओं से ही संस्कृति का भाव उदय हो। उसके लिए दूसरे ही वातावरण और साधनों की आवश्यकता है। "सबसे अच्छी कही तथा सोची हुई बात का ससर्ग ही संस्कृति है।" इसे थोड़ा विस्तृत रूप में समझ लेना उचित है। यह कथन मेरी समझ में आत्मिक एवं नैतिक उत्कर्ष की ओर संकेत करता है। 'संस्कृति' शब्द का सम्बन्ध ही साफ, सुथरा एवं स्वच्छ वस्तु से है। संस्कृति का आधार आत्मा है। आत्म-मन्दिर ही संस्कृत करना वास्तविक संस्कृति है। यह कैसे संभव है? इसी का उत्तर आर्नल्ड के शब्दों में संसार में अवतीर्ण उत्तम विचारों के संसर्ग में रहना है।

अब यह प्रश्न उठता है कि उत्तम विचारों से कौन निकृष्टतम भाव तिरोहित होकर सुसंस्कृत भावों को जन्म देते हैं? इसका समाधान स्पष्ट है। उत्तम विचारों से आत्मा के ऊपर पड़े हुए काम-क्रोधादि मनोगत दोषावरण दूर हो जाते हैं और आत्म-गुण अपने शुद्ध स्वरूप में प्रकट होते हैं। इसी लिए बड़-बड़े विद्वान् महान् ग्रन्थों के अध्ययन के अनन्तर भी वासनाओं की दासता के कारण अपने आत्म मन्दिर को शुद्ध नहीं कर पाते। वे संस्कृति से शून्य रह जाते हैं। रावण वेद का परम पंडित था। उसकी आत्मा मनोगत वासनाओं से आक्रान्त हो मलिन हो गई थी। इसी लिए उसमें संस्कृति

का भाव नहीं रहा। कबीर पुस्तकीय विद्वान् नहीं थे किन्तु उनमें उत्तम विचारों का क्रियात्मक संसर्ग था जिसके कारण उनके सुसंस्कृत आत्म-मन्दिर में संस्कृति-दीपक प्रकाशित हो रहा था।

गीता विश्व में संस्कृति की सबसे बड़ी पुस्तक है। आर्नल्ड आदि विद्वानों के मत तो केवल भूमिका मात्र हैं। गीता के दूसरे अध्याय में आदर्श संस्कृतिमय मनुष्य का चित्रण किया गया है। गीता के शब्दों में उसे 'स्थितप्रज्ञ' कहते हैं। स्थितप्रज्ञावस्था में मनुष्य की इन्द्रियाँ उसके वशीभूत हो जाती हैं। उसके हृदय में प्रेम और प्रकाश का साम्राज्य छा जाता है।

स्थितप्रज्ञ, संतुलित-बुद्धि (Balanced mind) का मनुष्य होता है। स्थितप्रज्ञता का ही मुख्य अंग आत्म-संयम (Self-Control) है। इसकी महत्ता आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान-दर्शन में भी स्वीकार की गई है। इच्छाशक्ति और आत्म-संयम, इन दोनों की विशद व्याख्याएँ पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी की हैं। सच पूछिये तो गीता के स्थितप्रज्ञ के अनुकूल ही मनुष्य सच्चा आदर्श नागरिक बन सकता है। जिस नागरिक में संयमपूर्ण संस्कृति का भाव नहीं है, वह राष्ट्र को ऊँचा नहीं उठा सकता। स्वार्थपूर्ण इच्छाओं से राष्ट्र का जीवन कलुषित और सशंक हो उठता है। स्थितप्रज्ञ काम-क्रोध से रहित संयमित बुद्धि वाला होता है। उसके हृदय में प्रेम और सहानुभूति का अगाध भंडार वास करता है। ऐसे ही व्यक्तियों के जीवन में सच्ची संस्कृति का उद्भास दृष्टिगत होता है।

संस्कृति का मूल स्थल क्या है? इस पर दो प्रकार के विचारकों की सम्मतियाँ दी जाती हैं जिनके तुलनात्मक अध्ययन से उत्कृष्ट विचार का स्वतः ज्ञान हो जावेगा। बेकन (Bacon) अंग्रेजी का प्रसिद्ध दार्शनिक लेखक हो चुका है। अपने एडवान्समेन्ट आफ लर्निंग (Advancement of Learning) नामक पुस्तक में उसने बहुत से गम्भीर विषयों पर विचार किया है। उसके अध्ययन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उसमें मानव-जीवन की आन्तरिक स्वच्छन्दता के विस्तृत प्रकाश का अभाव है। इसका कारण यह है कि बेकन की बुद्धि 'इच्छाओं के चक्र' में फँसी हुई थी। फलतः, संस्कृति के सम्बन्ध में भी उसके भाव इससे अछूते न बचे।

संस्कृति का भारतीय आदर्श आत्मा में छिपा हुआ है। जो आत्मा एवं मन तथा आत्मिक गुण एवं मनोगत भावों में अन्तर होता है वही 'इच्छावस्थित संस्कृति' और 'आत्म-स्थित संस्कृति' में अन्तर है। आत्मा के गुण स्वभावतः उत्कृष्ट होते हैं। मनोगत गुण इसके विपरीत होते हैं। इसीलिए जिस संस्कृति का मूल स्थल आत्मा होता है वही उच्चतम है। भगवान् गौतम बुद्ध ने संस्कृति के सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर शब्दों का प्रकाशन किया है:—

'मैं जोतता तथा बोता हूँ और इसके परिणामस्वरूप मुझे अमर-फल की प्राप्ति होती है। मेरा क्षेत्र धर्म है। जिन घासों को उखाड़ कर क्षेत्र को स्वच्छ बनाता हूं वे मेरी इच्छाएँ हैं। मेरा हल ज्ञान और बीज पवित्रता है।'

प्रत्येक मनुष्य में आत्म-ज्योति वर्तमान रहती है। इस भाव के ऊपर भारतीय ऋषियों और रोम के उदासीन पुरुषों (Stoics) ने समान रूप से पर्याप्त बल दिया है। सस्कृति की चेतना

(Consciousness of Culture) आत्म-प्रकाश की ओर अग्रसर होती है। इसी चेतना का संरक्षण ऋषियों की दैनिक तपस्या थी। वे नम्रभाव से प्रार्थना करते थे :—

तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमय

अर्थात् हे प्रभो! अन्धकार से मुझे प्रकाश में ले चलो। मृत्यु से मुझे अमरत्व की प्राप्ति कराओ।

सांस्कृतिक चेतना का सबसे बड़ा फल 'विनय' है, जिस मनुष्य के अन्दर संस्कृति का भाव रहता है वह स्वभावतः विनयशील हो जाता है क्योंकि वह जानता है कि ज्ञान अनन्त है और इस बात का किसी को गर्व नहीं हो सकता कि वह सम्पूर्ण ज्ञान का अधिकारी है। संस्कृति का सत्य के साथ परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। सत्य-मन्दिर में सांस्कृतिक चेतना का वह स्वरूप उदय होता है जहाँ अपने-पराये का भाव नष्ट हो समदर्शिता का राज्य व्याप्त होता है। साम्प्रदायिक, जातीय, प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय भावों से परे महान् सांस्कृतिक भावों का आविर्भाव होता है। प्रत्येक कोण से वह सत्य का आह्वान करता है। सारांश, अदासता, सहिष्णुता, निरंकुशता, ओछापन तथा हीनतादि संस्कृति के विरोधी भाव हैं। आन्तरिक स्वतन्त्रता, सादगी, सुरुचि, उदारता, विनय तथा उच्च जीवनादर्श संस्कृति के अनुकूल भाव हैं।

धर्म और संस्कृति के उपर्युक्त विवेचन से यह पता लग जायगा कि दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। धर्म की ही छाया में वास्तविक संस्कृति का लालन-पालन होता है। धर्म और संस्कृति के जिन मुख्य-मुख्य गुणों का दिग्दर्शन कराया गया है उनका विरोध संसार का कोई भी धर्म नहीं कर सकता। क्योंकि उनके द्वारा लौकिक और अलौकिक, दोनों उन्नतियों की सिद्धि होती है। अतः धर्महीन संस्कृति और संस्कृतिहीन धर्म, दोनों का कभी अभ्युत्थान नहीं हो सकता और इसका अनुगमन करने वाली जाति सदा ह्रास को प्राप्त होती है।

कम्यूनिज्म और आर्यसमाज

श्री पं० सत्यव्रत आर्य विद्यावाचस्पति

आज चारों ओर से यह ध्वनि सुनने में आ रही है कि कम्यूनिज्म आ रहा है। रोटी, कपड़ा और मकान के नारे के पीछे भौतिकवाद, भोगवाद और नास्तिकवाद के रूप में वह खूंख्वार राक्षस आ रहा है जिस का एकमात्र उद्देश्य रोटी के टुकड़े का प्रलोभन देकर भारतीय संस्कृति, भारतीय परम्परा व भारत के उज्ज्वल अतीत को भस्मसात् कर देना है। जहाँ साधारण जनता इसे केवल एक राजनैतिक दल समझकर इसके प्रलोभनपूर्ण नारों से प्रभावित हो रही है वहाँ आज का अधकचरा शिक्षित वर्ग विशेषतः कालेजों व विश्वविद्यालयों का छात्रसमुदाय धर्मनिरपेक्ष राज्य और चरित्रनिरपेक्ष शिक्षा की छत्रछाया में पलकर अपनी उच्छृङ्खल प्रवृत्तियों के प्रकाशन का सुअवसर देखता हुआ इस इज़्म की ओर आकर्षित हो रहा है। ऐसी स्थिति में इसके सिद्धान्तों की परीक्षा की आवश्यकता है। क्या वस्तुतः इसके अन्दर वे तत्त्व है जो मानव के लिये कल्याणकारी हो सकते हैं? क्या विश्व को सत्य और मानवता का संदेश देने वाले आर्यसमाज के सिद्धाँत इसका समर्थन करते हैं?

कम्यूनिजम के सिद्धांत दो प्रकार के हैं, दार्शनिक और आर्थिक, इसे मार्क्सवाद भी कहते हैं। कम्यूनिज्म के सिद्धांतों का प्रवर्तक कार्लमार्क्स उस समय जर्मनी में पैदा हुआ था जब यूरोप के दार्शनिक लंगड़ी "फिलोसोफी" लेकर विश्वव्याख्या का प्रयास कर रहे थे। मार्क्स ने भी अंधेरे में टटोल-टटोल कर एक दर्शन को जन्म दिया। उसका दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) कहलाता है। यह कम्यूनिज्म का मूल सिद्धान्त है। उसके अनुसार द्वन्द्व-नियम बाह्य जगत् और चिंतन जगत् दोनों की गति को निर्धारित करते हैं। पहली अवस्था में जब मात्रागत परिवर्तन एक विशेष दर्जे पर पहुंच जाते हैं तब एकाएक गणात्मक भेद आविर्भूत हो जाता है। दूसरी अवस्था विरोधी का समवाय अथवा सहावस्थिति (Interpenetration of opposits) है।

वस्तुएँ स्वभावतः विरोधग्रस्त हैं। उनके ऋणात्मक और धनात्मक पक्ष होते हैं। यह सहावस्थान संघर्षों को जन्म देता है। तीसरी अवस्था निषेध का निषेध अथवा विपरिणाम का विपरिणाम (Negation of negation) है। वाद का विरोध करके प्रतिवाद स्वयं ही निषिद्ध हो जाता है। यह अन्तिम निषेध या विपरिणाम युक्तवाद है। यहां भी निषेध की अस्वीकृति या विनाश नहीं है। इस द्वन्द्ववाद के अनुसार चिन्तन तथा बाह्य जगत् में संघर्ष होता रहता है। इसलिए कम्यूनिस्ट सुधार में विश्वास नहीं रखते। वे सदा क्रांति करना चाहते हैं। यह तो रहा द्वन्द्ववाद, अब इस प्रमुख दार्शनिक सिद्धांत का दूसरा भाग भौतिकवाद रह जाता है। कम्यूनिज़्म मानता है कि ब्रह्मांड में केवल जड़तत्व ही अर्थात् भौतिक पदार्थ की ही सत्ता है। आत्मा या परमात्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। हमारे अन्दर जो चेतना है वह आत्मा की दी हुई नहीं हैं, अपितु वह जड़ पदार्थ में से ही पैदा हो जाती है। अतः जब आत्मा और परमात्मा नाम की कोई वस्तु ही नहीं तो पुनर्जन्मवाद, कर्मवाद, ईश्वरोपासना, पाप, पुण्य आदि व्यर्थ की चीजें हैं। संसार को बनाने के लिए किसी कर्ता की आवश्यकता नहीं, यह तो स्वयमेव बन जाता है। और द्वन्द्व-नियम से शासित होकर चलता रहता है। यही उनका द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। इसी पर कम्यूनिस्ट गर्व के साथ कहा करते हैं कि हीगल का पूर्ण प्रत्यय (Absolute Idea) वाला दर्शन (जो कि ईश्वरवादी था) उल्टा शिर के बल पड़ा था। उसे मार्क्स ने सीधा खड़ा कर दिया, अर्थात् वह चेतन सत्ता से जड़ को निकला हुआ मानता था, किन्तु मार्क्स ने ठीक उसके विपरीत यह प्रतिपादन किया कि जड़ से ही चेतन प्रादुर्भूत होता है।

आर्यसमाज की धारणा इसके विपरीत है। महर्षि दयानन्द ने विश्व को त्रैतवाद का सिद्धान्त बता कर दार्शनिक जगत् में हलचल मचा दी। पश्चिम के किसी दार्शनिक के मस्तिष्क में कभी यह आया भी न था कि ब्रह्मांड में ईश्वर, आत्मा और प्रकृति नाम की तीन सत्ताएें नित्य, अनादि व शाश्वत हैं, कम्यूनिज्म के इस भ्रामक व भयंकर सिद्धान्त का मुंहतोड़ उत्तर केवल आर्य-समाज दे सकता है। केवल आर्यसमाज उसे बतला सकता है कि बिना कर्त्ता के सृष्टि किसी प्रकार सम्भव नहीं तथा कार्य में द्रव्य के गुण कभी व किसी अवस्था में भी नष्ट नहीं होते। आर्यसमाज की धारणा है कि चेतना ज्ञानयुक्त गतिशीलता है। मोटर दौड़ती है तो हम उसे चेतन नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें ज्ञान का अभाव है और मोटर में गति भी किसी चेतन की ही दी हुई है, वह अपने आप नहीं दौड़ने लगती। जब जड़पदार्थ ज्ञानशून्य है तो उससे निकली चेतना में ज्ञान कहां से आगया। आर्य समाज इस विश्व ब्रह्मांड का कर्त्ता ईश्वर को मानता है, इसका सिद्धान्त है कि बिना तीन वस्तुओं के संसार में कोई कार्य नहीं होता अर्थात् बनाने वाला, भौतिक पदार्थ, जिससे कार्य की रचना की जाय और जिसके लिये बनाया जाय। इन तीनों में किसी एक के ही अभाव होने पर कोई कार्य नहीं होता। जैसे कुम्हार मिट्टी से सकोरे बनाता है और इसलिये बनाता है कि किसी व्यक्ति के घर विवाह आदि उत्सव है, जिसके लिये उसे उसकी आवश्यकता है। अब यदि कुम्हार न हो, तो मिट्टी तथा जिसे सकोरों की आवश्यकता है, उनके होते हुए भी सकोरे नहीं बन सकते और

यदि मिट्टा न हो और शेष दोनों ही हों तो भी सकोरे नहीं बन सकते। इसी प्रकार यदि कुम्हार और मिट्टी हो, किन्तु जिसे सकोरे की आवश्यकता हो वह न हो, तब भी कुम्हार उस मिटटी से सकोरे बनाने का व्यर्थ प्रयास कदापि नहीं करेगा। इसी प्रकार इस ब्रह्मांड में भी तीन पदार्थ अर्थात् ईश्वर कर्त्ता, प्रकृति (भौतिकपदार्थ) और आत्मा (जिसके लिये ससार बनाया जाता है) अर्थात् ईश्वर प्रकृति से आत्मा के लिये संसार आदि को बनाता है। स्रष्टा (Creator) नहीं, अपितु रचयिता (Former) है अर्थात् वह प्रकृति को नहीं पैदा करता उस नित्य प्रकृति को अनेकों रूप (Form) दे देता है।

इस वैदिक त्रैतवाद के अतिरिक्त आर्यसमाज पुनर्जन्म के सिद्धान्त को भी मानता है जो कि कर्मवाद पर आधारित है। आर्यसमाज मानता है कि "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" अर्थात् अपने किये हुए शुभ अथवा अशुभ कर्मों का फल आत्मा को भोगना पड़ेगा। इससे छुटकारा नहीं। इस प्रकार आर्यसमाज कम्यूनिज्म के सिद्धान्तों पर कुठाराघात करता है। कम्यूनिस्ट तो आत्मा को ही नहीं, मानते अतः उनके लिये पुनर्जन्म व किये हुये कर्मों के फल भोगने के सिद्धान्तों का प्रश्न ही नहीं पैदा होता।

कम्यूनिस्टों के द्वन्द्वात्मक दर्शन के लिये कुछ भी अन्तिम त्रिकाल-सत्य और पवित्र नहीं है। वह हर चीज में हर चीज की क्षणभंगुरता का दर्शन करता है। उसके सामने निम्न से ऊर्ध्व की ओर अविराम उन्नति को छोड़कर कुछ भी चिरन्तन नहीं है और द्वन्द्वात्मक दर्शन चिन्तनशील मस्तिष्क में उस क्रम के प्रतिबिम्ब मात्र के सिवा कुछ नहीं है। विकास-क्रम की पहले की मंजिले नहीं आती अर्थात् बराबर विकास हो रहा है। कम्यूनिस्ट वेद को अन्तिम सत्य का प्रकाशक नहीं मान सकते और उसके अनुसार अब वह वैदिक युग, वर्णव्यवस्था आदि नहीं आ सकते। अब वे प्राचीन व्यवस्थाएँ युग-धर्म के बाहर (Out of date) हो चुकी है। किन्तु आर्यसमाज ठीक इसके विपरीत मानता है कि वेद अपौरुषेय होने से अन्तिम और त्रिकाल सत्य हैं। आत्मा, परमात्मा और प्रकृति तीनों नित्य हैं कम्यूनिस्ट कहते हैं कि किसी घटना की पुनरावृत्ति नहीं होती, किन्तु आर्यसमाज का सिद्धान्त है कि पुनः रामराज्य आ सकता है, वेदों की पुनीत ऋचाएं आर्यगृहों में गूंज सकती हैं। जहां कम्यूनिज्म कहता है कि विकास की गति निरन्तर ऊर्ध्वोन्मुखी है, वहां आर्यसमाज का कहना है कि संसार में अनवरत विकास या उन्नति ही नहीं होती, अवनति भी होती है। उन्नति, अवनति, विकास व ह्रास का नियम चक्रवत् चलता रहता है। उसका विकासवाद, आर्यसमाज की दृष्टि में ह्रासवाद है। अण्डमान आदि द्वीपों की जातियाँ इसका स्पष्ट उदाहरण हैं। वहां के निवासी असभ्य हैं अंग्रेजों से सम्बन्ध होने से पूर्व उनको धातु तक का भी ज्ञान न था। ये जातियां इतनी मूर्ख हैं कि दो से अधिक गिनती तक नहीं जानतीं। किन्तु अण्डमन द्वीपों की भूमि खोदने पर भाले आदि लोहे के अस्त्र-शस्त्र और सभ्य जातियों के ऐसे उपकरण मिले हैं जो इस बात को सिद्ध करते हैं कि वे सदा से ऐसे ही असभ्य व मूर्ख न थे।

कम्यूनिज्म का एक मुख्य सिद्धान्त इतिहास की भौतिकवादी धारणा है। संक्षेप में वह इस

प्रकार है। साधारण रूप से, भौतिकवाद के अनुसार, चेतना अस्तित्व का परिणाम है न कि इससे विपरीत मनुष्य जाति पर भौतिकवाद को लागू करने से यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिये कि सामाजिक चेतना, सामाजिक अस्तित्व का परिणाम है। (It is not consciousness of the man that determines their every day life but on the contrary their social life determines their consciousness)। पूंजी (Capital) के प्रथम खण्ड में मार्क्स ने लिखा "उद्योग-शास्त्र से पता चलता है कि प्रकृति से मनुष्य किस तरह व्यवहार करता है। वह उत्पादन-क्रम क्या है, जिससे उसका यापन होता है और उसी से उस पद्धति का भी पता चलता है, जिसके अनुसार सामाजिक मनुष्य के सम्बन्ध और तज्जनित मानसिक कल्पनाऐं निर्मित होती हैं। इस प्रकार कम्यूनिज्म मनुष्य को परिस्थितियों का दास बना देता है। उसके अनुसार हम कुछ नहीं करते, सारी घटनाऐं अपने आप होती है। हम उसमें कठपुतली की तरह साधन भर बन जाते हैं। हम जो कुछ करते हैं हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं है।

आर्यसमाज का सिद्धान्त इसके प्रतिकूल होना स्वभाविक ही है। क्योंकि वह कम्यूनिज्म की तरह चेतना को जड़ से निकला हुआ नहीं समझता। अतः हमारी आत्मा परिस्थितियों की ऊंगली के इशारे पर नाचने वाली नहीं है, भौतिक पदार्थ हमारा शासक नहीं, अपितु हम ही जड़ पदार्थों पर शासन करते हैं। सामाजिक चेतना हमारी चेतना पर ही निर्भर है। आर्यसमाज "स्वतन्त्र कर्त्ता" का अनुयायी है। हमारे भीतर वह शक्ति है जिससे हम समाज को बदल सकते हैं, इतिहास की गति को मोड़ सकते हैं।

कम्यूनिज्म का एक अन्य दार्शनिक सिद्धान्त 'वर्ग संघर्ष' का है। कम्यूनिस्ट 'घोषणा-पत्र' में मार्क्स ने लिखा था—"अब तक के विद्यमान समाज का इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास है।" कम्यूनिज्म समस्त मनुष्य समाज को दो वर्गों में बांट देता है—पूंजीपति (शोषक) और मजदूर (शोषित)। मार्क्स घोषणा-पत्र में लिखा था—पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध आज जितने वर्ग खड़े हैं, उन सब में केवल मजदूर वर्ग ही वास्तविक रूप में क्रान्तिकारी हैं। दूसरे वर्ग आधुनिक उद्योग-धन्धों के सामने नष्ट-भ्रष्ट होकर अन्त में समाप्त हो जाते हैं। मजदूर वर्ग उसकी आवश्यक और खास उपज है। इस प्रकार कम्यूनिज्म दोनों वर्गों में संघर्ष आवश्यक बतलाता है। उसकी दृष्टि में आर्थिक वैषम्य की समस्या हल करने के लिये वर्ग-संघर्ष ही एकमात्र उपाय है। कम्यूनिज्म के अनुसार अच्छाई केवल परिणाम पर निर्भर करती है। चाहे साधन कैसे भी हों। यदि पूंजीपतियों को नष्ट करके, मजदूरों को सुखी बनाने के लिये लाखों के सिर काटने पड़ें, तोड़-फोड़, लूट, हिंसा, घृणा, अत्याचार आदि को अपनाना पड़े तो वह भी अनुचित नहीं। एंजिल्स, लेनिन और स्टालिन ने सर्वहारा श्रमिक के वर्ग-संघर्ष की कार्य नीति पर प्रकाश डालते हुए लिखा था कि मजदूर को जब नामचार के शान्तिपूर्ण विकास पथ पर "नौ दिन चले अढ़ाई कोस" की प्रगति हो रही हो। अग्रसर-वर्ग की शक्ति, युद्ध-सामर्थ्य और वर्ग-चेतना को बढ़ाना चाहिये।

आर्यसमाज प्राणिमात्र का कल्याण करना चाहता है। आर्यसमाज कभी नहीं चाहता था कि कोई वर्ग अधिक खाने से मरे और कोई भूखा मरे, कोई हवाई जहाजों पर भ्रमण करे और किसी को टूटे इक्के पर बैठने का अवसर न मिले। किसी के पास इतने कपडे हों कि नित्य एक-एक पहिनने पर भी वर्षों में किसी वस्त्र का क्रम आवे, और किसी के पास तन ढकने तक को वस्त्र न हो। किन्तु आर्यसमाज साध्य या परिणाम (End) की शुद्धता के साथ साधनों की शुद्धता (Purity of means) पर भी जोर देता है; वह मानता है कि शुद्ध साध्य के लिये शुद्ध साधन भी चाहियें। आर्यसमाज वर्ग संघर्ष जैसे जघन्यकृत्य को कभी भी प्रश्रय नहीं दे सकता। वह अहिंसा और प्रेम में विश्वास रखता है। आर्यसमाज तलवार से विजय की अपेक्षा चरित्र और प्रेम से विजय पर अधिक विश्वास करता है। आर्यसमाज तो उस पावन संस्कृति का पुजारी है जिससे अहिंसा, सत्य और प्रेम की त्रिवेणी अनन्तकाल से प्रवाहित होती चली आ रही है। यह मानवतापूर्ण पद्धति से वैषम्य को समाप्त करना चाहता है।

कम्यूनिज्म एक ऐसे वर्गविहीन समाज की कल्पना करता है जिसमें सारे व्यापारों व उद्योग-धन्धों का समाजीकरण हो, जिस समाज में सबसे योग्यतानुसार काम लिया जाय और आवश्यकतानुसार उन्हें खर्चा दिना जाय। बड़े-छोटों का भेदभाव समाप्त किया जाय। आर्यसमाज समाज को चार-वर्ग अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में बाँटना चाहता है। यह 'संगच्छध्वं सं वदध्वम्" का अनुयायी है। उसके लिये यह कोई नई बात नहीं कि सबको समान अधिकार मिले, किन्तु कम्यूनिज्म और आर्यसमाज के समाजवाद में मौलिक अन्तर है। कम्यूनिज्म का समाजवाद पूर्ण रूपेण भौतिकवाद पर आधारित है। कम्यूनिस्ट भोले-भाले लोगों को फंसाने के लिए प्रायः कहा करते हैं कि हमारे सिद्धान्त तो भारतीय संस्कृति के अनुकूल हैं और झट "संगच्छध्वं" वाले मन्त्र को उद्धृत कर देते हैं। किन्तु क्या कम्यूनिस्ट बता सकते हैं कि भारतीय संस्कृति क्या केवल "रोटी, कपड़ा और मकान" को मानव जीवन का उद्देश्य बतलाती है। कम्यूनिज्म मनुष्य जीवन के अन्तिम लक्ष्य को केवल ऐन्द्रिय सुख (Pleasure) तक ही ले जाता है। जब कि आर्यसमाज उसे आनन्द तक ही ले जाता है। चूंकि आनन्द (Happiness) जड़ पदार्थ में तो है नहीं, वह तो सत्, चित् और आनन्द विशेषणों वाले "सच्चिदानन्द" में है, अतः कम्यूनिस्टों का यह दावा कि उनका सिद्धान्त भारतीय संस्कृति के अनुकूल हैं, धोखे की टट्टी के सिवाय कुछ नहीं। मार्क्स के इस सिद्धान्त को एंजिल्स, लेनिन और स्टालिन ने स्पष्ट कर दिया है कि उनका समाजवाद पूर्णरूप से भौतिकवाद पर आश्रित है। वे अपनी पुस्तक "कार्ल मार्क्स और उनके सिद्धान्त" में इस बात का स्पष्ट उल्लेख करते हैं—"केवल मार्क्स के दार्शनिक भौतिकवाद ने सर्वहारा वर्ग (श्रमिक वर्ग) को उस आध्यात्मिक दासता से बाहर निकालने का मार्ग दिखाया है, जिसमें आज तक सभी पीड़ित वर्ग निमग्न थे, केवल मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्त ने पूंजीवाद की आम व्यवस्था में सर्वहारा वर्ग की वास्तविक स्थिति की व्याख्या की है।"

कम्यूनिस्ट अपनी तोड़-फोड़ और हिंसा की नीति (जो कि द्वन्द्ववाद—Dialectice और वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त के कारण अपरिहार्य है।) की पुष्टि के लिए महाभारत के भयंकर युद्ध का उदाहरण उपस्थित कर देते हैं। किन्तु वे भूल जाते हैं कि भारतीय संस्कृति ने सदा से तलवार की अपेक्षा चरित्र की विजय को प्रधानता दी है। महाभारत के युद्ध को रोकने के लिए कृष्ण, भीष्म, द्रोण यहाँ तक कि स्वयं धृतराष्ट्र और गान्धारी ने अपने दुष्ट और कुबुद्धि पुत्र दुर्योधन को समझाने की अत्यधिक कोशिश की, किन्तु ये सारे प्रयत्न निष्फल गये और अन्त में विवश होकर तलवारों की शरण लेनी पड़ी। शरशय्या पर लेटे हुए भीष्म द्वारा युधिष्ठिर को उपदेशार्थ कहे गये ये शब्द कम्यूनिस्टों को जान लेना चाहिये—

"अयुद्धेनैव विजयं वर्धयेद्वसुधाधिप: । जघन्यमाहुर्विजयं युद्धेन च नराधिप ।।

अर्थात् पृथ्वीपति बिना युद्ध के विजय प्राप्त करे, युद्ध द्वारा प्राप्त विजय को जघन्य कहा गया है।

चेतावनी !

आज रोटी, कपड़ा और मकान का प्रलोभन पूर्ण नारा लगाता हुआ राजनीति के आवरण में भौतिकवाद, भोगवाद और नास्तिकवाद के रूप में दुनिया का सबसे भयंकर व क्रूर कम्यूनिज्म-रूपी राक्षस अट्टहास करता हुआ तुम्हारी मान्यताओं, परम्पराओं और उज्ज्वल अतीत पर कुठाराघात करने के लिए बढ़ता हुआ आ रहा है। याद रखो, वह केवल राजनीतिक दल है। यह इतना बड़ा सम्प्रदाय है जो सारी आर्य परम्पराओं को निगल जाना चाहता है। मत भूलो कि कम्यूनिज्म से 'रोटी, कपड़ा और मकान" यह सब मिल सकता है, वह तो मिलेगा ही नहीं, और आत्मा नष्ट हो जायगी। कम्यूनिज्म में जिन हाथों में राजनीतिक शक्ति रहती है, उन्हीं हाथों में आर्थिक शक्ति भी आ जाती है। याद रहे कि यदि वह सफल हो गया तो भारतीय चेतना और वैदिक युगस्थापना के महल धराशायी हो जायेंगे।

स्मरण रखिये, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का मुंहतोड़ उत्तर केवल वैदिक त्रैतवाद ही दे सकता है। इसलिये सचेत और सचेष्ट बनिये, मानवता की डबडबाई हुई करुणापूर्ण आँखें अपने अभागे पुत्रों की ओर देख रही हैं। यदि उन अश्रुपूर्ण नेत्रों में किसी ओर से आशा की कोई किरण आकर क्षणभर के लिए चमक पैदा कर देती है तो वह तुम्हारी ओर से और तुम्हारे आर्यसमाज की ओर से है।

महर्षि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के मुद्रित-अमुद्रित ग्रन्थ तथा उनके प्रामाणिक संस्करण

आचार्य विश्वश्रवा

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज के जो ग्रन्थ और वेद भाष्य इस समय मुद्रित प्राप्त होते हैं उनके अतिरिक्त कुछ ग्रन्थ ऋषि के अमुद्रित ही अभी तक परोपकारिणी सभा के संग्रह में विराजमान हैं। ये ग्रन्थ संसार की अमूल्य संपत्ति है, दो एक का वर्णन यहां करता हूँ—

१. चतुर्वेदविषयसूची—

महर्षि ने सम्वत् १९३० में साक्षात्कृतधर्मा होकर चारों वेदों के प्रत्येक मन्त्र पर एक ग्रन्थ तैयार किया इसका नाम है 'चतुर्वेदविषयसूची'। यह ग्रन्थ चारों वेदों के अतिरिक्त उपलब्ध वेदों की शाखाओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों आदि पर भी लिखा गया है। मैंने यह ग्रन्थ परोपकारिणी सभा में आदि से अन्त तक पढ़ा है। वेदों के भाष्य करने में सब से अधिक कठिनाई इस बात की है कि सम्पूर्ण वेद के प्रत्येक मन्त्र के विषय में यह ज्ञान हो जाये कि किस-किस मन्त्र में किस-किस विषय का वर्णन है और वह पूर्वापर संगति युक्त हो। यह काम किसी ऋषि का है। यही मौलिक वेद भाष्य है आगे तो पाण्डित्य के बल पर ज्ञान-विज्ञान की सहायता से विस्तृत भाष्य किया जा सकता है। महर्षि ने चारों वेदों पर यह मौलिक भाष्य पूरा अपने जीवन में रचकर तैयार कर लिया था। अतः महर्षि को चारों वेदों का आद्योपान्त ज्ञान था, और वे चारों वेदों का मौलिक वेदभाष्य हमें पूर्ण दे गये। अतः हमारी दृष्टि में महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज चतुर्वेद भाष्यकार हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य जगत् के पिछले विद्वानों को इस चतुर्वेदविषयसूची का ज्ञान

नहीं था। यदि पं० शिवशंकर जी काव्यतीर्थ, महामहोपाध्याय पं० आर्यमुनि जी, पं० तुलसीराम जी तथा पं० क्षेमकरणदास जी त्रिवेदी (जिनकी यह केवल इच्छा थी कि जिस-जिस वेद पर महर्षि का वेदभाष्य नहीं है उस पर हम वेदभाष्य करके वेदभाष्य पूर्ण कर दें) ऋषि के वेदभाष्य से बचे अंश पर इस चतुर्वेदविषयसूची में बताये मन्त्रार्थ को विस्तृत करके वेदभाष्य करते तो इन विद्वानों के वेदभाष्य भी कुछ प्रमाण कोटि में आ जाते। बहुत परिश्रम करके इसका फोटो कराकर सुरक्षित करा दिया गया है पर यह अभी तक मुद्रित नहीं हुआ है। यह ग्रन्थ संसार की अमूल्य सम्पत्ति है मैं इस बात का यत्न कर रहा हूँ कि परोपकारिणी सभा इस को छाप दें। कुछ लोग जो वेदभाष्य के रहस्य को नहीं समझते हैं वे इसको मौलिक वेदभाष्य कहने से चिड़ते हैं। परोपकारिणी सभा को किसी ने यह कह दिया कि यह अमूल्य सम्पत्ति है पर सर्व साधारण के उपयोग की नहीं। अतः नहीं छपनी चाहिये। आश्चर्य है इस निर्णय पर क्या, व्याकरणमहाभाष्य आदि सर्व साधारण के उपयोग के हैं फिर इनका भी छपना बन्द कर देना चाहिये।

२. ऋषि का विस्तृत वेदभाष्य—

चतुर्वेदविषयसूची के निर्माण के पश्चात् महर्षि ने ऋग्वेद का विस्तृत वेदभाष्य का एक नमूना छपवाया, यह छपा मिलता है। ठीक ऐसा ही विस्तृत वेदभाष्य ऋग्वेद के बहुत से सूक्तों पर महर्षि का किया हुआ परोपकारिणी सभा के पास रखा है। जो अभी तक अमुद्रित है।

कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि स्वामी जी ने वेदभाष्य करने की शैली पण्डितों को बता दी और पण्डितों ने वेदभाष्य किया। यह विचार अज्ञान से भरा है। मैंने ऋषि के वेदभाष्य के हस्त लेख अजमेर में देखे हैं, उसकी स्थिति मैं यहां पाठकों को बताना उचित समझता हूँ।

ऋषि का वेदभाष्य के लिए घोर श्रम—

ऋषि ने जो वेदभाष्य किया है उसकी स्थिति इस प्रकार है—

महर्षि वेदभाष्य लिखाते थे। उनके सब ग्रन्थ लेखकों से लिखाये हुए हैं। वेदभाष्य लिखाकर वे उस को स्वयं पढ़ते थे और अपने हाथ से उस पर संशोधन करते थे। वे दुबारा उसकी शुद्ध प्रतिलिपि कराते और फिर उसको देखते और उस पर भी अपने हाथ से संशोधन करते थे और फिर उसकी शुद्ध प्रतिलिपि कराते थे, तीसरी बार फिर देखकर तब उसे प्रेस को भेजते थे। इस प्रकार यजुर्वेद का सम्पूर्ण और ऋग्वेद के सातवें मण्डल के ६१ वें सूक्त के द्वितीय मन्त्र तक भाष्य मुद्रित है। ऐसी स्थिति में कौन कह सकता है कि ऋषि ने स्वयं वेदभाष्य नहीं किया केवल शैली सिखाई है। ऐसी धारणा वाले लोग ऋषि का वेदभाष्य पढ़ते नहीं, केवल शैली सीख कर स्वयं वेदभाष्य कर चलते हैं ये शलीपन्थी लोग हैं।

ऋषि के ग्रन्थों के प्रामाणिक संस्करण—

महर्षि ने अपने जीवन काल में जो अपने ग्रन्थ छपवाये थे आज उनको देखो तो कहीं से कहीं पहुंचे मिलेंगे। श्री मान्यवर पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय ने एक लेख आर्यमित्र में लिखा कि प्रार्थना आठ मन्त्रों में डेढ़ पंक्ति गलत छप रही है।

हम सार्वदेशिक सभा की ओर से यज्ञपद्धति छाप रहे हैं जिस को ऋषि के हस्तलेखों से मिलान किया और प्रथम संस्करण भी ऋषि का देखा था। हमारे प्रकाशन में वह डेढ़ पंक्ति नहीं है वह अशुद्ध पंक्ति प्रार्थना के आठ मन्त्रों में 'प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो०' मन्त्र के अर्थ में है जो यह है—

"भूगोलादि जगत् को बनाने हारा और (परिता) व्यापक (न) नहीं (बभूव) है (ते) उस आपके भक्ति करने हारे हम चेतनादिकों को।"

ये पंक्तियां न जाने कहां से प्रार्थना के आठ मन्त्रों के अर्थों में घुस आईं। मेरा अनुमान है कि उपाध्याय जी का अभिप्राय इसी पंक्ति से होगा। आश्चर्य यह है कि उपाध्याय जी ने वह डेढ़ पंक्ति अपने लेख में लिखी नहीं थी केवल यह लिखा था कि डेढ़ पंक्ति गलत छपती चली आ रही है। पर किसी ने कोई आगे जिज्ञासा नहीं की कि वह डेढ़ पंक्ति कौन सी है ?

इसी प्रकार ऋषि के सब ग्रंथों में कुछ घट गया, कुछ बढ़ गया, कुछ बाहर से मिल गया, कुछ बदल गया।

सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में ऋषि ने मनु का एक श्लोक उद्धृत किया है:—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स साधुभिर्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥

ऋषि का अभिप्राय इस श्लोक को उद्धृत करने का यह है कि जो सायं-प्रातः सन्ध्या-हवन नहीं करता, सज्जन लोगों को चाहिए कि उस को द्विज कर्म से पृथक् करदें।

पर वर्तमान छपे सत्यार्थ प्रकाशों में यह कर दिया है कि: —

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥

इसका अर्थ यह हो जायेगा कि जो सायं-प्रातः सन्ध्या-हवन नहीं करता शूद्र के समान वहिष्कार के योग्य है। कितनी भयंकर बात हो गई ऋषि के नाम पर कि जिस तरह शूद्र का बहिष्कार होता है वैसा बहिष्कार होना चाहिए। यह अत्यन्त अनुचित भावना शूद्रों के सम्बन्ध में हो गयी।

महर्षि के ग्रंथों के प्रामाणिक संस्करण निकालने में बहुत परिश्रम करना होगा। हस्तलेख ऋषि के सहायक होंगे। हस्तलेखों का देखना भी एक कला है। जिन लोगों ने प्राचीन हस्तलेखों पर कार्य नहीं किया वे ऋषि के हस्तलेखों पर भी कार्य नहीं कर सकते। ऐसे अनाड़ी लोग हस्तलेखों को भी देखकर उलटे ही परिणाम निकालेंगे। कुछ हस्तेखों में हाशिये पर लिखे "अयन्त इध्म आत्मा" आदि समिधा के प्रथम मन्त्र को ही प्रसिद्ध समझते हैं क्योंकि वह मन्त्र हस्तलेख में कुछ हाशिये पर लिखा है। पर वे यह नहीं विचारते कि अन्य अनेक बातें हाशिये पर लिखी हैं वे सब बातें क्या संस्कार-विधि में से निकाल दी जावेंगी।

महर्षिसन्देशः

धर्मदेवो विद्यामार्तण्डः

(१)

एकोऽसौ परमेश्वरः शिव इति, ख्यातः श्रुतौ शंकरः,
सर्वव्यापकसर्वशक्तिसहितो यो निर्विकारोऽस्त्यजः ।
तस्योपासनमेव सर्वमनुजैः, सश्रद्धमाचर्यतां,
नूनं योगिवरस्य वेदविदुषः सन्देश एषो ऽद्य नः ॥

(२)

कृत्वा कार्यमवैदिकं बहुजना लोके विषादं गताः,
नाना देवगणं च मूर्तिसहितं, संपूजयन्तः सदा ।
एतत्कार्यमवैदिकं क्षतिकरं, सन्त्यज्यतां सत्वरं,
नूनं योगिवरस्य वेदविदुषः, सन्देश एषो ऽद्य नः ॥

(३)

एकोऽसौ जगदीश्वरो ऽस्ति सकलास्तस्यैव पुत्रा वयं,
तस्मात्प्रीतियुतैः सदैव मनुजैर्भाव्य हि सोदयवत् ।
त्याज्या जातिभिदा विरोधजननी, येयं प्रथाऽवैदिकी,
नून योगिवरस्य वेदविदुषः, सन्देश एषो ऽद्य नः ॥

(४)

वेदास्तेन दयामयेन रचिता यो नः पिता शिक्षकः
सर्वे स्युः सुखिनः सुशान्तिसहिताः,कर्तव्यनिष्ठा इति ।
तेषामध्ययनं मुदा बुधजनैः, कार्यं तथाध्यापनं,
नूनं योगिवरस्य वेदविदुषः, सन्देश एषो ऽद्य नः ॥

(५)

आर्याः स्युर्भुवनेऽत्युदारमतयः सर्वे जना धार्मिकाः,
न्याय्यं मार्गमिहावलम्ब्य सुखदं, संवर्तयन्तो मिथः ।
तेषामेव समाज आवितनुतां, लोकोपकारं सदा,
नूनं योगिवरस्य वेदविदुषः, सन्देश एषो ऽद्य नः ॥

ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की हिन्दी को देन

श्रीमती प्रेमलता अग्रवाल एम० ए०,एल० टी० प्रिंसिपल

हमारे देश की पराधीनता का इतिहास इस बात को प्रकट करता है कि अंग्रेजी शासन-काल में हमारी भाषा, वेशभूषा और हमारे धार्मिक विचारों पर गहरा प्रहार किया गया। इससे पूर्व मुस्लिम शासन-काल में भी हमारी मातृभाषा हिन्दी और देव नागरी लिपि पर चोट होती रही। मुसलमान शासकों ने अरबी फारसी और उर्दू को भी बढ़ावा दिया। उन्होंने उसे एक प्रकार से राज्य-भाषा बनाने का प्रयत्न किया। शासकीय कार्यों में वे उर्दू का ही प्रयोग करते रहे जिसमें अरबी और फारसी के शब्दों की भरमार र ती थी। इतना होने पर भी महाकवि तुलसी और सूर जैसे संत कवियों ने अपने देश की भाषा को जीवित रखने का प्रयत्न किया। परन्तु उन्होंने अवधी और ब्रजभाषा का आश्रय लेकर अपने काव्य-ग्रंथों की रचना की।

अंग्रेजी शासन-काल में अंग्रेजी का जोर बढ़ा। अंग्रेजों को अपने काम के लिए क्लर्कों की आवश्यकता थी। अतः उन्होंने टूटी-फूटी अंग्रेजी बोल लेने वालों को भी काम पर लगाया। इसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी की ओर हमारे नवयुवकों का झुकाव होने लगा। शिक्षा के नाम पर अंग्रेजों ने अंग्रेजी भाषा बोलने और लिखने-पढ़ने वाले तैयार कर दिये। इनकी संख्या बराबर बढ़ती रही और संस्कृत एवं हिन्दी के प्रति सारे देश में उदासीनता उत्पन्न हो गई।

उन्नीसवीं शती के महान् सुधारक, वेदोद्धारक ऋषि दयानन्द ने अपने देश की उन समस्याओं को सुलझाने का यत्न किया जिनके कारण भारत अवनति के गर्त में पड़ा हुआ था। ऋषि दयानन्द ने वेदों के अनुसार आचरण करने की प्रेरणा देते हुए विचारों में समानता लाने का यत्न किया। देश-प्रेम की भावना को जागृत करते हुए उन्होंने अपने देश में अपना ही राज्य होने का समर्थन किया। इसी के साथ-साथ उन्होंने आर्य भाषा के प्रयोग पर बल दिया। वे चाहते थे कि संस्कृत का अध्ययन बढ़े और हिन्दी सर्वसाधारण की भाषा बन जाय। उनके भाषा-सम्बन्धी विचारों के सम्बन्ध में स्व० देवेन्द्रनाथ मुख्योपाध्याय ने ऋषि दयानन्द जीवन-चरित्र की भूमिका में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं।

"उन्होंने (ऋषि दयानन्द ने) जैसा प्रयास भारत के कुलगत, वर्णगत, सम्प्रदायगत शाखा-प्रशाखा भेद को छिन्न-भिन्न करके आर्य जाति के संगठन के निमित्त किया था वैसा ही प्रबल परिश्रम उन्होंने इसके निमित्त भी किया था कि आर्यावर्त में आदि से अन्त तक एक भाषा प्रचलित हो जाय। वस्तुनः इसी उद्देश्य से उन्होंने हिन्दी भाषा को आर्यभाषा अर्थात् समस्त आर्यावर्त में प्रचलित भाषा का नाम दिया था।"

स्वामी जी का कहना था कि भारतीय एकता के लिए केवल एक भाषा का प्रयोग किया जाना आवश्यक है। स्वामी जी की अपनी मातृभाषा गुजराती थी। परन्तु उन्होंने संस्कृत और हिन्दी-भाषा का ही प्रयोग किया। उन्होंने अपने प्रचार का कार्यक्रम हिन्दी भाषा में ही प्रारम्भ किया और जीवन-पर्यन्त वे हिन्दी का ही प्रयोग करते रहे। देखा जाय तो उन्होंने आज से अस्सी वर्ष पूर्व इस बात को अनुभव कर लिया था कि इस देश के उत्थान में आर्य-भाषा (हिन्दी) एक मुख्य साधन का काम करेगी। राष्ट्रभाषा का जो प्रश्न उनके निधन के पचासों वर्ष पश्चात् उठा इसे ठीक प्रकार से सुलझाने के लिये उन्होंने पहले ही मार्ग-दर्शन कर दिया था। उन्होंने अपने समस्त ग्रंथ एवं पुस्तिकायें आर्य-भाषा (हिन्दी) में लिखीं। महर्षि ने अपनी दिव्य दृष्टि से स्वभाषा की उपादेयता को समय से पूर्व समझ लिया था। अतः उन्होंने आर्य-समाज में कार्य करने वालों को प्रेरणा दी कि वे आर्य-भाषा में ही अपना समस्त कार्य चलायें।

आर्यसमाजों ने ऋषि दयानन्द के आदेशानुसार हिन्दी भाषा को अपनाया। उन्होंने अपने साप्ताहिक सत्संगों में हिन्दी को ही स्थान दिया। देश में स्वामी जी द्वारा आर्य-भाषा में लिखे गये सत्यार्थ प्रकाश का बड़ा प्रचार हुआ। आर्यसमाज के भक्ति भरे भजनों ने उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक आर्य-भाषा को बड़ा सम्मान प्रदान किया। आर्यसमाजों के साप्ताहिक सत्संगों में जो व्याख्यान होते थे उनकी भाषा हिन्दी ही होती थी, यह दूसरी बात थी कि शास्त्रों का प्रमाण देते समय व्याख्यानदाता संस्कृत का भी प्रयोग कर लेते थे। इसी प्रकार से आर्यसमाज के वार्षिकोत्सवों पर होने वाले व्याख्यानों की भाषा हिन्दी ही होती थी।

उस समय के आर्य विद्वानों ने अपना साहित्य हिन्दी में हो प्रकाशित किया। अब से पचास वर्ष पूर्व पंजाबी, गुरुमुखी और उर्दू के मुख्य केन्द्र पंजाब में आर्यसमाजों ने हिन्दी प्रचार का जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया, वह सदैव स्मरणीय रहेगा। स्वामी जी के जीवन-चरित्र के पढ़ने से विदित होता है कि उन्होंने सीमान्त प्रदेश के भ्रमण में भी आर्य-भाषा का ही प्रयोग किया। झेलम में उनके व्याख्यान आर्य-भाषा में ही होते थे। पंजाब में वे आर्य-भाषा का प्रयोग करते रहे। उस समय सारे पंजाब में आर्य-समाज के प्रचारकों और विद्वानों का प्रभुत्व स्थापित हो गया था।

इसी के साथ-साथ आर्यसमाज ने शिक्षा-प्रचार की ओर भी अपना पग बढ़ाया। स्थान-स्थान पर आर्यसमाज ने पाठशालाएँ खोलीं। इनमें अधिक संख्या आर्य कन्या पाठशालाओं की थी, इनके द्वारा हिन्दी का बड़ा विस्तार हुआ। जालंधर के कन्या महाविद्यालय ने तो स्त्रियों में एक प्रकार की नवीन क्रांति ही उत्पन्न कर दी थी। स्वामी जी के जीवन-काल में ही पंजाब की जनता

में संस्कृत और हिन्दी के प्रति प्रेम उत्पन्न हो गया था। आर्यसमाज के बड़े-बड़े जुलूसों में हजारों देवियाँ जब हिन्दी भाषा के भजन मधुर स्वर से गाती हुई चलती थीं तो हृदय प्रसन्न हो उठता था। मुझे गुरुकुल काँगड़ी के वार्षिक समारोहों में जाने का अनेक बार अवसर प्राप्त हुआ। मैं अपने अनुभव से कह सकती हूँ कि वहाँ आने वाली महिलायें प्रभात में जिन भजनों का मधुर स्वर से गान करती थीं, वह मन को अपनी ओर आकर्षित कर लेता था। आश्चर्य की बात तो यह थी कि उन महिलाओं में भारत के सभी भागों से आने वाली महिलायें सम्मिलित रहती थीं। पठानकोट, झेलम लाहौर, जालंधर, अम्बाला और उत्तरप्रदेश के आर्य नर-नारी मुख्य रूप से कांगड़ी के उत्सव में भाग लेते थे। वैसे बम्बई, हैदराबाद से भी आर्य जन आते थे।

यहां इस बात का उल्लेख कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि पंजाब में आर्य कन्या-पाठशालाओं ने हिन्दी प्रचार में बड़ा योग दिया। डी० ए० वी० हाई स्कूल और कालिज खुल जाने पर सारे पंजाब में आर्य-भाषा का प्रभुत्व सा छा गया। उस समय वहां पर प्रतिवर्ष लाखों पुस्तकें हिन्दी में प्रकाशित होती थीं। उनके पढ़ने वालों में उस समय पंजाबी, गुरुमुखी का कोई प्रश्न ही नहीं था।

इसी प्रकार से गंगा-यमुना के बीच के भाग में हिन्दी का बड़ा प्रचार हुआ। साधारणतया इस प्रदेश में हिन्दी ही बोली जाती थी परन्तु मुस्लिम शासन के यहां देर तक रहने के कारण उर्दू को भी विशेष स्थान प्राप्त था। आर्यसमाज के प्रचार तथा आर्य कन्या-पाठशालाओं के खोले जाने के कारण स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार बढ़ा और इस शिक्षा के कारण हिन्दी को विकसित और लोकप्रिय होने का भी समुचित अवसर प्राप्त हुआ। उत्तर प्रदेश के कुछ स्थान तो हिन्दी के केन्द्र बन गए। प्रयाग, बनारस, आगरा, लखनऊ, मेरठ जैसे स्थानों में आर्यसमाज के कार्य के साथ-साथ पुस्तक प्रकाशकों ने भी हिन्दी प्रचार में महत्त्वपूर्ण योग दिया। आर्यसमाज के प्रचार के उपरात तो ये सभी नगर हिन्दी प्रचार के प्रमुख केन्द्र बन गये। प्रयाग में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना हुई और उसने देश भर में हिन्दी का प्रचार किया।

आर्यसमाज के जिन नेताओं ने राजनीतिक क्षेत्रों में काम किया, उन्होंने हिन्दी को अपनाने की प्रेरणा दी। इनमें स्वामी श्रद्धानन्द महाराज का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। उन्होंने कांग्रेस के मंच पर प्रभुत्व पाकर हिन्दी को विशेष सम्मान प्रदान किया। राष्ट्रपिता गांधी जी ने हिन्दी प्रचार के कार्यों में बड़ा बल मिला।

यहां इस बात का उल्लेख कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि आर्यसमाज ने आर्यभाषा के माध्यम द्वारा ज्ञान और विज्ञान की शिक्षा देने के लिये गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना करके राष्ट्रभाषा को इतना बल प्रदान किया कि वह इतिहास के पृष्ठों में सदा अंकित रहेगा। स्वामी श्रद्धानन्द गुरुकुल के संस्थापक के रूप में हिन्दी के प्रबल समर्थक बनकर राष्ट्रीय क्षेत्र में भी अपने कार्य का प्रसार करने में सफल हुए। कांगड़ी के अतिरिक्त कई अन्य गुरुकुल भी खुले। ज्वालापुर में दयानन्द महाविद्यालय की स्थापना हुई। बड़ौदा और जालंधर में कन्या गुरुकुल एवं महाविद्यालय

खुले। इस प्रकार आर्य-समाज के नेताओं ने हिन्दी को जनसाधारण में प्रविष्ट करने में महती सफलता प्राप्त की। गुरुकुल से निकलने वाले स्नातकों ने हिन्दी भाषा को ही अपने प्रचार का माध्यम बनाया, चाहे वे किसी भी प्रान्त से संबन्ध रखते थे।

मेरा और मेरे परिवार का जहाँ आर्यसमाज की अनेक संस्थाओं से संबन्ध रहा है, वहां हिन्दी साहित्य-सम्मेलन से सम्बन्धित संस्थाओं में भी मुझे कुछ काम करने का अवसर प्राप्त हुआ है। मैं अपने अध्ययन के आधार पर कह सकती हूँ कि ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के नेताओं ने राष्ट्रभाषा आन्दोलन के लिये एक व्यापक क्षेत्र तैयार किया।

आर्यसमाज के कार्य की यह विशेषता रही कि उसने कभी भी भाषा का प्रश्न विवाद के रूप में नहीं उठाया। उसने अपने धार्मिक प्रचार का माध्यम हिन्दी को बनाकर संस्कृत और हिन्दी की अभिवृद्धि के लिये बड़े शान्त तरीके से कार्य किया। उन दिनों सभी प्रान्तों में आर्यसमाज के उपदेशक, प्रचारक तथा नेतागण वैदिक धर्म का सन्देश लेकर जाते थे और बिना किसी झिझक के वे वेदमंत्रों का उच्चारण करते हुए शुद्ध हिन्दी में व्याख्यान देते थे और जनता मुग्ध होकर उनके व्याख्यानों में रस लेती थी। तत्वदर्शी ऋषि दयानन्द ने आर्य-भाषा को अपने उपदेश का साधन बनाकर दूसरों के लिये आर्य-भाषा अपनाने का मार्ग प्रशस्त किया। इसका परिणाम यह हुआ कि आर्यसमाज के कार्यक्रम में हिन्दी ने मुख्य स्थान प्राप्त कर लिया। ऋषि दयानन्द यदि उस समय प्रान्तीय भाषाओं का प्रयोग करते या आर्यसमाज के नेताओं और कार्यकर्त्ताओं को प्रान्तीय भाषाओं मे भाषण देने या लिखने-पढ़ने की छूट दे देते तो शायद राष्ट्रभाषा का प्रश्न इतनी आसानी से न सुलझता।

स्वामी जी के कई पत्रों में इस बात का संकेत मिलता है कि देश की एकता के लिये देवनागरी लिपि और आर्यभाषा (हिन्दी) का अपनाना आवश्यक है। स्वामी जी के ग्रन्थों का उर्दू में अनुवाद करने के लिये जब पंजाब के एक भाई ने उनकी आज्ञा माँगी तो स्वामी जी ने उसे लिखा—"भाई मेरी आंखें तो उस दिन को देखने के लिये तरस रही हैं जब काश्मीर से कन्याकुमारी तक सब भारतीय एक भाषा को समझने और बोलने लग जायेंगे। जिन्हें सचमुच मेरे भावों को जानने की इच्छा होगी वे इस आर्यभाषा का सीखना अपना कर्तव्य समझेंगे। अनुवाद तो विदेशियों के लिये हुआ करते हैं।"

स्वामी जी के उपर्युक्त शब्दों में उनकी राष्ट्रीय भावनाओं की एक झलक दिखाई पड़ती है। वे अपने देशवासियों के लिए आर्यभाषा को उनकी अपनी भाषा समझते थे। वे चाहते थे कि काश्मीर से कन्याकुमारी तक आर्यभाषा का प्रयोग होने लगे, उन्होंने इसके लिए अनेक प्रयत्न किये, और साथ ही साथ उनके अनुयायियों ने दृढ़ सकल्प होकर आर्यसमाज के क्षेत्रों में आर्यभाषा को प्रमुख स्थान दिया।

यहाँ मैंने आर्यसमाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द के आर्यभाषा के लिये किये गये कार्य का

कुछ उल्लेख किया। इसके साथ-साथ हमें यह भी देखना चाहिये कि स्वामी जी के निधन के उपरान्त आर्यसमाज के क्षेत्र में कार्य करने वाले विद्वानों ने हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि के लिये कितनी सफलता प्राप्त की। अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा दिये जाने वाले मंगलानन्द पुरस्कार को आर्यसमाज के अनेक विद्वानों ने प्राप्त किया। उनमें निम्न विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं :—

नाम लेखक	नाम पुस्तक
१. श्री प्रो० सुधाकर एम० ए०	मनोविज्ञान।
२. श्री पं० जयचन्द्र विद्यालंकार	भारतीय इतिहास की रूपरेखा।
३. पं० पद्मसिंह शर्मा	बिहारी सतसई की समालोचना।
४. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार	मौर्य साम्राज्य का इतिहास।
५. पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय	आस्तिकवाद।
६. श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल एम० ए०	शिक्षा मनोविज्ञान।

इन विद्वानों में से श्री प्रो० सुधाकर जी वर्षों सार्वदेशिक सभा के प्रधान मंत्री रहे। उन्होंने आर्यकुमार परिषद् की स्थापना में भी प्रमुख भाग लिया था। पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय सार्वदेशिक सभा और प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा के अनेक पदों को सुशोभित करते रहे हैं। पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय ने अन्य अनेक पुस्तकों की भी रचना की। आर्यसमाज में उनके अतिरिक्त अन्य विद्वान् भी हैं जिनके ग्रन्थों का बड़ा मान है। आर्यसमाज के विद्वान् लेखकों और प्रकाशकों ने हिन्दी की अभिवृद्धि के लिये जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है उसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।

अंग्रेजों का विरोध रहा—

आर्यसमाज की गतिविधि को भारत के अंग्रेज शासक शंका की दृष्टि से देखते थे। वे नहीं चाहते थे कि भारत की एक राष्ट्रभाषा हो। जैसा मैंने प्रारम्भ में निवेदन किया कि वे तो अंग्रेजी के क्लर्क बनाने के लिए स्कूल कालिज चलाते थे, परन्तु आर्यसमाज ने इस विचार के विपरीत शिक्षित भारतीय बनाने का उत्तरदायित्व संभाला।

स्वामी दयानन्द के समकालीन मुस्लिम नेता सर सैयद अहमद खाँ ने अलीगढ़ को केन्द्र बनाकर फारसी, अरबी और उर्दू को प्रोत्साहन दिया। यद्यपि स्वामी जी ने सर सैयद अहमद के सम्मुख एक भाषा मान लेने का प्रस्ताव रक्खा था परन्तु वे सहमत न हुये। उस समय के मुसलमानो ने हिन्दी को हिन्दुओं की भाषा समझा। वे इस भाषा को धर्म प्रचार की भाषा समझते थे। अंग्रजों ने भी मुसलमानों की उर्दू जबान को आश्रय प्रदान किया। अंग्रज शासक जानते थे कि भारत की एक भाषा हो जाने से उनकी शासन-सत्ता को गहरी चोट पहुँच सकती है। अतः उन्होने हिन्दी भाषा को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया। परन्तु आर्यसमाज के प्रचार, उनकी शिक्षा-सस्थाओं और उसके प्रचारकों का सारे देश में ऐसा जाल-सा फैल गया कि अंग्रेज शासक भी हिन्दी और संस्कृत के विकास

को न रोक सके। देखा जाय तो आर्यसमाज का लाखों छोटी-छोटी पाठशालाओं और सैकड़ों स्कूल कालिजों ने अंग्रेजों की दासता होते हुये भी हिन्दी को जनसाधारण में व्यापक रूप देने में सफलता प्राप्त की। छोटी-छोटी बालिकाओं ने 'वैदिक धर्म' के जयघोष के साथ समूचे भारत में हिन्दी के प्रति एक नया उत्साह उत्पन्न किया।

मैंने यहाँ आर्यसमाज द्वारा हिन्दी के लिये किए गए महत्त्वपूर्ण कार्य तथा महर्षि दयानन्द द्वारा आर्य भाषा को देश भर की एक भाषा बनाने के सत्कार्य का कुछ विवेचन किया है। किन्तु आर्य-समाज का काम यहीं पर समाप्त नहीं हो जाता महर्षि दयानन्द के अनुयायियों को इसी में अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझ लेनी चाहिए। आज हमको पुनः यह विचार करना हैं कि हम हिन्दी को जनसाधारण तक, विशेष कर अंग्रेजी से मोह रखने वालों में किस प्रकार से फैलाएँ। सरकारी नौकरियों के प्रलोभन ने अपने को जनसाधारण से कुछ ऊँचा समझने की भावना ने हमारे देशवासियों में अंग्रेजी के प्रति इतना मोह भर दिया था कि अभी भी देश भाषा के ऊपर विदेशी भाषा अंग्रेजी को प्राथमिकता देने वालों की कमी नहीं है।

संविधान के अनुसार यद्यपि हिन्दी हमारे देश की राष्ट्रभाषा स्वीकार कर ली गई है, परन्तु अभी भी इसके मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ तथा रुकावटें हैं। श्री राजगोपालाचार्य जैसे व्यक्ति, जिन्होंने भारत को अंग्रेजों तथा अंग्रेजी की दासता से मुक्त कराने के लिए अनथक परिश्रम किया, आज राजनैतिक हितसाधना के लिए अंग्रेजी का समर्थन करते दिखाई देते हैं। हिन्दी का अकेली अंग्रेजी से ही विरोध होता तो हममें इतना सामर्थ्य था कि हम बराबर उन्नति पथ पर बढ़ते चले जाते, परन्तु प्रादेशिक भाषाओं के नाम पर भी हिन्दी का विरोध आज किया जाता है।

महर्षि दयानन्द ने स्वयं गुजराती भाषा भाषी होते हुए भी हिंदी का भंडार भरा, महात्मा गाँधी जी ने भी गुजरात प्रदेश ही में जन्म लिया था तथा गुजराती ही उनकी मातृभाषा थी, फिर भी उन्होंने हिंदी का राष्ट्रभाषा के रूप में समर्थन किया, किन्तु आज राजनीतिक उद्देश्यों से भाषावार प्रदेशों की दुहाई दी जाती है तथा "बंगाली को खतरा", "दक्षिण को खतरा" आदि नारे लगाकर हिन्दी का विरोध किया जाता है। यों हिन्दी के समर्थकों द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रादेशिक भाषाएँ हिन्दी की चेरी न होकर उसकी बहिन के समान पल्लवित हों, किन्तु शंका के गर्त से निकलना अन्य प्रादेशिक भाषा वालों के लिए कठिन हो रहा है।

ऐसी दशा में आर्यसमाज के विद्वानों, कार्यकर्त्ताओं तथा आर्यजन समुदाय को विशेष साव-धानी बरतने की आवश्यकता है। आर्यसमाज ने जिस प्रकार से गत पचास वर्षों में हिन्दी का पुनरुत्थान करने का यत्न किया, उसी प्रकार से अब उसे व्यापक रूप देने में योग देना चाहिए तथा उसे प्रादेशिक भाषाओं के विरोध से बचाकर समस्त राष्ट्र को एक सूत्र में गुंथने का अवसर देना चाहिए।

अद्वैतवाद या त्रैतवाद

आचार्य द्विजेन्द्रनाथ जी शास्त्री, विद्यामार्त्तण्ड, मेरठ

भारतीय दर्शन शास्त्रों में वेदान्त का स्थान बहुत ऊँचा है। वेदान्त सूत्रों की रचना महर्षि बादरायण (व्यास) की है। इसी को ब्रह्मसूत्र भी कहते हैं। यद्यपि इस शास्त्र पर विविध आचार्यों ने अपने-अपने मत के अनुसार भाष्य लिखे तथापि शङ्कराचार्य ने इस पर जो शारीरिक भाष्य लिखा वह सर्वोत्कृष्ट तथा सर्वाधिक लोकप्रिय व मान्य समझा जाता है। शङ्कर का भाष्य अद्वैतपरक है। अद्वैतवाद का तात्पर्य है।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या
जीवो ब्रह्मैव नापरः

अर्थात् ब्रह्म के अतिरिक्त सब मिथ्या है। आपने-अपने सम्पूर्ण भाष्य में श्रुति के प्रमाण और युक्ति के आधार पर अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन किया है निस्सन्देह शङ्कराचार्य ने अपने अद्वैतवाद का प्रतिपादन करने में जिस अतर्कोयनत तर्कवाद का आश्रय लिया है बड़ा आकर्षक एवं प्रभावशाली है। एक बार तो सूक्ष्मप्रज्ञ भी उसके जाल में फँसे बिना नहीं रह सकता। फलतः शंकर के प्रखर एवं तेजस्वी युक्तिवाद के सामने अन्य सभी भाष्य निष्प्रभ होगये और वेदान्त केसरी के सामने सभी तद्विषयक सिद्धान्त शृगालवत् बन गये: —

तावद्गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बूका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्तकेसरी॥

अद्वैतवाद का इतना व्यापक प्रभाव हुआ किवेदान्त कथन से ही अद्वैतवाद समझा जाने लगा। वास्तव में ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या और जीव भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है, ये दोनों एक ही हैं। इसीलिये इस वाद को अद्वैतवाद कहते हैं,परन्तु वैदिक साहित्य के पर्यालोचन से प्रतीत होता है कि यह वाद भ्रम-मूलक है,वास्तविक नहीं। सभी दर्शन इस वाद के निराकरण मात्र हैं। वेदान्तके मूल सूत्रोंमें भी इसका

कहीं पता नहीं चलता। किन्तु इसके विपरीत अनेक सूत्रों से इसका खण्डन ही होता है; कहीं साक्षात् और कहीं परम्परा से। इस बात को सिद्ध करने के लिये हम वेदान्त का प्रथम सूत्र ही निदर्शन के रूप में रखते हैं :—

'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' वे० १।१।

अर्थात् अब ब्रह्म के जानने की इच्छा है। तो यह ब्रह्म के जानने की इच्छा ब्रह्म से अतिरिक्त ही किसी अन्य को हो सकती है, ब्रह्म को नहीं। कारण ब्रह्म को ब्रह्म के जानने की इच्छा क्यों होनी चाहिये ? वह स्वयं अपने आपको जानता ही है। ज्ञात पदार्थ की जिज्ञासा नहीं होती। जिज्ञासा तो अर्द्धज्ञात विषय की या सन्दिग्ध की ही हो सकती है। पूर्णज्ञात में भी जिज्ञासा की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिये शंकर स्वामी के मत से इस सूत्र की सुसंगत व्याख्या ही कभी नहीं हो सकती। त्रैतवाद में स्पष्ट एवं युक्तिसंगत व्याख्या यह है ही कि यहाँ 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' में, ब्रह्म जिज्ञास्य है और जिज्ञासु है जीव है। अर्थात् शमदमादि सम्पन्न जीव को ब्रह्म को जानने की इच्छा उत्पन्न हुई। तीसरी वस्तु है प्रकृति जिससे इस जड़ अथवा भौतिक जगत् का सृजन हुआ। इस प्रकार ब्रह्म, ईश्वर, जीव तथा प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करने वाले त्रैतवादियों के मत में तो सूत्र की व्याख्या ठीक बैठती है, किन्तु अद्वैतवादियों के पक्ष में यह सूत्र कोई अर्थ नहीं रखता। इसी प्रकार अन्य अनेक सूत्र हैं जिनसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि वेदान्तसूत्रों की रचना अद्वैतवाद अथवा ब्रह्मैक्यवाद की सिद्धि के लिये नहीं हुई थी। अद्वैतवाद तो शंकराचार्य का अपना स्वतन्त्र सिद्धान्त है। ये ही अद्वैतवाद के प्रवर्त्तक गिने जाते हैं। इस सिद्धान्त का मूल मन्त्र तो शंकर को अपने परम पूज्य गुरु गौडपादाचार्य से मिला जिन्होंने अद्वैतप्रतिपादिका कारिका अपने व्याख्यानात्मक रूप में लिखी हैं। ये कारिकाएँ माण्डूक्योपनिषद् पर लिखी हैं।

अद्वैतवाद की आधार भित्ति ये ही कारिकाएँ समझी जाती हैं। परन्तु शंकर स्वामी ने शारीरिक भाष्य को विशद एवं तर्क-युक्ति-प्रमाण संवलित रूप में रचा है। इसीलिये श्री शंकराचार्य को अद्वैतवाद का प्रमुख प्रवर्त्तक या आचार्य माना जाता है।

इस लघुकाय लेख में हम शंकर की प्रमुख युक्तियों तथा आधारभूत तर्कों पर विचार करेंगे जिससे वाचक वृन्द समझ सकेंगे कि शंकर की युक्तियां तथा तर्क कितने निस्सार हैं:—

प्रश्न होता है, जब केवल ब्रह्म ही एकमात्र स्वतन्त्र सत्ता है तदतिरिक्त दृश्यमान जगदादि पदार्थ सब मिथ्या हैं—नश्वर हैं। तो उनकी उत्पत्ति कहाँ से हुई ? अविद्या से, माया से, या अध्यास से। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिये कि शंकरमत में ब्रह्म का क्या लक्षण है ?

"नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वं हि नाम ब्रह्मत्वम्" अर्थात् ब्रह्म नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध और नित्य मुक्त स्वभाव वाला अर्थात् स्वतन्त्र है। तो यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब नित्य शुद्ध-बुद्ध एवं मुक्त स्वभाव वाला है —'एकमद्वैतम्' एक है—केवल एक और द्वितीय वर्ज्य है तो फिर उसमें—

'एकोऽहं बहु स्याम्' (उपनिषद्)

अर्थात् मैं एक हूँ बहुत्वयुक्त हो जाऊँ, इस भावना का उत्पन्न होना कैसे सम्भव हो सकता है ?

जबकि बहुत्व कुछ वस्तु है ही नहीं तो बहुत्व का विचार होना आकाशपुष्पवत् नितान्त असम्भव होने से कभी भी बुद्धि सङ्गत नहीं हो सकता। वास्तव में उद्वैतवाद वालों के पास इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं। तथापि शङ्कराचार्य ने इसका समाधान करने का एक उपहासास्पद प्रयत्न किया है और वह इस प्रकार है। 'मायोपाध्यवच्छिन्न' होने से एक में बहुत्व का भान होने लगता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि माया अर्थात् अविद्या से बहुत्व का आभास होने लगता है। प्रश्न होता है कि यह माया ब्रह्म से पृथक् हैं,या नैसर्गिक नित्य है या अनित्य ? यदि माया को ब्रह्म से पृथक् भिन्न माना जाय तो एकत्ववाद समाप्त हो जाता है। ब्रह्म और माया ऐसे दो पदार्थ बन जाते हैं। यदि माया पृथक् पदार्थ नहीं, ब्रह्म की शक्ति विशेष है, तो फिर यह बताना होगा कि क्या माया अर्थात् अविद्या को ब्रह्म की शक्तिविशेष मान लिया जाय तो ब्रह्म में यह कैसे घटेगा। शुद्ध एवं बुद्ध अर्थात् ज्ञानस्वरूप ब्रह्म में शक्तिरूप से अविद्या किस प्रकार रह सकती है। ब्रह्म-ज्ञान स्वरूप में अज्ञान रूप अविद्या कैसे मानी जा सकती है। यह शास्त्र का नियम है :—

'एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धधर्मद्वयस्यानवगाहानात्'

अर्थात् एक पदार्थ में दो विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते। यदि कहो रह सकते हैं, जिस प्रकार शीतल जल में अग्नि-सम्पर्क से उष्णता का सन्निवेश हो सकता है, इसी प्रकार ब्रह्म अविद्या में समझें।

कदापि नहीं, यह आपका विषम दृष्टान्त है। एककालावच्छेदेन जल में शीतलता और उष्णता कभी नहीं रहते। हाँ कालान्तर में पदार्थान्तर के सम्पर्क से यह सम्भव हो सकता है। परन्तु यहाँ ऐसा नहीं है। ब्रह्म तो नित्य है उसमें काल-दिक्-देश का संपर्क नहीं। यदि ब्रह्म ज्ञानी है तो नित्य ज्ञान ही रहेगा। यदि अविद्यावत् है तो नित्य अविद्यावत् ही रहेगा। ज्ञान और अविद्या दोनों का विरोधी धर्म होने से एक में रहना बुद्धिसगत नहीं है। अतः यह प्रश्न कि 'अविद्या कहाँ ?' पूर्ववत् ही प्रश्न रूप में खड़ा हुआ है। हमारी सम्मति में अद्वैतवाद के पास इस प्रश्न का कोई समाधान नहीं। यहाँ पर अद्वैत वेदान्त मूक हो जाता है।

एक अन्य भी जटिल प्रश्न अद्वैत वेदान्त के सामने खड़ा है और वह यह कि ब्रह्म सत्य है उसके द्वारा निर्मित हुआ जगत् मिथ्या हो सकता है। जबकि 'कारणगुणपूर्वक: कार्यगुणो दृष्टः' यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त जागरूक है। अर्थात् जैसा कारण वैसा ही कार्य होता है यदि कारण ब्रह्म सत्य है तो उसका कार्य जगत् मिथ्या किस प्रकार हो सकता है। उसे भी सत्य ही होना चाहिये। इसलिए कल्पित माया की कल्पना करना केवल कल्पना मात्र है निस्सार है, उसमें तथ्यांश कुछ नहीं। अब रही—,

अध्यास—की बात। अध्यास का वास्तविक अर्थ है भ्रम !

अध्यासो हि नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः'

जो वास्तव में वह वस्तु नहीं है, उसमें वस्त्वन्तर की कल्पना करने का नाम अध्यास है। जैसे रज्जु में सर्प की भ्रान्ति, शुक्ति में रजत की भ्रान्ति इत्यादि। नित्य बुद्ध ज्ञानयुक्त ईश्वर में भ्रान्ति

कैसे हुई। रज्जु में सर्प की भ्रान्ति हुई तो वास्तव में रज्जु भी सत्य है और सर्प की सत्ता भी सत्य है। दोनों में से एक भी असत्य नहीं है। परन्तु आप तो—

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'

ब्रह्म को सत्य और जगत् को मिथ्या कहते हैं। सत्ताविहीन वस्तु की भ्रान्ति भी नहीं हो सकती, मिथ्या होने से। इसलिए आपका अध्यास का रज्जु-सर्प का दृष्टान्त भी सर्वथा असंगत है, अतएव अमान्य है। सर्पाकार वहां तो केवल रज्जु विद्यमान है, सर्प है ही नहीं। इस पर वेदान्तियों का कथन है, 'यद्यपि वहाँ विद्यमान नहीं तथापि वह द्रष्टा के मस्तिष्क में बौद्धिक अथवा स्मृत्यात्मक प्रातिभासिक सत्ता तो विद्यमान हैं। तथापि सर्प की सत्ता तो है, परन्तु जिसकी आपके मत में कोई सत्ता नहीं ऐसे जगत् की भ्रान्ति ब्रह्म में कदापि नहीं हो सकती। इसलिए अध्यास का आश्रय लेकर यह प्रत्यक्ष में दृश्य जगत् भ्रममूलक नहीं हो सकता।

अद्वैतवादियों के सम्मुख एक और भी मुख्य प्रश्न है। वह यह है कि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है या निमित्त कारण? यदि निमित्त कारण है तो ब्रह्म से भिन्न जगत् की सत्ता माननी पड़ेगी, तो भी अद्वैत गया। यदि उपादान मानो तो भी बड़ा दोष यह आता है कि ब्रह्म में जो गुण-धर्म निराकार-ज्ञानी-व्यापक होना आदि हैं—वे सब जगत् में भी होने चाहिएँ, परन्तु वैसा है नहीं, अतः ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं।

इस पर वेदान्ती कहते हैं कि उपादान कारण दो प्रकार से प्रयुक्त होते हैं। एक विवर्त्त रूप से दूसरे परिणाम रूप से। ब्रह्म जगत् का विवर्त्तोपादान है न कि परिणामोपादान, जैसे स्वर्ण से कुण्डल, कड़े आदि बनते हैं—

'स्वरूपमजहद्रूपान्तरप्राप्तिः विवर्त्तः'

अपने स्वरूप को न छोड़ता हुआ रूपान्तर को प्राप्त करना और पुनः स्वरूप को प्राप्त कर लेने का नाम है—जैसे सोने के बने हुए आभूषणों को पिघलाकर पुनः सोना बन जाता है। परन्तु परिणाम में इसके विपरीत है परिणाम कहते हैं—

'स्वरूपजहद्रूपान्तरप्राप्तिः पुनः कारणरूपतां न भजते'

अर्थात् स्वरूप को अर्थात् परिणाम में पदार्थ रूपान्तर को प्राप्त होने में अपने स्वरूप को छोड़ देता है और पुनः मूल स्वरूप को नहीं प्राप्त होता। जैसे दुग्ध रूपान्तर दधि, मक्खन, मावा, रबड़ी आदि रूपों में परिणत हो जाता है और पुनः दूध रूप को कभी नहीं प्राप्त करता, तो वेदान्ती लोग ब्रह्म को जगत् का विवर्त्तोपादान मानते हैं। इसलिए दोष नहीं आता। परन्तु यह भी दृष्टान्त विषम है। कारण स्वर्ण को आभूषणों में बदलने वाला कोई निमित्त कारण होना चाहिए। आपके मत में ब्रह्मा-तिरिक्त कोई अन्य वस्तु है नहीं, फिर आभूषणों में वही स्वर्ण है जो मूल स्वर्ण है। परन्तु वेदान्तवादियों में जगत् ब्रह्म से सर्वथा भिन्न है, अतः ब्रह्म जगत् का विवर्त्तोपादान भी नहीं हो सकता। अतः शंकर का अद्वैतवाद सर्वथा निस्सार, निराधार तथा तर्क, युक्ति तथा प्रमाणों से अनुप्राणित नहीं, प्रत्युत विरुद्ध हैं। जो श्रुतियां प्रमाणरूप से शंकर स्वामी ने प्रस्तुत की हैं उनमें भी बहुत खींचातानी है।

श्रुतियों के प्रकरण तथा भाव स्वारस्य से हीन हो गये हैं जिनका विवरण यहां नहीं किया जा सकता। हमने ये सब बातें केवल सत्य तुला पर तोल कर लिखी हैं, किसी पक्षपात या विरोध भाव से नहीं। शंकराचार्य की प्रकाण्ड विद्वत्ता तथा प्रखर तर्क एवं युक्तियां और उनके तप-त्याग, संस्कृत साहित्य की महान् सेवाओं के लिए कौन नतमस्तक नहीं होता। जिसकी विद्वत्ता की प्रशंसा में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है :—

वेदभाष्यकार श्री माधवाचार्य जो पीछे से विद्यारण्य स्वामी हो गये थे, एक अद्भुत विद्वान् और महाकवि थे, जिन्होंने 'शंकरदिग्विजय' नाम का एक महाकाव्य लिखा है—शंकराचार्य जी की प्रशंसा में लिखते हैं:-

> वादिव्रातगजेन्द्रदुर्मदघटादुर्गर्वसंकर्षणः,
> श्रीमच्छङ्करदेशिकेन्दु मृगराडायाति सर्वार्थवित् ।
> दूरं गच्छत वादिदुःशठगजाः सन्यासदंष्टायुधो,
> वेदान्तोरुवनाश्रयस्तदपरं द्वैतं बनं भक्षतिः ॥

निस्सन्देह यह आश्चर्य की बात है कि इतने बड़े उद्भट विद्वान् ने इस मायाजाल का तर्क-बल से एक इन्द्रजाल सा क्यों खड़ा किया ? सम्भव है बौद्ध-जैन आदि नास्तिकों के प्रखर खण्डन के लिए उन्होंने ऐसा किया है जैसा कि बहुत से विद्वान कहते हैं कि इसीलिए किया, तो कुछ अंश तक ठीक कहा जा सकता है। अन्यथा बुद्धिवैशद्य के अतिरिक्त इसका अन्य सार्थक प्रयोजन तो बुद्धि में नहीं आता। हमारी स्वल्प बुद्धि में तो यदि शंकर ब्रह्मसूत्र का आश्रय न लेकर अपना एक स्वतन्त्र ही दर्शन लिखते तो अधिक अच्छा होता। अस्तु लेख की कलेवरवृद्धि को देखते हुए यहीं बिराम करना उचित समझते हैं। वेदादि सच्छास्त्रों, उपनिषदों में एवं सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में त्रैतवाद का ही सुस्पष्ट प्रतिपादन मिलता है। वैसे तो अद्वैतवादी शंकर को भी संसार की व्यवस्था समझने के लिये—ब्रह्म-ईश्वर-जीव तथा माया इन चार पदार्थों की कल्पित सत्ता कायम करनी पड़ी, त्रैतवाद तो केवल तीन ही अनादि सत्ता मानता है, जो अधिक बुद्धिसंगत प्रतीत होता है।

वेद की महत्ता पर महर्षि मनु और महर्षि दयानन्द

श्री पं० अमरसिंह जी महोपदेशक

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने मनुस्मृति को आदि सृष्टि में बनी माना है। मेरे विचार में वेदों को छोड़ कर मनुस्मृति से पुराना कोई भी ग्रन्थ विद्यमान नहीं है। सृष्टि के सदा से पुराने ग्रन्थ में वेदों के विषय में जो सिद्धान्त है वह ही महर्षि दयानन्द जी का है, यह महर्षि के सिद्धान्तों की सत्यता का एक प्रबल प्रमाण है। इसीलिए महर्षि ने कहा कि—"ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त ऋषि और महर्षि जो मानते आये वह ही मेरा मत है।

आज हम साहस के साथ कह सकते हैं कि—ब्रह्मा के पुत्र महर्षि मनु से लेकर महर्षि दयानन्द सरस्वती तक सारे ऋषियों और महर्षियों का जो मत था वही हमारा है।

वेद के विषय में महर्षि दयानन्द जी के मन्तव्यों और महर्षि मनु के मन्तव्यों की तुलना इस प्रकार है—

(१) चारों वेदों (विद्या धर्म युक्त ईश्वर प्रणीत संहिता मंत्र भाग) को निर्भ्रान्त स्वतः प्रमाण मानता हूँ वे स्वय प्रमाण रूप हैं कि जिनके प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं, जैसे सूर्य वा प्रदीप अपने स्वरूप के स्वतः प्रकाशक और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं वैसे चारों वेद हैं ...... ब्रह्मादि महर्षियों के बनाये ग्रन्थ हैं, उनका परतः प्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और जो इनमें वेदविरुद्ध वचन हैं, उनका अप्रमाण करता हूं।

इस पर मनु जी महाराज कहते हैं—

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। मनु० २।६

सम्पूर्ण वेद धर्म का मूल है।

श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशत वै । मनु० २।८

श्रुति के प्रामाण्य से ही विद्वान् मनुष्य अपने धर्म में प्रविष्ट हो ।

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः । मनु० २।१३

धर्म जानने की इच्छा वालों के लिए वेद ही परम प्रमाण है ।

इस श्लोक का अर्थ करते हुए श्री कुल्लूक भट्ट लिखते हैं—

धर्मं च ज्ञातुमिच्छतां प्रकृष्टं प्रमाणं श्रुतिः । प्रकर्षबोधनेन च श्रुतिस्मृतिविरोधे स्मृत्यर्थो नादरणीय इति भावः ।
अतएव जाबालः—
श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी ।
भविष्य पुराणेऽप्युक्तम्—
श्रुत्या सह विरोधे तु बाध्यते विषयं विना ।
जैमिनिरप्याह—
विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानकम् ॥
श्रुतिविरोधे-स्मृतिवाक्यमनपेक्ष्यमप्रमाणमनादरणीयम् ।
असति विरोधे मूलवेदानुमानमित्यर्थः ॥१३॥

भावार्थ—धर्म को जानने की इच्छा वालों के लिये ।

अर्थ—धर्म को जानने की इच्छा वालों के लिये वेद ही परम प्रमाण है । कुल्लूक जी कहते हैं कि—इसका भाव यह है कि वेद के वचन और स्मृति के वचन में जहां परस्पर विरोध हो वहां स्मृति का वचन आदरणीय नहीं है, वेद स्वतः प्रमाण है वह ही उनमें से मानने योग्य है । जाबाल स्मृति का प्रमाण दिया है, जाबाल जी कहते हैं—वेद और स्मृति के विरोध में वेद ही श्रेष्ठ है । भविष्य पुराण का प्रमाण दिया है—"वेद के साथ विरोध में अन्य प्रमाण न मानने योग्य हैं, वेद ही स्वतः प्रमाण है । आगे—महर्षि जैमिनि जी के "मीमांसा दर्शन" का प्रमाण दिया है कि—"वेद से विरुद्ध जो वचन है वह अमान्य हैं जिसका वेद में स्पष्ट विरोध नहीं दीखता है, उसके वेदानुकूल होने का अनुमान करना चाहिये ।

अभिप्राय मनुस्मृति के भाष्यकार कुल्लूक भट्ट का इन प्रमाणों के देने से यह है कि मनु जी वेद को स्वतः प्रमाण मानते हैं और अन्य ग्रन्थों को परतः प्रमाण मानते हैं अर्थात् वेदानुकूल होने से प्रमाण, वेदविरुद्ध होने से अप्रमाण ।

यही महर्षि दयानन्द जी ने लिखा है । अतः मनु जी और दयानन्द जी इस विषय में सर्वथा एक मत हैं ।

इस विषय में मनु जी के वचन आगे और स्पष्ट हैं—

"पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
अशक्यं चाऽप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥

मनु० १२।९४।९५

वेद पितर, देव और मनुष्यों की आँख है इससे परमेश्वर के अतिरिक्त कोई और बना सके यह अशक्य है। और वेद के समान दूसरा और कोई ग्रन्थ नहीं है, वेद अनुपम है।

जो वेद से बाहर स्मृति हैं और जो कोई कुदृष्टि हैं वह सब निष्फल हैं और असत्य हैं, यही अगले श्लोक में स्पष्ट किया है। अर्थात् वेद ही स्वतः प्रमाण है अन्य ग्रन्थ वेद के अनुकूल होने से प्रमाण और प्रतिकूल होने से अप्रमाण हैं।

महर्षि दयानन्द जी का सिद्धान्त—

वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। (आर्यसमाज के तीसरे नियम का पूर्वार्ध)

इस पर मनु जी का सिद्धान्त—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥

मनु० १।२१

सर्व पदार्थों के नाम और पृथक्-पृथक् सबके कर्म सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर ने वेदों के शब्दों के साथ ही निर्माण किये।

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ॥९७॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्मतः ॥९८॥
बिभर्ति सर्व भूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥९९॥
सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं वेदशास्त्रविदर्हति ॥१००॥

॥ मनु० अध्याय १२ ॥

अर्थ—चारों वर्ण, तीनों लोक, चारों पृथक्-पृथक् आश्रम, भूत, वर्तमान और भविष्य सब वेद ही से प्रसिद्ध होता है।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच भी वेद ही से प्रकट हैं, यद्यपि इनकी उत्पत्ति (सत्वादि) गुण कर्म से है।

वेद परम शास्त्र है यह सर्व प्राणियों का भरण-पोषण और धारण करता है, इसलिये (मनु जी कहते हैं कि) मैं इस जीव के कल्याण के लिये वेद को परम साधन मानता हूं।

सेनापतित्व, राज्य, दण्डनेतृत्व, और सारे लोगों का आधिपत्य करने के योग्य वही है जो वेद को जानता है।

इन श्लोकों में मनु जी ने स्पष्ट कहा है कि वेद सारी विद्याओं का भंडार है। धर्म, कर्म, यज्ञ, राजनीति, रीति और सारी विद्यायें वेद में हैं। अतः कहा है कि—

> यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।
> स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ।। मनु० २।७

जो कुछ भी और किसी का भी धर्म मनु ने कहा हैं, वह सब वेद में विधान विद्यमान है। वेद सर्वज्ञान से युक्त है, सर्वज्ञानमय है।

"वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है" और "वेद सर्वज्ञानमय है" एक ही बात है।

महर्षि दयानन्द जी का सिद्धान्त—

(३) वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

महर्षि मनु जी का सिद्धान्त—

> वेदमेव सदाभ्यस्येत्, तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः ।
> वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते । मनु० २।१६६

अर्थ—तप करता हुआ ब्राह्मण वा उत्तम ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वेद का सदा अभ्यास करे। वेद का अभ्यास तो ब्राह्मण का परम तप है।

वेद विषय में मनु जी के कड़े नियम—

> "षट् त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।
> तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ।।
> वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
> अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ।। मनु० ३।१-२

गुरु के समीप रहकर ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद इनको पढ़ने का त्रैवेदिक व्रत छत्तीस वर्ष या अठारह वर्ष या नौ वर्ष अथवा जितना कर सके अवश्य करे।

चारों वा तीनों वेदों को पढ़े वा दो वेदों को पढ़े अथवा विधिपूर्वक कम से कम एक वेद पढ़े, तब गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे।

> "महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः ।
> स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ।।
> हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
> क्षय्यामयाव्यपस्मारि श्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ।। मनु० ३।६-७

गौ बकरी भेड़ द्रव्य और अन्न से समृद्ध भी चाहे क्यों न हों तो आगे बताये दशकुलों की कन्या से कदापि विवाह न करें। एक हीनक्रिये (संध्या अग्नि हो आदि से रहित) निष्पुरुष (विद्वान् और धर्मज्ञ पुरुषों से रहित) निश्छन्द वेदज्ञान और वेदपाठरहित। आदि।

वेद के विषय में कितने कड़े नियम हैं कि जो युवक कम से कम एक वेद पढ़े वह विवाह करे अन्यथा न करे। और जिस कुल में वेद पाठ नहीं होता है उसकुल की लड़की न विवाहे। इस प्रकार वेद का पढ़ना सबके लिये अनिवार्य हो गया। और—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ।। मनु० ३।१६८

जो ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य वेदों को न पढ़कर अन्य ग्रन्थों के पढ़ने या अन्य कार्यों में परिश्रम करता है वह जीवित रहता हुआ ही कुटुम्ब सहित शूद्र हो जाता है।

ऋषि दयानन्द जी कहते हैं कि—वेद का पढ़ना परम धर्म है। मनु जी कहते हैं जो वेद न पढ़े वह ब्राह्मण-क्षयिय-वैश्य नाम रखता हुआ विवाह न करे, न वेदरहित परिवार की पुत्री से विवाह करे।

जो वेद नहीं पढ़े, वह ब्राह्मण कहलाने वाला ब्राह्मण नहीं रहता, क्षत्रिय कहलाने वाला क्षत्रिय नहीं रहता और वैश्य कहलाने वाला वैश्य न रहेगा, शूद्र हो जायगा। इसलिये मनु जी के सिद्धान्त में भी "वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।"

ऋषि दयानन्द जी ने कोई नई बात नहीं कही, कोई नया सिद्धान्त नहीं बनाया जो वेदों और शास्त्रों ने बताया, वही ऋषि का सिद्धान्त है।

इस प्रकार ऋषि दयानन्द जी के सर्वसिद्धान्तों की पुष्टि वेदों और शास्त्रों के असंख्य प्रमाणों से होती है। भगवान् कृपा करें कि सब मनुष्य ऋषि दयादन्द जी के सिद्धान्तों को समझें और इनके अनुकूल आचरण करें।

अथर्ववेद के साथ किया गया अन्याय

प्राध्यापक विष्णुदयाल जी, एम० ए०, मारीशस

संस्कृत की ओर खींचे जाने पर यूरोपीय हमारे ग्रन्थों का अनुवाद करने लगे। विगत शती में मूर्धन्य लेखक हमारी प्रशंसा करने लगे। यद्यपि वेदों का भाषान्तर ठीक न था। तो भी ये क्रान्तदर्शी विद्वान् समझ गये कि वेद में अद्भुत ज्ञान है फ्रांस में महाकवि विक्टर ह्यू गो ने लिखा है कि 'वेद एद्ध रोमसिरो' पठनीय है। यह वाक्य उनके प्रसिद्ध काव्य "शताब्दियों का उपाख्यान" में आता है। कविगण लेखकों से मिलकर लिखने लग गये थे कि वेद सब लोगों के लिये है, वह किसी लेखक विशेष का रचा हुआ ग्रन्थ नहीं लगता। 'दीवान' की भूमिका में जर्मन कवि गेटे ने लिखा कि संसार के प्रभात काल में परमात्मा मानव को ज्ञान देता है।

उन्नीसवीं शती से पूर्व

उन्नीसवीं शती से पूर्व मालब्रांश नामक पादरी ने हिन्दुओं के विचार प्रसारित किये और उन्हें '१७वीं सदी के हिन्दू' नाम मिला।

वे वोल्तेर के समान उद्भट विद्वान न थे। जन साधारण तक भारतीय विचारों को वोल्तेर ही ने १८वीं शताब्दी में पहुँचाया। बोस्ये के प्रवचनों की फ्रांस में धूम थी। उन्होंने सिद्ध कर दिया था कि सब ज्ञान यहूदियों की ओर से मिला। पादरियों के छक्के छुड़ाने वाले वोल्तेर ने बोस्ये को ऐसा उत्तर दिया जो फ्रेंच साहित्य का एक अमर अंग बन गया।

उनसे मोदाव नामक फ्रेंच मिले, जो कोरोमन्डल में रहते थे। उन्हें यजुर्वेद की एक प्रति सन् १७६० में इसी फ्रांसीसी से मिली थी। जैसे कि अब हमें ज्ञात है, वह जाली यजुर्वेद था; पर पादरियों ने वेद के प्रभाव में आकर उसे इतना उत्तम बना दिया था कि बहुत दिनों तक लोग मानते रहे कि यह मौलिक यजुर्वेद ही था। कईयों का अनुमान है कि मोदाव को यह ग्रन्थ अपने श्वशुर से प्राप्त हुआ था। जो करैकल में रहते थे।

ये मोदाव नाम वाले फ्रांसीसी वोल्तेर को यह ग्रन्थ देकर मारीशस आये। यदि उन दिनों में वेद से दिलचस्पी रखने वाले विद्वान् यहाँ होते तो हम जान जाते कि उन्हें अपने श्वशुर से ही यां किसी अन्य से यह प्राप्त हुआ था। मोदाव ने ही वोल्तेर को भारत के सम्बन्ध में बहुत कुछ सुनाया था।

वोल्तेर के पास इतनी सामग्री आ गई थी कि वे सिद्ध कर पाये कि ज्ञान का केन्द्र भारत और चीन को मानना चाहिये। उनके युग में ही मान लिया गया था, कि भारतीय बर्बरता से रहित थे। वोल्तेर ने सर्वप्रथम बताया कि केवल भारतीयों और चीनियों के धर्म बर्बरता से शून्य हैं। उन्होंने लिखा कि हिन्दुओं का धर्म तार्किक लोगों का धर्म है। उन्होंने उन पादरियों की पोल खोली जिन्हें भारत में भूत-प्रेत-पूजा के सिवा कुछ दिखाई ही न देता था।

वोल्तेर-युग में बड़े-बड़े विचारक विद्यमान थे, उन्हीं के द्वारा फ्रांस से विश्वकोष रचा गया जिसमें जिदरो ने लिखा कि पादरियों की उत्कण्ठा स्तुत्य है, किन्तु यही उत्कंठा उन्हें एक ओर या दूसरी ओर हद से ज़्यादा झुका देती है।

अथर्ववेद पर प्रहार–

पादरियों को वेदों को कलंकित करने का अन्त में अवसर मिल गया। वे कहते रहे कि भारत में भूत-पूजा होती है। अब वे और उनके साथी कहने लगे कि अथर्ववेद में भूत-प्रेत की पूजा का स्पष्ट विधान है। वे साथ-साथ सुनाने लगे कि अथर्ववेद वेद ही नहीं है, क्योंकि वेद तो केवल तीन हैं। इतनो कह कर ही वे चुप न रहे। जिन्हें वे वेद बताते हैं उनमें भी अनेक त्रुटियाँ देखने में आने लगीं।

उनका कथन युक्तियुक्त नहीं है। यदि अथर्ववेद में दोष है तो अन्य तीन वेदों में दोष न होना सिद्ध हो जाता है। या यों कहिए कि यदि भूत-प्रेत-पूजा का सम्बन्ध अथर्ववेद से है; तो ऋक्, साम और यजुः में ईश्वर पूजा को उच्च स्थान प्राप्त होना चाहिये। पर क्योंकि समीक्षक वेदमात्र पर प्रहार करने निकले थे वे इन तीनों को सानने लगे।

भारतीय विद्वानों ने सैकड़ों वार प्रमाण देकर बता तो दिया कि वेद वस्तुतः चार हैं—उनमें उल्लिखित विषय तीन हैं। बच्चा-बच्चा अब जानता है कि इस विषय में दो राय हो ही नहीं सकतीं। यदि गीता को ही उठा कर देखा जाय जिसका अनुवाद देश-देश में हो गया तो यह श्लोक देखने में आयेगा:—

"ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥

गीता १३।४

डा॰ राधाकृष्णन् की गीता में 'छन्द' को "वेद" मानकर यह टीका की गई है:

"The Gita suggests that it is expounding the truths already contained in the vedas......"

गीता तो उपनिषद्‌रूपी गौ का दुग्ध है। उपनिषद् में चारों वेदों का नाम अधिक स्पष्टता से आता है। छान्दोग्योपनिषद् में नारद जी कहते हैं : "ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्' अर्थात् भगवन् मैं ऋग्वेद को जानता हूँ। यजुवद को, सामवेद को, चौथे अथर्ववेद को······

गीता ने "छन्द" शब्द व्यवहृत किया। वेदो में भी अथर्व के लिये "छन्द" आता है, यदि इस का प्रमाण किसी को चाहिये तो "आथर्वणायाश्विनादीधचे," ऋग्वेद १, ८०, १६ के इस वचन में अथर्ववेद के ऋषि का नाम तक पा सकता है। चारों वेद एक काल में रचे गये, क्योंकि जिस ऋग्वेद को प्राचीनतम कह कर और वेदों को कम प्राचीन सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है, उसमें अर्वाचीन माने जाने वाले वेद का उल्लेख है। जिस प्रकार ईशोपनिषद् का सम्बन्ध यजुर्वेद के साथ है उसी प्रकार ऋग्, साम तथा अथर्ववेदों से सम्बन्ध रखने वाली उपनिषदें विद्यमान हैं। मुण्डकोपनिषद् अथर्ववेद ही की उपनिषद् है। इस नाम से ही ज्ञात होता है कि उपनिषद् में शीर्षस्थानीय, सर्वोच्च विद्या है। अथर्ववेद निकृष्ट नहीं है।

चतुर्थ वेद—

एक ही अर्थ में अथर्ववेद को चतुर्थ वेद माना गया है। और वह दशा यह है कि इस वेद के ज्ञाता अग्रणी, पुरोहित होते हैं, वे उद्‌भट विद्वान् होते हैं, उन्हें तीन वेदों का ज्ञान होना चाहिये, नहीं तो वे इस वेद को समझ न सकेंगे।

इस अर्थ में जब हम अथर्ववेद को अन्तिम या चतुर्थ वेद नाम देते हैं, हम उसका मूल्य बढ़ाते हैं। ऋग्वेद में यह सब कहा गया जब उसके दशम मंडल में यह मन्त्र आया:—

"अग्निर्जातो अथर्वणा विदद्विश्वानि काव्या।
भुवद् दूतो विवस्वतो वि वो मदे प्रियो यमस्य॥
काम्यो विवक्षसे॥ १०।२१।५।

अथर्ववेद की विद्या में या अथर्ववेद से प्रसिद्ध होकर ज्ञानी अर्थात् पुरोहित सम्पूर्ण परम कवि के वचनों, वेदों तथा कवि के कर्तव्यों को प्राप्त करे और बिचारे'। वह विवस्वान् के काल का दूत होता है और तुम्हारे आनन्दार्थ तथा विशेष कथन के लिये और खास भार उठाने के लिए संयम का विशेष प्रेमी होता है।

इस वेद को हम वेदान्त कह सकते हैं, क्योंकि यह वेद का अन्त है। अन्य तीन वेदों के पाठ के बाद इसका पाठ सुचारु रूप से हो पाता है। इस मूल बात को न समझ कर पश्चिमियों ने अथर्ववेद को पढ़ा। मनोयोग से इसे पढ़ते तो उनका निर्णय आजकल के उनके निर्णय के बिलकुल विपरीत होता। अधिक कठिन होने से इस वेद को उन्होंने कम समझा, उनका जो इस वेद पर प्रहार हुआ वह योग्य समीक्षक की अधिकृत समीक्षा नहीं है।

उपर्युक्त मन्त्र उस मत का स्पष्ट विरोध करता है जिसे अपना कर कुछ भारतीय और अभारतीय विद्वान् कहते रहते हैं कि अथर्ववेद को मान नहीं मिलता था। भारतीयों में प्रोफेसर अर्जुन

चौबे काश्यप को गिनना चाहिए जिन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'आदि भारत' के पृष्ठ ६५ पर लिखा है :

'अथर्वसंहिता' ही अथर्ववेद है, जिसे चौथा वेद कहते हैं। यह वेद मोहन, उच्चाटन, मारण के उपचारों से सम्बंधित मन्त्रों से भरा है। सम्भवतः इसी कारण इसका प्राचीन काल में उतना सम्मान नहीं था।

सम्मान न हुआ होता तो ऋग्वेद में अथर्ववेद के सम्बन्ध में प्रशंसात्मक विचार क्यों आते। यह प्रशंसा व्यर्थ न हुई थी। आगे चल कर इस लेख में बताया जायेगा कि त्रस्त संसार अथर्ववेद की शरण में आने का इरादा करने लगा है। यह इरादा विचारवानों का इरादा है। अथर्ववेद ने ही ईश्वर को "स्वस्तिदा" "आयुर्दा" आदि संज्ञायें देकर जरा-मृत्यु से मुक्त होकर अमर होने का मार्ग दर्शाया है।

हमारे विद्वान्–

प्रहार करना सहज हो जाता है, क्योंकि कुछ भारतीय भी यूरोपीयों की हाँ में हाँ मिलाते रहते हैं। डा० मुल्कराज आनन्द का आगमन हमें हर्ष से पूरित करने वाला था। उनके लेखों, कहानियों और उपान्यासों को पढ़कर पाठक कहने लगे कि भारत में नेहरू जी से अच्छी अँग्रेजी लिखने वाले दृष्टिगोचर होते हैं। डा० जी ने बच्चों के लिए भारत का एक लघु इतिहास अँग्रेजी में लिखा। यह नन्हीं सी पुस्तिका सुन्दर है, नेहरू जी के अनेक चित्र उसमें मिलते हैं। यही नहीं वेद सम्बन्धी विचार जो पाये जाते हैं, वे भी नेहरू जी के मत से ही मिलते जुलते हैं। आनन्द जी लिखते हैं:—

"The Aryans sang certain chants and rhymns and poems to appease the forces of nature··· – – —Also they adopted the Dravidian gods and spirits—·········"

हम अपने भारतीय शासकों को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते जब हम देखते हैं कि भौतिक स्तर पर उन्होंने देश-रक्षार्थ अस्त्र-शस्त्र को खूब तैयार किया, परन्तु आध्यात्मिक स्तर पर बने हुए काम को भी बिगाड़ते रहने वालों को कैसे बधाई दें।

पादरी को बढ़िया मौका मिल रहा है कि भारतीय विद्वान् आध्यात्मिक भारत के पैर पर स्वयं कुल्हाड़ा मार रहे हैं। हिन्दुओं को ईसाई बनाने में इन महानुभावों से ही सहायता मिल रही है।

निष्पक्ष यूरोपीय तक अंग्रेजी शिक्षित भारतीयों के रुख से असन्तुष्ट हैं।

भारत के स्वतन्त्र होने पर हिन्द-चीन के विश्वविद्यालय में एक सारगर्भित भाषण देते हुए श्री दानो ने स्वराज्य दिवस के अवसर पर दिनांक १५ अगस्त १९४९ को भारत को श्रद्धाञ्जलि चढ़ाई। उन्होंने कहा कि जब भारत का पश्चिम से सम्पर्क हुआ तब दोनों केन्द्रों के ऐसे लोगों के बीच दर्शन हुआ जो अपने-अपने केन्द्र के सर्वश्रेष्ठ मा.व.न थे। भ्रान्तियां इसीलिये फैलीं, एक-दूसरे को समझाने की शक्ति उनमें थी ही नहीं। भय, जलन और शर्म से दास-वृत्ति उत्पन्न हुई।

बहुत से आधुनिक भारतीय मानसिक दास बने हुए हैं। भारत में ऐसी वृत्ति न होनी चाहिए थी। वहां तो पूर्ण व्यवस्था है जो सब में न्याय करवाती है। जो एक ही आदमी के पास राज्य-शक्ति और वित्त-बल को जाने नहीं देती। भारत में न्याय है जब कि हमारे यहाँ अर्थात् यूरुप में ईसा की पूजा दो हजार साल से होती है। जिन्होंने गैरकानूनी कार्यवाही की थी और जिन्हें 'न्यायतः' दंड दिया गया था, भारत में न्याय है, अतः सुव्यवस्था है।

अथर्ववेद और वैद्यक—

उन्होंने कहा कि काम्बोड्या में अशोक के वचन की प्रतिध्वनि सुनने में आई जब सप्तम जयवर्मन के विषय में कहा गया कि वे अपनी प्रजा की व्याधि से अपनी व्याधि से अधिक दुःखी होते थे। वे योद्धाओं से नहीं, वैद्यों से उस शत्रु का नाश करते थे, जिसे बीमारी कहते हैं।

अशोक एक महान् भारतीय थे। वेदों में शारीरिक क्लेश को दूर करने का उपाय बताया न जाता तो वे बौद्ध होते हुए आरोग्यालय का प्रबन्ध सहज में न कर पाते, अस्पताल खोलना परम्परागत था। और वेदों ही की भांति अथर्ववेद भी रोगों का उपचार बताता है, वैद्यक या आयुर्वेद का नाम ही वेद है।

जब शारीरिक पीड़ा को दूर करने के लिए औषधि का सेवन नहीं किया जाता है, तब भूत-प्रेत-पूजा होने लगती है। राक्षस आदि पारिभाषिक शब्द जो अथर्ववेद में आते हैं, नाशकारी कीड़ों के लिये आते हैं। उपनिषद् में जब देवासुर-संग्राम का वर्णन आता है तो "राक्षस" उस प्रवृत्ति के लिये आता है जो मनुष्य को गिरावट की ओर ले जाती है। नेत्र और कर्ण ने जब अभिमान किया कि हमने असुर को जीता, उपनिषद् के ऋषि का मतलब यही था कि आँखों ने उन वस्तुओं को देखकर भी जो शरीर में विकार लाती हैं, अपने को वश में रखा; कर्ण ने ऐसे शब्द को सुनकर के भी जो शरीर को चंचलता को देता है, अपने को वशीभूत रखा। पश्चिमियों को उपनिषद् उत्तम लगे तो वे नहीं कह सकते कि वेद उत्तम न होंगे।

भयाक्रान्त लोगों को भूत की पूजा करना सूझता है, निर्भीक लोगों को नहीं। जो व्याधि के आक्रमण से भयभीत होते हैं वे मृत्यु से भय खाते हैं। मृत्यु से भय खाने वाले तो पश्चिमीय हैं, भारतीय नहीं। भारतीय साहित्यकारों की बम्बई राज्य हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तृतीय अधिवेशन के अवसर पर जो पं० लक्ष्मी नारायण मिश्र ने अपना अध्यक्षीय भाषण करते हुए कहा, वह स्मरणीय है। उन्होंने कहा :—

संस्कृत शब्द 'दर्शन' और इसी अर्थ में सामान्यतः प्रयुक्त यूनानी शब्द 'फिलोसोफिया' का अन्तर भारत और यूनान की जीवन और विधि का अन्तर खोल देता है। यूनानी शब्द 'फिलोसो-फिया' का अर्थ है जीवन और जंगत् के प्रति मानवीय चिन्तन या तर्कबुद्धि से सत्य की स्थापना। इस तर्कपद्धति पर अधिक बल देने का फल यह हुआ कि जीव का मूल धर्म तो मिला नहीं, मनुष्य और मनुष्येत्तर प्राणियों की सहज प्रवृत्ति और सब कहीं जीवन की लहरों में व्यापक और अवि-च्छिन्न सम्बन्ध यूनानी "फिलोसोफिया" भी परिधि के बाहर रहा। जीव का गुण, धर्म और स्वभाव

जो जीवन समुद्र के तल में शेष कुण्डली मार कर बैठा था, अथवा उपनिषद् की वाणी में गुहा-निहित था, तर्क की कसौटी पर जिसके रंग की लीक बन नहीं सकती थी। यूनानी दर्शन और साहित्य में न आ सका। जीव क्या है, उसका माध्यम यह जीवन क्या है, इस विषय में यूनानी चिन्तनधारा अन्धी बनी रही। सत्य के दर्शन की बात उन्हें न सूझी। वे अनुमान से सत्य बनाते गये और तब जो था वह छूट गया; जो होना चाहिए उसी की अन्धाधुन्ध दौड़ मच गई। मनुष्य का इतर प्राणियों के साथ निसर्गजात सूत्र तोड़ दिया गया। आहार, निद्रा, भय और मैथुन सरीखे पशु धर्म बुद्धि की आँच में भस्म हो गये। सृष्टि के अनेकानेक जीवधारियों में मनुष्य भी एक था और किसी न किसी कार्य में उसकी उनसे समानता थी। सृष्टि के मूल नियमों का वशवर्ती उसका जीवन भी न था यह तथ्य यूनानी चिन्तन-पद्धति में न समा सका।

अब संस्कृत शब्द "दर्शन" की व्याप्ति देखी जाय जिसका बोध हमारी संस्कृत के उषःकाल वेद और उपनिषद् में ही सदैव के लिए स्थिर हो चुका है। जब तक यह सृष्टि है, इसका गुण, धर्म और स्वभाव बदल नहीं जाता है, तब तक इस देश का दर्शन-बोध सनातन रहेगा। दर्शन शब्द का अर्थ है—परम सत्य का साक्षात्कार, भावानुभव से उसमें रम जाना; स्रष्टा के भीतर उसकी सृष्टि का सुख लेना, उसके सम्बन्ध में अपने भेद को मिटा देना। पश्चिम का विचारक जो केवल तर्क करता रहा है सृष्टि के मूल धर्म को न पाकर विचारों का ताना-बाना फैलाता रहा है। वह जितना ही अधिक मुखर बना है उतना ही अधिक सत्य से दूर फेंक दिया गया है। इस देश के ज्ञानी की दशा दूसरी है। वाणी को रोक कर आँखों को मूँद कर, इन्द्रियों के क्रियाकलाप को अन्तर्मुखी कर, बाह्य चिन्तन के सारे प्रभाव से छूट कर जब कि उसे समाधि की दशा मिल गई, उसे परम सत्य के दर्शन का फल मिला। समाधि की दशा को छोड़ कर सत्य के बोध का कोई दूसरा मार्ग यहाँ नहीं है। उपनिषद् के सत्य इसी माध्यम से मिले थे, जो हमारे साहित्य और हमारी कला के आधार बने। इसी माध्यम की प्रतिष्ठा कालिदास की वाणी में भी मिलती है, जिसके अभाव में न यहां कोई कवि है न कलाकार। मालविका का रूप अग्निमित्र चित्र में देख चुका है, जब वह उसकी आँखों के सामने आ जाती है। वह अपने सखा विदूषक से कहता है—

"वयस्य इसके चित्रगत रूप में मुझे शंका हो रही थी कि कदाचित् इतनी सुन्दर यह न होगी, पर अब तो मैं मानता हूं कि चित्रकार ने इसका चित्र शिथिल समाधि में बनाया।"

जीवन की किसी भी स्थिति का बोध शिथिल समाधि में सम्भव नहीं है। इतना मान लेना होगा कि जो दर्शन है वही साहित्य है, वही संगीत है, वही कला है और वही जीवन है। जीवन के दर्शन का अर्थ है उसके मूल का दर्शन, जिसे उपनिषद् में ब्रह्मविद्या की अभिधा दी गई है, जिसमें जीवन के भीतर से जीव का अनुभव, जीव के भीतर से ब्रह्म का अनुभव है। जीवन की विजय यात्रा का यह मार्ग साहित्य और कला का मार्ग है; धर्म और दर्शन का मार्ग है। पश्चिम में दर्शन किसी ओर भागा जा रहा है, तो धर्म किसी ओर भागा जा रहा है; जीवन किसी ओर भागा जा रहा है, तो साहित्य किसी ओर। यह दशा अपने यहाँ नहीं है। इस मूल भेद को देख लेना हमारे

लिए अपने उस जीवन-दर्शन को देखना होगा, जिसे हम विदेशी शासन और साहित्य के विदेशी आतंक में भूल चुके हैं। देश के भाग्य से गाँधी का अवतार हुआ। जिन्हें रामायण के पाठ में रस मिला, गीता में अहिंसा मिली, जो जीवन के हर क्षण ईश्वर के हाथ में रहे।

विनोबा के साम्ययोग में इस देश का यही जीवन-दर्शन खिल रहा है, जो हमारे साहित्य को फिर प्राणवान् कर रहा है।

मिश्र के पिरेमिड मृत्यु की उपासना है; आगरे का ताजमहल भी मृत्यु की उपासना है, होमर के काव्य और यूनान की शोकान्तिकाओं से लेकर शैक्सपियर के बाद तक यूरोप का साहित्य मृत्यु की उपासना की ओर है। पश्चिम ने मृत्यु की उपासना की। यह तथ्य साहित्य और कला दोनों के रूपों को देखने से खुल जायेगा। समय आ गया है जब हम इस तथ्य को देख लें और यह भी देख लें कि हम क्या थे और क्या हो गये हैं।

अथर्ववेद की वाणी—

पश्चिमीय अपनी हीं सभ्यता से ऊब जाते हैं। उन्होंने उस सुख को चखा जिसके आरम्भ में अमृत है और अन्त में विष। श्री दानो ने कहा कि इसके विपरीत भारतीयों को वास्तविकता में सुख मिलता है। उन्होंने अथर्ववेद के वचन को सुना कर आगे चल कर समझाया कि जिन ऋषियों के मुख से जैसी वाणी निकली वे अपने में पूरा विश्वास करने वाले थे। वे मृत्यु को चुनौती देते थे।

पाठक जानना चाहेंगे कि कौन सा वचन है जिसे दानो जी ने श्रोताओं को सुनाया। वे फ्रेंच में बोल रहे थे और औरल्वी रेणु नामक विद्वान् द्वारा किया गया वेद मन्त्रों का अनुवाद पढ़ रहे थे। उन्होंने यह मन्त्र सुनाया—

आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः।
इहैव भव मा नु गा मा पूर्वाननु गाः।
पितॄनसुं बध्नामि ते दृढम्॥
अथर्व० ५।३०।१

इस मन्त्र में तो कहा गया कि निकट वाले अर्थात् जीवित लोग पास होते हैं और मृत लोग भी पास ही हैं। हमें क्लेश हो तो बन्धु-बान्धव मिलकर उसे दूर कर देते हैं और जो मर गये हैं उनकी शिक्षाओं को, उनके द्वारा उपस्थित किये गये आदर्श को याद करके हम अपने को क्लेश से मुक्त कर देते हैं। वे मरे हुए समझे जाते हैं, पर हम जो छोड़े गये उदाहरण को कृतज्ञ बन कर भूलते नहीं; मृतों को भी जीवित ही समझते हैं। अथर्ववेद का पाठ करके जीवित-जाग्रत रहने वाले अकेले नहीं रहते हैं।

भय उसे आक्रान्त करता है जो समझता है कि अकेला हूं। महात्मा गांधी ने जब यह मत उच्चारित किया था कि सत्याग्रही ईश्वर पर पूरा विश्वास करे, उनका यही तात्पर्य था कि दुःख सहने वाला वीर कायर न बने। वह यह समझ कर कि मेरे भगवान् मेरे साथ हैं बड़े से बड़ा युद्ध करे।

पश्चिम ने ईश्वर को त्यागा। अतः वह अपने को अकेला समझ कर संसार से ऊब जाता है। श्री दानो हिन्द-चीन में भाषण कर रहे थे जहाँ आठ साल युद्ध होता रहा। संकट के समय में उन्हें कहीं न कहीं से आश्वासन प्राप्त करने की आवश्यकता हुई। संकट में अथर्ववेद काम आया। उन्होंने यह मन्त्र भी सुनाया :—

> अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः।
> यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे।
> स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः॥
>
> अथर्व० ५।३०।१७

हमें आदेश दिया गया कि हम वृद्धावस्था के आने से पूर्व न मरें। बुढ़ापे से पहिले न मरने वाला वही है जो दवाई का सेवन करता है, कर्मण्य रहता और आशावादी बनता है जीवन को कोसता नहीं। पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र ने भी इस मन्त्र का यह टुकड़ा 'मा पुरा जरसा मृथाः' सुनाया था।

याद रहे कि जिस रेणु नामक विद्वान के अनुवाद को श्री दानो ने पढ़ा वह स्पष्ट कहता है कि अथर्ववेद ऋग्वेद के समान प्राचीन है। इस वेद का आदेश अपेक्षाकृत आधुनिक नहीं है। अथर्ववेद की वाणी अभय दान देती है; वह सेमिटिक धर्म का ग्रंथ नहीं लगता, जो शैतान की पूजा करने को बाध्य न करे तो उससे भय खाने से रोक भी नहीं पाता।

वेदों ने कभी नही माना कि भलाई करने वाला ईश्वर है तो बुराई करने वाला शैतान होता है। पश्चिम में फ्रायड ने भूत भगाना आरम्भ किया जब मनोविश्लेषण करने और कराने का सत्परामर्श दिया। लोग समझने लगे किः—

> 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

वेद ज्ञान का ग्रन्थ है। ज्ञानी लोग यूरोप में आकर कुछ बताने लग जाएं तो वे इंजील से लोगों को दूर ले जाकर वेद के पास बैठाते हैं। वास्तव में फ्रायड ने यही किया। उन्होंने कहा कि अपने अन्दर दुःखों का कारण खोजो; भूत-प्रेत का कोई अस्तित्व नहीं है। ईसाइयों की अब अपनी मान्यता कि शैतान विद्यमान है, त्यागनी पड़ ही रही है।

अपने अन्दर दुःख का कारण ढूँढने वाले ऋषि वेदमार्ग पर चलते थे, इसलिए वे शारीरिक और मानसिक व्याधियों से मुक्त होते थे। सन् १९१५ से संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन करके श्री पं० भगवद् दत्त ने "भारतवर्ष का इतिहास" की भूमिका में लिखा हैः—

"विशाल संस्कृत साहित्य के पारायण का मुझ पर जो प्रभाव पड़ा है वह अनुवाद पढ़ने वालों पर नहीं पड़ सकता। सुतरां उनके और मेरे मत में भूतलाकाश का अन्तर हो गया है। मेरी उस वाङ्मय में श्रद्धा बढ़ी है। मेरे हृदय पर उसके तथ्य अंकित हुये हैं। मैं अब मानने लगा हूँ कि आर्य ऋषि साधारणतया २०० या ४०० वर्ष तक जीते थे। ये ऋषि मृत्युंजय थे। मृत्यु को भी व्याधि

समझ कर उसे जीत लिया करते थे। वे आत्मा में विश्वास करने वाले थे। डा० राघवन् जी ने अभी लिखा है कि ८६ वर्षीय विद्वान् प्रा० ऐफ० डबल्यू० थामस से मैं मिला और उन्होंने मुझे कहा—

"The greatest glory of india which none in other countries or in india itself should forget is thc doctrine of the self, 'Atman' which is not merely philosophically interesting but true."

देश-देश में त्राहि त्राहि मची है तो कारण यह है कि राजा प्रजा को भयभीत कर छोड़ता है। उसके सारे प्रबन्ध प्रजा को लाचारी की अवस्था में लाने के लिये हैं। भय के मारे कोई भविष्य-निर्माण का कार्य कर ही नहीं सकता। किसी को ज्ञात नहीं कि कब हमारे देश पर अणु बम फेंका जायेगा। एक राष्ट्र दूसरे का मित्र कहलाता है, किन्तु मित्र की क्या नीयत है, यह उसे पता नहीं। सर्वत्र भय अपना राज्य करके मानव को कुंठित कर रहा है। इस भय से मुक्त होने का उपदेश अथर्ववेद ही ने तो कहा है:—

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥

यूनेस्को बन गया है। विश्व भर के विद्वानों से वह सहयोग देने की याचना कर रहा है। उसने महात्मा गांधी के प्रयत्नों की उपेक्षा न की। उसे अब महात्मा जी से पूर्व भारत में आये हुए महात्माओं, मुनियों तथा ऋषियों तक जाकर देखना चाहिए कि उन्होंने विश्व-कल्याण के लिए क्या किया था। इस ओर उसका ध्यान आया तो अथर्ववेद उपयोगी सिद्ध होगा।

जो निष्पक्ष होकर जानना चाहेगा कि अथर्ववेद के साथ किन लोगों ने अन्याय किया उसे अवश्य बोध होगा कि पादरियों से प्रभावित विद्वान् और ऐसे भारतीय जिनके विचार परिपक्व नहीं हैं, अन्याय करते रहे हैं। पादरियों के सम्पर्क में न आने वाले तो भारत को विचारकों में अग्रणी का स्थान देते हैं। इतिहासकार रेने गुसे के देहान्त से श्री दायेलू ने जो काशी में कुछ समय बिता कर भारतीय संगीत, कला, दर्शन आदि के प्रशंसक बने; खेद से लिखा कि यह देहावसान विशेष कर भारत के लिये हानिकारक हुआ, क्योंकि भारतीय शासक अपने देश की परम्परा से मुख मोड़ने, ब्राह्मणों से वास्ता न रखने, धार्मिक शिक्षाओं की जगह में रेडियो की शिक्षायें देने, धर्म ग्रंथों के पाठ के स्थान पर अखबारों का पाठ रखने में प्रयत्नशील हैं।

इन शासकों की भांति विलायत के लोग संस्कृत को ठुकराने लगे हैं। संस्कृत पढ़ाई के लिए खोले गये भवनों में अब उल्लू बोलेगा। आक्सफोर्ड में भारतीय इंस्टिट्यूट के भवन को दफ्तर बना देने का निर्णय हो गया है, कोई संस्कृत-विशेषज्ञ अब इन्डिया आफिस में पाया नहीं जाता है। रायल एशियाटिक सोसाइटी भारतीय भाषाओं की उपेक्षा करती है; उन लोगों की संख्या घटती जा रही है जो भारत से विलायत में संस्कृत का अध्ययन करने के लिए पहुंचते रहते हैं।

इग्लैण्ड का संस्कृत प्रेम तब तक कायम रहा जब तक कि वह भारत का शासन करता था,

संस्कृत पढ़ाने वाले अंग्रेज थे और पढ़ने वाले भारतीय। हाँ, एक बार परलोकगत संस्कृतज्ञ श्यामजी कृष्णवर्मा आक्सफोर्ड में पढ़ाने लगे थे।

अपना उल्लू सीधा करता हुआ विलायत भारतीयों को गुमराह करने के लिए संस्कृत पढ़ाई करने की डींग मारता था। उसकी भक्ति बगुला भगत की भक्ति थी। अब तो वह व्यापारी रह गया। विलायत संस्कृत न पढ़ावे तो हानि नहीं होगी। हानि तब होगी जब वेदों की सेवा करने पर तुले हुए भारत के इने-गिने पंडित छोटी-मोटी बातों के लिए आपस में द्वेष फैलावें जिससे वेदाध्ययन के मूल्यवान् कार्य को ठेस लग सकती है। विद्वानों की यह मण्डली याद करावे कि जब विदेशी शासक राज्य लौटाने के लिए राजी न होते थे वे आज कल के भारतीय शासकों की ऐसी युक्तियां सुनाते थे जो वेद को निकृष्ट बताने वालों की युक्तियों से मिलती-जुलती थीं। आश्चर्य की बात है कि एक दिशा में युक्तियों को न मानकर लोग दूसरे क्षेत्र में दी गई वैसी युक्तियों में सार पाते हैं।

ओ३म् पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः सम्भृतं रसम्।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्॥ ऋ० ९-६७।३२

जो मनुष्य प्रभू की कल्याणी वाणी का अध्ययन और मनन करता है,
वह ऋषियों के प्राप्त किये मधुररस-ज्ञानरस को तथा
संसार-सुख की साधन सामग्री—दूध, घृत,
मधु, जल आदि को प्राप्त करता है।

दर्शन की भावना

डा० इन्द्रसेन, श्री अरविन्द आश्रम, पांडिचेरी

विज्ञान की भावना मानव-संस्कृति की एक विशाल तथा ओजस्वी प्रेरणा और प्रवृत्ति है। परन्तु दर्शन की भावना उससे अधिक विशाल और ओजस्वी है। विज्ञान प्रकृति के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों का तटस्थ तथा स्वतन्त्र भाव से अध्ययन करता है। दर्शन अखण्ड वास्तविकता को वैसे ही तटस्थ स्वतन्त्र भावना में जानना चाहता है।

नितान्त व्यावहारिकता की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि जगत् और ब्रह्म को जानना व्यर्थ सा है, क्योंकि उस ज्ञान से मनुष्य रोटी थोड़े ही कमा सकता है। बहुतेरे मनुष्य व्यावहारिकता में भी तत्क्षण की ही बात सोचते हैं। आगे-पीछे की दूर तक किसी बात का विचारना उन्हें पसन्द नहीं होता। अनेक जातियाँ भी गंभीर विचार की अभ्यस्त नहीं होतीं। अथवा विचारशील जाति के इतिहास में भी ऐसे समय बार-बार आ जाते हैं जबकि वह अन्तिम सत्ता की खोज से कुछ थक कर कुछ दूसरे प्रकार की खोज के कौतुहल से प्रत्यक्षवादी और प्रकृतिवादी बन जाती है। परन्तु ऐसे अवसर होते अल्पकालिक हैं। शीघ्र ही मानवात्मा पुनः जगत् के गम्भीर तथ्य को जानने के लिए उतावली हो उठती है। उसे वस्तुओं के ऊपरी रूप से सन्तोष नहीं हो पाता, वह उनकी तह तक जाना चाहती है। श्री अरविन्द के अनुपम शब्द में हम कह सकते हैं—

"प्रबुद्ध विचारों के उदय-काल से मानव के भीतर एक विशेष लौ लगी हुई है। संदेहवाद की लम्बी रातों के बाद भी यह सुलगती रहती है और बार-बार निर्वापित करने पर भी फिर जग उठती है—ऐसा जान पड़ता है कि यही उसकी अटल, चरम लौ और लगन है। ईश्वर का साक्षात्कार, प्रकाश की प्राप्ति, स्वातंत्र्य और अमृतत्व की उपलब्धि—'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय'—यही चिरन्तन ज्ञान-सूत्र मानव-जाति का अन्तिम ज्ञान-सूत्र है, ऐसा प्रतीत होता है।

ब्रह्म, प्रकाश, स्वातन्त्र्य, अमरता—इनके बिना मनुष्य का चारा नहीं। मनुष्य प्रतीयमान वस्तुओं में विरोध और अपूर्णता देखकर किसी अज्ञातपूर्ण वस्तु को खोजेगा ही, अपने अज्ञान और अन्धकार से असन्तुष्ट होकर प्रकाश को चाहेगा ही, अपने बन्धनों को वह तोड़ेगा ही। इतना ही नहीं वह यह साहस भी रखता है कि वह जाने कि क्या मृत्यु बिलकुल अनिवार्य है, क्या मृत्यु को नही जीता जा सकता? यही वास्तव में दर्शन की भावना है। यदि ब्रह्म, प्रकाश, स्वातन्त्र्य, अमरता उचित ध्येय है तो निश्चय ही, दार्शनिक भावना अत्युपयोगी ही नहीं, बल्कि साँस्कृतिक मूल्यों में परम पूज्य है। इस मूल्य की प्राप्ति से वह आधारभूत स्थिति प्राप्त हो जाती है जहाँ से प्रतीयमान जगत् की स्थितियों पर अधिकार हो जाता है। वास्तव में यह अधिकार ही आर्य-जाति का अपूर्व धन था जिसने इसे जीवन-शक्ति प्रदान की। ठीक उस समय में भी जबकि यह सजग उन्नतिशील न रहकर रूढ़िग्रस्त हो गई थी, यह अधिकार अचेतन रूप में इसे धैर्य देता रहा। दर्शन की भावना अपूर्व सांस्कृतिक धन है। यह चिन्तनशीलता है, दूरदर्शिता है, आत्मजिज्ञासा है।

परन्तु भारत की दार्शनिक भावना और आधुनिक योरुप की दार्शनिक भावना में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। लगभग ४०० वर्ष से योरुप में विज्ञान-अनुसंधान की प्रेरणा और सफलता से बुद्धिवाद की संस्कृति का बोलबाला है। बुद्धि, वास्तव में, मानवीय व्यक्तित्व में एक कारण अथवा साधन है। बाह्य प्रकृति के तथ्यों को खोजने के लिए यह अवश्य बहुत उपयोगी है, क्योंकि यह रूप, रस, गन्धादि संवेदनों को संगठित करने में तथा उनसे अनुमानादि प्रमाणों द्वारा अनेक प्रकार के तथ्य प्राप्त करने में बहुत सफल रहती है। परन्तु हमारी चेतना में चिन्तन के अतिरिक्त जो कि मन, बुद्धि का धर्म है, इच्छा-शक्ति तथा सुख-दुःख-भाव दो और प्रवृत्तियाँ हैं। यह तो ठहरा हमारी सत्ता का घनरूपी स्तर; फिर प्राण और शरीर अन्य दो स्तर भी हैं। और इन तीनों स्तरों का आधार हमारी सत्ता का राजा, आत्मा भी है। बुद्धिवादी संस्कृति प्रधान रूप से बुद्धि को ही विकसित करती है, अन्य अंगों की उपेक्षा कर देती है। ऐसी परिस्थिति में दार्शनिक प्रवृत्ति भी सर्वथा बौद्धिक बन जाती है। आधुनिक योरुप में दर्शन, वास्तव में, है भी विज्ञान सरीखी बौद्धिक खोज। अन्तर इतना ही है कि विज्ञान प्रकृति-खण्डों का अध्ययन करता है और दर्शन सभी विज्ञानों को इकट्ठा विचार में लाकर समूचे संसार के बारे में विचार बनाना चाहता है। निश्चय ही, पश्चिम में दर्शन की अनेक शैलियां हैं और उनके क्रम तथा ध्येय भिन्न-भिन्न हैं। पर वे हैं प्रायः सब संसार के सम्बन्ध में मानसिक तथा बौद्धिक रचनाएं ही।

इससे पश्चिम के जीवन में कई विचित्र प्रकार की प्रवृत्तिया पैदा हो गई हैं। सांस्कृतिक जीवन बौद्धिक और विचारात्मक जीवन का दूसरा नाम बन गया है। व्यक्ति का व्यावहारिक और नैतिक जीवन मानो एक व्यक्तिगत वस्तु है, जिससे सामान्य संस्कृति का संबन्ध नहीं और जिसे जानने का तथा उसकी आलोचना करने का जनता को अधिकार नहीं। यह भावना पश्चिम में इतनी व्यापक हो गई है कि हम भारतीय योरुप में रहते हुए अपनी भावना के अनुसार जब किसी महान् दार्शनिक

के व्यक्तिगत जीवन को जानने में रुचि प्रकट करते हैं तो दूसरों को आश्चर्य होता है।

अनेक विद्वानों का विचार है कि आज संसार में व्यापक संकट आ उपस्थित हुआ है। वह अन्त में उस बुद्धिवादी संस्कृति और दृष्टिकोण का परिणाम है जिसे योरुप ४०० वर्षों से धीरे-धीरे पालता-पोषता रहा है। आईनस्टाईन का कहना है कि या तो नीति विज्ञान के साथ मिलकर बराबर-बराबर कदम रखे, नहीं तो मानव-संस्कृति नष्ट हो जायगी। एक और विचारक, श्वाईटजर ने अपनी एक पुस्तक 'नीति और संस्कृति' में गम्भीर और विस्तृत विवेचन द्वारा दरसाने का यत्न किया है कि जीवन को अपने में समग्र रूप में ही लेना चाहिए। व्यक्तित्व के आंशिक तत्त्व को लेकर जो संस्कृति खड़ी होगी वह सुडौल नहीं हो सकती, वह स्थिर भी नहीं रह सकती। आज पश्चिमी मनोविज्ञान भी परीक्षणों के आधार पर यह सिद्ध करके दिखला रहा है कि बुद्धि अदमित इच्छाओं तथा व्यक्तिगत राग-द्वेषों से थोड़ी-बहुत प्रभावित होकर ही काम करती हैं, पक्षपातरहित बुद्धि सम्भव नहीं। वास्तव में बुद्धि पक्षपातों को सिद्ध करने के लिए युक्तियाँ ढूँढ़ कर देती रहती है।

भारतीय दर्शन की भावना इससे बहुत भिन्न है। इसने चिन्तन को जीवन-विकास के लिए साधनमात्र ही स्वीकार किया और इसका आग्रह सदा समग्र जीवन पर रहा है। विचारक के विचार और जीवन में यह समन्वय चाहती है। भारत के दार्शनिक केवल विचारक ही नहीं हुए हैं वे अपने विचारों को प्रधानतया अपने जीवन में भी प्रदर्शित करते थे। इसलिए यहाँ के दार्शनिक योगी भी थे तथा धार्मिक नेता भी। इसी भावना के कारण यहाँ के व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन को पृथक् रूप में कभी कल्पित ही नहीं किया गया। सामान्य जनता में भी विचारक से सदा चरित्र की माँग की है और उसके बिना उसके विचार को आदर नहीं दिया।

दार्शनिक के शिक्षण में संयम, नियम, चित्त-शुद्धि और साधना आवश्यक माने गये। वास्तव में, यह जीवन का अपूर्व तथ्य था जिसे भारत के प्राचीन जिज्ञासुओं ने ढूँढ़ निकाला था। इसके बिना सत्य-प्राप्ति नहीं हो सकती, बुद्धि पक्षपातरहित नहीं बन सकती और व्यक्ति का चिन्तन कभी सत्याग्रही नहीं हो सकता।

हम कह चुके है कि दार्शनिक भावना वास्तविकता के लिए स्वतन्त्र और तटस्थ जिज्ञासा का नाम हैं। वास्तविकता की यथार्थ भावना से व्यक्ति तथा समाज अपनी स्थूल परिस्थिति के प्रश्नों को भी सुलझाने में सफल होता है। उन्नतिशील जाति में यह भावना सदा सजग दिखाई देगी। जब कोई जाति रूढ़िग्रस्त हो जाती है तब वह अपने पुराने दर्शनों का पाठ कर सकती है, उन्हें स्मरण करके उद्धरण रूप प्रदर्शित कर सकती है, परन्तु अपने जीवन की वर्तमान स्थितियों का चिन्तन-शीलतापूर्वक समाधान नहीं ढूँढ़ सकती।

कई शताब्दियों से, वास्तव में, हम रूढ़िग्रस्त भाव में रहे हैं। इसलिए हम अपनी ऐतिहासिक स्थितियों पर अधिकार पाने में अनेक बार असफल रहे। परन्तु अब देश और जाति में नई प्रेरणा और नया आत्मविश्वास उद्भूत हो रहा है। अर्वाचीन समय में पर्याप्त दार्शनिक रचना भी हुई है।

वह रचना ही नए बल और साहस का प्रमाण है। इस रचना के रचयिता दयानन्द, राममोहनराय, श्रीरामकृष्ण, विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ, गाँधी तथा श्री अरविन्द अनेक हैं। परन्तु इन सबके दर्शन में एक विशेषता है, वह यह कि जगत् माया नहीं, त्याज्य नहीं, बल्कि सर्वथा ग्राह्य है। इनके दर्शन और जगत् स्वीकारात्मक है, अस्वीकारात्मक नहीं, जैसे कि, वास्तव में, हमारे मध्यकालीन दर्शन प्रधानरूप से थे। अर्वाचीन दार्शनिकता श्री अरविन्द में अपूर्व विशिष्टता में प्रकट हुई है। उनके लिए जगत् त्याज्य नहीं इतना ही नहीं, बल्कि ब्रह्म की पूर्ण चेतना की अभिव्यक्ति का क्षेत्र और आधार है। जड़ तत्त्व "एक उपयुक्त और महान पदार्थ है" जिससे जगत् का स्वामी अपने जगत् को बार-बार रचता है। यह भावना भारतीय दर्शन में एक नये रूप में पैदा हुई।

ओ३म् कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः।
दृढा चिदारुजे वसु। यजुः ३६।५

आनन्द वालों में पूजनीय सत्स्वरूप तथा आनन्दस्वरूप परमेश्वर तुझ को
आनन्दित करता है। वह परमेश्वर दुःखित जीव को
स्थायी सुख मोक्ष देता है।

महर्षि दयानन्द की ग्रन्थ-प्रामाण्याऽप्रमाण्य की कसौटी और गीता

श्री कृष्णस्वरूप विद्यालङ्कार, गीता-मर्मज्ञ, बदायूं, उ० प्र०

वर्तमान समय में हिन्दू जाति में इतने मत-मतान्तर, सम्प्रदाय व धर्म पुस्तकें बन चुकी हैं कि उनका एक जीवन में पढ़ना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इन ग्रन्थों में परस्पर इतना मतभेद है कि साधारण बुद्धि वाला मनुष्य इनका समन्वय नहीं कर सकता और जंगल में दसियों पगडण्डियों को देखकर उनमें भटकने वाले मनुष्य की तरह संसार में भटकता रहता है। १९ वीं सदी के महर्षि ने इसे अपनी दिव्य-दृष्टि से देख लिया था। इसलिये महर्षि ग्रन्थों की प्रामाणिकता व अप्रमाणिकता की एकमात्र कसौटी बताते हुए लिखते हैं कि—"सब लोगों के प्रिय प्राचीन विद्वान् आर्य लोगों का सिद्धान्त यह है कि ईश्वर की कही हुई जो चारों मंत्रसंहिता हैं, वे ही स्वतः प्रमाण होने योग्य हैं, अन्य नहीं। परन्तु उनसे भिन्न भी जो जीवों के रचे हुए ग्रन्थ हैं, वे भी वेदों के अनुकूल होने से परतः प्रमाण के योग्य होते हैं।"

"इसी प्रकार ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थ जो वेदों के अर्थ, इतिहासादि से युक्त बनाये गये हैं; वे भी परतः प्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल ही होने से प्रमाण और वेदविरुद्ध होने से अप्रमाण हो सकते हैं।" देखो ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पृ० ४०१, ४०२। इसके आगे लिखते हैं कि—शिक्षा कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष यह छः अंग व उपांग षड्दर्शन जिनमें १० उपनिषदें वेदान्त शास्त्र में सम्मिलित की हैं यह सब "जो शाखा, शाखान्तर सहित चार वेद, चार उपवेद ६ अंग, ६ उपांग, यह सब मिलकर चौदह विद्या के ग्रन्थ हैं"। इन ग्रन्थों का पूर्वोक्त प्रकार से स्वतः-परतः प्रमाण करना, सुनना और पढ़ना सबको उचित है, उनसे भिन्नों का नहीं। क्योंकि जितने ग्रन्थ पक्षपाती क्षुद्र बुद्धि, कम विद्या वाले अधर्मी तथा असत्यवादियों के कहे, वेदार्थ से विरुद्ध और युक्तिप्रमाण रहित हैं, उनको स्वीकार करना योग्य नहीं।" पृष्ठ ४०४-४०५।

इसी के आगे स्मृतियों में केवल मनुस्मृति को पढ़ने की आज्ञा देते हैं, "परन्तु प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़कर।"

महर्षि सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में लिखते हैं कि "चार उपवेद, ६ अंग, ६ उपांग के ग्रन्थ भी यह सब ऋषि मुनियों के ग्रन्थ हैं, इनमें जो वेदविरुद्ध प्रतीत हो उस-उसको छोड़ देना" देखो पृष्ठ ४३। पृष्ठ ४१ पर लिखा है कि "तत्पश्चात् मनुस्मृति, बाल्मीकीय रामायण और महाभारत उद्योग पर्वान्ति विदुरनीति आदि अच्छे-अच्छे प्रकरण जिनसे दुष्ट व्यसन दूर हो और उत्तम सभ्यता प्राप्त हो····· अध्यापक लोग जनावें" यह उपर्युक्त ग्रन्थ चौदह विद्या के ग्रन्थों में नहीं हैं, और महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश में पुराणों के पढ़ने का भी निषेध किया है, परन्तु यहाँ उत्तम नीति, सभ्यता जिनसे प्राप्त हो, उन प्रकरणों को अध्यापक लोगों से अर्थात् परिपक्व बुद्धि वाले विद्वानों से पढ़ने का विधान भी कर दिया है।

पृष्ठ ४३ पर ऋषि-प्रणीत ग्रन्थों के पढ़ने में हेतु देते हैं कि "ऋषिप्रणीत ग्रन्थों को इसलिये पढ़ना चाहिये कि वे बड़े विद्वान्, सर्वशास्त्रवित् और धर्मात्मा थे और अनृषि अर्थात् जो अल्पशास्त्र पढ़े हैं और जिनका आत्मा पक्षपात सहित है, उनके बनाए ग्रन्थ तो वैसे ही हैं।"

महर्षि के इन उद्धरणों से पठनीय व अपठनीय ग्रन्थों की कसौटी स्पष्ट हो जाती है कि (१) वेदानुकूल ग्रन्थ मान्य हैं (२) ऋषिप्रणीत ग्रन्थ पठनीय हैं, अनृषिकृत नहीं। (३) ऋषिप्रणीत मनुस्मृति आदि भी प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़कर पढ़ें (४) उत्तम नीति, सभ्यता के लिये बाल्मीकीय रामायण महाभारत भी पढ़ें।

इसी कसौटी के नियमों के आधार पर ही हम आर्य भाई वेदों का स्वाध्याय न करते हुए भी महर्षिकृत ग्रन्थों का स्वाध्याय प्रतिदिन करते हैं। न्याय यह चाहता है कि इसी कसौटी पर जो भी ग्रन्थ खरे उतरें, उन्हें भी पढ़ने का अधिकार दिया जावे।

महर्षि के ग्रन्थ वेद-वेदांगों की तरह स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं हैं। महर्षि ने उनमें से समयानुकूल रत्न निकाल कर हमारे सामने प्रस्तुत किये हैं। गीता को भी मैं स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं समझता, उसके प्रारम्भ में ही—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

गीता को उपनिषदों का सार कहा है। महर्षि उपनिषदों को और वेदान्त शास्त्र को वेदों के उपांग वेदान्त शास्त्र में ही गिनते हैं, इसलिये यह गीता भी अप्रत्यक्ष रूप से वेदान्त का ही अंग है।

यह गीता जिसके कि उपदेष्टा श्रीकृष्ण हैं, लेखक व व्याख्याता महर्षि व्यास हैं, षड्दर्शनों की Hand Book, Field Book, Practical Book संक्षिप्त सार पुस्तक है, जो दैनिकचर्या में हर समय काम करते हुए व उपासना के समय एकान्त में साथ रक्खी जा सकती है और वैशेषिक दर्शन के धर्म के लक्षण लोकाभ्युदय व निःश्रेयस को प्राप्त कराने वाली है।

महर्षि ने इस गीता का परिगणन पठनीय ग्रन्थों में नहीं किया है, परन्तु त्याज्य ग्रन्थों में

भी नहीं किया है। फील्डबुक जैसी पुस्तकें वर्तमान विश्व-विद्यालयों में भी कोर्स में नहीं पढ़ाई जातीं, परन्तु वहाँ के स्नातक, क्या डाक्टर, क्या इंजीनियर कार्यक्षेत्र में इन्हीं फील्ड बुकों से काम लेते हैं।

महर्षि ने जिस तरह की पुस्तकों और जिस तरह के लेखकों की पुस्तकों को पढ़ने का विधान किया है, वह सब गुण गीता के वक्ता और लेखक में विद्यमान हैं।

महर्षि ने पठनीय ग्रन्थों में व्यास मुनि कृत भाष्य पूर्वमीमांसा व योगशास्त्र और वेदान्त शास्त्र का विधान किया है। इन ही व्यास मुनि के विषय में महर्षि सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ११ में लिखते हैं कि जो १८ पुराणों के कर्त्ता व्यास जी होते तो उनमें इतने गपोड़े न होते, क्योंकि शारीरिक सूत्र व योगशास्त्र के भाष्य आदि व्यासोक्त ग्रन्थों के देखने से विदित होता है कि व्यास जी बड़े विद्वान् सत्यवादी, धार्मिक योगी थे। पृष्ठ २१३।

श्रीकृष्ण जी के विषय में लिखा है कि "देखो—श्रीकृष्ण जी का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है, उनका गुण, कर्म, स्वभाव और चरित्र आप्त पुरुषों के सदृश है, जिसमें कोई अधर्म का आचरण श्रीकृष्ण जी ने जन्म से मरण-पर्यन्त किया हो, ऐसा नहीं लिखा है" समु० ११ पृ० २१९।

'आप्त' की व्याख्या ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखते हैं कि आप्तों को अवश्य ही प्रमाण मानना चाहिए, क्योंकि आप्त लोग वे होते हैं जो सब दोषों से रहित, सब विद्याओं से युक्त महायोगी और सब मनुष्यों के सुखी होने के लिये सत्य का उपदेश करने वाले हैं, जिनमें लेशमात्र भी पक्षपात, मिथ्याचार नहीं होता········आप्त पुरुष का उपदेश कभी मिथ्या नहीं हो सकता।

जब महर्षि गीता के वक्ता श्रीकृष्ण को व लेखक व्यास जी को ऋषि, सत्यवादी, आप्त मानते हैं, तो गीता को पढ़ने का निषेध नहीं कर सकते। इसीलिये उन्होंने गीता का कहीं खण्डन नहीं किया है। अपितु उनके जीवन-चरित्र में विरजानन्द जी से दीक्षा लेने के बाद सन् १९२० में आगरे लल्लामल रूपचन्द की धर्मशाला में गीता की कथा कहने का वर्णन मिलता है।

महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश की रचना भी गीता के भावों को अपने हृदय में रख कर की थी। वह स्वयं ग्रन्थ की भूमिका में लिखते हैं कि—"यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्" यह गीता का वचन है। इसका अभिप्राय यह है कि जो विद्या और धर्म प्राप्ति के कर्म हैं, वह प्रथम करने में विष के तुल्य और पश्चात् अमृत के सदृश होते हैं। ऐसी बातों को चित्त में धरके मैंने इस ग्रन्थ (सत्यार्थप्रकाश) को रचा है। गीता के श्लोकों को अन्यत्र महर्षि ने प्रमाण रूप से भी उद्धृत किया है।

इससे हम इस परिणाम पर बड़ी सरलता से पहुंच जाते हैं कि गीता महर्षि की कसौटी से पठनीय है। परतः प्रमाण तो वेद को छोड़कर सभी ग्रन्थ हैं। इसलिये गीता त्याज्य तो किसी भी प्रकार नहीं हो सकती।

मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि सम्पूर्ण गीता में एक भी सिद्धान्त वेदविरुद्ध या महर्षि के विचारों के प्रतिकूल नहीं है।

——

धर्म और विज्ञान

श्री हरिशंकर शर्मा

विज्ञान धर्म को धारण कर,
कल्याण विश्व का करता है।

अविष्कारों की कथा ज्ञान-गरिमा का तत्त्व बढ़ाती है,
पाकर सुबुद्धि-बल भौतिकता, उपकारमयी बन जाती है।
जल-थल-नभ-चारी यानों ने दूरी का भेद मिटाया है,
गति तीव्र इन्द्रियों की करके मानव महत्त्व दरसाया है।
जग को हितकारी होता है, सब के दुःख-संकट हरता है,
विज्ञान धर्म को धारण कर कल्याण विश्व का करता है।

रोगों का रौरव दूर किया, भोगों के साज सजाये हैं,
भौतिक जीवन के उपादान यन्त्रादि लोक ने पाये हैं।
तन को सुख-साधन दान किये, मन-रंजन के सामान दिये,
लोहे-लकड़ी जड़ द्रव्यों को प्रतिभा ने प्राण प्रदान किये।
सत सेवा में संलग्न सदा, अघता-अधर्म से डरता है,
विज्ञान धर्म को धारण कर कल्याण विश्व का करता है।

जब स्वार्थवाद का दुष्ट दैत्य, निजता-परता फैलाता है,
रच-रच कर भीषण महायुद्ध तब वज्र-वाण बरसाता है।
विज्ञान नाश का कारण क्यों, अज्ञान सर्वसंहारक है,
मानव-दानव का दम्भ दर्प्प, पशुता पाखण्ड प्रचारक है।
कुटिला कुनीति का क्रूर भाव विष विषम भावना भरता है,
विज्ञान धर्म को धारण कर कल्याण विश्व का करता है।

शुभ साधन बुद्धि-विपर्य्यय से दुःख के कारण बन जाते हैं,
अपना अस्तित्व मिटाने को, मानव नर-मेध रचाते हैं।
उपयोग वस्तु का सदा, भावना मनोवृत्ति पर निर्भर है,
शिव-शंकर है विज्ञान कभी, और कभी घोर प्रलयंकर है।
संकल्प बुद्धि का प्रेरक है, शुचिता शुभ सत्य अमरता है,
विज्ञान धर्म को धारण कर कल्याण विश्व का करता है।

हो अपने को प्रतिकूल, न वह व्यवहार अन्य के साथ करो,
धन, धाम, धरा, अधिकार, नारी, सुख-सुविधा औरों की न हरो।
तुम जियो जगत् में, बन्धु भाव से, सब लोगों को जीने दो,
विज्ञान-धर्म के मधुर मिलन का प्रेमामृत नित पीने दो।
सद्भाव-स्नेह, समता-ममता मय, पथ ही ठीक ठहरता है,
विज्ञान धर्म को धारण कर कल्याण विश्व का करता है।
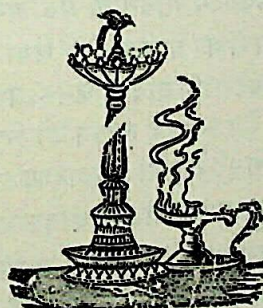
सत्यार्थप्रकाश की गरिमा

श्री विद्यानन्द सि० शास्त्री

उन्नीसवीं शताब्दी में दो महाभूतियाँ कार्यक्षेत्र में दिखाई पड़ीं, एक रूस का कार्लमार्क्स तथा दूसरा भारत का दयानन्द। दोनों के कार्य भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु समय एक ही है। एक ओर जहाँ कार्लमार्क्स ने रोटी-कपड़े की समस्या को ही सुलझाया वहाँ दूसरी ओर दयानन्द ने मनुष्य की सर्वाङ्गीण उन्नति की ओर ध्यान दिलाया। कार्लमार्क्स की प्रसिद्ध कृति "कैपिटल" है और दयानन्द की "सत्यार्थप्रकाश"। वास्तव में हम यदि विचार करें तो देखते हैं कि जीवन की आवश्यकतायें रोटी-कपड़ों तक ही सीमित नहीं हैं, उसके पश्चात् भी अनेक कर्तव्य कर्म शेष रह जाते हैं। इसीलिये प्रथम तो जनता इस ओर मुड़ी; किन्तु जब देखा कि मानव कल्याण इतने ही से नहीं हो पाता है तो शीघ्र ही इस मार्ग को छोड़ने लगी। जिसके विषय में माननीय पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय लिखते हैं, "सौभाग्य से समझदारी से परिपूर्ण विचारों का प्रभुत्व होने लगा है और सौ वर्ष से अधिक पूर्व जो धर्मविरोधी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ था और जो बाद में जनसाधारण में व्याप्त हो गया था उसका प्रभाव समझदार व्यक्तियों पर नहीं रहा है। भयंकर तूफान जो निम्न वर्ग के लोगों के हृदय में घर किये हुये हैं वे कालान्तर में शान्त हो जायेंगे।" यह था एक मनुष्य द्वारा अदूरदर्शिता पूर्ण प्रशस्त किया गया मार्ग। ऋषि दयानन्द ने भी एक मार्ग प्रशस्त किया जो वैदिक धर्मके नाम से प्रसिद्ध है। यह ऋषि-मुनियों द्वारा निर्धारित सनातन से प्रवाहित मार्ग है। एक पर चलने से भूख तो मिट सकती थी किन्तु शान्ति नही मिल सकती थी। दूसरे पर चलने से सुख-शान्ति दोनों मिल सकती हैं किन्तु "यत् तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्" (गीता १८-३७) अर्थात् जितने भी मनुष्योचित शुभ कर्म हैं प्रथम करने में विष के तुल्य किन्तु परिणाम में अमृत के समान होते हैं, वाली बात चरितार्थ करते हुए भी सत्यार्थप्रकाश में इसी प्रकार के विचारों का समावेश है।

अज्ञान की ज्योतिहीन छाया भूतल पर पूर्णतः व्याप्त थी। मानव की मानवता ईर्ष्या-द्वेष की भट्टी में भस्म हो समाप्त हो चुकी थी। मोक्ष प्रदायिनी पवित्र गंगा में नाना नद-नालों के मलिन जल

आकर उसमें दुर्गन्ध उत्पन्न कर चुके थे। स्याही सी काली कलूटी रजनी के मध्य उलूकगण मनमानी चालें चल रहे थे। मानवीय गगनमण्डल में चाँदनी के अभाव में क्षुद्र तारागण-ही टिमटिमा जाते थे। अज्ञान, स्वार्थ, अविद्या का नग्न नृत्य हो रहा था। इस प्रकार सत्य वेद ज्ञान की ज्योति से दूर मानव को ले जाने का प्रयास करते हुए अज्ञान के पुजारियों को देख ऋषि मौन न रह सके। उस समय ऋषि की क्रान्तदर्शी ज्ञानज्योति ने अन्धकाराच्छादित मस्तिष्क को आलोकित करना चाहा और वह ज्ञान ज्योति किरणें बनकर स्फुटित हुई सत्यार्थप्रकाश के रूप में, जिससे साधक शीघ्र ही चल पड़े अपने चिर बिस्मृत सच्चे मार्ग पर। नाना सम्प्रदायों वालों के फैलाये पाखण्ड जाल के तिमिर को हटाने के लिए सत्यार्थप्रकाश विद्युत ज्योति बना।

सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण सन् १८७५ ई० में निकला था। उसके पश्चात् संशोधित निकला जो अब प्राप्त है। संशोधन के विषय में ऋषि ने स्वयं भूमिका में प्रकाश डाल दिया है। मानव-जीवन का कोई ऐसा पहलू नहीं है जिस पर इस ग्रन्थ में प्रकाश न डाला गया हो। सत्य क्या है? असत्य क्या हैं? मनुष्योचित कौन से कर्म ग्रहणीय हैं और कौन से त्याज्य? सब सत्यार्थप्रकाश में निहित हैं। यही कारण है कि जनता इसे श्रद्धा से देखती हैं और उस पर आचरण करना चाहती है। इस ग्रन्थ को बनाने का उद्देश्य क्या है? इसके विषय में स्वयं ऋषि लिखते हैं "मेरा इस ग्रन्थ को बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य अर्थ का प्रकाश करना है अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है।"

आद्योपान्त सत्य अर्थ के लिये ही प्रकाश मिलता है। सभी मतावलम्बी इस समय तक अपने पक्ष को पुष्ट करने में ही अपना गौरव समझते थे, जिससे बैर-भाव बढ़कर परस्पर लड़ाई-झगड़े हुआ करते थे। जो भी कार्यक्षेत्र में उतरता वह अपने को सिद्ध, योगी, अवतारी, भगवान् का दूतादि सिद्ध करता और इसी आडम्बरिक बल पर प्रसिद्धि भी पा लेता था, किन्तु तभी जब तक जनता वास्तविकता से दूर रहती थी। लेकिन ऋषि ने कहीं भी अपने को सिद्धनहीं बताया है। उन्होंने अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिये तर्क का सहारा अवश्य लिया किन्तु सर्वत्र सत्य के आधार पर। सत्यार्थ प्रकाश के सभी समुल्लास सार्वभौमिकता के विचारों से परिपूर्ण हैं, कहीं भी संकीर्ण भावना नहीं आ पाई है। स्वयं भूमिका में ऋषि लिखते हैं "यद्यपि मैं आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुआ हूं और बसता हूँ तथापि जैसे इस देश के मतमतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर यथातथ्य प्रकाश करता हूं वैसे ही दूसरे देशस्थ वा मतोन्नति वालों के साथ भी वर्त्तता हूँ।" ये वाक्य उनके मनुष्योन्नति के विचार को पुष्ट करने को काफी हैं।

यह ग्रंथ चौदह समुल्लासों अर्थात् विभागों में रचित है। विचारों का समन्वय दो खण्डों अर्थात् पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में विभक्त है। प्रथम खण्ड पूर्वार्द्ध में दश समुल्लास और उत्तरार्द्ध में चार समुल्लास हैं। इस ग्रंथ को यदि हम "सूत्र" कहें तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। क्योंकि सूत्र उसे कहते हैं जो बहुत को थोड़े में बतलादे। भिन्न-भिन्न समुल्लासों में जो भी विषय हैं वे सब सूत्र रूप में ही हैं। जितने भी विषय अर्थात् मूर्त्तिपूजा, ज्ञान, कर्म, उपासना, राजकार्य, बौद्ध. जैन,

मुस्लिम मतादि आदि हैं उन सभी पर सूत्र रूप में ही प्रकाश डाला गया ह । बाद में इन एक-एक विषयों को ही लेकर आर्यसमाजियों ने अनेक प्रमाणिक ग्रन्थ तैयार कर सामने रखे।

यों तो सत्यार्थप्रकाश वैयक्तिक विकास, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, व्यावहारिक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, तार्किक सभी क्षेत्रों में प्रकाश डाल देता है किन्तु यहाँ सब विषयों पर विचार न रख कर कुछ विषयों को लेकर उन पर व्यक्तिगत विचार रखे जाते हैं।

धार्मिकभाव—

वह समय कितना भयंकर था कि जब हमारे धर्माचार्य लोगों ने धर्म-कर्म की कुंजी अपने हाथों में ले रखी थी। ये सन्मार्ग या सत्योपदेश तो न करते थे किन्तु धर्म-कर्म का ठेका अपने ही पास रखा बताते थे। जो जहाँ से उठता वहीं से कुछ उपदेश कर गुरु बन बैठता था। ईश्वर के नाम पर मनमनी ठगी हो रही थी। ज्ञान, कर्म, उपासना मुक्ति के मार्ग समाप्त हो गये थे। धर्म मिट्टी के घड़े से भी कमजोर बन चला था। ऐसे समय में वैदिक धर्म का वास्तविक स्वरूप ऋषि ने सत्यार्थ प्रकाश रूपी दर्पण में दिखलाया। भिन्न-भिन्न मतमतान्तर दुःखी आत्माओं को शान्ति देने के स्थान पर उन्हें और दुःखी बनाते थे। पुराण मात्र ही धर्म के पुस्तक माने जाते थे, लगभग एक हजार मतमतान्तर मनुष्यों को तवाह कर रहे थे। ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश में सब मतों को तर्क की कसौटी पर कस कर सर्वसाधारण के सामने प्रस्तुत किया, जिससे पाठकों को स्वतन्त्र विचार करने की शक्ति मिली। सत्यार्थप्रकाश का एकादश समुल्लास बताता है कि धर्म तो विद्या पढ़ने, ब्रह्मचर्य करने, पूर्ण युवावस्था में विवाह, सत्संग, पुरुषार्थ, सत्य व्यवहार, आदि में है। मनुष्य अपने नित्य के कार्यों को भुला बैठा था, किन्तु सत्यार्थप्रकाश ने पंचयज्ञों का विधान रक्खा। धार्मिक जगत् पर जहां इसका तात्कालिक प्रभाव पड़ा वहाँ इसने संसार के समस्त विचारशीलों एवं दार्शनिकों के मस्तिष्क में एक विचित्र उथल-पुथल उत्पन्न कर दी। जिससे अबतक के समस्त धार्मिक, सामाजिक, दार्शनिक एवं आडम्बरी ग्रन्थों की एक नये ढंग से व्याख्या की जाने लगी। सर्वप्रथम पाखण्ड और आडम्बरपूर्ण धर्म पर विचार करने की शक्ति सत्यार्थप्रकाश ने ही दी। गंगास्नान को मुक्ति का साधन माना जाता था। "नतस्य प्रतिमा अस्ति" वेदमन्त्रों से मूर्तिपूजा सिद्ध की जाने लगी थी, इन सब का पोल खोलता हुआ सत्यार्थप्रकाश निरन्तर लोकप्रिय होता गया। इसने सभी मतमतान्तरों को समाप्त कर "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" का मार्ग प्रशस्त किया। सभी धर्मों के विषय में संक्षिप्ततः जितना प्रकाश पाठकों को यहां मिलेगा उतना और कहीं नहीं।

समाजिकभाव—

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जो कुछ भी वह सीखता है समाज ही से सीखता है और जो कुछ कर्म करता है उसका प्रभाव समाज पर अवश्य पड़ता है। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने हमारी उन्नति के लिए वर्णाश्रम की व्यवस्था की थी। इसी वर्ण-आश्रम के आधार पर मनुष्य सुखी था। ये वर्ण-आश्रम समाजरूपी रथ के पहिये थे। कालान्तर में इनका रूप सर्वथा लुप्त हो गया। यही कारण है कि आज भी हमारे समाज में भेद-भाव, छुआ-छूत का रोग व्याप्त है। आज तो कुछ

अंश तक वास्तविकता का ज्ञान है, किन्तु सत्यार्थप्रकाश के पूर्व की हालत दयनीय थी। समाज का एक आवश्यक अंग घृणा का पात्र बना हुआ था। वर्णों की उत्पत्ति गुण, कर्म, स्वभाव से न मानी जाकर जन्म से ही मानी जाने लगी थी। कोई वर्णव्यवस्था का वास्तविक रूप बतलाने वाला न था, किन्तु सत्यार्थप्रकाश की निम्न पंक्तियों ने रहस्य खोल दिया – "प्रश्न—क्या जिसके माता-पिता ब्राह्मण हों वह ब्राह्मण होता है और जिसके माता-पिता अन्य वर्णस्थ हों उसकी सन्तान कभी ब्राह्मण हो सकती है ? उत्तर—हाँ, बहुत से हो गये, होते हैं, और होंगे भी। जैसे छान्दोग्य उपनिषद् में जाबाल ऋषि अज्ञातकुल, महाभारत में विश्वामित्र क्षत्रिय वर्ण और मातंग ऋषि चाण्डाल कुल, ब्राह्मण हो गये थे, अब भी जो उत्तम विद्या शोभा वाला है, वही ब्राह्मण के योग्य और मूर्ख शूद्र के योग्य होता है और वैसा ही आगे भी होगा।" कथित ब्राह्मणों ने विवाह की व्यवस्था बाल्यकाल में ही निर्धारित कर रक्खी थी। यहाँ तक समस्या हो गई थी कि जन्मते ही शादी तय हो जाती थी। या अबोध ही शादी हो जाती थी। वर-वधू के परस्पर प्रतिज्ञा के जो मन्त्र थे वे कथित ब्राह्मण ही बोल देते थे। यही नहीं उन्होंने शास्त्रों में ऐसी व्यवस्था रक्खी जिससे माता-पिता को कच्ची उम्र में ही शादी कर देना आवश्यक हो जाता था। उस समय के लिये सत्यार्थप्रकाश के निम्न वाक्य कितने प्रभावोत्पादक हुये "जब तक इसी प्रकार सब ऋषि-मुनि, राजा-महाराजा, आर्य लोग ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़के ही स्वयंवर विवाह करते थे तब तक इस देश की सदा उन्नति होती थी। जब से यहाँ ब्रह्मचर्य से विद्या का न पढ़ना, बाल्यावस्था में पराधीन अर्थात् माता-पिता के अधीन विवाह होने लगे तब से क्रमशः आर्यावर्त्त देश की हानि होती चली आयी। इससे इस दुष्ट काम को छोड़कर सज्जन लोग पूर्वोक्त प्रकार से स्वयंबर विवाह किया करें। सो विवाह वर्णानुक्रम से करें और वर्ण-व्यवस्था भी गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार होनी चाहिये।"

मनुष्य-मनुष्य से घृणा करने लगा था। खान-पान में जहाँ मद्यपान आदि पदार्थों का सेवन बढ़ा, वहाँ नौ कन्नोजिये ग्यारह चूल्हे भी बन गये। उस समय सत्यार्थप्रकाश में प्रस्तुत पंक्तियाँ "जो-जो बुद्धि का नाश करने वाले पदार्थ हैं, उनका सेवन कभी न करें और अन्न, सड़े, बिगड़े, दुर्गन्ध आदि से दूषित, अच्छे प्रकार न बने हुए और मद्य मांसाहारी, म्लेच्छ कि जिनका शरीर मद्य मांस के परमाणुओं से ही पूरित है। उनके हाथ का न खावें।" यही नहीं गाय आदि उपकारी पशुओं का भी भक्षण होता था। उस पर ऋषि ने जहाँ "गोकरुणानिधि" लिखकर समाज का ध्यान खींचा, वहाँ सत्यार्थप्रकाश के दशम समुल्लास में भी वर्णन किया जो अति विचारणीय है।

समांज में स्त्रियों की दशा अत्यन्त गिरी हुई थी। "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः" को समाज भूल गया था। उनको पढ़ाना अधर्म समझा जाता था। "स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्" की व्यवस्था कर दी गई थी, किन्तु सत्यार्थप्रकाश ने स्त्रियों का स्थान समाज में पुरुषों के बराबर ही बताया। एक स्थल पर ध्यान चला ही जाता है—"जैसे पुरुषों को व्याकरण धर्म और अपने व्यावहारिक विद्या न्यून से न्यून अवश्य पढ़नी चाहिये, वैसे स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्प विद्या तो अवश्य सीखनी ही चाहिए।" भूत-प्रेत के भाव हमारे अन्दर व्याप्त थे।

उनके निराकरण के लिए जादू-टोना किया जाता था। जन्मोत्सव पर जन्मपत्र बनता था; ज्योतिषी जी भयंकर क्रूर ग्रह बताकर मनमानी धन लूटते थे। इन अनेक सामाजिक दोषों को दूर करने के लिये द्वितीय समुल्लास दर्शनीय है।

वास्तव में यदि यह कह दें कि समाज की अवस्था देखकर ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश की रचना की थी तो कोई अत्युक्ति न होगी। समाज को सत्यार्थप्रकाश द्वारा एक नई चेतना और ज्ञान मिला। जिस से शीघ्र ही समाज में क्रान्तिकारी विचार चहुँ ओर फैल गये; जो समाज में भयंकर विषमता थी वह काफी दूर होने लगी। सत्यार्थप्रकाश का ही प्रभाव है कि आज समाज रचना नये ढंग से हो रही है।

राजनीतिकभाव—

इस युग में पुनः एक बार प्रजातन्त्र के भावों को सत्यार्थप्रकाश ने प्रचलित किया हैं। राजा को प्रजा द्वारा निर्वाचित किये जाने का सबल अनुरोध किया है, कुल परम्परा से किसी को राजा मानना इसे अभीष्ट नहीं है। राजा और राजकर्मचारियों का चुनाव दलबन्दी से ऊपर उठकर गुणों के आधार पर करने का बल दिया। परतन्त्रता की वेड़ी में जकड़े हुए भारत का कल्याण सत्यार्थ-प्रकाश से ही हुआ। आर्यसमाजियों ने अपने को स्वतन्त्रता की वेदी पर न्यौछावर किया। सत्यार्थ-प्रकाश के क्रान्तिकारी विचार ने, कि विदेशी कितना भी पुत्रवत् पालन करे अहितकर है, आर्य-समाजियों और देशभक्तों को चुप नहीं रहने दिया। इस में ऐसे राज्य की कल्पना है जिस में प्रजा सुखी, सदाचारी, धर्मात्मा, धनी एवं शिक्षित बने। साथ ही राष्ट्र व्यवस्था के लिये राजार्यसभा, धर्मार्यसभा और विद्यार्यसभा की व्यवस्था हमारे सामने रखी। इन्हीं तीन सभाओं की सम्मति से राजनियम (कानून) बनने चाहियें। दण्डव्यवस्था, राजकर्त्तव्य, राजकर्मचारियों के अठारह व्यसन निषेध, मन्त्री, दूत, राज्यपुरुषों के लक्षण, मन्त्रिमण्डल के कार्य, दुर्ग-निर्माण व्यवस्था, युद्धनीति, ग्राम-नगर-व्यवस्था, कर-ग्रहण, शत्रु से युद्ध में बचाव, न्याय, साक्षी, आदि अनेक राजसम्बन्धी नियम, छठे समुल्लास में देखने को मिलते हैं। राजनीति विषयक विशेष जानकारी के लिए कहा है—'विशेष वेद, मनुस्मृति सप्तम, अष्ठम, नवम अध्याय, शुक्रनीति तथा विदुर प्रजागर और महा-भारत शान्ति पर्व के राजधर्म और आपद्धर्म आदि पुस्तकों में देख कर पूर्ण राजनीति को धारण कर के माण्डलिक अथवा सार्वभौमिक चक्रवर्ती राज्य करें और यह समझें कि "वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम" (यजुर्वेद १८।२९)। आज भारतीय सरकार ने जिन कार्यों को अपने हाथों में लिया है उन सभी का सूत्रपात्र सत्यार्थप्रकाश में मिलता है।

ऐतिहासिक भाव—

ऐतिहासिक भावों से भी सत्यार्थप्रकाश ओत-प्रोत है। एक इतिहासकार भूतकालिक बातों का निष्पक्ष तथ्ययुक्त प्रकाश में लाने का प्रयत्न करता है। दुर्भाग्य से ब्रिटिश काल में इतिहास की जो छीछालेदर हुई थी वह अति दयनीय है। इस काल में उन्हीं विचारों को प्रश्रय दिया गया जो ब्रिटिश

राज्यानुकूल थे। भारतीय इतिहास के सांस्कृतिक पृष्ठ लगभग समाप्त हो चुके थे। राम-कृष्ण आख्यानों के केवल नातक मात्र ही रह गये थे। शिवाजी आदि लुटेरे कहे जाते थे। वेदादि सभी पवित्र ग्रन्थ काल्पनिक काव्य माने जाते थे। आर्य विदेशी थे, गंवार थे, अशिक्षित थे। ऐसे अनेक भाव नवीन इतिहास-रचना में स्थान पा गये थे।

उस समय सत्यार्थप्रकाश ने भारतीयता का आदर्श रूप हमारे सामने रखा—"सृष्टि से लेके पाँच सहस्र वर्षों से पूर्व समय पर्यन्त आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्ती अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि एक मात्र राज्य था, अन्य देश में माण्डलिक अर्थात् छोटे-छोटे राजा रहते थे......चीन का भगदत्त, अमेरीका का बब्रुवाहन, यूरुप दश का विडालाक्ष यवन जिसको यूनान कह आये और ईरान का शल्य आदि सब राजा राजसूय यज्ञ और महाभारत युद्ध में आज्ञानुसार आये थे।" तथैव यहाँ भी देखिये "जिन देशों का नाम आजकल यूरुप है उन्हीं को संस्कृत में "हरिवर्ष" कहते थे, उन देशों को देखते हुए और जिनको हूण, यहूदी भी कहते हैं। उन देशों को देखकर चीन में आये, चीन से हिमालय और हिमालय से मिथिलापुरी को आये और कृष्ण तथा अर्जुन पाताल में अश्वतरी अर्थात् जिसको अग्नियान नौका कहते हैं, उस पर बैठ कर पाताल में जाकर महाराजा युधिष्ठर के यज्ञ में उद्दालक ऋषि को लाये थे। धृतराष्ट्र का विवाह गाँधार जिसको कन्धार कहते हैं वहां की राजपुत्री से हुआ। माद्री पाण्डु की स्त्री ईरान के राजा की कन्या थी।" (दशम समुल्लास)। ये उद्धरण इतिहास के गायब पृष्ठों को प्रकाश में लाकर एक इतिहासकार को वाध्य करते हैं कि वह भारतीय इतिहास को जानने के लिए भारतीय संस्कृत-साहित्य के पृष्ठों का अवलोकन करें। यज्ञों के विषय में पाश्चात्यों के दृष्टिकोण भ्रान्तिपूर्ण थे। अश्वमेध, नरमेध आदि शब्दों से यज्ञों में पशुओं की बलि का विधान मानते थे। ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों में अश्वमेधादि शब्दों को देखकर अनर्थ अनुमान कर देते थे। उस समय ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में गोमेध, अश्वमेध आदि शब्दों का ठीक अर्थ हमारे सामने प्रतिपादन किया "राष्ट्र वा अश्वमेधः। अन्न ँ हि गौः, अग्निर्वा अश्वः। आज्यं मेधः" (शतपथ ब्राह्मण) महाराज कृष्ण के नाम पर मनमानी कपोल-कल्पित गाथायें जारी थीं; उनका रूप चोरी, जारी, दुष्टाचार कार्यों ही में दिखाई पड़ता था। भागवत-पुराण ने तो हद कर दी थी। ऐसे अनेक कल्पित विचारों ने लोगों के अन्दर घृणा के भाव उत्पन्न कर दिये थे, उस समय सत्यार्थप्रकाश ने श्री कृष्ण महाराज का रूप इस प्रकार खींचा—"देखो! श्रीकृष्ण का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उनका गुण, कर्म, स्वभाव और चरित्र आप्त पुरुषों के सदृश है। जिसमें कोई अधर्म का आचरण श्रीकृष्ण जी ने जन्म से मरण पर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया हो।" (एकादश समुल्लास) इन्द्रप्रस्थ में आर्य राजाओं ने जितने वर्ष तक राज्य किया महाराज युधिष्ठर से लेकर यशपाल तक का वर्णन मिलता है, जो आज एक अनुसंधान का विषय है। सत्यार्थप्रकाश की ही प्रेरणा से ऐतिहासिक जगत् में नये-नये अनुसंधान हो रहे हैं जिसके आलोक में अन्य रहस्यमय ऐतिहासिक तथ्य भी ज्ञात होते जा रहे हैं।

साहित्यिकभाव—

साहित्यिक दृष्टि से भी सत्यार्थप्रकाश कसौटी पर कसने से खरा उतरता है। साहित्य,

साहित्यकार के हृदय में उठने वाले भावों का प्रतिबिम्ब होता है। यद्यपि इसका निर्माण साहित्यिक दृष्टि से कदापि नहीं किया गया है। इसका उद्देश्य तो मानवमात्र को सुमार्ग पर लाना हा था। दर्पण में जिस प्रकार मनुष्य अपना प्रतिबिम्ब देखता है उसी प्रकार इस सत्यार्थप्रकाश-दर्पण में तत्कालीन अनेक घटनाओं, विचारों तथा प्रवृत्तियों की प्रतिछाया देखने को मिल जाती है। एक साहित्यकार अपने काल की घटनाओं से प्रभावित होकर चित्रण करता है, किन्तु ऋषिराज ने इस ग्रन्थ में भूत, वर्तमान, भविष्य तीनों कालों का चयन कर एक अपूर्व कोष तैयार कर दिया है। एक साहित्यकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है, उसकी प्रगतिशीलता ही उसे अपने मानसिक मनोभावों को व्यक्त करने को बाध्य करती है। साहित्यिक को प्रभावयुक्त बनाने के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवनोपयोगी सच्चाइयों को प्रकाश में रखे। सत्यार्थप्रकाश का प्रत्येक स्थल साहित्यिक गुणों से भरा है। एक स्थल पर श्री प्रेमचन्द जी ने कहा है कि—"साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें कुछ सच्चाई प्रकट की गई हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित एवं सुन्दर हो और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो।" यदि हम इस लिखित कथन के आधार पर सत्यार्थप्रकाश की समीक्षा करें तो हम देखते हैं कि वह प्रत्येक दृष्टि से साहित्यिक दृष्टिकोणों से पूर्ण है। वे आगे कहते हैं—"जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक शक्ति न मिले, हम में गति न पैदा हो, हमारा सौन्दर्य प्रेम न जाग्रत हो, जो हम में सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न कर सके वह साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं।" सत्यार्थप्रकाश की इन पंक्तियों पर उपरोक्त दृष्टि से जरा विचार करिये—"देखो! कुछ सौ वर्ष से ऊपर इस देश में आये, यूरोपियन को हुए, और आज तक ये लोग मोटे कपड़े आदि पहिरते हैं जैसा कि स्वदेश में पहिरते थे। परन्तु उन्होंने अपने देश का चाल चलन नहीं छोड़ा और तुम में से बहुत से लोगों ने उनकी नकल करली, इसी से तुम निर्बुद्धि और वे बुद्धिमान् ठहरते हैं। अनुकरण करना किसी बुद्धिमान् का काम नहीं। और जो जिस कार्य पर रहता है उसको यथोचित करता है, आज्ञानुवर्त्ती बरावर रहते हैं। अपने देश वालों को व्यापार आदि में सहाय करते हैं? इत्यादि गुणों और अच्छे-अच्छे कर्मों से उनकी उन्नति है......परमार्थ तो तभी होता कि जब तुम्हारी विद्या से उन अज्ञानियों को लाभ पहुंचता। जो कहो वे नहीं लेते हम क्या करें? यह तुम्हारा दोष है उनका नहीं, क्योंकि तुम जो अपना आचरण अच्छा रखते तो तुमसे प्रेम कर वे उपकृत होते... सर्वथा मूर्खों के सदृश कर्म न करने चाहिएँ किन्तु जिसमें उनकी और अपनी दिन प्रतिदिन उन्नति हो वैसे कर्म करने उचित हैं।" पं० गुरुदत्त, एम० ए० ने कहीं लिखा है कि "मैंने सत्यार्थप्रकाश को अठारह बार पढ़ा और जब-जब पढ़ा तब तब उसमें नवीनता लिए विचार मिलते गए" इससे बढ़कर सत्यार्थप्रकाश की सफलता का और क्या प्रमाण हो सकता है? और राष्ट्रभाषा के लिए कोई कहता है अरबी-फारसी मिश्रित हिन्दुस्तानी भाषा बने, तो कोई कहता है संस्कृतगर्भित। किन्तु इस बारे में वीर सावरकर ने जो विचार दिए हैं, वे विचारणीय हैं। "भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी हो किन्तु वह हिन्दी अरबी फारसी, या संस्कृत के संमिश्रण से कठिन न हो,

अपितु ऐसी सरल हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा बने जिसमें ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश का निर्माण किया है।'' तत्कालीन साहित्यिक ग्रंथों में सत्यार्थप्रकाश का स्थान सर्वोपरि है।

संक्षेप में, सत्यार्थप्रकाश वह ग्रन्थ है जो मानव जीवन के सर्वाङ्गीण विकास के प्रत्येक स्थल पर प्रकाशस्तम्भ बन ज्योति प्रसारण करता हैं। उक्त श्रेय-प्रदाता ग्रन्थ का जन-समूह में प्रचार होने पर ही सच्ची सुख-शान्ति की प्राप्ति हो सकती है। जीवन की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए इस पुस्तक का पठन अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि उदार मेघमाला उदक तो सभी जगह बरसाती हैं किन्तु उस का भिन्न-भिन्न भूभागों पर उनकी योग्यतानुसार ही भिन्न-भिन्न प्रभाव होता है। इस विषय में ऋषि का प्रमाण ही उदधृत कर देना होगा—"इन चौदह समुल्लासों को पक्षपात को छोड़कर न्याय दृष्टि से जो देखेगा उसकी आत्मा में सत्य अर्थ का प्रकाश होकर आनन्द होगा और जो हठ दुराग्रह और ईर्ष्या से देखे सुनेगा उसको इस ग्रन्थ का अभिप्राय यथार्थ विदित होना बहुत कठिन है" इसलिये जो इसे यथावत् न विचारेगा वह उसका अभिप्राय न पाकर गोता खाया करेगा। (दशम समुल्लास) ठीक ही हैं सर्वसुखदायिनी भानु की किरणों के प्रकाश से यदि उलूकगण घृणा करें तो यह दोष भानु का नहीं, अपितु उलूक का ही होगा। इस ग्रन्थ की लोकप्रियता इसके भिन्न-भिन्न भाषाओं में हुए अनुवादों से ही लगायी जा सकती है। पंजाब के राज्यपाल श्रीयुत नरहरि गाडगिल ने यह कह कर इसकी लोकप्रियता और बढ़ा दी है कि "मैंने १९३२ ई० में सर्वप्रथम अल्मोड़ा जेल में सत्यार्थ-प्रकाश पढ़ा था, यदि हम सत्यार्थप्रकाश में वर्णित आदर्शों पर चलें तो आज की समस्यायें कभी उत्पन्न हों तो जन्मते ही काल का ग्रास बन जायें।'' जिसके हाथ सत्यार्थप्रकाश पड़ गया चाहे कैसे भी वह इसे बिना पढ़े छोड़ नहीं सकता और पढ़ने पर इसे पूर्णतया न मानने वालों को भी लाभ तो होगा ही, इसमें कोई संदेह नहीं।
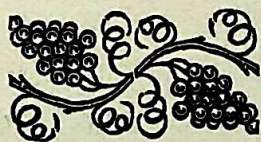
वैदिकदर्शनम्

आचार्यो विश्वेश्वरः सिद्धान्तशिरोमणिः

सुखस्वात्मप्रबोधाय दुःखध्वान्तलयाय च ।
समुदेति समिद्धोऽयं दर्शनात्मा दिवाकरः ।।
दिवाकरो यथा लोकानर्थान् दर्शयति स्फुटम् ।
तथा बुद्ध्या परोक्षार्थान् दर्शयत्यत्र दर्शनम् ।।

व्युत्पत्तिं दर्शयति—

दृशेर्धातोर्ल्युडन्तोऽयं शब्दो निष्पद्यते यतः ।
तस्माद्दर्शनहेतुत्वमत्र साक्षात्प्रयोजकम् ।।
लोके दर्शनहेतुत्वाद्दर्शनं चक्षुरादिकम् ।
आत्मदर्शनहेतुत्वं शास्त्रे तद्वत् प्रयोजकम् ।।
अथाधिकरणार्थत्वं प्रत्ययस्यात्र चेष्यते ।
तस्मान्न्यायादिग्रन्थेषु प्रयोगोऽस्य व्यवस्थितः ।।

निमित्तं दर्शयति—

यदा वस्तुविवेकस्य सामर्थ्यं पुंसि जायते ।
विविधा तस्य जिज्ञासा दृश्यते विश्वदर्शने ।।
किन्तु दृश्यं कुतो जातं, कथं सर्गः प्रवर्तत्ते ।
कोऽस्य कर्त्ता नियन्ता च क्व वा निष्ठास्य संभवेत् ।।
कोऽहं चात्र कुतो वर्ते, सुख-दुःखे कुतोऽत्र च ।
सेयं विश्वस्य जिज्ञासा दर्शनस्य प्रवर्तिका ।।

भेदबीजं दर्शयति—

जिज्ञासानां समाधानं यथाशक्यं यथामति ।
कृतन्तु कृतिभिः पूर्वैः भिद्यते बुद्धिभेदतः ।।
तत्र चास्तिक्यनास्तिक्यदृष्टिभेदाद् विशेषतः ।
भेदः संदृश्यते लोके, दृष्टिभेदोऽर्थभेदकः ।।
द्रष्टा दृश्यं स्थितिश्चैव, साधनं च फलं तथा ।
दृष्टमर्थेऽपरोक्षेऽपि, दृष्टिभेदे प्रयोजकम् ।।
तथैवात्मादिके तत्त्वे, दृष्टिभेदोऽत्र लक्ष्यते ।
न विवादास्पदं वस्तु विद्यते नेति युज्यते ।।

नास्तिकत्वबीजं दर्शयति—

दृश्यन्तु द्विविधं तत्र लौकिकाऽलौकितत्त्वतः ।
लौकिकं तरुगुल्मादि पुरुषादि ह्यलौकिकम् ।।
द्विविधस्य च दृश्यस्य दर्शनं द्विविधं मतम् ।
लौकिकार्थं परं त्वाद्यं लोकायतिकमुच्यते ।।
अत्मादृष्टापवर्गादि सर्वं नास्तीति तन्मतम् ।
तस्मान्नास्तिकसंज्ञं तल्लोकायतिकदर्शनम् ।।
अंगीकारेऽप्यदृष्टादेरनात्मबुद्धदर्शनम् ।
वेदाप्रामाण्य वादित्वान्नास्तिकं तु परैर्मतिम् ।।
पदानां वा पदार्थानां राद्धान्तानां च का कथा ।
दृश्यते नास्य नामापि कीर्त्तितं क्वापि दर्शने ।।
मुख्यमुपेक्षितं तत्त्वं अन्यथा च प्रकल्पितम् ।
चित्रं श्रौतत्वमेतेषां न तथापि पराहृतम् ।।
दर्शनानां श्रुतिर्मूलं ब्राह्मणोपनिषन्मयी ।
मतेऽपि वेदप्रामाण्ये न तत्संकीर्त्तनं क्वचित् ।।
अन्तरं मूलप्रश्नेषु वेददर्शनयोर्महत् ।
तद्वेदानामनुल्लेखे बीजं वै दर्शने मतम् ।।

द्वितीयं भेदं दर्शयते—

कर्त्ता धर्त्ता च हर्त्ता च वेदे विश्वस्य यो मतः ।
प्रतिमन्त्रं श्रुतो यश्च स एवैभिरपन्हुतः ।।

स्रष्टा वेदोपदेष्टा च परेशो वेदसम्मतः ।
मीमांसकास्तदस्तित्वं नांगीकुर्वन्ति प्रायशः ।।
स्रष्टारं प्रत्यवस्थाय नित्यं सर्गं प्रचक्षते ।
ये तु मीमांसकास्ते स्युः श्रद्धेयवचनाः कथम् ।।
त्यक्त्वा वेदोपदेष्टृत्वं श्रुतं मंत्रेषु सुस्फुटम् ।
मीमांसाऽपौरुषेयत्वे, किं वेदान्न विरुद्ध्यते ।।
मायिकं विश्वमास्थायाऽपरमार्थं तथेश्वरम् ।
मायावादी तु वेदान्ती, वेदान्तं कुरुते ध्रुवम् ।।
व्याख्यान्तरेष्वपि दृष्टं, बहुतत्त्वमवैदिकम् ।
ततः परोऽपि वेदान्ती वैदिकत्वं न गाहते ।।
सांख्यो ऽप्यनीश्वरत्वं चेदंगीकरोति तत्त्वतः ।
ध्रुवं वेदविरुद्धोऽपि वैदिकोऽयं कथं मतः ।।
वेदानां सारभूतो यः जगत्स्रष्टा परेश्वरः ।
तत्रोपेक्षा विरोधो वा वैदिकानां विडम्बना ।।
कृतिभिर्वैदिकम्मन्यैस्ततः प्रमाणं परं कृतम् ।
श्रद्धा वेदोत्तरा चात्र हन्त चित्रतरं त्विदम् ।।

तृतीयं भेदं दर्शयति—

नेश्वरे केवलं किन्तु साधने ऽथ प्रयोजने ।
दर्शनेभ्यस्तु सर्वत्र वेददृष्टिर्विभिद्यते ।।
दुःखमात्रमतो हेयं बन्धनं जन्म दर्शने ।
वेदे नेयं क्वचिददृष्टा जन्महेयत्वभावना ।।
विपरीतमतो वेदे जीवेम शरदः शतम् ।
प्रार्थितं त्र्यायुषं चेति यशस्वि दीर्घंजीवितम् ।।
दर्शने मूलभूता या वैराग्यजननी च या ।
ज्ञेया वेदविरुद्धा सा विश्वदुःखत्वभावना ।।
दुःखमात्रं जगत् सर्वमत्यन्तं हेयमेव च ।
दर्शनाधारभूतैषा भावना ऽवैदिकी मता ।।
विश्वे मिथ्यात्वसम्भ्रान्तिर्या च दुःखैकरूपता ।
दर्शने कल्पिता कैश्चित् सा सर्वास्त्यवैदिकी ।।

या चानीश्वरवादस्य छाया तत्रोपलभ्यते ।
स्फुटं वेदविरुद्धा सा ध्रुवं च सास्त्यवैदिकी ॥

चतुर्थं भेदं दर्शयति—

ज्ञानकर्मविवादोऽपि यो ऽयमुत्थापितः परैः ।
कल्पितः स तु विद्वद्भिर्नियतं नास्ति वैदिकः ॥
भक्तिरीशप्रणिधानं, सुकृतं ज्ञानपूर्वकम् ।
समुच्चितं त्रयं त्वेवममृतत्वायकल्पते ।
ये तु ज्ञानसमुच्छेद्यं संसारं सम्प्रचक्षते ।
मिथ्या च मायिकश्चायं संसारः स्यात्तु तन्नये ॥
ज्ञानं त्वज्ञानप्रभवं काल्पनिकं प्रबाधते ।
न तु वास्तविकं वस्तु ज्ञानेन बाधितं भवेत् ॥
वास्तवो ऽपायिकश्चायं मतो वेदे परत्र च ।
तस्मादस्य समुच्छेदो न भवेज्ज्ञानमात्रतः ॥
न तमेव विदित्वेति नाकमेतीति वा वचः ।
ज्ञान मात्र समुच्छेद्यं विश्वं बोधयति स्फुटम् ॥
ज्ञानविधूतपाप्मेति ज्ञानात्पापक्षयो मतः ।
यतस्तस्य विवेकेन तज्ज्ञाः पापादुदासते ॥
विद्यया चामृतत्वाप्तिः मृत्योरत्ययनं तथा ।
नाक मेतीति च सर्वं साध्यं सर्वसमुच्चयात् ॥

पंचमं भेदं दर्शयति—

अमृतत्वं फलं चेह यद् वेदे संप्रबोधितम् ।
दर्शनाभिमताज्जन्मोच्छेदात्तत्तु विभिद्यते ॥
फलं पुण्याशयैर्लभ्यममृतत्वमिहोदितम् ।
तदेव स्वर्गशब्देन ब्राह्मणेषु प्रतिश्रुतम् ॥
जन्मनो ऽत्यन्त उच्छेदो मोक्षो दर्शनसम्मतः ।
सुखं पुण्याधिगम्यं च जन्मैव स्वर्ग उच्यते ॥

षष्ठं भेदं दर्शयति—

अनावृत्तिश्च मोक्षाद् या दर्शनेषु प्रतिश्रुता ।
सा ऽयुक्ता ऽवैदिकी चैव कर्मजन्यं फलं यदा ॥

मायिको ज्ञाननाश्यश्च बन्धोमिथ्यैव सम्भवेत् ।
यदा मोक्षादनावृत्तिर्युक्ता सम्पद्यते तदा ।।
यदा स एव पक्षस्तु मूलतो ऽवैदिको मतः ।
तदा तु कर्मणः सान्तादनन्तं स्यात्फलंकथम् ।।
अमृतत्वं फलं वेदे यदा पुण्यैक हेतुकम् ।
कथन्नाम त्वाना वृति पक्षः स्याद् वैदिकस्ततः ।।

सप्तमं भेदं दर्शयति--

द्वा सुपर्णेति मन्त्रे ऽस्मिन् पृथग्रूपपृथग्गुणम् ।
जीवेशौ प्रकृत्तिश्चेति नित्यं तत्त्वत्रयं मतम् ।।
प्रकृतिः स्यादुपादानं निमित्तं स्यादथेश्वरः ।
जीवः कर्ता च भोक्तेति सिद्धान्तो वैदिको मतः ।।
ततो भिन्नास्तु सिद्धान्ताः सांख्ये मीमांसयोश्च ये ।
कल्पिता कृतिभिः पूर्वैर्नूनं ते अवैदिकाः मताः ।।
वेदानां वैदिकेप्येवं दर्शने अनर्थदर्शनात् ।
विज्ञानामपि व्यामोहो वैदिकार्थविधारणे ।।
तस्माद् वैदिकतत्त्वानां विस्पष्टीकरणक्षमः ।
दर्शनक्रमनिर्बद्धो ग्रन्थः कश्चिदपेक्ष्यते ।।
ततः सत्स्वपि ग्रन्थेषु विदुषां सर्वदर्शने ।
अपूर्वोयं प्रयासो मे तामपेक्षां व्यपोहितुम् ।।
प्रमाणादिपदार्था ये वैदिकार्थाऽविरोधिनः ।
दृश्यन्ते वैदिकत्वेन तेऽत्र सम्यङ् निरूपिताः ।।
अदृष्टं प्रेत्यभावं च प्रत्याख्यायात्मनित्यताम् ।
येऽङ्गीकुर्वन्ति तेषां तत् कथन्नु स्यात् समञ्जसम् ।।
देहोच्छेदे तु चार्वाकाः निर्वाणे चैव सौगताः ।
जीवनस्य परां निष्ठां कल्पयन्ति मनीषिणः ।।

आस्तिक्यबीजं दर्शयति—

अदृष्टास्तित्ववादीनि दर्शनान्यपराणि च ।
न्यायादीनि सम्मुच्यन्ते दर्शनान्यास्तिकानि तु ।।
आत्मानं नित्यमास्थाय साक्षत्कारादथास्य च ।
दुःखोच्छेदेऽपवर्गे तु यतन्ते तानि सर्वशः ।।

वेदे श्रद्धात्मनः सत्ता चास्तिकानां समं द्वयम् ।
तदेवास्तिक्यबीजञ्च नास्तिकेभ्यो विभेदकम् ॥

आस्तिकानि दर्शयति—

न्यायवैशेषिके तुल्ये, सांख्ययोगौ तथैव च ।
पूर्वोत्तरे च मीमांसे दर्शनान्यास्तिकानि षट् ॥
धर्मशास्त्रं पुराणं च मीमांसान्यायविस्तरः ।
वेदोपांगानि तेष्वन्तर्भावात्तेषां च श्रौतता ॥

श्रौतानां त्रैविध्यं दर्शयति—

श्रवणे मनने चैव निदिध्यासन एव च ।
आत्मदर्शनहेतुत्वमिति श्रौतमतं श्रुतम् ॥
तस्मात्त्रैविध्यमेतेषां श्रौतानामपि कल्पितम् ।
आत्मदर्शनहेतुत्वं दर्शनत्वं प्रयोजयेत् ॥
मननार्थपरे पूर्वे सम्यग्ध्यानपरे परे ।
श्रवणप्रधाने शेषे त्रिवर्गं श्रौतदर्शनम् ॥

द्वयोः श्रवणपरत्वं दर्शयति—

कर्त्तव्याधिगमे चैव परतत्त्वावधारणे ।
श्रौतमपेक्ष्यते ज्ञानं अन्यथानर्थसंभवः ॥
ब्राह्मणोपनिषन्मूले मीमांसे च यथाक्रमम् ।
दृश्यते श्रुतिवाक्येभ्यस्तत्त्वानां श्रवणं तयोः ॥

द्वयोर्मननपरत्वं दर्शयति—

इष्टस्यार्थस्य सिद्धिस्तु युक्तिभिर्मननं मता ।
वचोभंगीं पदार्थञ्च सा वै द्वयमपेक्षते ॥
तत्र न्याये वचो भंगीमर्थान् वैशेषिके तथा ।
निरूप्य मननं पूर्णं दर्शनाभ्यां प्रवर्त्तितम् ॥

द्वयोर्निदिध्यासनपरत्वम्—

निदिध्यासनमप्येवं प्रकारं तत्त्वमेव च ।
अपेक्षते द्वयं दृष्टं सांख्ये योगे यथाक्रमम् ॥

नव्यप्रत्नभेदं दर्शयति—

द्वैधं दर्शनसाहित्यं नूतन-प्रत्नभेदतः ।
प्रत्नं सूत्रक्रमापेक्षि, तदुपेक्षि च नूतनम् ॥
सूत्र वार्तिकभाष्यादि, क्वचिट्टीकापरम्परा ।
प्रत्नदर्शनसाहित्यं नूतनं च तथेतरत् ॥
सूत्रक्रमं परित्यज्य स्वतन्त्रैर्विबुधैस्ततः ।
ग्रन्थाः येऽत्र कृतास्तत्तु साहित्यं नूतनं मतम् ॥
नूतन प्रत्नभेदोऽयं न कालापेक्षिको मतः ।
अंगीकृतोऽसौ सर्वत्र भंगीभेदात्तु केवलम् ॥

वेददर्शनयोर्भेदं दर्शयति—

श्रौतेषु दर्शनेष्वेषु क्वचित्तत्त्वमवैदिकम् ।
परस्परविरुद्धञ्च दृश्यते बुद्धिमोहनम् ॥
संहितात्मा तु यो वेदो मुख्यो मन्त्रमयो मतः ।
दर्शने स तु सर्वत्र सर्वथा समुपेक्षितः ॥

दयानन्दभाष्य में दधिक्राः का निर्वचन

डा० सुधीरकुमार गुप्त, एम० ए०, पी एच० डी०, शास्त्री,
आचार्य संस्कृतविभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय।

१. दभा० के निर्वचन

दधिक्राः, दधिक्रावणः] १. दधि (√धा से) + √क्रमु से—यो धारकैः सह क्रामति[१]।
२. दधि (√धा से) + √कमु—यो विद्याधरान् कामयते[२]।

२. दभा० के अर्थ

१. धारण करने योग्य वाहन पर जाने वाला (धर्त्तव्ययानक्रमिता)[३]–(१अ.) धारण करने वालों के साथ चलने वाला (राजा)[४]।

२. धारण करने वालों को पहुँचाने वाला (अग्नि)[५]।
(२अ.) धारण करने वाले यानों को चलाने वाली (आग)[६]। (२आ) धारण करने वालों को चलाने वाला घोड़ा[७]। (२ इ) धारण-पोषण करने वालों को प्राप्त होने वाला[८] (अश्व?)। (२ई) घोड़े के समान धारण करने वालों को चलाने वाला[९]। (२उ) धारण करनें वालों को क्रमण कराने वाले (विद्वान्?)[१०]। (२ऊ) धारण करने वालों के प्रचालक (हि०अ०-हिलाने वाले) (अन्न आदि?)[११]। (२ए) धर्म को धारण करने या चलाने वाले (राजा)[१२] (२ एं) वायु आदि के कारण को चलाने वाले की अवस्था (हि.अ.)–वाय्वादि-कारणं क्रामयितुः[१३]।

३. धारण करने वालों को प्राप्त होने के समान[१४]। (३ अ) धारण करने वालों से प्राप्त

---

१. ऋ० ४।३८।९
२. ऋ० ४।३९।२
३. ऋ९ ४।४०।२
४. ऋ० ४।३८।९
५. ऋ० ७।४४।४
६. ऋ० ७।४४।३
७. य० ९।१४
८. य० २३।३२
९. ऋ० ७।४४।५
१०. ऋ० ४।३९।३
११. ऋ० ४।३९।४
१२. ऋ० ४।३९।६
१३. ऋ० ४।४०।१
१४. ऋ० ७।४१।६

होने वाला (राजा)[१५]। (३ ग्रा) जो धारण करने वालों को क्रम से प्राप्त होता[१६]।

४. धारण करने योग्यों को धारण करने वाला (घोड़ा)[१७]। राजा)[१८]। (४ ग्र) पृथ्वी आदि को धारणा करने वाले[१९]। (४ ग्रा) धारण करने वाले की धारण करने वाले वायु[२०] (४ इ) 'अच्छे चलाए धारण करने वाले घोड़े के तुल्य' (हि०अ०)[२१]।

५. संसार के धारण कारकों के उल्लंघंन कर्त्ता (हि अ०)-यो धारकान् क्रामति तम् अश्वम् (संस्कृत पदार्थ)[२२]। (५अ) भूमि आदि पदार्थों को उल्लघंन करके वर्तमान (विद्युत्)[२३]।

६. धारण करने वाली अधिकता के सहित वर्तमान (राजा)[२४]।

७.विद्या की धारणा करने वालों की कामना करने वाले (राजा)[२५]। (७अ) न्याय धारण करने वालों की कामना करने वाले (बोध)[२६]।

विवेचन

३. डा० ए० बी० कीथ लिखते हैं कि सीधी और साक्षात् पूजा की दृष्टि से वेद में पशुओं का स्थान सीमित और अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण है परन्तु वहाँ ऐसी स्थितियों की सत्ता अवश्य है जिन में पशु दिव्य प्रतीत होते हैं।- इस कारण प्रत्येक अवस्था में यह कहना कठिन है कि वहां साक्षात् पशुपूजा की सत्ता मानी जाए।[२७]

४. इस सम्बन्ध में डा० कीथ ने 'दधिक्रा:' को ऋग्वेद का सर्वप्रसिद्ध घोड़ा माना है जिसकी स्तुति ऋग्वेद के चार अर्वाचीन सूक्तों[२८] में पाई जाती है। उनके लेखानुसार यह घोड़ा विशेष रूप से पुरुओं में प्रसिद्ध था। वेद में उसकी गति की प्रशंसा की गई है और इसका श्येन से साम्य और तादात्म्य बताया गया है। उसे अग्नि के गुणों से भी विभूषित किया गया है। वह प्रकाश में वर्तमान हंस है, अन्तरिक्ष में वसु है, यज्ञ में पुरोहित है और घर में वीर है[२९]। वह धन जोतने वाला नायक शक्ति से पञ्चजनों में व्याप्त और जलों में सूर्य के रूप में अपने प्रकाश द्वारा विद्यमान है। वह पुरुओं को मित्रावरुण की भेंट है। उस की अग्नि, उषस् अश्विनों, सूर्य और अन्य देवताओं के साथ स्तुति की गई है।परन्तु ऐसी स्तुतियों में उसे सर्वप्रमुख स्थान मिला है[३०]।

५. उन के मत में इस पद का अर्थ 'दही को फैलाने या बिखेरने वाला' है। रौथ के मत में दधिक्रा सूर्य का ही द्योतक है। बर्गेग्ने के मत में यह विद्युत 'ल्यूड्विग' पिशल और ओल्डनवर्ग के

१५. ऋ० ४। ३८। १०
१६. ऋ० ७। ४४। १
१७. ऋ० ४। ४०। ४
१८. ऋ० ४। ३९। १
१९. ऋ० ७। ४४। २
२०. ऋ० ४। ४०। ३
२१. य० ३४। ३९
२२. ऋ० ६। २०। १
२३. ऋ० ३। २०। ५
२४. ऋ० ४। ३८। २
२५. ऋ० ५। ३९। २
२६. ऋ० ४। ३९। ५
२७. रिफिवे० पृ०१८९, १७, संदर्भ १.
२८. ऋ० ४।३८-४०। ७। ४४
२९. ऋ० ४। ४०। ५
३०. रिफिवे० पृ०१८९ १७ संदर्भ २।

मत में घुड़दौड़ का वास्तविक घोड़ा और हिलेब्रान्ड के विचार में अश्वमेध का मेध्य अश्व है। डा०ए० बी० कीथ का विचार है कि दधिक्रा: को मेध्य अश्व नहीं समझना चाहिए। यह घोड़े के रूप में सूर्य ही है। अश्वमेघ में वास्तविक मेध्य अश्व इसी का प्रतिनिधित्व करता है।[31]

६. सायण ने दधिक्रा को एक देवता विशेष माना है[32]। वेंकट माधव ने 'पद स्थापित करने चलने वाला (जनरक्षक,)[33] स्कन्द (नि०) ने मध्यमस्थानीय और भट्टभास्कर ने 'दधियों का क्रमणशील अग्नि[34]' महीधर[35] ने 'धारक—मार्ग के अवरोधक पर्वत आदि का अतिक्रमण करने वाला घोड़ा और उव्वट ने[36] 'अश्व' अर्थ किए हैं। वेंकटमाधव ने अन्यमंत्रों में इसे घोड़ा[36] भी माना है और देवता[37] भी। सायण का 'दधिक्रा:' देव अश्वाभिमानी देवता है।[38] भाष्यकारों ने इसे दधत् या (दधि √ धा से) पूर्वक √ क्रम् का रूप माना है।

७. यास्क ने दधिक्रा:[39] और दधिक्रावा[40] को अश्वनामों में पढ़ा है। दधिक्रा:[41] को वायु आदि के साथ पदनामों में भी पढ़ा है। निरुक्त में इसके दो रूप प्रतिपादित किए गए हैं—अश्व[42] और देवता[43]। अश्व के रूप में वेदमन्त्र में घोड़े के गुणों का प्रकाशन किया गया है।[44]

८. देवता के रूप में इसका निरुक्त में स्पष्ट निर्णय नहीं किया गया है।[45] मन्त्र में इसे सूर्य के समान तेज से व्यापक कहा गया है।[46] पं० चन्द्रमणि वेदालंकार इसे वायु मानते हैं।[47]

९. यास्क ने इसे दधत् पूर्वक √ क्रम्, √ क्रन्द् और √ आ कृ से व्युत्पन्न किया है।[48] डा० सिद्धेश्वर वर्मा इन निर्वचनों को अस्पष्ट मानते हैं।[49]

१०. दधिक्रा: को पदनामों[50] में पाठ से यह तो निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि यह पद किसी गत्यर्थक धातु से निष्पन्न है और इसके अर्थ ज्ञान, गमन और प्राप्ति होते हैं।[51] यह समीपतम गत्यर्थक धातु √ क्रम ही है। √ क्रन्द् या √ कृ आदि में गत्यर्थ है, तो परन्तु वह सीधा नहीं है। वहाँ अन्य अर्थों की प्रधानता है।

---

३१. वही, पृ०१६०।
३२ ऋ० ४। ३८। २।
३३. वही।
३४. ऋ० ४। ३८। १०
३५. य० ६। १४
३६. ऋ० ४। ३८। १०
३७. ऋ० ७। ४४। १
३८. वही।
३९. निघं० १।। १४। ७
४०. निघं० १। १४। ८
४१. निघं० ५। ४। १६
४२. नि० २। २७;२८।
४३. नि० १०। ३०-३१
४४. देखो निभा०१६१ पर ऋ० ४। ४०।४का अर्थ।
४५. नि० १०। ३०-३१
४६. ऋ० ४। ३८। १०
४७. निभा०पृ० ६४०
४८. नि० २। २७
४९. एया० १३४
५०. निघं० ५। म १६
५१. देखो ऊपर अ० ३०

११. ब्राह्मण ग्रन्थों के दधि के 'इन्द्रिय',[५२] 'लोक का रूप,'[५३] 'ऊर्ज',[५४] अन्नाद्यः[५५] 'सोम'[५६] और 'सरस्वती सम्बन्धी'[५७] तथा 'दधिक्राः' के 'अन्न'[५८] और 'देव पवित्र'[५९] अर्थ इस पद के 'धारण' अर्थ से प्राप्त हो सकते हैं। 'अन्न' 'इन्द्रियाँ' 'रूप' क्रमशः पुष्टि देकर, विषयों का ज्ञान और आस्वादन कराके और सत्ता की विज्ञापना करके धारण-अर्थ की ओर इंगित करते हैं।

१२. निघंटु में 'धृति' को गत्यर्थक धातुओं में पढ़ा गया है।[६०] यह 'धरति' का ही एक वैदिक रूप प्रतीत होता है। वैसे भी 'धारण' में चेष्टा की प्रभूत सत्ता स्पष्ट है। इस दृष्टि से देखने पर दधि, दधिक्राः और दधिक्रावा को गत्यर्थक √ धा से व्युत्पन्न मानना उचित जान पड़ता है।

१३. शतपथ ब्राह्मण ने 'दधि' को √ धिन्व् प्रीणने से व्युत्पन्न किया है—'यदब्रवीद् धिनोति मेति तस्माद् दधि।'[६१] दही, अन्न, रूप, इन्द्रियाँ आदि मानव को अनेक प्रकार से प्रसन्न करते हैं। अतः इन सबको 'दधि' कहा है। प्रसन्नता की अभिव्यक्ति गति प्रधान है, उसका विकास गति प्रधान प्राप्ति में निहित है, जिसमें ज्ञान का पुट भी आवश्यक है। स्वादहीन या अन्धा, बहरा, नपुंसक आदि दही, अन्न, रूप और इन्द्रियों के सुख को प्राप्त नहीं कर सकते। इस दृष्टि से धिन्व् से व्युत्पत्ति इस 'दधि' के अर्थों को विशद करने मात्र के लिए दृष्टि विशेष से प्रवृत्त हुई प्रतीत होती है। अतः यह मूलतः दयानन्दीय निर्वचन की ओर इंगित प्रतीत होता है। ऐतरेय ब्राह्मण ने भी 'इन्द्रियं वा एतदस्मिंल्लोके यद्दधि यद् दध्नाभिषिञ्चतीन्द्रियमेवास्मिंस्तद् दधाति'[६१अ] लिखकर 'दधि' को √ धा से व्युत्पन्न माना है।

१४. डा० फतहसिंह ने दिखाया है कि 'दधि' प्रकृति के उस स्थूल रूप का भी नाम है जिसको जीव इन्द्रियों द्वारा उपभोग करता है। धेनु रूपा वाक् समस्त सृष्टि रूपी दूध को देती है। और यह दूध अनेक अवस्थाओं—कच्चा, उबाला हुआ और जमा हुआ को प्राप्त होता है। ये अवस्थाएं प्रकृति से उत्पन्न सृष्टि की विभिन्न अवस्थाएं हैं। यह पद वेदों में दधिक्राः और दध्यङ् आदि में भी आता है। इन पदों में 'दधि' का यही अर्थ प्रतीत होता है। सायण ने भी दधिक्राः का अर्थ 'निरस्तसमस्तोपधिकं ब्रह्म' किया है।[६२] अन्यत्र आपने दधि को 'मनोमय' का सोम और दधिक्राः को 'मनोमय' का पुरुष बताया है।[६३]

१५. डा० फतहसिंह द्वारा प्रदर्शित यह अर्थ भी उपरोक्त लेखानुसार √ धा से प्राप्त हो सकता है।

---

५२. तै० २।१।५।६
ऐ० ८।१९।
५३. श ७।५।१।३
५४. तै० २।७।२।२
५५. वही
५६. कौ० ८।९
५७. श० ४।२।५।२२
५८. गो० २।६।१६
५९. ऐ० ६।३६
६०. निघं० २।१४।८९
६१. श० १।६।४।८
६१. अ० ऐ० ८।२०
६२. वैए० ३३२
६३. वैद० यू० १६०

१६. इस लेख से यह सुव्यक्त है कि वेद में दधि और दधिक्राः तथा दधिक्रावा पारिभाषिक पद हैं जिनके अनेकविध अर्थ हैं। इस विषय पर पहले भी प्रकाश डाला जा चुका है।[६४] किसी भाष्यकार ने उनके समस्त अर्थों को ग्रहण नहीं किया है। दभा० की दृष्टि आधिभौतिक और आध्यात्मिक झुकाव लिए हुए है। उसी के अनुरूप उस के अर्थ प्रवृत्त हुए हैं।

१७. दभा० में दधिक्रा और दधिक्रावा का स्वरूप उनके पूर्वप्रदत्त अर्थों से सुव्यक्त है।

---

६४. देखो व भाप ६ ५२ अ-५ ४

वेदापौरुषेयत्व

आचार्य देवदत्तशर्मोपाध्याय, एम० ए०
संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

अद्वैत-वेदान्त, तथा श्रुति—

प्रसङ्गवश सर्वप्रथम यह बता देना आवश्यक होगा कि अद्वैत वेदान्ती वेद को परमेश्वर का भी बनाया हुआ नहीं मानते। उनका कहना है कि सर्वज्ञ होने के कारण परमेश्वर पूर्व सृष्टि में परम्परागत प्रस्तुत वेद को ही इस सृष्टि के आदि में ऋषियों के हृदय में उपदेश के द्वारा प्रकाशित कर देता है, न कि उनको पूर्वसृष्टि से भिन्न नवीन रूप से बनाता है। अतएव उनका कहना है, कि—

"श्रुतीनामीश्वराज्जन्म केवलं श्रुतिषु श्रुतम्।
मानान्तरोपलब्धेऽर्थे रचना तु न मीयते ॥"

अर्थात् ईश्वर ने नवीन रूप से वेदों को नहीं रचा, केवल सृष्टि के आदि में पूर्ववत् उपदेशमात्र कर दिया है। इसी अभिप्राय को सिद्धान्त रूप से हृदयङ्गम कर परमहंस परिव्रजाकाचार्य श्री चित्सुख मुनि ने अपने ग्रन्थ "तत्त्व प्रदीपिका" के प्रथम परिच्छेद के अन्त में वेदान्तों को अपौरुषेय सिद्ध करने के लिये तन्मूलभूत वेदों को पूर्वोत्तर पक्ष प्रदर्शन पुरःसर "अपौरुषेय" सिद्ध किया है। वेदों की पौरुषेयता में कोई प्रत्यक्ष प्रमाण तो है ही नहीं जिससे कि यह कह सकें कि अमुख ने वेद बनाये। क्योंकि संसार में वेदों के बनाने वाले को आज तक किसी ने दृष्टिगोचर किया ही नहीं, इस कारण वेदों की पौरुषेयतादि में अनुमानादि प्रमाण ही हो सकते हैं। अतएव आचार्य चित्सुख मुनि ने वेदों की पौरुषेयता सिद्ध करने के लिये पूर्व पक्ष से तीन प्रकार के अनुमान प्रस्तुत किये हैं। उनमें पहिला यह है कि:—

पूर्वपक्ष १—

"वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि, वाक्यत्वात् कालिदासादिवाक्यवत्"

अर्थात् वेदवाक्य पुरुषों के बनाये हुये हैं, वाक्य होने से जैसे कि कालीदासादि के वाक्य।

२—"वेदवाक्यानि आप्तप्रणीतानि, प्रमाणत्वे सति वाक्यत्वात्, मन्वादिवाक्यवत्"

अर्थात् वेद वाक्य आप्त (सत्य वक्ता) पुरुष के बनाये हुये हैं। प्रामाणिक वाक्य होने से मनुस्मृति आदि के वाक्यों की भाँति।

उत्तर पक्ष—

पौरुषेयवादी पूर्वपक्षी के इन दोनों अनुमानों के खण्डनार्थं किसी अपौरुषेयतावादी सिद्धान्ती ने विपक्ष में यह अनुमान प्रस्तुत किया—

"वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्
भारतस्याध्ययनत्वेन साम्प्रताध्ययनं यथा"

अर्थात् वेद का सम्पूर्ण अध्ययन अनादि काल से गुरु परम्परापूर्वक चला आ रहा है। तात्पर्य यह निकला कि वेद इसी प्रकार अनादि काल से चला आ रहा है। किसी पुरुष ने इसको नहीं बनाया। इस कारण यह अपौरुषेय है।

पूर्वपक्ष—

इसका खण्डन करने के लिये पौरुषेयतावादी पूर्वपक्षी ने पहिले तो यह दोष दिया कि अनुमान में पक्ष, साध्य, दृष्टान्त इन तीनों का होना अनिवार्य है। अतः यदि वेद का 'सम्पूर्ण अध्ययन' (वेदस्याध्ययनं सर्वम्) ऐसा पक्ष रखोगे, तो सर्व शब्द के अन्तर्गत सम्पूर्ण अध्ययन आ जावेंगे और कोई अध्यनन बचेगा ही नहीं, जिसका कि दृष्टान्त दे सको। जब दृष्टान्त ही न दे सकोगे, तो तुम्हारा अनुमान बन ही न सकेगा इत्यादि। ऐसा कह कर इस उपर्युक्त अनुमान को सर्वथा दूषित करने की इच्छा से प्रतिद्वन्द्वी रूप में पौरुषेयवादी ने तीसरा अनुमान प्रस्तुत किया कि—

३—"भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
भारताध्ययनत्वेन सांप्रताध्ययनं यथा॥"

अर्थात् महाभारत पुस्तक का सर्व अध्ययन गुरु परम्परा से चला आ रहा है। महाभारत का अध्ययन होने से, जैसे कि आजकल महाभारत का अध्ययन चल रहा है। कहने का अभिप्राय यह है, कि यदि अपौरुषेयतावादी के पूर्वोक्त अनुमान (वेदस्याध्ययनं सर्वम् इत्यादि) से वेद अनादि एवं अपौरुषेय सिद्ध हो सकता है, तो उसी प्रकार के हमारे अनुमान (भारताध्ययनं सर्वम्) से महाभारत पुस्तक भी अनादि एवं अपौरुषेय सिद्ध हो सकती है, परन्तु आप महाभारत को अनादि और अपौरुषेय कह नहीं सकते अतः उसी प्रकार वेद भी उस अनुमान से अनादि और अपौरुषेय सिद्ध नहीं हो सकता। इस कारण वेद पौरुषेय है।

शब्द प्रमाण—

इसके अतिरिक्त पौरुषेतावादी-पूर्वपक्षी शब्दप्रमाण को भी अपनी पुष्टि में इस प्रकार प्रस्तुत करता है, कि—

१—"तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।"
(यजु० ३१।७)

अर्थात् उस यज्ञरूप परमेश्वर से ऋक्, यजुः, साम, और अथर्वा पैदा हुये।

२—"त्रयो वेदा अजायन्त, ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्।"

अर्थात् अग्नि से ऋग्वेद वायु से यजुर्वेद और आदित्य से सामवेद इस प्रकार तीनों वेद पैदा हुए।

३—"इदं सर्वं सृजत ऋचो यजूंषि सामानि" इत्यादि।

अर्थात् परमेश्वर ने ऋग् यजुः साम इन तीनों वेदों को पैदा किया इत्यादि।

तथा "प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्याविधीयते।"

अर्थात् हर एक मन्वन्तर में वेद भिन्न-भिन्न रूप से बनाया जाता है इत्यादि।

इन श्रुति, स्मृति प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है, कि वेद बनाया गया है अतः पौरुषेय है। इस प्रकार पूर्वपक्ष प्रस्तुत करके चित्सुख मुनि ने इसके खण्डनार्थ निम्न प्रकार से उत्तरपक्ष (सिद्धान्तपक्ष) स्थापित किया है कि—

सिद्धान्त पक्ष—(अनुमान खंडन)

१—कालीदास-वाक्य का दृष्टान्त देकर पौरुषेयवादी ने प्रथम अनुमान द्वारा जो वेदों को पौरुषेय सिद्ध किया है, वह सर्वथा असत्य है। क्योंकि कालीदास वाक्य वाले ग्रन्थों में स्पष्टतया कर्त्ता का उल्लेख है, पर वेदों में नहीं। अतः कालीदास के वाक्य का दृष्टान्त देकर वेदों को पौरुषेय सिद्ध करना आकाश पुष्प के समान है।

२—मन्वोदिवाक्य का दृष्टान्त देकर दूसरे अनुमान से वेदों को आप्त प्रणीत सिद्ध करना भी एक वृथा साहस मात्र ही है, क्योंकि मन्वादि के ग्रन्थों में उसके निर्माता का स्पष्ट उल्लेख है, पर वेदों में नहीं। अतः मन्वादि के दृष्टान्त से वेदों को आप्त प्रणीत (पौरुषेय) कहना केवल दुःसाहस के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है!

यदि कहो कि वेदों को अनाप्त से अप्रणीत होने के कारण आप्त से प्रणीत होने का अनुमान कर पौरुषेय मान लेंगे, तो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से आत्मा, आकाशादि में अतिव्याप्ति रूप दोष आयेगा, अर्थात् आत्मा और आकाशादि भी अनाप्त से अप्रणीत होने के कारण आप्त से प्रणीत अर्थात् बनाये हुए मानने पड़ जायेंगे, जोकि सर्वथा असंभव है। अतः वेदों को आप्त प्रणीत होने का अनुमान कर पौरुषेय नहीं माना जा सकता।

३—रही तीसरे अनुमान की बात, वह तो सर्वथा ही असङ्गत है।

क्योंकि—"कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम्।
को ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षात् महाभारत कृद्भवेत्॥

अर्थात् महाभारत के कर्ता व्यास को साक्षात् नारायण एवं प्रभु समझो क्योंकि पुण्डरीकाक्ष भगवान् से से अतिरिक्त और कौन महाभारत जैसे ग्रन्थ को बना सकता है, इत्यादि प्रकार से महाभारत के कर्ता के विषय में दृढ़तर प्रमाण मिल जाने के कारण महाभारत को झूठे मूठे अनुमा-

नादि से अनादि एवं अपौरुषेय सिद्ध करना, असङ्गत ही नहीं प्रत्युत दिन दहाड़े आँखों में धूल झोंकना है।

पूर्वपक्ष—शब्दप्रमाण-खंडन

अब रही शब्द प्रमाण की बात, पौरुषेय वादी शब्द प्रमाण के आधार पर भी वेद को पौरुषेय सिद्ध नहीं कर सकता। क्योंकि "तस्मात् यज्ञात्" इत्यादि जो तीन (३) श्रुतियां उद्धृत कर वेद को ईश्वर तथा अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा से निर्मित बताया गया है, वह सर्वथा असङ्गत है। क्योंकि वे तो सृष्टि के आदि में तथा पश्चात् वेद के प्रचारक थे न कि निर्माता। अतः इन श्रुतियों से भी वेद का पौरुषेयत्व सिद्ध नहीं हो सकता।

रही स्मृति की बात, तो जब श्रुतियां ही वेद को पौरुषेय सिद्ध न कर सकीं। तो विचारी "प्रतिमन्वन्तरम्" इत्यादि यह छोटी सी स्मृति क्या वेद को पौरुषेय सिद्ध कर सकेगी। वह तो यही बताती है कि प्रत्येक सृष्टि के आदि में वेद का प्रादुर्भाव हुआ करता है, सो यह सर्वथा सत्य है, इसको सब मानने को तैयार हैं, इसका कौन निषेध कर सकता है। क्योंकि सृष्टि के आदि में परमेश्वर सदा वेद का उपदेश ऋषियों के हृदय में किया करता है और तत्पश्चात् पुनः ऋषि उपदेश के द्वारा उसका . चार किया करते हैं।

अपौरुषेयता में प्रमाण

पौरुषेयतावादी पूर्वपक्षी की इन पूर्वोक्त समग्र शङ्काओं का निराकरण हो जाने पर भी पाठकों के निश्चयार्थ श्रुति, स्मृति, अनुमान प्रमाण भी उपस्थित करते हैं, जो कि वेदों को नित्य और अनादि बतलाते हुए साक्षात् अपौरुषेय सिद्ध कर रहे हैं उनमें दिग्दर्शन रूप से कुछ का ही यहाँ निम्न प्रकार से उल्लेल किया जाता है।

१—"वाचा विरुपनित्यया"

अर्थात् वेद रूपी नित्य वाणी के द्वारा।

२—यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै"

अर्थात् प्रभु ने ब्रह्मा को पैदा कर उसको वेदों का उपदेश दिया। कहने का तात्पर्य यह है कि वेद ब्रह्मा जी से भी पहले विद्यमान थे।

३—"नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम्"

अर्थात् मृत्यु द्वारा कहे गये नचिकेता सम्बन्धी सनातन (अनादि) इस वेद के उपाख्यान को सुनो।

३—"अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा"

अर्थात् स्वयंभु ने ऐसी नित्य वाणी बोली जिसका आदि और अन्त नहीं।

५—"वेदा अपौरुषेयाः सम्प्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्, आत्मवत्"

अर्थात् वेद अपौरुषेय है, क्योंकि इनका कोई कर्ता नहीं, पुनरपि अविच्छिन्न गति द्वारा

परम्परा से चले आ रहे हैं। जैसे आत्मा इत्यादि। इस प्रकार इन श्रुति, स्मृति तथा अनुमानादि प्रमाण से वेद नित्य और अनादि होने के कारण अपौरुषेय सिद्ध हो जाता है।

यदि कोई यह शंका करें कि "वाचा विरूपनित्यया" इत्यादि श्रुति आदि तो अन्यपरक या अन्यार्थक हैं। वेद की नित्यत्वपरक नहीं। तो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि मीमांसा में प्रदर्शित देवताधिकरण न्याय के द्वारा प्रमाणान्तर का सम्बन्ध या विरोध न होने पर अन्यपरक वाक्यों का भी स्वार्थ अर्थात् अपने स्वाभाविक अर्थ में प्रामाण्य स्वीकार कर लिया जाता है। अतः यह पूर्वोक्त श्रुति स्मृत्यादि स्वार्थ में प्रमाणित होने के कारण वेद का नित्यत्व एवं अनादित्व प्रदर्शित कर अपौरुषेयत्व सिद्ध करने में सर्वथा समर्थ हैं।

यह तो रही चित्सुखाचार्य आदि अद्वैतवादियों की बातें जिनका कि प्रसङ्गवश उल्लेख किया गया है। अब अन्यों के मत से भी वेद को अपौरुषेय सिद्ध किया जाता है।

वेदान्त दर्शन

वेदान्त शास्त्र के प्रणेता महर्षि व्यास ने ब्रह्मसूत्र प्रथमाध्याय प्रथम पाद के तृतीय सूत्र शास्त्रयोनित्वात्" से यह स्पष्ट कर दिया है कि ऋग्वेदादि शास्त्रों का योनि (कारण) होने से ब्रह्म (ईश्वर) सर्वज्ञ है। भगवान् शंकर भी इसी सूत्र का भाष्य करते हुए लिखते हैं कि "महत ऋगवेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपवृंहितस्य प्रदीपवत्, सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। नहीं-दृशस्य शास्त्रस्य ऋगग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति" इत्यादि अर्थात् अनेक विद्याओं से उपबृंहित सर्वार्थ प्रकाशक सर्वज्ञ कल्प ऋगवेदादि शास्त्रों का कारण ब्रह्म है, क्योंकि इस प्रकार के सर्वविद्याभूत, सर्वज्ञानाधार शास्त्रों का सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के अतिरिक्त और किसी से प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। उपनिषद् में भी लिखा है—

"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदः" (बृह० २-४-१०)

अर्थात् उस परब्रह्म परमेश्वर से श्वास प्रश्वास के समान ऋग्वेदादि शास्त्रों का प्रादुर्भाव हुआ।

इस प्रकार सूत्र के भाष्य और उपनिषद् प्रमाण से यह सिद्ध हो गया कि वेद का प्रादुर्भाव सृष्टि के आदि में जिस समय कि मनुष्य द्वारा निर्माण की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी, परमेश्वर द्वारा हुआ, अतः वेद अपौरुषेय है।

सांख्य-योग दर्शन

महर्षि कपिल ने लिखा है कि —

"नपौरुषेयत्वं तत् कर्तुः पुरुषस्याभावात्" (सां० द० पं० अ० ४६) अर्थात् वेद पौरुषेय (पुरुषनिर्मित) नहीं है, क्योंकि उसका बनाने वाला कोई पुरुष नहीं है। इसी आशय को "न मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात्" इस सूत्र से सुस्पष्ट कर दिया है कि मुक्त पुरुष वीत राग होने से सहस्र से भी अधिक शाखा वाले वेद को बनाने में असमर्थ है, क्योंकि वह क्यों इस झगड़े में पड़ना चाहेगा और अमुक्त पुरुष असर्वज्ञ होने से वेद को बना ही नहीं सकता तथा—

"निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्" (सां० द० पं० अ० ५१)

इस सूत्र में स्पष्ट लिख दिया है, कि वेद में यथार्थ ज्ञान पैदा करने की स्वाभाविक शक्ति है। अतः वह स्वतः प्रमाण है। इन सब बातों के आधार पर महर्षि कपिल ने वेद को अपौरुषेय प्रतिपादित किया है।

वाचस्पतिमिश्र ने भी सांख्यतत्त्वकौमुदी की पांचवीं कारिका की व्याख्या में लिखा है, कि "श्रुतिः—वाक्यजनितं वाक्यार्थज्ञानम्। तच्च स्वतः प्रमाणम्। अपौरुषेयवेदवाक्यजनितत्त्वेन सकलदोषाऽऽशंका विनिर्मुक्तेर्युक्तं भवति इति"

अर्थात् वाक्य जनित वाक्यार्थ ज्ञान रूप श्रुति स्वतः प्रमाण है, क्योंकि वह अपोरुषेय वेद वाक्यों से जनित है। अतः उसमें किसी भी दोष की आशंका हो ही नहीं सकती। इससे यह स्पष्ट हो गया, कि सांख्य प्रणेता महर्षि कपिल के मत में वेद अपौरुषेय है। इसी प्रकार "योग" शास्त्र के रचयिता महर्षि पतञ्जलि के मत से भी वेद अपौरुषेय समझना चाहिये, क्योंकि सांख्य और योग में वेद की अपौरुषेयता के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है। प्रत्युत दोनों ही अपौरुषेयवादी हैं।

मीमांसा दर्शन

मीमांसा शास्त्र प्रणेता महर्षि 'जैमिनी' ईश्वर प्रणीत या ईश्वरोच्चरित न मानते हुए भी पुरुष प्रणीत न होने के कारण वेदको अपौरुषेय ही मानते हैं। अतएव 'चोदना सूत्र के श्लोक वार्त्तिक में कुमारिल स्वामी ने—

"यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषाः निराश्रयाः"

अपिच "यदा स्वतः प्रमाणत्वं तदाऽन्यन्नैवमृग्यते।

निवर्त्तते हि मिथ्यात्वं दोषाज्ञानादयन्नतः॥"

अर्थात् वेद का कोई मनुष्य बनाने वाला न होने से उसमें किसी दोष की संभावना नहीं कि जा सकती। जब कि वेद स्वतः प्रमाण है तो किसी अन्य वस्तु के ढूंढने की कोई आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि दोष के न होने से उसमें मिथ्यात्व आ ही नहीं सकता इत्यादि।

तथा मीसांसा दर्शन प्रथमाध्याय के पञ्चम सूत्र के भाष्य में शबर मुनि स्पष्ट लिखते हैं कि

"तस्मात् कारणादवगच्छामो न कृत्वा सम्बन्धं व्यवहारार्थं केनचिद् वेदाः प्रणीता इति"

अर्थात् इस कारण हम जानते हैं कि किसी ने नवीन सम्बन्ध बना कर व्यवहार के लिये वेदों को रचा हो यह बात नहीं, अपितु वेद अपौरुषेय हैं।

अर्हंतप्रवर हरिभद्रसूरि ने भी 'षड्दर्शन समुच्चय' में मीमांसक का मत प्रतीपादन करते हुये कहा है, कि "शब्दशाश्वत वेदोत्थम्" अर्थात् शाश्वत नित्य वेदों के शब्दों से प्रकट हुआ अर्थ ही आगम प्रमाण कहलाता है। इससे यह बात निकल आई कि मीमांसक वेदों को अपौरुषेय मानता है।

न्याय दर्शन वैशेषिक दर्शन—

न्याय दर्शन द्वितीयाध्याय प्रथमाह्निक के "मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत् प्रामाण्यम्" इस सूत्र का भाष्य करते हुये वात्स्यायन मुनि ने कहा है, कि

मन्वतरयुगान्तरेषु चातीतानागतेषु सम्प्रदायाभ्यासप्रयोगाऽविच्छेद इति वेदानां नित्यत्वं आप्त-प्रामाण्याच्च प्रामाण्यम् इति ।

अर्थात् अतीत अनागत मन्वन्तर युगान्तरों में वैदिक सम्प्रदायों के अनुसार वेद वाक्यों से पुनः-पुनः उच्चारण एवं वेदार्थ भूत यागादिकों के प्रयोगका विच्छेद नहीं हुआ है। प्रत्युत वह तो सदा एक जैसा ही चला आ रहा है। अतः वेद नित्य हैं और आप्त प्रामाण्य से इन को प्रामाण्य है ।

इससे यह अभिप्राय निकला, कि सृष्टि के आदि में आप्त रूप परमेश्वर ने और तदनन्तर आप्तभूत ऋषियों ने नित्य वेद का उपदेश दिया। अतः न्याय दर्शन प्रणेता गौतम मुनि के मत में भी ईश्वरोच्चरित या ईश्वर प्रणीत होते हुए भी मनुष्य प्रणीत न होने के कारण वेद अपौरुषेय एवं प्रमाण भूत हैं। और यह ठीक भी है, क्योंकि ईश्वर नित्य है। अतः तत्प्रणीत या तदुच्चरित अथवा तज्ज्ञानभूत वेद भी अवश्य नित्य होना ही चाहिये। ऐसा मानने पर "तस्माद् यज्ञात् सर्व हुतः" इत्यादि मन्त्र भी सङ्गत एवं युक्ति-युक्त हो जाते हैं।

इस भांति वैशेषिक दर्शन के कर्ता 'कणाद' मुनि के मत में भी समझ लेना चाहिये, क्योंकि यह दोनों महापुरुष समान रूप से वेद को अपौरुषेय मानते हैं।

इन पूर्वोक्त प्रकारों से सभी आस्तिक दर्शन वेद की अपौरुषेयता का डिण्डिमनाद कर रहे हैं।

लौकिक युक्ति—

जब आप किसी बुद्धिमान् व्यक्ति से पूछेंगे, कि विधान पहिले या शासन (राज्य) पहिले, अर्थात् राज्य और विधान में कौन पहिले हुआ करता है, तो वह व्यक्ति निःसन्देह अविलम्ब यही उत्तर देगा कि विधान पहिले और राज्य पीछे, क्योकि किसी भी राज्य को चलाने से पूर्व उस के संचलनार्थं विधान का बनाना परमावश्यक है। यतः जब कोई विधान ही नहीं होगा तो शासन (राज्य) किस प्रकार चलाया जा सकता है। विधान के बिना सब लोग स्वच्छन्द गामी बन मन-मानी कर सकते हैं और उच्छृङ्खल वृत्ति को धारण कर शासन की तो क्या कथा प्रत्युत उसके विरुद्ध अशासन या कुशासन की ओर अग्रसर हो सकते हैं। ऐसी अवस्था में महाद्वीप और देश देशान्तरों की तो क्या चले, एक छोटे से नगर ग्राम या समूह का भी शासन चलाना (अर्थात् राज्य करना) सर्वथा असम्भव है। अतः किसी भी राज्य के संचालनार्थ जिस प्रकार एक शासनकर्ता सुयोग्य राजा की परमावश्यकता है, उसी प्रकार सुविज्ञ निर्मित परिपूर्ण एक विधान की भी परमावश्यकता है। सुन्दर विधान के बिना सुयोग्य "शासक" भी राज्य करने में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

यही प्रणाली आज भी भारतादि प्रत्येक देश के शासन में अपनाई हुई दृष्टि-गोचर होती है। जिस का कोई अज्ञ से अज्ञ भी निषेध नहीं कर सकता।

जबकि किसी भी राज्य के संचालनार्थ एक सफल विधान की आवश्यकता अनिवार्य है, तो संसार रूपी महाद्वीपों के भी महाद्वीप, महान् से महान् प्रदेश समूह सम्बन्धी शासन के संचालनार्थ परमेश्वर रूपी एक पुण्यतम राजा के लिये एक सुयोग्य सुन्दर और सर्वतः परिपूर्ण पुण्यतम विधान की भी आवश्यकता होनी स्वाभाविक ही है। उसीके अनुसार उस परमेश्वर ने सृष्टि के आदि में सृष्टि रूपी राज्य के संचालनार्थ यदि एक सुयोग्य वेद रूपी विधान की सुन्दर कल्पना की, जो कि पश्चात् अग्नि, वायु आदित्य और अङ्गिरा ऋषियों के द्वारा सर्वसाधारण में प्रचलित हुई- ऐसा मान लिया जाय तो, इसके मानने में किस महापुरुष को सन्देह, हो सकता है। प्रत्युत इसके मानने से यह और लाभ हो जा सकता है, कि वेद क्यों बना इत्यादि कतिपय सन्देहों की निवृत्ति अनायास ही हो जाती है तथा वेद कब बना इस प्रश्न का भी उत्तर अनायास ही सिद्ध हो जाता है। क्योंकि पूर्वोक्त प्रसार से वेद का सृष्टि के आदि में होना स्पष्ट ही है। और जब वेद का सृष्टि के आदि में होना स्पष्ट सिद्ध हो गया, तो वेद अपौरुषेय है अर्थात् मनुष्य निर्मित नहीं है, यह कथन भी स्वभावतः ही सिद्ध हो गया। यतः मनुष्य का होना उस समय सम्भव ही नहीं, क्योंकि जब तक सृष्टि रचना ही नहीं तब तक मनुष्य कहां, मनुष्य का होना सृष्टि के अनन्तर सिद्ध हो सकता है। अतः वेद अपौरुषेय है अर्थात् सांसारिक पुरुष निर्मित नहीं है, यह प्राचीन ऋषियों का डिण्डिम घोष भी अप्रतिहत होने के कारण सब सत्यवादी सहृदय पुरुषों को हृदय से मानना ही चाहिये।

वेद ही ईश्वरीय ज्ञान है—

यह कहना भी अनुचित न होगा कि जिस प्रकार संसार में एक सूर्य ही ईश्वरीय प्रकाश है, इसके अतिरिक्त दीपक लालटेन आदि समग्र प्रकाशक पदार्थ मनुष्य कृत हैं, या यों कहिये कि वे सूर्य रूपी ईश्वरीय प्रकाश की सहायता से ही प्रकाशित हैं। ठीक इसी प्रकार संसार में ईश्वरीय ज्ञान रूप प्रकाश सम्बन्धी पुस्तक भी एक ही हो सकती है, अनेक नहीं। और वह है वेद। इसके अतिरिक्त शेष सब पुस्तकें मनुष्यकृत हैं और वेद सम्बन्धी ज्ञान की सहायता से ही अपने ज्ञान का प्रकाश कर सकती हैं। अतएव सब प्राचीन ऋषियों एवं आस्तिक विद्वानों ने सदा से सृष्टि के आदि में ही वेद का प्रादुर्भाव माना, मध्य में नहीं। क्योंकि मध्य में पैदा हुई वस्तु में निश्चिय मनुष्य निर्मित होने की सम्भावना की जा सकती है। इसी अभिप्राय को मन में रखकर तथा अपौरुषेय पुस्तक की लोक में परम मान्यता समझ कर अनेक सम्प्रदाय अपनी-अपनी धार्मिकपुस्तकों को, या उन के बनाने वालों को सृष्टि के आदि में पैदा हुआ मानने का दुःसाहस करने लगे हैं। परन्तु उनके इस वाक्य प्रपञ्च में बुद्धिमान् पुरुष नहीं फँस सके और न फँसगे ही, क्योंकि वे जानते हैं कि सम्प्रदायवादी पुस्तकें और उनके बनाने वाले सब नवीनतम हैं और आधुनिक काल में पैदा हुए हैं।

सृष्टि के आदि में वेद का प्रादुर्भाव:—

यहां यह कहना भी उचित होगा कि जैसे सृष्टि के प्रकाशनार्थ सूर्य (ईश्वरीय प्रकाश) सदैव प्रत्येक सृष्टि के आदि में उत्पन्न होता है, बीच में नहीं। ठीक इसी प्रकार सृष्टिस्थित जनों के ज्ञानार्थ ईश्वरीय ज्ञानरूपी पुस्तक भी सृष्टि के आदि में ही उतरती है मध्य में नहीं। अतः मध्य में उतरने वाली कुरान, इंजिल, तोरैत, जबूर तथा नास्तिक की पुस्तकें, ईश्वरीय ज्ञान या ईश्वरीय पुस्तकें नहीं हो सकतीं। हाँ, वेदों के अनुकूल यदि उनमें कोई बातें होंगी, वे बातें अवश्य मानी जा सकती हैं, अन्यथा नहीं।

ओ३म् प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थम्। ऋ० १।४०।५

वेदज्ञ पुरुष प्रशंसनीय वाणी मन्त्र का अच्छी प्रकार प्रवचन करें।

सत्यार्थप्रकाश की लोकप्रियता

श्री मोतीलाल आर्य, सि० शास्त्री, नैनीताल

सत्यार्थप्रकाश १९ वीं शताब्दी का महान् ग्रन्थ है। इसमें तत्कालीन महान् सुधारक ऋषि दयानन्द सरस्वती के विचारों का सर्वोत्तम संकलन है। यह ग्रन्थ मानव जीवन के सर्वाङ्गीण विकास के प्रत्येक स्थल पर प्रकाशस्तम्भ बन ज्योतिः प्रसरण करता है। अज्ञान-अविद्या के तिमिर को हटाने के लिए यह अद्‌भुत प्रकाश है। आज देश में सच्ची सुख-शान्ति तभी प्राप्त हो सकती है जब जनसमूह में इसका अधिकाधिक प्रचार हो। जिस किसी ने भी इस ज्ञानमय सागर में गोता लगाया, उसने अनमोल रत्न पाया। जिसके भी हाथ सत्यार्थप्रकाश एक बार लगा उसने अपार लाभ उठाया, चाहे उसने किसी भी भावना से पृष्ठ क्यों न उलटे हों। जीवन की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिये इस पुस्तक का पठन अत्यावश्यक है। इसकी अमरज्योति सदैव धरा पर फैलती रहेगी। प्रत्येक का कर्त्तव्य है कि जितना भी हो सके इस ग्रन्थ का अवलोकन अवश्य करे।

अब तक के प्रकाशन ही इसकी लोकप्रियता के परिचायक हैं। भिन्न-भिन्न भाषाओं में इसके अनुवाद हुए हैं, हो रहे हैं, फिर भी जनता की भारी संख्या ऐसी है जहाँ तक सत्यार्थप्रकाश के पहुंचने की अत्यावश्यकता है। यहाँ विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश की तालिका अंकित की जाती है।

मूल सत्यार्थप्रकाश आर्यभाषा (हिन्दी) में

क्र० सं०	भाषा	संस्करण	सन्	प्रतियां	प्रकाशक
	हिन्दी	१	१८७५	१०००	वैदिक यंत्रालय अजमेर
	,,	२	१८८४	२०००	,,
	,,	३	१८८७	३०००	,,
	,,	४	१८९२	५०००	,,

भाषा	संस्करण	सन्	प्रतियां	प्रकाशक
हिन्दी	५	१८९७	५०००	वैदिक यंत्रालय अजमेर
"	६	१९०२	५०००	"
"	७	१९०५	५०००	"
"	८	१९०८	५०००	"
"	९	१९०९	६०००	"
"	१०	१९११	६०००	"
"	११	१९१३	६०००	"
"	१२	१९१४	६०००	"
"	१३	१९१६	४०००	"
"	१४	१९१७	६०००	"
"	१५	१९२२	५०००	"
"	१६	१९२४	५०००	"
"	१७	१९२४	१००००	"
"	१८	१९२५	५०००	"
"	१९	१९२६	१५०००	"
"	२०	१९२६	२००००	"
"	२१	१९२७	२००००	"
"	२२	१९२८	२५०००	"
"	२३	१९३३	२००००	"
"	२४	१९३४	२००००	"
"	२५	१९३५	२००००	"
"	२६	१९४३	२००००	"
"	२७	१९४४	६०००	"
"	२८	—	२००००	"
"	२९	—	२५०००	"
"	३०	—	१००००	"
"	३१	—	१५०००	योग=३२६००० प्रतियां
"	१	१९३३	२५०००	आर्यसाहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर
"	२	१९३५	२००००	"
"	३	१९३९	२१०००	"

,,	४	१९४२	२१०००	,,
,,	५	१९५०	१००००	,,
,,	६	१९५८	प्रेस में	योग=६७००० प्रतियां
,,	१	१९२४	६०००	श्री गोविन्दराम हासानन्द वैदिक पुस्तकालय, देहली
,,	२	१९३२	५०००	,,
,,	३	१९३४	२०००	,,
,,	४	१९३६	२०००	,,
,,	५	१९३७	२०००	,,
,,	६	१९३९	२०००	,,
,,	७	१९४१	२०००	,,
			योग २१०००	
,,	१	१९३६	१०००५	सार्वदेशिक आ० प्र० स० दिल्ली
	२	—	—	,,
स्थूलाक्षर	१	—	१०००	श्री स्वामी वेदानन्द जी महाराज
,,	२	१९५९	—	प्रेस में श्री आचार्य, गुरुकुल झज्जर, रोहतक
पद्यानुवाद	४	—	८०००	स्वा० इष्टानन्द सरस्वती लखनऊ

सम्पूर्ण योग= ४६३००५ प्रतियां

क्र० सं०	भाषा	संस्करण	सन्	प्रतियां	प्रकाशक
			संस्कृत अनुवाद		
२.	संस्कृत	१	१९२५	३०००	अनु० पं० शंकरदेव पाठक, सा० आ० प्र० सभा से प्रकाशित।
			उर्दू अनुवाद		
३.	उर्दू	१	१८९९	७०००	स्व० श्री चमूपति जी, एम० ए० (आर्य प्र० सभा पंजाब द्वारा)
	,,	२	१९०१	५०००	,,
	,,	३	१९०८	५०००	,,
	,,	४	—	१००००	,, (मास्टर लक्ष्मण जी द्वारा)
	,,	५	१९२३	५०००	,, (महाशय राजपाल)
	,,	६	१९२५	५०००	,, ,,
	,,	७	१९२७	५०००	,, ,,

	,,	८	१९२८	५०००	,, ,,
	,,	९	१९२९	१००००	,, ,,
	,,	१०	१९३०	१००००	,, ,,
	,,	११	१९३९	२०००	,, (आर्य प्र० सभा पंजाब द्वारा)
	,,	१२	१९४३	५०००	,, ,,
	,,	१	१९४३	५०००	,, (आर्य प्रादेशिक सभा पंजाब)
	,,	२	१९४४	५०००	,, ,,
	,,	—	—	२५०००	ला० जीवनदास पेन्शनर, बा० नौनिहाल जी, श्री लाजपतराय साहनी तथा महता राधाकृष्ण जी के उर्दू अनुवाद हैं।
	,,		सम्पूर्ण योग=	१०९०००	

अंग्रेजी अनुवाद

४.	अंग्रेजी	१	१९०६	३०००	श्री डा० चिरंजीव जी भारद्वाज
	,,	२	१९१५	५०००	द्वारा अनुवादित (प्रकाशक आ० प्र० सभा युक्त प्रान्त)
	,,	३	१९२०	२०००	डा० सत्यकाम भारद्वाज
	,,	१	१९४८	१०००	अ० पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय, कला प्रेस प्रयाग।
	,,	२	१९५६	१०००	अ० पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय, कला प्रेस प्रयाग।
	,,	१	१९३२	२०००	आर्य समाज, मद्रास
	,,	१	१९०८	१८००	अनु० मास्टर दुर्गाप्रसाद लाहौर
			सर्वयोग=	१५८००	बिरजानन्द प्रेस लाहौर

बंगला अनुवाद

५	बंगला	१	१९०१-२	२०००	अजमेर निवासी एक बंगाली सज्जन (वैदिक यंत्रालय, अजमेर)
	,,	२	१९११	१०००	पं० शंकरनाथ प्र० आर्य समाज (भरतसिंह प्रेस कलकत्ता)
	,,	३	१९२६	३०००	आर्यसमाज कलकत्ता (श्रीधर प्रेस)
	,,	४	१९३४	१५००	श्री दीनबन्धु वेदशास्त्री (गोविन्दराम हासानन्द)
			योग=	७५००	

मराठी अनुवाद

६.	मराठी	१	१९०४	२०००	पं० दामोदर जी सातवलेकर (आर्यसमाज कोल्हापुर)
	,,	२	१९२५	२०००	पं० दामोदर जी सातवलेकर (आर्यसमाज कोल्हापुर)
	,,	३	१९३३	५०००	पं० दामोदर जी सातवलेकर (आर्यसमाज कोल्हापुर)
	,,	४	१९३७	७६००	पं० दामोदर जी सातवलेकर (आर्यसमाज कोल्हापुर)
				योग=१६६००	

सिन्धी अनुवाद

७.	सिन्धी	१	१९१२	२०००	अनु० श्री जीवनलाल जी आर्य (गोविन्दराम हासानन्द)
	,,	२	१९३७	३०००	सिंध आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा।
				योग=५०००	

गुजराती अनुवाद

८.	गुजराती	१			अनु० पं मायाशंकर शर्मा
	,,	२			,,
	,,	३	१९२६	५०००	,,
	,,	४	१९२७	१०००	,,
	,,	५	१९२८	५००	,,
	,,	६	१९३७	२०००	,,
	,,	७	१९३८	१०००	,,
				योग=९५००	

कर्णाटक अनुवाद

९.	कर्णाटक	१	१९३९	२०००	पं० भास्कर पंत सुब्रनरसिंह शास्त्री (आर्यसमाज बंगलोर-सिटी)

मलयालम अनुवाद

१०.	मलयालम	१	१९३३	२०००	(आर्यसमाज कालीकट द्वारा प्रकाशित)

तामिल अनुवाद

११.	तामिल	१	१९२७	२०००	श्री जम्बूनाथ मद्रास
	,,	२	१९२७	२०००	आर्यसमाज मद्रास

तिलगु अनुवाद

१२.	तिलगु	१		२०००	पं० शोभनाभ रान जी अनुवादित
	,,	२		२०००	,,

उड़िया अनुवाद

१३.	उड़िया	१	१९२७	२०००	—
	,,	२	१९३७	२०००	—

गुरुमुखी अनुवाद

१४.	गुरुमुखी	१		२०००	आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब
	,,	२	१९१२	२६००	,,

फ्रेंच अनुवाद

१५.	फ्रेंच	१	१९३८	२०००	डा० सत्यकेतु विद्यालंकार की देख-रेख में आर्य प्र० सभा पंजाब द्वारा प्रकाशित।

जर्मन अनुवाद

१३.	जर्मन	१	१९४०	२०००	डा० दौलतराम रामदेव द्वारा

चीनी अनुवाद

१७.	चीनी	१	१९५८	२०००	पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय की देख-रेख में हांगकांग से प्रकाशित

बर्मी अनुवाद

१८.	बर्मी	१	—	प्रेस में (रंगून)	पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय की देख-रेख में।

सम्पूर्ण महायोग=६७१९०५ प्रतियों के प्रमाण प्रस्तुत हैं।

विदेशी भाषाओं में अनुवाद के लिये श्री गंगाप्रसाद जी उपाध्याय का प्रयास जारी है। इनकी ही प्रेरणा से चीनी, बर्मी भाषा में अनुवाद अभी हुए हैं। आशा है भविष्य में इसके प्रचार में हम सबका सहयोग निरन्तर जारी रहेगा, ताकि देश-विदेश की सभी भाषाओं में इसके अनुवाद हो सकें।

"तत्त्वपञ्चदर्शी"

शरीरेतरौ जीवपरमात्मानौ

श्री हरिदत्त शास्त्री, पी-एच० डी०

श्रृणु वचो मम मित्र ! सुधोपमं ननु तनुर्विषयानुभवं विना ।
विफलतामयते, न च सा स्थिरा, वितनुतेऽत्र कुधीरवधीरणाम् ॥१॥

स्फुरति कायमृते क्व नु चेतना ? तनुगताऽनुमता सकलैश्च सा ।
तदितरः कथय क्व स चेतनो ? दृढतरानुपलब्धि हतो ह्यसौ ॥२॥

सुखमपित्यज दुःखसमन्वयादिति वदन्त्यबुधाः परवञ्चकाः ।
कृतिशतेन विनाऽशनमाप्यते क्व ? तदपास्य न कोऽपि हि जीवति ॥३॥

उदरपूर्तिकृते परिधाव्य यस्तदितरत्सुखजातमुपेक्षते ।
अलसतामथवा मतिमन्दतां स नियतं प्रकटीकुरुते नरः ॥४॥

अनुपजीव्य नहीन्द्रियजां मतिं किमपि मानमुदेति तदात्मनः ।
जनकमेव विबाधितुमुद्यतं भवति विश्वसनीयमहो कथम् ? ॥५॥

यदि च वैषयिके सकले सुखे किमपि पश्यसि दुःखमवर्जितम् ।
सुखतयैव तदात्मसुखेऽपि न व्यभिचरेन्नियमो न बिलंघ्यते ॥६॥

अपि विचारय मूढ शिरोमणे ! न तनुमात्रमुपाश्रयते चितिः ।
अपितु सर्वगतैव विभाव्यते विवदते परमत्र तु बालिशः ॥७॥

यदि चिति नंतनो बंहिरिष्यते, कथय, बाह्यमसंस्पृशती कथम् ।
विषयवृन्दमियं प्रतिभासयेत् सकलमेव कुतो न विभासते ? ॥८॥

अथ पृथक् पृथगिच्छसि चेतनान् तनुगतावयवान् सकलान्न तत् ।
निजनिजेष्टकृते व्रजतो दिशः क इह तान् कलहाद्विनिवर्तयेत् ॥९॥

तदवगच्छ शरीरमचेतनं तदनुकूलविरुद्धसमागमात् ।
तदितरः सुखदु;खयुतो भवेत् स पुरुषोऽभिमतः स च चेतनः ॥१०॥

तनुलयानुविनाशिनि चेतने नहि यशोऽनुभवः श्रमकारिणः ।
किमु परस्य सुखैर्गुणकीर्तनैरितिभवेदफलैव यशोऽर्थिता ॥११॥

तदिदमस्त विवादमुपेयतामनुमितिः प्रमितिष्वधिंकाद्दता ।
अपि च देहलयेऽपि चितिस्थितिर्न च सुखस्य तनूपरतन्त्रता ॥१२॥

रहसि दुष्कृतमाचरितं परैः स्पशमुखादवधार्य यथा नृपः ।
दिशति दण्डमियं परमेश्वरेऽप्यनुमितिर्निरुपद्रवमिष्यताम् ॥१३॥

अयि स कः ? क्व वसत्यथ कीदृशः ? किमपि वा समये स ? इतीरिते ।
स सकलानुभवो भुवनेऽखिले सुखं तनुश्च सदेत्यलमुत्तरम् ॥१४॥

प्रतिनरं यदि सातिशयामतिजगतिशक्तिरपीत्थमवेक्ष्यते ।
नियमतोऽवधिरस्त्यनयो क्वचित्तदवधेः सदनं परमेश्वरः ॥१५॥
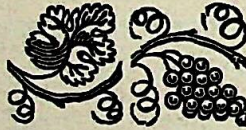
पापोत्पत्तेः कारणमज्ञानम्

प्रो० अनन्त शास्त्री फड़के संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

पापशब्दस्य निर्वचनम् 'पान्त्यस्मादात्मानम्', 'पा रक्षणे' पानीविषिभ्यः पः (उ० ३।२३) इत्यपादाने प्रत्ययेन कृतं दृश्यते। यस्य दोषस्य वर्जनेन लोका आत्मानं रक्षन्ति, यस्य करणेन पतन्ति तत्पामिति फलितम्। निरुक्तमप्यमुमर्थं समर्थयति "पापः पाताऽपेयानां पापत्यमानोऽवाङेव पततीति वा पापत्यतेर्वास्यात् (नि० ५।२) श्री दुर्गाचार्य इत्थं व्याख्याति—'अपेयानि अलेह्यानि यानि तान्यसौ पिबति, विषय प्रसक्त इत्यर्थः। पापत्यमानः पुनः पुनः पात्यमानः तेनैव पापेन कर्मणा, अवाङेव नरकमेव प्रति पतति असौ, तस्माद्वा पापः, इति। याज्ञवल्क्यस्मृतावपि तथैव प्रायः पापकारणान्युपलक्ष्यन्ते—

विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात्।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति ॥ या० स्मृ० ३।२१९

ऋग्वेदे त्वेकस्मिन्मन्त्रे देवानतिथिं मित्रवर्गं चासमर्प्य स्वेन केवलमेकेन विषयसेवनं पापोत्पत्तेः कारणमिति सूचितम्—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥१०।११७।६

तत्र श्री सायणाचार्यः 'अप्रचेता अप्रकृष्टज्ञानो दाने चेतो यस्य न भवति स मोघं व्यर्थमेवान्नं विन्दते लभते। ·· इदं सत्यं यथार्थमेवेति ब्रवीमि···न केवलं व्यर्थं किंतु तस्य पुरुषस्य स वध इत् वध एव। यः पुरुषः, अर्यमणम्-उपलक्षणमिदं-सर्वान् देवान् अर्यमादीन् न पुष्यति हविः प्रदानेन न पोषयति, नो नापि सखायं समानख्यानमभ्यागतमतिथिं मित्रवर्गं च न पोषयति। ···· अत एव केवलादी··· ····· केवलमसाक्षिकमन्नं भुञ्जानः स केवलाघो भवति केवलपापवान् भवति इति व्याख्यातवान्। अस्य मन्त्रस्य तात्पर्यं याज्ञवल्क्येन विहितस्याननुष्ठानादित्यनेन स्पष्टीकृतं यतः अतिथये मित्रवर्गाय देवेभ्यश्चान्नसमर्पणं विहितमस्ति। परन्तु विहितस्याकारणं निन्दितस्य सेवनादिकं कस्माद्भवतीति विचारे क्रियमाणे जगतो यथार्थज्ञानाभाव एव कारणमिति प्रतिभाति। यदि ब्रह्माण्डे विद्यमानस्य जीवतत्त्वस्य, जडतत्त्वस्य, देवतातत्त्वस्य, यथार्थं ज्ञानं भवेत्सर्वत्र स्वात्मसत्ताया;

स्थितिर्यत्किञ्चिदंशेनानुभूता भवेत्तदा प्रायो मानवः प्रतिजीवं प्रतिवृक्षादिकं च स्वात्मतुल्यसुख-दुःखादिकमनुभवन्न कदाचिद्विहितस्य त्यागं निन्दितस्य सेवनं समाचरेत्। प्राय इन्द्रियाणां स्वभाव एव बहिर्मुखत्वं नाम। तानि यदि संयमयति मनुजस्तदा तानि सत्ये पथि विद्यमानानीन्द्रियाणि पुरुषाय सुखमेव ददति न दुःखम्। न पुरुषं सत्यमार्गाच्च्यावयन्ति। अतो यावत्पर्यन्तं वास्तविकं ज्ञानं मनुष्यो न संपादयति तावत्स्वात्मानमधः पापाद्रक्षितुं न प्रभुर्भवति।

वैदिके वाङ्मये प्रायः सर्वत्र वरुणो देव एव पापद्रष्टा, पापान्निवर्तक इत्यादि वरुणदेवताक-मन्त्रपठनेन ज्ञायते। तस्य स्पशाश्चराः पृथिव्यां सर्वत्र परिभ्रमन्ति पश्यन्ति च के मानवा वरुण-कर्तृकान् नियमानुल्लङ्घ्य यथेष्टं समाचरन्तीत्यपि श्रूयते। तस्य वरुणदेवस्य प्रार्थनागते मन्त्रे अज्ञानमेव पापस्य मुख्यं कारणमिति श्रूयते, तथाहि—

न सः स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः।
अस्ति ज्यायान्कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता॥ ऋ० ८६।२४।६

अस्य मन्त्रस्य सुखबोधार्थं श्रीसायणभाष्यं प्रदर्शयन्ति वास्तविकं कारणक्रमं पापस्य प्रदर्शयामि। 'हे वरुण स स्वो दक्षः पुरुषस्य स्वरूपवद्बलं पापप्रवृत्तौ कारणं न भवति। किं तर्हि ध्रुतिः स्थिरा उत्पत्तिसमय एव निर्मिता दैवगतिः कारणम्।······सा च ध्रुतिः वक्ष्यमाणस्वरूपा। सुराप्रमाद-कारिणी। मन्युः क्रोधश्च गुर्वादिविषयः सन् अनर्थहेतुः। विभीदकः द्यूतसाधनोऽक्षः। स च द्यूतेषु पुरुषं प्रेरयन्ननर्थहेतुर्भवति। अचित्तिः अज्ञानमविवेककारणम्। ईदृशी दैवक्लृप्तिरेवपुरुषस्य पाप-प्रवृत्तौ कारणम्। अपिच कनीयसः अल्पस्य हीनस्य पुरुषस्य पापप्रवृत्तौ उपारे उपागते समीपे नियन्तृत्वेन स्थितः ज्यायान् अधिकः ईश्वरोऽस्ति। स एव तं पापे प्रवर्तयति। तथा चाम्नातम्। एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषति। एवं च सति स्वप्नश्च न स्वप्नोऽपि अनृतस्य पापस्य प्रयोता प्रकर्षेण मिश्रयिता भवति। ···स्वप्ने कृतैरपि कर्मभिर्बहूनि पापानि जायन्ते किमु वक्तव्यं जाग्रतिकृतैः कर्मभिः पापान्युत्पद्यन्त इति। अतो ममापराधो दैवागत इति हे वरुण त्वया क्षन्तव्य इतिभावः'। अत्र मन्त्रे पापस्य कारणानि (१) दैवगतिः (२) सुरा (३) मन्युः (४) विभीदकः (५) अज्ञानं (६) हीनस्याल्पवयस्कस्य समीपे स्थितो महान् सवसः स्वनियन्तृत्वमनाचरन्पापप्रयोजकः (७) स्वप्नश्च पापप्रयोजकसंस्काराज्जातोऽधिकान् संस्कारानुत्पाद्य पापप्रयोजको भवतीति सप्त का-रणानि मन्त्रे प्रदर्शितानि। तत्र श्रीसायणाचार्येण दैवगतिर्मुख्यंकारणमितिस्वीकृतं, तया दैवगत्या पूर्वजन्मकृतकर्मोत्पन्नया सुरापानादिकं मनुष्यः करोतीति व्याख्यातम्। परंतु वर्तमानजन्मनि यदज्ञानं जायते तदपि दैवगत्या भवतीति कथनं न सम्यक् प्रतिभाति, अतः केवलमत्र 'पाठक्रमादर्थक्रमोबलवान्' इति मीमांसकमतमवलम्ब्येत्थं क्रमः स्वीकर्तुं शक्यते। प्रथमतः अज्ञानं ततो यत्किमपि वस्तु, अज्ञानेनैव मनुष्यो द्यूतं समाचरति, मद्यं वा पिबति, क्रुध्यति, यदि स्वात्मसत्तायाः सर्वत्रानुभवं कुर्यात्तदा स्वात्म-सुखदुःखसमानं परात्मनि दुःखमनुभवन्मद्यपानद्यूतक्रीडनादिदोषान् त्यजन् सर्वथा सर्वानुकूलमेवाचरे-दिति निश्चितमतः पापस्य मुख्यं कारणमज्ञानं तन्नाशोपायश्च ज्ञानमिति वेदः समुपदिशतीत्यतो मान-वानामिदं प्रधानं कर्त्तव्यं यत्तौज्ञनप्राप्त्यर्थं सर्वथा प्रयतनीयमित्यलम्।

THE ARYA SAMAJ

Its genesis

L. Devi Chand M. A. Hoshiarpur

The Arya Samaj is a movement founded by Maharshi Dayanand, the greatest seer of the 19th. century. It aims at the revival of Vedic lore and civilization. The Hindu Society had fallen a prey to superstitions, anti-Vedic rites and customs. Doctrines directly opposed to the lofty teachings of the Vedas and the Shastras had crept in, and taken the place of spiritual truths. Hindustan had lost it's solidarity, cohesion and purity. Pauranic beliefs, idol worship, nature worship and illogical and irrational ideas were the order of the day. Polytheism had uprooted Monotheism. Socially, religiously, numerically, politically, economically, morally and spiritually, the Hindus were treading a downward path. It was at this juncture that Dayanand the Great appeared on the scene. He came with a message and left no stone unturned to elevate, purify, renovate, rejuvenate and revive Hindusism. He aimed at the restoration of the pristine glory of Hinduism. His message, no doubt, was meant for the world, but it had a special reference to and conection with Hinduism, for it was through the revival of Hinduism that the Vedic message of Rishi Dayanand was to be propagated throughout the world. The Maharshi founded the Arya Samaj to carry the message of the Vedas even to the remotest corners of the world. The ten principles of the Arya Samaj clearly lay down the catholic and universal nature of its mission.

Its Doctrines

The doctrines of the Arya Samaj are not the creation of the brain of Rishi Dayanand. He did not aim at starting a new sect to preach his own ideas. His ideas were derived from and based on the Vedas. He deeply studied and pondered over the teachings of the Vedas and set them down in his monumental work—The Satyarth-Prakash.

The Arya Samaj is not a new religion. It preaches the doctrines of the Vedas

revealed to mankind by God in the beginning of the universe. It attempts at rehabilitating and reviving the Vedic truths which mankind had forgotten through ignorance and advent of Pauranic literature, which blurred our vision and sent the Vedic culture into the background. The Arya Samaj has dug out the Vedas down from the debris of the Puranas, and installed them on the high pedestal of immortality and infallibility they deserve.

The Arya Samaj teaches the unity and oneness of God, the Brotherhood of God. The conception of the Godhead given in the Vedas is the loftiest ever preached to mankind. It is this conception which the Arya Samaj is putting before the world. It does not believe in idol-worship, reincarnation of God, Shradhas, i.e., satisfaction of the departed souls by offerings in their name. It believes in the transmigration of souls and the beginninglessness and endlessness of God, souls and matter. It believes in the return of the soul from Mukti, a state of beatitude and immense happiness for a long period. It does not believe in caste-system based on birth. Actions, attributes and merits alone determine one's caste, which is not a rigid, inflexible and unchangeable thing. Men go up and down in society according to their action, attributes and merits. It preaches equality of treatment to all, high or low. Untouchability, unapproachability and invisibility find no place in its Vedic teachings. It is a universal church. It extends its loving arms to the whole universe, and is ready to embrace a Mohammedan, a Christian, a Jew or a Parsi, in fact any soul that wants to come to its fold. It is not a non proselytizing movement. The Vedas aim at bringing the whole Humanity to the right path. Vedic culture belongs to and is for all. It is absolutely free from the least tinge of partiality or hatred towards anyone. The Vedas are the joint property of Humanity. They are meant for amelioration of the world morally, spirituallay, socialy and economically. The Arya Samaj is nothin: but a movement to preach to the world the lofty, pure, spiritual and life-infusing doctrines of the Vedas. In fact the Arya Samaj has no doctrines of its own, the doctrines of the Vedas are its doctrines.

Arya Samaj and Education

To dispel ignorance and disseminate knowledge is one of the ten p inciples of the Arya Samaj. It was in pursuance of this principle that the Arya Samaj undertook to establish educational institutions. The first grade D. A. V. College at Lahore and Jullundur are the result of the self-sacrifice, long penance, patience, tact, indefatigable labour and financing capacity of their honorary principals, Mahatma. Hans Raj and Pt. Mehr Chand. None else could succeed in weathering the storm of opposition and vilification and undoing the practice of underhand and nefarious methods. The names of Pt. Mehar Chand and Mahatma Hans Raj and Swami Shraadhanand will go down in the history of the Arya Samaj as great educationists of indomitable will and strength of character. At present, in the whole of India, there are 2000 Aryan institutions, including 20 colleges and various Gurukulas, which impart instruction to about

two lakhs of students with more than 10000 instructors. The Arya Samaj spends 50 lakhs annually on its institutions, and has sunk five crores on their buildings and equipment. This is a record, which the Arya Samaj can duly be proud of.

Critics, however, there are, who are dissatisfied with the educational work of the Arya Samaj, They say that it has absorbed our best workers and taxed all our resources to the great detriment of the Veda-Prachar directely. These enthusiasts for Veda-Prachar, in their haste, denounce these schools and colleges, and sometimes want to demolish them, or at least put a stop to further expansion in this direction. These protagonists of Veda-Prachar ignore the fact that in its earlier stages, no religion can take root by direct preaching alone. Direct and indirect preaching should continue *pari-passu.* That these institutions have done a yeoman service in the spread of the Arya Samaj indirectely, is an undeniable fact. Some of the foremost and selfless workers of the Arya Samaj have come out of these educational institutions, but for which, they would have been lost to the Samaj.

Who says that Veda-Prachar funds should not be strenghtened ? But to preach against these institutions, the creation of half a century's labours of the best brains of the Arya Samaj, is a sheer act of folly and ingratitude. We should catch contagion from the example set by Bawa Gurmukh Singh Ji who had donated a lakh of rupees for the Veda-Prachar.

The Arya Samaj and conversion.

Vedic religion is meant for all. It is universal in its teachings. The Arya Samaj opens the doors of the Vedic Dharma to all non-Hindus, to whatsoever religion they may belong. For centuries Hindus have been the victims of religious fanaticism, fervour and proselytization by Muslim and Christian preachers. We have lost immensely in numbers during the last 50 years. The Hindus have been reduced to 68% in 1951 from 74% of the population of India in 1881. If this decimation in numbers were to continue the result would be the total extintion of the Hindus. It was to put a check this to evergrowing decrease in the numbers of Hindus, that Swami Shraddhanand and Mahatma Hans Raj launehed the Shuddhi campaign. It was a defensive move. It prevented the Hindus from going over to alien faiths, and converted to Hinduism, those who were willing to come back to their ancestral faith. In matters of conversion, the Arya Samaj uses no force, holds out no baits of material aggrandisement, offers no monetary temptations, and adopts no nefarious or underhand methods. It appeals to the mind and brain, simply holds out a message of love, and embraces as brethren all those who are willing to come back to the fold of Hinduism. The Shuddhi campaign, started by swami Ji, did not last long. It did a useful work, but alas, for certain reasons, the movement failed to have a permanent footing. Sporadic attempts by similiar Hindu institutions continued to be made in this direction with little success.

In 1934, when the case of Shanti Devi versus Ismail tailor was going on, I was persuaded by my friend, Bawa Gurumukh Singh of Amritsar, to start a movement under ths name of Dayanand Salvation Mission. It aims at the rescue of abductcd Hihdu girls and woman and the conversion of non-Hindus to Hinduism. It has succeeded in rescuing nearly 2000 cases, and converting more than a lakh of non-Hindus to Hinduism and has spent more than five lakhs. It is an unostentatious and silent move for the consolidation of the Hindus and deserves full support at the hands of all lovers of Hinduism. The Mission has to oppose the Christians in converting the Aborigines like Gonds in C. P., Mundas, Uraons, Bhils and Santhals in other provinces. It is a pity, that the provincial Governments encourage the missionaries in excluded areas and lend them all financial help whereby they convert them to Christianity.

The Arya Samaj and Gurudom.

The Arya Samaj is a democratic church. It is out to abolish dictatorship and Gurudom in the church. Gurudom may succced for a time but with the advance of intellectual foresight of the people, Gurudom is bound to be doomed. Swami Dayanand, on various occasions in his life time illustrated the importance of democracy, by minutely observing the constitution of the church as framed by him. The rich and the poor, the great and the small, the intellectual giants and pigmies, are equal in the Vedic church in so far as its government goes. All the members of the Samaj possess an equal right of franchise. The members are bound to obey the office-bearers and maintain the discipline of the church We can make or unmake a president or a secretary, but as long as one holds the office, we must respect his behests and carry on the administration with the fullest co-operation. No doubt, in the words of John Stuart Mill "Democracy is the best as well as the worst form of Government". If the "Sabhasads", who constitute the electorate, are illiterate, ignorant, weak, pusillanimous, liable to be influenced and wanting in strength of charactor, the Arya Samaj as a church will fail, but if the Sabhasads are strong in mind and intelligent, our church will present an ideal Government, aimed at by the Rishi, with a centripetal force that will carry it through its mission.

The Arya Samaj and the Untouchables

The Arya Samaj had done and is doing a lot for the uplift of the Harijans. The services of Mahatma Hans Raj, Swami Shraddhanand, Pt. Rambhaj Dutt, Lala Ganga Ram of Sialkot and principal Ram Dass of Hoshiarpur are too well known to be repeated. The Samaj has spent lakhs of rupees on educating and uplifting them, has established dozens of schools purely for the education of the Harijans, and ls giving annual stipends to the Harijan boys for industrial and secular training. Hundreds of Harijan boys are getting free education in Samajic schools, to whom books are supplied free in many cases.

Their social disabilities have been removed to some extent. The condition of the Harijans in the Punjab is better than that in other provinces; and credit for this goes to the Arya Samaj. Here there is no unapproachability or invisibility we hear of in Madras.

I believe that still much remains to be done for them. The Harijan problem has now assumed a political aspect. With the grant of National Government their disabilities have been removed. There is still a big field of work for the Dayanand Dalit Uddhar Mandal, Hoshiarpur and allied bodies. Let the untouchables have faith in the bonafides of the Arya Samaj, and fall not a prey to the wiles, machinations and baits of the Muslims and the Christians.

Its Greatest Needs

The greatest needs of the Arya Samaj at this time are four : (1) Foreign Mission, (2) Village Prachar, (3) Translation of the Vedas into English and other languages, (4) Defence of the Satyrath-Prakash.

Foreign Mission work cannot be carried on without funds. This question will have to be tackled sooner or latter.

Village preaching is the need of the hour. If the Arya Samaj wants to live as a church, it must take its message to the teeming millions and vast mass of humanity inhabiting the villages. The Pratinidhi Sabhas should pay special attention to it.

The Translation of the Vedas into English and other languages of the world is a desideratum for the success of the foreign mission. I is a matter of regret that the Sarvadeshik Sabha and other Pratinidhi Sabhas have not taken up the question in hand. The Bible has been translated into almost every language of the World worth the name. The Quran has been translated into English by Maulana Mohd. Ali, M. A., of the Ahmedia Party of Lahore, but the Arya Samaj has turned a deaf ear to this great need. It is high time for us to realise the gravity of the situation and be given in right earnest the gigantic task of the transtation of the Vedas into English.

Its Future

It is difficult to say what the future of the Samaj will be. Will it be able to leaven Hinduism and reform it, or will it sink to the jingo of oblivion, as has been the fate of many a sect to which Hinduism gave birth ? I do not posses prophetic vision. I am not a pessimist. I am an optimist to the core of my heart. To me, the future of the Arya Samaj looks bright. The advance, it has made in numbers, from ten lakhs in 1931 to one crore in 1951, in education, political strength, social reconstruction and widening the outlook of life is unparalleled in the religious history of the world. The dynamic force of rationalism breathed into it by Swami Dayanand, the spirit of self-abnegation, self-sacrifice and philanthrophy examplified by the Maharshi and taken up by the votaries of the Arya Samaj, are still fresh. The Samaj has passed through a

strenuous life of struggle for over seven decades, the marvellous success of the golden Jubilee of the Arya Pradeshik Pratinidhi Sabha, Lahore and the laudable relief work done by this Sabha in Bengal during famine days, the work done by the Samaj in Kangra earthquake in 1905, are sufficient to open the eyes of the greatest detractors of the Arya Samaj and convince them of its potentiality and future. The latent force of the infallibility of Vedic truths, the loftiness of its teachings, the democraitc nature of its construction, its catholicity, the selfless lives of its leaders, its economy coupled with the safety of public funds, its universal appeal, its determination and stead-fastness of purpose and its sentiments of brotherhood and equality, are facts which convince me that the Arya Samaj is bound to play an important part in revolutionizing the religious thoughts of the world. May the Almighty Father grant strength to the members of the Arya Samaj to realise their heavy responsibility of Aryanizing the world.

The Value of Indian Philosophy in a Modern State

(By Shri C. Rajagopalachari)

ANTI-RELIGION—A SUICIDAL PROGRAMME.

The prosperity that undoubtedly resulted in Europe from the economy of private enterprise and competition necessarily carried with it in equality of distribution. The very power of that economy was derived from difference as power is derived from a fall of water. Some people had to live in squalor, may be in the same country or may be elsewhere the latter was easier whereever it was possible in order that prosperity might be built up at a visible point. But how squalor is considered disgraceful, whether it be among certain sections of people in the same country or elsewhere, and it is considered criminal to be found building up one's wealth on other people's poverty. It is now the accepted doctrine of economic conduct that wealth should be produced without producing unhappiness elsewhere. Inequality or unhappiness is no longer considered as inevitable or tolerable. Economic competion, obvious or concealed, is now considered to be only another edition of the law of the jungle. It is not considered decent to leave the devil to take the hindmost. It is no longer considered right to look upon individual effort and individual life as a private and sacred enclosure into which no trespass is to be allowed. In the interest of society as a whole these trespassses into private affairs are now deemed not only permissible but obligatory,

Unfortunately, however, those who happened by the accidents of history to lead movements for the demolition of old economic ideas and for the establishment of the all prevailing dominance of the public weal and for the re-organisation of society on a non-competitive economy, were tempted by an immediate strategic advantage. They saw that discontent must be produced in order to help a violent revolution and religion fostered contentment. They worked, therefore, for the demolition of religion, treating it as an opiate and as a part of the old economy, The protaganists of equality thus decolished or sought to decolish. Let us hope unsnccessfully—the spiritual basis for human conduct, the very thing required to make conduct unselfish and derected towards the public weal rather than to one's owh individual advantage. Religion acted as a consolation and helped men women to bear misfortunes; it helped men particularly to tolerate inequality: and since inequalities must go, they said we must remove everything that helps men to bear with it. They, therefore, concluded that religion must go, if not by other subtle pressures.

Thus what could support the new economy of unselfishness, indeed what alone could support and furnish power to the new idea of unselfish production of wealth, it was decided to destroy. This was suicidal and an unnecessary addition to the programme of economic revolution, and though for the moment its advers effect was concealed by the prevailing spiritual power of a revolutionary upheaval, the substitute could not last for all time. It was not the intention, nor was it possible for men and women to live for ever in a state of war and on the emotional ecstasy of antagonism. So, the new economy of production of wealth had in course of time to be supported by all sorts of make-shift compromises to give some sense of personal advantage. What obviously supported the old economy of work, viz., the profit-motive, came to be re-permitted in concealed ways. The law of selfishness can not altogether be substituted by force not can unselfishness be maintained by the mere vigilance of the State. The supervising power has a tendency to deteriorate and get less and lesspowerful, and compromises by way of concealed personal advantage have to be provided in place of the old frank acceptance of the rule of personal profit, But these make shifts can not serve the purpose so well immediately, or be self-sustaining for long-term purposes.

NOT AN OPIATE BUT A DRIVING FORCE AND REGULATOR

The truth is that society, though the concept grammatically singular in number, is physically and psycologically plural in reality. It is not one living organism. It is made up of many individuals, who can never get rid of individuality and what flows from it. We may develop altruism by several means but we can never wholly do away with the individual. If this is accepted as correct, how then shall we keep the individual fully alive, in spirit and in action, and yet make individual activity truly subservient to the general interest. The claim I put forward is that the Gita code of eonduct which is organically connected with the philosophy of the Upnishads gives the answer. The secret lies in the substitution of the compulsion and vigilance of the State by a religion that develops an inner law more vigilant than the eyes of spies and more effective than the arm of external law.

THE POSITIVE DOCTRINE OF ALL WAYS LEADING TO THE ONE

Now I come to a feature of Hinduism that is unique among all the religions of the world, ancient and modern viz., it is specific and positive doctrine of catholicity. The Hindu tradition prescribes that it is not open to any Hindu whatever the name and mental image of the Supreme Being he may use for his own devotional exercises, to deny the Gods that other worship. He can praise the name and raise the image of his choice to the highest but he cannot deny the divinity or the trugh of the God of other denominations. This unshaken tradition of Hinduism makes it possible of rpious fervour to operate on conscience and spirit without disturbing the peace of community life, in a composite world. It makes Hindu religious thought as modern in suitability as it is ancient

in conception and development. This unique and all important aspect of Hinduism is emphasized in several important and off quoted verses in Chapters 4, 7 and 9 of the Gita. Forms of worship may differ, but all lead of God. In what soever way men approach God, the Gita emphatically lays down that God blesses them. Whatever the path that man may take in worship, it assures us they reach God. The Gita teaching of course referred to the unit of goal of all froms of worship that were prevalent at the time. But the doctrine is stated in such wide terme and so broadbased on essential principle as to be applicable to every variety of religion. When one contemplates how the Hindu seers so clearly and so long ago saw the truth that justifies this catholicity, one cannot but be lost in wonderment and reverent admiration. This what I may call, the brightest jewel in our inheritance is a teaching of the highest value for peace and progress and for the world's happiness and spiritual advancement.

SANYAS

All this may be accepted, but the sceptic may ask, 'What about renuneiatlon ? What about Karma ? How can Hinduism which preaches and Sanyas Fatalism be suitable for an age where in hard work and the due performance of civic duties are so essential ?' I Shall seek to deal with these queries, First let me state definitely that it is not the teaching of Vedanta that men should renounce activities and become anchorites. Vedanta demands renunciation but the renunciation is different from what is referred to in tha argument againest the suitability of Hinduism for the modern citizen. It is renunciation of false values; renunciation of attachment that the Vedanta wants in its votaires. What is preached in the Vedanta is enlightened and true evaluation of essentials and a spirit of detachment. And this is explained and reiterated in the Gita. quite as if this very query raised now had specifically been put to Shri Krishna. Buddhi and asanga are insisted on not sanyas. Indeed, the performance of task with detachment is the lesson that is dinned into the reader in every chapter of the Bhagwat Gita. It is not necessary to quote passages. There is no room what so ever for doubt on this diment to true social cooperation, viz; the desire for pleasure and pleasurable sensaitions. It is this desire that leads to error, anger, confusion of mind and pain and grief. The ideal citizen should perform his tasks and duties with detachment. His activities should be in the general interest, not for selfish gain. This is the great teaching of the Gita that has justly made it is famous in modern times as it is classic in the Vedantic tradition. Out of the Upnishad teaching and its doctrine of the ultimate reality, the modern citizen can derive a fearlessness of spirit which added to the detachment and rigorous execution of duties preached by Gita, could make of every citizen a veritable giant in the service of society. The resolution and fearlessness that characterised MahatmaGandhi's long strenous and dedicated life were in spired by this phliosophy and this religion. This single illustration from recent history is perhaps more covnvincing than hours of argument.

KARMA

Comming to Karma, the doctrine that makes Hinduism what it is, it nothing but the great law of cause and effect in things spirtitual. You can not in the material or the phycholigical world get rid of the effects of what you do. And as the body Is not the whole of the matter, but there is an immortal Spirit dwelling in and making the human being what he is. Death does not end the chain of sequence. The working agent, the Spirit in the body, does not and cannot die with the body. He shapes himself moments by his activities, mental or physical. At death he does not disappear into nothing but enters a new tenement whieh he has built for himself by his life activities. This is Hinduism. You may accept it or reject it and search for other theories. But if accepted, the Hindu theory of Karama gives the highest sense of responsibility to the citizen. No explanation or theory in regard to the ultimate nature and cause of things can be made proof against all logical difficulties. Our kowledge is necessarily finite and we cannot discover and resolve the mysteries of infinity. On the assumption of the soul as the basis of personality, it can be claimed that no theory can be formulated more in harmony with new laws of nature than the Hindu doctrine of Karma. It is application in the moral sphere of the law of conservation of the law of conservation of energy as both the physicist's law and the doctrine of Karma may be looked upon as parts of the same universal law.

(It is not essential that the Editor agrees with all the points of the article—Editor.)

बृहद् विमान शास्त्र

डा० सत्यप्रकाश, डी० एस-सी०,

बड़ी प्रसन्नता की बात है कि मेरे मित्र आदरणीय श्री ब्रह्ममुनिपरिव्राजक जी ने महर्षि भरद्वाज प्रणीत बृहद् विमान शास्त्र हिन्दी अनुवाद सहित जनता के समक्ष प्रस्तुत किया है, और सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली ने इस ग्रन्थ को प्रकाशित किया है। इधर कई वर्षों से इस ग्रन्थ की चर्चा समाचार पत्रों में सुनी जाती थी, विद्वान् परिव्राजक महोदय ने बड़ौदा राजकीय संस्कृत पुस्तक भवन से वैमानिक प्रकरण सम्बन्धो यह सामग्री प्राप्त की। कहा जाता है कि महर्षि भरद्वाज रचित कोई ग्रन्थ "यन्त्र सर्वस्व" है, जिसमें ४० प्रकरण थे। इनमें से ही एक प्रकरण "वैमानिक प्रकरण" है, जिसमें ८ अध्याय, १०० अधिकरण और ५०० सूत्र रहे होंगे[1]। इस ग्रन्थ की २३ प्रतियाँ सम्पादक महोदय को बड़ौदा पुस्तक भवन से प्राप्त हुई, जिन्हें परिश्रम पूर्वक सम्पादित करके आपने प्रकाशित कराया है, यह नहीं कहा जा सकता कि यह ग्रन्थ इतना ही था, अथवा इसका कुछ अंश अब भी अप्राप्य है। बड़ौदा के पुस्तक भवन में इस वैमानिक प्रकरण के १०० अधिकरणों की एक सूची भी है जिसे सम्पादक महोदय ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में दे दिया है।

ग्रन्थ के मूल सूत्र महर्षि भरद्वाज के बताये जाते हैं और आरंभ में मंगलाचरण के श्लोक भी महर्षि भरद्वाज के हैं। इन सबकी व्याख्या बौधानन्द यति की की हुई है, मंगलचरण से स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ से पहले भी इसी विषय के अनेक शास्त्र रहे होंगे, जिनके आधार पर ही इस वैमानिक प्रकरण की रचना की गयी[2]।

---

१. सूत्रैः पञ्चशतैर्युक्तं शताधिकरणैस्तथा।
अष्टाध्यायसमायुक्तमतिगूढं मनोहरम्॥ (मंगलाचरण)

२. पूर्वाचार्यकृतान्शास्त्रानवलोक्य यथामति।
सर्वलोकोपकाराय सर्वानर्थविनाशकम्॥ (मङ्गलाचरण)

प्रस्तुत ग्रन्थ में महर्षि भरद्वाज प्रणीत थोड़े से ही अर्थात् लगभग ३६ सूत्र हैं। इन सूत्रों के आधार पर इस मूलग्रन्थ के सम्बन्ध में अधिक नहीं कहा जा सकता। ५००सूत्रों में से केवल ३६ सूत्र ही यदि प्राप्त हों, और उनमें से बहुत कुछ अस्त-व्यस्त हों, तो उनके आधार पर ग्रन्थ की प्राचीनता और प्रामाणिकता का अनुमान लगाना कठिन है। कुछ सूत्र इस दृष्टि से हमारे लाभ के हैं। एक तो तीसरे अध्याय के "भैरवादिभेदात् तान्त्रिकाष्षट्पञ्चाशत्" इस सूत्र से स्पष्ट है कि इन सूत्रों का रचना काल तान्त्रिकों के बाद का है। स्पष्टतया ये भरद्वाज महर्षि उन महर्षि से भिन्न होने चाहिये, जिनका उल्लेख चरकसंहिता के आरम्भ में ही हुआ है। तन्त्ररसायन का जिस समय जन्म हो चुका था, और धातु-मेलन की क्रियाओं का प्रचार बढ़ गया था, जिनका उल्लेख रसर्णव आदि ग्रन्थों में है ["मेलनात्" (२।३)]। शुद्ध अभ्रक का उल्लेख विमानार्थ एक सूत्र में किया गया है, जिससे स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ उस समय का होना चाहिए जब अभ्रक-शोधन की विधियां प्रचलित हो गयी थीं। नागार्जुन के रसरत्नाकर में अभ्रकादि के सत्वपातन, द्रुति, द्रावण की विधियाँ दी हुई हैं। चरक-सुश्रुत के समय में इन विधियों के प्रचलन की सम्भावना कम ही है, यद्यपि चरक में अभ्रक का उल्लेख अवश्य है।

मूल सूत्रों में भरद्वाज के अतिरिक्त नारायण और स्फोटायन के मतों का उल्लेख शक्तियों के संबन्ध में आता है। नारायण का नाम रसाचार्य्यों की सूची में भी आता है।

बोधानन्द वृत्ति—

बोधानन्द यति ने भरद्वाज प्रणीत "वैमानिक प्रकरण" ग्रन्थ की एक व्याख्या लिखी जो "बोधानन्द वृत्ति" के नाम से प्रचलित हुई। श्री ब्रह्ममुनि जी ने "बृहद् विमान शास्त्र" नामक प्रस्तुत ग्रन्थ में यह वृत्ति हिन्दी अनुवाद सहित दी है, बोधानन्द ने इस वृत्ति को लिखने से पूर्व जिन ग्रन्थों पर विशेष मनन किया था, उनके नाम वाल्मीकि गणित, परिभाषाचन्द्रिका, नामार्थ-कल्पक एवं स्वतःसिद्ध न्याय शास्त्र हैं।

इस वृत्ति का रचयिता एक ओर तो वैदिक विचारों में निष्ठा रखने वाला प्रतीत होता है, और साथ ही साथ वह उस युग का प्रतीत होता है, जब कि तन्त्र रसायन न केवल बौद्धतान्त्रिकों की सम्पत्ति था, पौराणिक तान्त्रिकों ने भी जब इसे अपना लिया था, ईसा के बाद १२००–१३०० से पूर्व का इसे मानना कठिन होगा। मूल मंगलाचरण भरद्वाज मुनि का बताया जाता है। इस प्रकार के श्लोकबद्ध मंगलाचरण ब्राह्मण काल, उपनिषद् काल और सूत्रकाल के बहुत बाद के ही हो सकते हैं। जो ग्रन्थ स्वयं तो सूत्रों में रचा गया है, पर उसका मंगलाचरण अनुष्टुपों में हो, यह आश्चर्य की बात है। वैदिक सूत्र काल में ऐसी प्रथा न थी। अतः स्पष्ट है कि वैमानिक प्रकरण के

मंगलाचरण की पंक्तियाँ सूत्रकार भरद्वाज कीन होकर अन्य किसी की हैं। मंगलाचरण की इन पंक्तियों की व्याख्या बोधानन्द ने की है। अतः ये बोधानन्द की भी नहीं हो सकतीं।

बोधानन्द ने "पूर्वाचार्यों" का उल्लेख करते हुए विश्वनाथ आचार्य का नाम लिया है, जिसने पूर्वाचार्यों की सूची में नारायण, शौनिक गर्ग, वाचस्पति, चाक्रयाण और घुण्डिनाथ का नाम लिया है। इनमें से कुछ का निर्देश चरक ने अपनी संहिता में भी किया है। ६ विमान शास्त्रों का भी इसी संबंध में निर्देश है—विमान चन्द्रिका, व्योमयानतन्त्र, यन्त्र कल्प, यानविन्दु, खेटयान प्रदीपिका, और व्योमयानार्क प्रकाश ये ग्रन्थ बोधानन्द ने स्वयं देखे थे।

बोधानन्द की इस वृत्ति में अनेक पुराने ग्रन्थों का स्थान-स्थान पर निर्देश है। स्वामी ब्रह्ममुनि जी ने ९७ ग्रन्थों की एक सूची इस विषय की ग्रन्थ के आरम्भ में दी है। इन ग्रन्थों में से कुछ के रचयिताओं के नाम भी इस सूची में हैं, जैसे यन्त्रसर्वस्वम् (भरद्वाज कृत), शौनकीयम् (शौनक कृत), धातुसर्वस्वम् (बोधायन कृत), अगतत्त्व लहरी (आश्वलायन कृत) सौदामिनी कला (ईश्वर कृत), नामार्थकल्प सूत्रम् (अभि कृत), यन्त्र कल्प तरु (लल्ल प्रणीत), बोधानन्दकारिका (बोधानन्द कृत), विश्वम्भर कारिका (विश्वम्भर कृतं), शक्ति सूत्रम् (अगस्त्य), शुद्ध विद्या कलापम् (आश्वलायन कृत), ब्रह्माण्डसारः (व्यास प्रणीत), अंशुमत्तन्त्रम् (भरद्वाज कृत), छन्द-कौस्तुभः (पराशर प्रणीत), कौमुदी (सिंहकोड कृत), रूप शक्ति प्रकरणम् (अंगिरस् कृत), कारक प्रकरणम् (अंगिरस् कृत), आकाश तन्त्रम् (भरद्वाज कृत), लोकसंग्रह (विसरण कृत), प्रपञ्च लहरी (वसिष्ठ कृत), जीवसर्वस्वम् (जैमिनि कृत), कर्माब्धि पारः (आपस्तम्भ कृत), रुक्हृदयम् (अत्रिकृत) वायुतत्त्वप्रकरणम् (शकटायन कृत), वैश्वानर तन्त्रम् (नारद कृत), धूमप्रकरणम् (नारद कृत), औषधि कल्पः (अत्रिकृत), वाल्मीकि गणितम् (वाल्मीकि कृत) और लोह शास्त्र (शाकटायन कृत)

इनके अतिरिक्त जिन अन्य ग्रन्थों का उल्लेख है, उनमें कुछ ये हैं—

लोह तन्त्रम्	दर्पण प्रकरणम्	विमान चन्द्रिका	यन्त्र कल्पः
लोह प्रकरणम्	दर्पण शास्त्रम्	व्योमयान तन्त्र	यन्त्र प्रकरणम्
लोह सर्वस्वम्	मुकुर कल्पः	व्योमयानार्क प्रकाश	
लोह तत्त्व प्रकरणम्	दर्पण कल्पः	खेटयान प्रदीपिका	
लोह रत्नाकर		यान विन्दु	
लोहाधिकरणम्	नालिका निर्णय	खेटविलास ग्रन्थः	
लोहरहस्यम्	पट्टिका निबन्धनम्	खेटसर्वस्वम्	

शणनिर्यास चन्द्रिका	मूष कल्पः	खेटयन्त्रम्
निर्यास कल्प	कुण्ड कल्पः	
	कुण्ड निर्णयः	
	भास्त्रिका निबन्धनम्	
	पटकल्पः	
	पट प्रदीपिका	
	क्षीरीपट कल्प	

विशेषतायें

बृहद् विमान शास्त्र अथवा उसकी बोधानन्द वृत्ति पढ़ने के अनन्तर कुछ बातें ऐसी प्रतीत होती हैं, जिनकी ओर विद्वन्मण्डली का ध्यान आकर्षित होना आवश्यक है। मुझे जो विशेषतायें प्रतीत हुईं, वे ये हैं—

१. प्रकाशित ग्रन्थ में महर्षि भरद्वाज लिखित 'यन्त्र सर्वस्व' नामक एक रचना का उल्लेख है, जिसका एक प्रकरण वैमानिक प्रकरण कहा गया है। यह प्रकरण ८ अध्याय, १०० अधिकरण और ५०० सूत्रों का बताया जाता है (देखो मंगलाचरण)। प्रकाशित ग्रन्थ में भरद्वाज के इन ५०० सूत्रों में से केवल ३६ सूत्र हैं, जिनकी क्रमबद्धता में भी सन्देह है। यह भी सन्दिग्ध है कि जिस व्यक्ति के रचे गए ये सूत्र हैं, उसी का रचा गया मंगलाचरण है जो अनुष्टुप श्लोकों में है।

२. मूल सूत्रों की रचना तान्त्रिकों के बाद की प्रतीत होती है—इसका एक सूत्र है—"भैरवादि भेदात् तान्त्रिकाष्षट् पंचाशत्"। अतः यह स्पष्ट है कि जिस भरद्वाज का उल्लेख चरक में है, उससे भिन्न 'यन्त्र सर्वस्व' का भरद्वाज होगा।

३. अभ्रक-शोधन का और 'धातुमेलन' का उल्लेख इन सूत्रों में है, अतः नागार्जुन के बाद का ही यह ग्रन्थ है। 'रसार्णव' ग्रन्थ के बाद का होना प्रतीत होता है।

४. बोधानन्द वृत्ति उस समय की रचना है जब निम्न उपकरणों का प्रचलन रासायनिक कार्यों में हो चला था।

बृहन्मूषा, भस्त्रा, गर्भयापन यंत्र (पृ० २७), पाचक, नालयंत्र (पृ० ४१), मूषा (पृ० ४६), विशेष विस्तार (पृ० ५०), व्यासटिका, (कुण्ड) (पृ० ५१), विशेषतया कूर्म व्यासटिका, कुण्डिका (पृ० ५२), भस्त्रिका (पृ० ५३), कीलक (ताबे आदि के) (पृ० ५४) चंचुपुट मूषिका (पृ० ५७) चण्डादर कुण्ड (पृ० ५७), ऊर्ध्वनाल (पृ० ५७), वक्रमूषा (पृ० ५९), मण्डूक कुण्ड

(पृ० ५६), मूषक मूषिका (पृ० ६०), शिंजिक मूषा (पृ० ६२), शिंजीरक कुण्ड (पृ० ६२) कपाल मूषा (पृ० ६४), ऊर्ध्वनाल (पृ० ६४), चंचुपुट मूषा (पृ० ६६), कूष्माण्ड मूषक (पृ० ६८), कूष्माण्ड कुण्ड (पृ० ६८), उरणास्याख्य मूषा और कुण्डोदर कुण्ड (पृ० २६६), सर्पास्य मूषा (पृ० २७५), वारणास्य भस्त्रा, चक्रमुख कुण्ड (पृ० २७५), चक्रानन मूषिका (पृ० १५३), मत्स्य मूषा, काक व्यासटिका (पृ० १५४), मयूख मूषा मुख, जम्बूमुख व्यासटिका, काकस्य भस्त्रा (पृ० १५८), पद्मास्यक मूषा, विश्वोदर व्यासटिका, पंचानन भस्त्रिका (पृ० १६७) नतमुख मूषा, महोदर कुण्ड, षण्मुख भस्त्रा (पृ० २०३), अन्तर्मुख मूषा शुकमुख व्यासटिका (पृ० २१७), वरमूषिका, छत्रीमुख कुण्ड सुरसाख्य भस्त्रा (पृ० २२१)।

५. विमानों की रचना के लिए १६ प्रकार के लोह [धातु] बताये गए हैं, जो "भारहीन" अर्थात् हलके हैं। लोह शास्त्र का यह प्रकरण प्राचीन रसायन ग्रन्थों से बिलकुल भिन्न है। तीन सहस्र के लगभग भूगर्भ खनिज रेखायें बतायी गयी हैं। रेखाओं की संख्या से क्या अभिप्राय है, यह कहना कठिन है।

६. लोहों के संबन्ध में शक्तियों की गणना है—एक स्थल पर यह संख्या १६६७७६८ बतायी गयी है जिसकी गणना वाल्मीकि गणित के आधार पर की गयी है। प्राचीन भारतीय गणित के जो ग्रन्थ मिलते हैं, उनमें वाल्मीकि गणित का स्थान विचारणीय है। जैसे ओ३म् अ-उ-म् से मिलकर बना है, विमान रचना के काम के लोह 'सौम' [स+औ+म] के विस्तार में समाविष्ट हैं (पृ० ३९) सांकेतिक पद्धति द्वारा "सौण्डाल" और "मौखिक" शब्द का भी विस्तार इसी प्रकार बताया गया है (पृ० ४०–४१)।

७. लोहों के शोधन के सम्बन्ध में उष्णवेग की बाधाओं का वर्णन दिया गया है, जिनसे लोह का पाचन बताया गया है। २७ कक्षा का उष्ण वेग (पृ० ४२) अष्टशतोष्णवेग (पृ० ५७), पंचशतोष्ण कक्षा (पृ० ५९), अष्टशत (पृ० ६०), सप्तशत (प० ६२)।

८. बीजलौह, और मेलन-क्रम का उल्लेख सूत्र और वृत्ति दोनों में है (पृ० ४६)। मेलन-कर्म के लिए टंकण का प्रयोग बताया गया है (रसार्णव आदि ग्रन्थों में इस प्रकार के कर्मों का उल्लेख है) इस संबंध में "अम्लतृड्" का नाम भी आया है (पृ० ४७)। आगे एक शब्द "अग्नितृट्" भी प्रयोग हुआ है (पृ० ४७। ३४)। ऊष्मप लोहों के साथ-साथ शीतहन और गरलहन लोहों का भी उल्लेख है (पृ० ४८)।

९. मूषा बनाने का जो विस्तार दिया है, वह रसरत्नसमुच्चय के विस्तार से मिलता जुलता है (पृ ५०)।

१०. लोहों के गालनार्थ कुण्डिका और व्यासटिकाओं का विवरण दिया है। इनका प्रयोग भी इस ग्रन्थ की विशेषता है। बहुधा मूषा, व्याकटिका और भस्त्रा इनके त्रिक् पाये जाते हैं।

११. वानस्पतिक और जान्तव पदार्थों के अतिरिक्त बोधानन्द वृत्ति में निम्न का उल्लेख महत्त्व का है—सत्व वरपार (पारा), शुद्ध अभ्र, वरशोण (सिन्दूर), आंजनिक, शर्करा, क्षार (सुहागा), नाग (सीसा), फेन, वैणव्यक (वंशलोचन) (पृ० ५७), आलिक (हरिताल), रजित अभ्रक (पृ० ५९), शल्यक्षार, क्षिर्वक (लोह-विशेष); रविचुम्बक, पारद, ताल, रौप्य, सार (नवसार) (पृ ६०) मृत (सौराष्ट्र मिट्टी), पारद, शंख, वरताल, शुक्ति क्षार (पृ० ६२), दम्भौलि (लौह चूर्ण), पारद, शुद्ध अभ्रक, त्रिपु, ताल माक्षिक (पृ० ६४), स्फटिक (पृ० ६६) मृत्क्षार, सूबचैल (पृ० १५३) कृष्णसीस, आंजनिक (पृ० १५५), सुवचैल, मयूर, लौह पंचक (पृ० १६३) कांस्य (पृ० २०१), खर्परकृत कर्क पट्टिका (पृ० २२७)।

१२. दर्पणाधिकरण इस ग्रन्थ का उल्लेखनीय भाग है। दर्पण के पर्याय 'मुकुर' और "आदर्श शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। विमान के कार्य के योग्य सात प्रकार के दर्पणों का उल्लेख है। इन दर्पणों की सहायता से विमान संबंधी विभिन्न आपदाओं से बचा जा सकता है। इन दर्पणों में पारे, अभ्रक आदि का प्रयोग किया जाना बताया गया है। दर्पण संबंधी ऐसे विवरण अन्यन्त्र अन्यत्र देखने में कम मिलते हैं। स्पष्ट नहीं कि दर्पण वस्तुतः है क्या।

१३. विमान के उपयंत्रों में विद्युत्यंत्र, शब्दकेन्द्र मुख यंत्र, विद्युतद्द्राशक यंत्र, प्राण कुण्डलिनी यंत्र, शक्त्युद्गम यंत्र, वक्रप्रसारण यंत्र, पटप्रसारण यंत्र दिशाम्पति यंत्र, पट्टिकाभ्रक यंत्र, सूर्य शक्त्यपकर्षण यंत्र और स्तम्भन यंत्र मुख्य हैं (पृ० ७८)। इन यंत्रों में कील और शंकु एवं दण्डनाल का प्रयोग किया गया है जिनकी सहायता से ये चलाये या रोके जा सकते हैं। (पृ० ७९) दण्डनाल औदुम्बरार (तांबा), आर (पीतल और नाग (सीसे) के बनाये जाते थे।

१४. विद्युत् यंत्रों को तार (तन्त्रियों) से जोड़ने का उल्लेख बोधानन्द वृत्ति में है (पृ० ८१) बीच में द्रावक का भी प्रयोग किया गया है, जैसा आजकल की बैटरियों में होता है— "रुचिरद्रावक मणेः पूर्वभागे यथाविधि। विद्युद्यंत्रं प्रतिष्ठाप्य तन्त्रीन् तस्मिन् योजयेत्, रुचिरद्रावकमणौ ताभ्यां शक्तिं प्रसारयेत् (पृ० ८१)। एक स्थल पर "तन्त्रिनाल" का भी प्रयोग हुआ है (पृ०

६२) । तांबे के तारों का उल्लेख विद्युत् यंत्र के संबंध में महत्व का है– "विद्युन्मुखमणिंताम्र-तन्त्रीभि; परिवेष्टितम्" (पृ० २६८)।

१५. सूर्य शक्ति और विद्युत् शक्ति दोनों को पारद द्रव में नियुक्त करने का उल्लेख है। इस सम्बन्ध में "पंचदर्श लिंक" मात्रक का निर्देश किया गया है (पृ० ८२)। एक स्थल पर विद्युत्-तन्त्री के संबंध से १०० लिंक (१०० डिगरी) घुमाने का निर्देश है (१०१)। लिंक किस माप की इकाई है, यह कहना कठिन है– "गधों का मूत्र १६ द्रोण, खान का अच्छा कोयला १६ लिंक, लवण ३ लिंक, सर्प-विष २ लिंक, तांबा २ लिंक–पात्र में भरे" (पृ० २६४)।

१६. एक स्थल पर कांच के पात्र में शिखावली द्रावक (तूतिये के विलयन) का उल्लेख आया है, और लोहे के तारों से जोड़ने का निर्देश है (पृ० २७३) इस प्रकार की बैटरी का निर्देश वही कर सकता है, जिसने आजकल की बैटरियां देखी या सुनी हों।

१७. यन्त्र के चलाने में रश्म्याकर्षण नाल, तन्त्रीसन्धानचक्र, कीली चालन चक्र, नालस्थ द्विमुखी दर्पण, केन्द्रस्थ कीली, तेजोपकर्षण मणि, तमोद्रकाख्य दर्पण, मध्य कीली, नालमध्य दर्पण, पंचवाल स्कन्धनाल यंत्र (पृ० १५५-१५६) आदि का प्रयोग किया गया है। विविध प्रकार की भस्त्राओं के द्वारा १०२ कक्षा की उष्णता देने को कहा है। (पृ० १५८) शलाकावरण चक्र के चलाने के लिए अकसी (अलसी), सांरम्भ, भण्टिका आदि के तेलों के प्रयोग का निर्देश है (पृ० १६१)। कीलें भी कई प्रकार की कही गयी हैं-भ्रामणी कील, प्रसारणी कील (पृ० १६२), विकसन कीली (पृ० १८७) संकोचन विकासन कीलक (पृ० १८६) वातस्तम्भ नाल कीलक यंत्र (पृ० १६३), वातस्कन्धनाल कीली यंत्र (पृ० १६५), तन्त्रिमूल–कीलक (पृ० १८७), संकलन कीली (पृ० २०४)। इन यंत्रों में भारवर्जित लोह पट्टिकायें (पृ० १६४), रोलिक पटनिर्मित पताका, वातायनी पताका (पृ० १६५) आदि का भी उपयोग बताया गया है।

१८. बहुत से पदार्थों के नाम अस्पष्ट हैं–जैसे महोर्णद्राव के प्रकरण में-पैनाशक, पंचमुख, प्राणक्षार कुडुप, इंगालाम्ल, शिवारिक (पृ० १७६); शुद्धलोहों की नामावली में उर्वारक, कारविक कुरंग, शुण्डालक, चद्रमुख, विरिंचि, क्रान्तोदर, जालिक, सिंहवक्त्र, ज्योतसनकर, क्ष्विंक, पंचमौत्विक आदि (पृ० १७८)। एक स्थल पर १० लोह ये गिनाये हैं–कांस्य, आरा, रुचक, गारुण, शल्यकृन्तन पंचास्य, वीरण, सकम, शुकतुण्ड, और सुलोचन (पृ० २०१)। इन्हें शुक्ति की भूषा में रखकर कपरोटी करके (मृत्पटवेष्टन) अलाबुकुण्ड के मध्य में ५०० कक्षा की उष्णता देने पर घण्टार लोह बनता है (पृ२०१)।

१९. उष्णतायें अधिकतर १०३, १२०, ३००, ५०० कक्षाओं की दी गयी हैं। अधिकतम उष्णता की कक्षा ७०० है (पृ०२०२) जिसका उपयोग ववण दर्पण के बनाने में किया गया है।

२० पटप्रसारण के संबंध में वस्त्रों को लाल, काले, सफ़ेद, नीले, पीले आदि रंगों में रंगने का निर्देश है। यह कार्य पाचना यंत्र और कुट्टिणी यंत्र में सूर्य-पुट की सहायता से किया जाना चाहिये। मूंज, शम्बर, राजावर्त, गोमारी आदि इन रंगीन वस्त्रों के तैयार करने में काम आते थे (पृ० २०७)

२१. विमान की कल्पना अतिप्राचीन है, पर विमानों की ऐतिहासिकता संदिग्ध है। प्रस्तुत ग्रन्थ कितना भी पुराना हो, यह १०-१२ वीं शती से पहले का नहीं हो सकता। १२ वीं शती से आज तक का ऐतिहासिक वृत्त जितना प्राप्त है, उससे कहीं यह नहीं सिद्ध होता कि भारत में किसी के पास भी कोई विमान था, अथवा इसका कभी शान्ति अथवा युद्ध के लिए उपयोग किया गया।

२२. लगभग नागार्जुन के समय से पारे का प्रयोग इस देश में आरंभ हुआ। पारे के आविष्कार के समय ही इसके वैशिष्ट्य और वैचित्र्य को देखकर इसके संबंध में तीन आशायें बांधी गयीं-(क) इसकी सहायता से कम मूल्य की धातुयें बहुमूल्य स्वर्ण आदि धातुओं में परिणत की जा सकेंगी। (ख) इसकी सहायता से ऐसी अमर औषध तैयार की जा सकेगी, जिसके प्रयोग से जरा व्याधि और मृत्यु पर विजय प्राप्त हो सकेगी। (ग) इसके प्रयोग से आकाशगमन की क्षमता मनुष्य को प्राप्त हो सकेगी।

इतिहास इसका साक्षी है कि इन तीनों बातों में ही पारा असफल रहा। पारे के साथ अभ्रक और गन्धक एवं अन्य रसों और और उपरसों के प्रयोग किये गए, पर उद्देश्य की सिद्धि न हो सकी।

हस्तलिपि की प्रामाणिकता–

आदरणीय श्री ब्रह्ममुनि जी ने जिस ग्रन्थ को इतने अध्यवसाय से सम्पादित करके प्रकाशित कराया है उसकी प्राचीन हस्तलिपि की प्रामाणिकता के संबंध में भी उत्सुकता हो सकती है। मेरे एक मित्र ने, जो स्वयं कुशल इञ्जीनियर और साहित्य प्रेमी हैं, इसके संबंध में मुझे निम्न सूचना दी, जो महत्वपूर्ण है, वे कहते हैं कि "इस ग्रन्थ की हस्तलिपि १९१८–१९१९ की लिखी हुई है, यह पता नहीं चलता कि यह प्रतिलिपि किस पुराने ग्रन्थ से की गई। मेरे एक मित्र मेजर गद्रे ने यह बात

खोजने का यह प्रयत्न किया था। वह १९५५ में एक साप्ताहिक पत्र 'शिल्प संसार' निकाला करते थे। उन्होंने उस पत्र के १२ फर्वरी १९५५ के अंक में लिखा था कि बड़ौदा पुस्तकालय में यह हस्तलिपि बंगलौर के ब्रह्म श्री सुब्राय शास्त्री से पूना के भाण्डारकर रिसर्च-इंस्टिच्यूट के द्वारा प्राप्त हुई थी। बंगलौर में पूछ-ताछ करने पर मेजर गद्रे को पता चला कि वहाँ एक संत ब्रह्म श्री सुब्राय शास्त्री रहा करते थे जिनका देहान्त ७० वर्ष की अवस्था में १९४० में हुआ था, उनके वंशज श्री वेंकटराम शास्त्री ने एक बक्सा दिखलाया जिसमें बहुत सी हस्तलिपियाँ और नक्शे पड़े थे। उस बक्स में विमान शास्त्र संबंधी २३ नोट बुक थे। हर एक नोट बुक पर लिखा था—

श्रीरस्तु

महर्षि भरद्वाज प्रणीतम्

वैमानिक प्रकरणम्

Original Expounded by Pandit
T. Subraya Shastri of Anekal
Manuscript in Deonagri by G. Venkatachala Sarma Banglore City.

अधिक खोज करने पर पता चला कि श्री सुब्राय शास्त्री बहुत पढ़े-लिखे न थे और अंग्रेजी तो जानते ही न थे। इन सुब्राया शास्त्री ने महाराजा दरभंगा को एक पत्र २३-१२-१९२८ में लिखा था। उसमें उन्होंने कहा था कि वह निर्धन माता-पिता के पुत्र थे और भीख माँग कर गुजारा करते थे। एक बार बहुत रुग्ण होने पर वह अपने जीवन का अन्त करने के लिए एक जंगल में गए। वहाँ वह एक बूढ़े साधु से मिले जो उन्हें एक गुफा में ले गया और उन्हें रोग से मुक्त कर दिया। तब वह साधु एक दिन स्मृति से ही वैज्ञानिक साहित्य के ग्रन्थ बोलते चले गए, और कहा कि अब तुम इन सब ग्रन्थों को प्रकाशित कराओ, अब पिछले ३५ वर्षों से इनको प्रकाशित करा रहा हूँ, किन्तु अब तक नहीं कर सका। उस पत्र के साथ ४९ वैज्ञानिक ग्रन्थों की सूची थी और उनका सक्षिप्त वर्णन भी था।

"इन्हीं शास्त्री के मुख से बोले हुए विमान शास्त्र की प्रतिलिपि १९१९ की लिखी अब मिली है जिसका हिन्दी अनुवाद स्वामी ब्रह्म मुनि परिव्राजक ने किया है।"

इस विवरण से भी यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत ग्रन्थ की कोई प्रतिलिपि १९१८-१९१९ के पूर्व

की किसी के देखने में नहीं आयी। किसी व्युत्पन्न बुद्धि के प्रतिभाशाली विद्वान् ने अपनी स्मृति के आधार पर इसे लिखाया, स्वर्गीय डा० भगवानदास ने बहुत वर्ष हुए एक प्रतिभाशाली प्रज्ञाचक्षु विद्वान् का निर्देश किया था जिसे कहा जाता था कि अनेक ग्रन्थ कण्ठस्थ हैं और जिनका प्रणव-संबंधी एक बृहद् ग्रन्थ प्रकाशित भी हुआ। इन सब विवरणों को देखते हुए आज हमारे लिए यह कठिन हो रहा है कि इस प्रकार के साहित्य में कितना वस्तुतः पुराना है। अधिकांश भाग तो इस निकट युग की भावनाओं से ही उत्प्रेरित हैं। आशा है कि विद्वान् इस संबंध में कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

ओ३म् स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू प्रतिष्कभे।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः॥
ऋ० १।३९।२

हे वीर पुरुषो तुम्हारे अस्त्र-शस्त्र शत्रुओं के पराजय तथा निवारण के लिये उत्तम एवं दृढ़ हों। तुम्हारी सेना श्रेष्ठ हो और ये वस्तुयें कपटी तथा अन्यायी पुरुषों के पास न हों।

राम-राज्य का लक्ष्य

श्री रघुनाथ प्रसाद पाठक सार्वदेशिक आ० प्र० सभा, देहली

चीन के महात्मा कन्फ्यूशस की गणना संसार के महापुरुषों में की जाती है। वे दार्शनिक शासक के नाम से प्रख्यात हैं। उनकी शिक्षाओं ने चीन की सामाजिक एवं राजनैतिक काया पलट कर दी थी। हमारा इतिहास विविध राजनैतिक आदर्शों से जाज्वल्यमान है जिससे हमें अमित प्रेरणा मिलती है। परन्तु हमारे देश में आजकल वैसी ही दुरवस्था व्याप्त है जैसी चीन में महात्मा कन्फयूशस के समय व्याप्त थी। राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर लेने के पश्चात् अपराधों में मुक़दमों में और भ्रष्टाचार में बहुत वृद्धि हुई। लूट-पाट, अपहरण-बलात्कार, हत्या-आत्महत्या आदि-आदि दिन प्रतिदिन की घटनाएँ बनती जा रही हैं। चारित्रिक पतन इस सीमा तक पहुंचा हुआ है कि उसे देख और सुनकर ऐसा लगता है मानो लोगों के हृदयों से राज्य और ईश्वर का भय निकल गया है। महात्मा कन्फ्यूशस ने अपने देश में व्याप्त इस प्रकार की दुरवस्था को बदलने के लिये जिन उपायों का अवलम्बन किया उनका अध्ययन और अनुसरण करना श्रेयस्कर होगा।

उन्होंने एक बार मुख्य-प्रशासक और एक बार न्यायमन्त्री के रूप में कार्य किया। चूंगटू के लोगों की प्रार्थना पर वे वहां के राजा द्वारा नगर के मुख्य प्रशासक नियुक्त हुए। एक वर्ष के भीतर-भीतर समस्त प्रांत में चुंगटू का नगर प्रसिद्ध हो गया। चुंगटू की प्रसिद्धि और समृद्धि का समाचार पाकर लू के राजकुमार ने महात्मा कन्फ्यूशस को अपने यहां बुलाया और चुंगटू की समृद्धि का कारण पूछा। कन्फ्यूशस ने कारण बनाते हुये कहा "मैंने सत्पुरुषों को पुरस्कृत और दुष्टों को दंडित किया। जब लोगों ने देखा कि भला बनना अच्छा और बुरा बनना बुरा है। तो वे भले बन गये सज्जन पुरुष राज्य के प्रति निष्ठावान् होते हैं। मैंने सदाचारी और ज्ञानवान् लोगों को चुनकर लोगों को शिक्षित करने और उनपर दृष्टि रखने के काम पर लगाया। फल यह हुआ कि लोगों को सत्पुरुषों का सम्पर्क प्राप्त हो गया। जब लोग अच्छे वातावरण में रहते और उन्हें अच्छी संगति प्राप्त रहती है तो वे भले बन जाते हैं।

कन्फ्यूशस के इस कार्य से प्रसन्न हो कर लू के राजकुमार ने उन्हें समस्त प्रान्त का न्याय मन्त्री बना दिया। कन्फ्यूशस ने कई महीने लगाकर कैदियों की दशा का विवरण तैयार कराया। जब उन्हें पूर्ण जानकारी हो गई तो उन्होंने जजों, वकीलों और जेलरों को एकत्र करके कहा "मैंने जेलों के पूर्ण विवरण प्राप्त कर लिये हैं। निर्धनता और अज्ञान के वशीभूत होकर लोग अपराध करते और कानून को तोड़ते हैं। यदि हम शिक्षा के द्वारा लोगों को ज्ञानवान् बना दें और उनके लिए ईमानदारी से रोटी कमाने की सुविधा उत्पन्न कर दें तो प्रान्त में अपराध होने बन्द हो जायं।

एक जज ने पूछा—"इसका उपाय क्या है ?" कन्फ्यूशस ने उत्तर दिया—"सबसे पहले आप लोग अच्छे बनें। लोगों को ऐसे शासकों की आवश्यकता होती है, जिनका वे अनुकरण कर सकें। यदि शासक भ्रष्ट होंगे तो प्रजा भी भ्रष्ट होगी।"

कन्फ्यूशस के २ वर्ष के शासन में लू प्रान्त की जेलें खाली हो गईं। जज, वकील और जेलर हाथ पर हाथ धरकर बैठ गये।

कन्फ्यूशस का शासन इतना अच्छा था कि दुष्टों को लज्जा के मारे मुँह छिपाने का स्थान न मिलता था। प्रजा राज-भक्त बन गई थी। स्त्रियों ने अपने शील और सदाचार के लिये प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी।

आज हमारे देश को कन्फ्यूशस जैसे दार्शनिक शासकों की आवश्यकता है, जो कर्तव्य, निष्ठ, सच्चरित्र और सुयोग्य हों और शासन की शुद्धि करके उसे ऐसा बनादें जिसमें सत्पुरुष पुरस्कृत हों और दुष्ट पुरुष दण्ड से न बच पायें, जिसमें प्रजा की जान-माल की सुरक्षा हो, लोग ईमानदारी से अपनी आजीविका चलायें एवं भलाई करना सुगम और बुराई करना कठिन हो जाय।

राजनियमों की उपयोगिता होती है परन्तु एकमात्र राजनियमों से ही शासन-सूत्र अच्छी गति में नहीं चलता। उनके पीछे शासकों को उच्च चरित्र होना चाहिए जिससे वे नियम शासकों की स्वार्थ-सिद्धि के लिए प्रयुक्त न होकर प्रजा के हित के लिये प्रयुक्त हों। प्रजा का अपने आभ्यन्तर पर जितना कम अधिकार होता है उस पर उतना ही अधिक वाह्य अधिकार वा शासन आवश्यक होता है। प्रजा को अपने आभ्यन्तर पर अधिकार रखने की अवस्थाएं विद्यमान रखनी चाहिएं और राज्य को इनकी रक्षा, और वृद्धि में योगदान करना चाहिए। इसके लिए सबसे आवश्यक बात यह है कि वातावरण शुद्ध एवं सात्विक बनाया जाय, प्रजा की सत्शिक्षा की व्यवस्था हो और उसके अज्ञान तथा अभावों को दूर किया जाय।

शासन की पद्धति कोई भी क्यों न हो उसका इतना महत्त्व नहीं होता जितना उसकी भावना का होता है। हमारे वर्तमान शासन की भावना प्रजा के आर्थिक-स्तर को ऊँचा करने और ऐसी समाज-व्यवस्था बनाने की ओर प्रेरित है, जो हमें उन्नत और प्रगतिशील राष्ट्रों की श्रेणी में जा बिठाये। यह भावना अच्छी तो है परन्तु अधूरी और गलत है। आर्थिक स्तर को ऊँचा करने की अन्ध-भावना के कारण नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने की भावना आँखों से ओझल हो रही है। समाज के पुनः-निर्माण के कार्य में देश की विशद परम्पराओं की उपेक्षा न होनी चाहिए। राज्यों की समृद्धि का

माप-दंड एकमात्र अर्थ ही नहीं होता अपितु नैतिकता भी होती है। जिन राज्यों की नींव नैतिकता के सिद्धान्त पर खड़ी की जाती है उनकी स्थिरता और सुरक्षा सुनिश्चित कर दी जाती है। लोगों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के प्रयत्न के साथ-साथ उन्हें सच्चरित्र एवं राजभक्त बनाने का भी यत्न होना चाहिए। इस कार्य का श्रीगणेश घर और स्कूल से हुआ करता है। यदि राज्य के घर और स्कूल ठीक हों तो इसका सबसे बड़ा सुप्रभाव यह होता है कि जेलें प्रायः खाली पड़ी रहती हैं। समाज की इकाई घर होता है। सुशासन का प्रारम्भ भी घर से ही होता है। यदि घरों की व्यवस्था ठीक होती है तो राज्य भी व्यवस्थित रहते और उनमें शान्ति व्याप्त रहती है। इस प्रसंग में चीन के एक प्राचीन ग्रन्थ में बड़ा उत्तम प्रकाश डाला गया है। उसमें लिखा है कि प्राचीनकाल के लोगों ने अपने राज्य को सुव्यवस्थित करने की इच्छा से सर्वप्रथम अपने परिवारों की सुव्यवस्था की, अपने परिवारों को सुव्यवस्थित करने की इच्छा से उन्होंने सर्वप्रथम अपने शरीर का ब्रह्मचर्य से विकास किया। अपने शरीर का विकास करने की इच्छा से उन्होंने सर्वप्रथम अपने मस्तिष्क को ठीक किया। अपने मस्तिष्क को ठीक करने की इच्छा से उन्होंने सर्वप्रथम अपनी इच्छाओं को पवित्र किया। अपनी इच्छाओं को पवित्र करने की इच्छा से उन्होंने सर्वप्रथम अपने ज्ञान को बढ़ाया। ज्ञान की वृद्धि वस्तुओं की ऊहा-पोह पर निर्भर हुई। वस्तुओं की ऊहा-पोह से ज्ञान परिपक्व हो जाने पर इच्छाएं पवित्र हुईं। इच्छाओं के पवित्र हो जाने पर मस्तिष्क ठीक हुए। जब मस्तिष्क ठीक हुए तो शरीरों का विकास हुआ। शरीरों के विकसित हो जाने पर परिवार व्यवस्थित हो गए। परिवारों के व्यवस्थित हो जाने पर राज्य व्यवस्थित हो गए। इसका भाव यह है जितेन्द्रिय, ज्ञानवान्, बलवान, कर्मठ और शासन में रहने वाले व्यक्ति उत्तम परिवारों से उत्पन्न होते हैं और ये ही राज्य को सुखधाम बना देते हैं।

मनुष्य के जीवन का ध्येय आत्मिक विकास है। ब्रह्मचर्य, विद्याध्ययन, तप-त्याग और अनुशासन के जीवन की नींव घर और पाठशाला में पड़ती है। यहीं से आत्मिक विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। इस विकास में अर्थ का भी प्रमुख योग होता है परन्तु वह सहायक तत्त्व होता हैं मुख्य तत्त्व नहीं होता। इन्द्रियों से ऊपर आत्मा जैसी उच्च सत्ता है और आत्मा से भी ऊँची ईश्वर सत्ता जगत् में ओत-प्रोत है। वेद ने बताया है कि आत्मा के स्वरूप को न जानने से पारस्परिक विद्वेष कटुता और विविध पापों की सृष्टि होती है। आत्मा का स्वरूप ईश्वर भक्ति से जाना जाता है। जो मनुष्य शरीर की सजावट और इन्द्रियों की सन्तुष्टि में जितना अधिक ग्रस्त होगा उतना ही अधिक अशान्त और दुःखी रहेगा और दूसरो को भी अशान्त एवं दुःखी बनायेगा। जिन जातियों ने हिंसा और भोग को जीवन का लक्ष्य समझा और मारकाट, लूटपाट, अत्याचार-अनाचार और भोग-विलास में रत रहीं आज उनका नाम कहीं नहीं सुनाई देता। अतः जीवन का दृष्टिकोण आत्मा पर केन्द्रित और उसी के द्वारा प्रशासित होना चाहिए।

राज्य, धर्म, न्याय, सत्परामर्श एवं आर्थिक समृद्धि पर आश्रित रहना चाहिये। भारत ने अपने सौभाग्य-काल में इस प्रकार के राज्य के दर्शन राम-राज्य के रूप में किये हैं। जिसके विकास का

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी स्वप्न देखते थे और जिसकी पृष्ठ-भूमि महर्षि दयानन्द सरस्वती प्रभृति आचार्यों और सुधारकों ने तैयार की थी। हमारा लक्ष्य राम-राज्य की स्थापना होना चाहिये। राम-राज्य का आदर्श कविकुल-शिरोमणि बाल्मीकि ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है :—

(युद्ध काण्ड सर्ग १२८)

राघवश्चापि धर्म्मात्मा, प्राप्य राज्यमनुत्तमम्।
ईजे बहु विधैर्यज्ञैः, ससुतभ्रातृबान्धवः ॥९७॥
न पर्यदेवयन् विधवाः न च काल कृतं भयम्।
न व्याधिजं भये चा सीद् रामे राज्यं प्रशासति ॥९८॥
निर्दस्युरभवल्लोको, नानर्थं कश्चिदस्पृशत।
न चास्य वृद्धा बालानं, प्रेतकर्म्माणि कुर्वते ॥९९॥
सर्वं मुदितमेवासीत्, सर्वो धर्म्मपरोऽभवत्।
राममेवानुपश्यन्तो, नाभ्यहिंसनपरस्परम् ॥१००॥
नित्य पुष्पा नित्य फलाः, तरवः स्कन्ध विस्तृताः।
काम वर्षी च पर्जन्यः, सुख स्पर्शश्च मारुतः ॥१०२॥
स्वकर्मसु प्रवर्तन्ते, तुष्टः स्वैरेव कर्मभिः।
आसन् प्रजा धर्मन्धराः, रूपे शासति नानृताः ॥१०३॥
ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्याः, शूद्रा लोभ विवर्जिताः।
सर्वे लक्षणसम्पन्नाः, सर्वे धर्म्मपरायणाः ॥१०४॥

अर्थात् धर्मात्मा राम ने श्रेष्ठ राज्य को प्राप्त करके अपने पुत्रों, भाइयों और बन्धुओं के साथ अनेक प्रकार के यज्ञ किये। उनके राज्य में कहीं विधवाओं का विलाप न सुनाई देता था। कहीं सर्पादि का भय न था और न बीमारियों के फैलने का भय था अर्थात् स्वास्थ्य रक्षादि की ऐसी उत्तम व्यवस्था उस राज्य में थी। दूसरों को हानि पहुँचाने वाले चोर, डाकू, लुटेरे आदि दस्यु श्री राम के राज्य में कोई न थे। न लोग अनर्थ या अधर्म के कार्य करते थे। वृद्ध बालकों के दाह संस्कार आदि न करते थे। अर्थात् बाल्य मरण न होता था। सब लोग प्रसन्न और धर्म परायण थे। श्री राम को आदर्श राजा के रूप में देखते हुए लोग परस्पर कभी हिंसा न करते थे। राम के राज्य में सब निरोग और शोक रहित थे। वृक्षों पर फल फूल खूब लगते थे। प्रजा की कामनानुसार यज्ञादि द्वारा वर्षा होती थी। और वायु सुखकारी तथा सुगन्धित थी। सब मनुष्य अपने-अपने कार्यों में सन्तुष्ट होकर उनको प्रेम करते रहते थे। श्री राम के शासन में सब प्रजाएँ धर्म का पालन करने वाली थीं। वे कभी असत्य न बोलती थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सब लोभ रहित उत्तम लक्षणों से सम्पन्न और धर्मात्मा थे। इत्यादि २——

श्री राम के अधीनस्थ राष्ट्रों एवं नगरों की अवस्था का वर्णन करते हुए बताया गया है।

(बालकांड) नगराणि च राष्ट्राणि, धनधान्ययुतानि च।
न चापि क्षुद्र भयं तत्र, न तस्कर भयं तथा ॥

प्रहृष्ट मुदितो लोकः, प्रष्टस्तुष्टः सुधार्मिकः ।
निरामयो विशोकश्च, दुर्भिक्षभयवर्जितः ।।

अर्थात् सब नगर और राष्ट्र के सब भाग धन धान्य से समृद्ध थे । किसी को भूख का भय न था । न चोरों का भय था । सब लोग सर्वथा प्रसन्न, हृष्ट, पुष्ट, सन्तुष्ट, अत्यन्त धार्मिक, रोग और शोक रहित थे । दुर्भिक्ष या अकाल के भय से सर्वथा रहित थे । राम का वर्णन करते हुए रामायण में बताया गया है :—

धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च, प्रजानां च हिते रतः ।
रक्षिता जीव लोकस्य, धर्मस्य परिरक्षिता ।।
समुद्र इव गाम्भीर्ये, धैर्येण हिमवानिव ।
विष्णुना सहशोवीर्ये, सोमवत प्रियदर्शनः ।।
व्यसनेषु मनुष्याणां, भृशंभवति दुःखितः ।
उत्सवेषु च सर्वेषु, पितेव परितुष्यति ।।
रामो लोकाभिरामोऽयं, शौर्यं वीर्यं पराक्रमैः ।
दान्तैः सर्व प्रजा कान्तैः प्रीति संजन नैनृणाम्
गुणैं विरोचिते रामो, दीप्तः सूर्य इवांशुभिः ।।

अर्थात् श्री राम धर्म को जानने वाले, सत्य प्रतिज्ञ, सदा प्रजा के हित में तत्पर, सब प्राणियों की रक्षा करने वाले, धर्म के रक्षक थे । वे गम्भीरता में समुद्र के समान थे, धैर्य में हिमालय, वीर्य में (विष्णु) सूर्य के और चन्द्र की तरह प्रियदर्शन थे । मनुष्यों के दुःख में वे बड़ा दुःख अनुभव करने वाले थे और सब उत्सवों में वे पिता की तरह प्रसन्न होते थे । श्री राम शूरता, वीरता, पराक्रम तथा संयम युक्त, सुन्दर, मनुष्यों में प्रीति उत्पन्न करने वाले अपने गुणों से ऐसे चमकते थे जैसे सूर्य अपनी किरणों से ।

हम अपने विद्वानों का सच्चा अभिनन्दन करें

ईश्वरीप्रसाद 'प्रेम' एम. ए. सम्पादक 'तपोभूमि', मथुरा

महर्षि दीक्षा-शताब्दी समारोह के पावन प्रसंग में अपने साहित्य महारथी श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय एवं श्री पं० गंगाप्रसाद जी एम० ए० का उनकी साहित्यिक सेवाओं के लिये अभिनन्दन करने लगे हैं। दीक्षा-शताब्दी के अवसर पर इस आयोजन को अत्यधिक समीचीन और सुविचारपूर्ण कहा जा सकता है। स्पष्ट है कि महर्षि ने जिन प्रेरणाप्रद विचारों की दीक्षा गुरु-चरणों में बैठकर ली थी, उन विचारों को समस्त भूमण्डल के एक-एक मनुष्य के हृदयतल तक पहुँचने का दृढ़ व्रत हम लें, यही दीक्षा-शताब्दी का महत्त्वपूर्ण सन्देश है।

ऋषि-सन्देश को व्यापक बनाने के लिये साचार-प्रचार और साहित्य सृजन यही दो मुख्य साधन हो सकते हैं। अपने उक्त श्रद्धेय गंगाप्रसाद द्वय ने आर्य-भारती के भंडार को भरने में अपने समस्त जीवन को लगाया है। शत्-शत् बाधाओं के बीच भी अपनी इस दिव्य साधना को उन्होंने जारी रखा है। अतः उक्त विवेचन के प्रकाश में महर्षि दीक्षा शताब्दी के शुभावसर पर अपने इन आर्य-साहित्य निर्माता विद्वानों का आर्यजगत् अभिनन्दन करे, यह उपयुक्त ही है। यों भी विद्वदभिनन्दन एक स्वस्थ परम्परा है। पर मुझे भय है, बहुत अधिक भय है कि कहीं यह परम्परा एक रूढ़ि और व्यक्ति पूजा की अनार्य प्रक्रियामात्र ही बनकर न रह जावे और यदि हम अपने इन विद्वानों के जयघोष और उन्हें 'अभिनन्दन ग्रन्थ' भेंट करने तक ही सीमित रहे तो निश्चय ही हम रूढ़िवादिता के पाप का ही पोषण करेंगे—

फिर हम क्या करें! यह प्रश्न है। मेरा उत्तर है हम अपने विद्वानों का सच्चा अभिनन्दन करें।

वह क्या है, वह कैसे हो—मेरा कहना है कि जिस प्रकार वेदोद्धार की दीक्षा लेने वाले दृढ़व्रती दयानन्द की दीक्षा शताब्दी की सार्थकता का रहस्य, वेदोद्धार की किसी सक्रिय योजना के निर्माण और तद्वत् कार्य एवं आचरण करने में छिपा है उसी प्रकार उक्त विद्वानों के महान्

स्वप्नों को पूरा करने का हम निश्चय करें—यह उनका सच्चा अभिनन्दन होगा।

श्रद्धेय पंडित गंगाप्रसाद जी उपाध्याय सम्भवतया व्यक्तिशः मुझसे परिचित नहीं हैं, पर मैं कुछ-कुछ जानता हूं। हां, कुछ-कुछ इसलिये कि पूरा-पूरा तो उन जैसा बनने पर ही उन्हें जाना जा सकता है। उनके ग्रन्थों और लेखों के अध्ययन के आधार पर मैं यह कह सकता हूँ कि आर्य-साहित्य का प्रचुर मात्रा में सृजन, प्रकाशन और प्रचार-प्रसार यह उनकी आत्मा की भूख है। उन्होंने एक बार नहीं सैंकड़ों बार अपने मनकी इस तड़प को; अपने हृदय की इस वेदना को अपने लेखों और प्रवचनों में व्यक्त किया है। अब तक आर्य जगत् ने उनकी इस आत्म-पुकार का अवहेलना की है पर आज तो हम उनके 'सच्चे अभिनन्दन' के रूप में उनकी इस साध को पूरा करने का संकल्प लें।

साहित्य निर्माण के कार्य को वे कितना महत्त्व देते हैं—यह हम उन्हीं के शब्दों में समझने का यत्न करें। वे लिखते हैं—"मनुष्य के शरीर में मस्तिष्क का जो स्थान है वही स्थान किसी समाज में साहित्य का है।

यदि किसी समाज की उत्कृष्टता नापनी हो तो उसके बड़े-बड़े भवनों, उसकी विशाल संस्थाओं, उसके धन या जन की मात्रा से मत नापो, यह देखो कि उसका साहित्य कैसा है। साहित्य समाज का मस्तिष्क है। महर्षि की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा—"चाहे वे एक स्थान पर जम कर बैठें, चाहे प्रचारार्थ इधर-उधर भ्रमण करते रहें परन्तु साहित्य-निर्माण उन्होंने मरते दम तक नहीं छोड़ा।" महर्षि के इस कार्य की ईसा, मुहम्मद और बुद्ध की तुलना में आपने एक विशेषता मानी है।

कितने मार्मिक शब्दों में अपने एक लेख में लिखते हैं—"परन्तु आर्यसमाजियों ने समाज के साहित्य निर्माण में उतना धन, उतना मन और उतना परिश्रम नहीं लगाया जितना अन्य बातों में। इसका फल भी वैसा ही निकला। जैसा गुड़ डालोगे वैसा ही मीठा होगा। आज संसार के साहित्य में आर्यसमाज के साहित्य या साहित्यकारों का नाम तक नहीं है। ऋषि के ग्रन्थों को भी कोई नहीं जानता क्योंकि उनके अनुगामियों ने इसकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। साहित्य किसी संगठन की नींव है। जो लोग भवन के झंडों का मान करते हैं और नींव की दृढ़ता को गौण समझते हैं, उनके भवन दीर्घजीवी नहीं हो सकते। आर्यसमाज का यह सबसे कमजोर पक्ष है और इससे भी कमजोर बात यह है कि आर्यसमाज के नेता इसको अपनी कमजोरी नहीं समझते हैं।"

वस्तुतः साहित्य निर्माण तो दूर महर्षि हमें साहित्यनिधि दे गये उसका संरक्षण और संवर्धन भी हम नहीं कर सके। वेदभाष्य और दर्शनों के भाष्य की तो बात ही क्या, हम सत्यार्थप्रकाश के प्रचार प्रसार के प्रति कितने उदासीन रहे इसका उल्लेख करते हुए अपनी सम्पूर्ण हृदयगत वेदना को शब्दों में उडेलते हुए उन्होंने लिखा है—"सत्यार्थप्रकाश के अनुवाद कुछ देशी भाषाओं और दो एक विदेशी भाषाओं में कुछ व्यक्तियों ने किये परन्तु किसी ने उनकी पूछ नहीं की। घरों में ही वेदों का डंका आलम में बजाते और बजवाते रहे। उनके शामियाने ही उनका आलम 'संसार है।"

क्या श्रद्धेय पं० जी के इन शब्दों के पीछे छिपी हुई मनोव्यथा को हम देख सकने का प्रयत्न करेंगे। श्रद्धेय उपाध्यायजी के ही शब्दों में—"आजकल तो साहित्यकारों की स्मृति में भी ईंटों के भवन दिये जाते हैं।" परन्तु इन भवनों को उनकी सच्ची स्मृति कैसे कहा जा सकता है? अपने विद्वद्वर द्वय को भी केवल अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का नाटक रच कर हम उनका सच्चा अभिनन्दन नहीं कर सकते। उनका सच्चा अभिनन्दन तो प्रत्येक आर्य साहित्यकार का सच्चा सम्मान, एक विशद प्रकाशन गृह के अभाव की पूर्ति और देश-विदेश में वैदिक साहित्य की विविध भाषाओं के विविध साहित्यकारों में वर्गानुक्रम से वैदिक साहित्य की प्रचुरता में छिपा है।

हमारे विद्वानों की जय, ऋषि दयानन्द की जय में है। आइये अभिनन्दन समारोह के अवसर पर इस तथ्य को हम आर्यजन समझें और लक्ष्यपूर्ति के लिये एक निश्चित पग उठावें।

सचमुच बड़ा ही खेद होता है मुझे यह देखकर कि अपनी सम्पूर्ण शक्तियाँ मिलाकर भी हम वैदिक विचारों का प्रचार प्रसार करने में उतने कृतकार्य नहीं हो रहे जितना अकेला एक संस्थान-गीता प्रेस-पौराणिकता का प्रचार प्रसार कर रहा है। तो क्या आर्यसमाज निर्बल और निःशक्त है। नहीं, आज भी वह सर्वाधिक शक्तिशाली और विशाल संगठन है। पर सचाई यह है कि हमें दिग्भ्रम हो गया है। हमारी यह शक्ति उल्टी दिशा में लग रही है। अन्यथा मेरा सजग विश्वास है कि यदि आर्यसमाज इसी लक्ष्य को लेकर उठ खड़ा हो तो हम देखेंगे कि अगले कुछ वर्षों में ही गीता प्रेस जैसे अनेकों वृहद् प्रकाशन और साहित्य निर्माण केन्द्र हमारे पास हो सकते हैं।

मथुरा में महर्षि की पुण्य दीक्षा भूमि में इस प्रकार के एक केन्द्र स्थापना की हमारी योजना है। अपनी सीमित शक्ति और साधनों को लेकर उस राह पर चलने का दुस्साहस भी हम कर बैठे हैं। परन्तु हृदय की पवित्रता, दृढ़ विश्वास की शक्तिमत्ता, विद्वानों और आर्यजनता का आशीर्वाद और इन सबके ऊपर ईशकृपा का सहज सम्बल हमें प्राप्त है। अतः सफलता सुनिश्चित है।

प्रभु हमें शक्ति-भक्ति दे कि हम अपने विद्वानों का सच्चा अभिनन्दन कर सकें।

वेदों का ईश्वर-वर्णन

प्रिंसिपल महन्द्रप्रताप शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल०, बड़ौत

वेदों में 'ईश्वर के स्वरूप' के बारे में लोगों में अनेक परस्पर-विरोधी धारणायें हैं। जब योरोपीय विद्वानों ने पहिली बार वेदों का अध्ययन किया तो उन्होंने कहा कि वेद गड़रियों के गीत (पेस्टोरल सोंग्स्) हैं। उनमें ऐसे भाव हैं जैसे गाय और भेड़ पालने वाले लोग प्रकृति की वस्तुओं और घटनाओं को देखकर उनके बारे में अपने विचार या मनोभाव उत्तेजित हो प्रकट कर बैठें। जब उन्होंने सूर्य के विराट् गोले को देखा तो उसके प्रकाश तथा जीवन देने वाली शक्ति को देखा जो उन्होंने सूर्य की स्तुति और प्रार्थना के अनेक मन्त्र बना दिए। इसी प्रकार जब अग्नि, इन्द्र (वर्षा) सोम आदि को देखा जो उनकी प्रशंसा में मन्त्रों की रचना कर दी। उन्होंने यह भी कहा कि वेदों में कोई बात क्रमबद्ध नहीं है। जब जिसके अन्दर जैसे भी भाव उठे मन्त्रबद्ध कर दिये गए। उनकी यह भी धारणा रही कि वेद के बनाने वाले इन सब प्राकृतिक पदार्थों को देवता मानते थे, और इन्हीं को पूजते थे तथा इनके अतिरिक्त अन्य किसी ईश्वर जैसी सत्ता को न मानते थे। उन्होंने यह भी विचार प्रकट किया कि सब अपने-अपने देवता को सबसे बड़ा मानते थे। सबकी मति में कोई एक देवता सबसे बड़ा न था। संक्षेप में योरोपीय विद्वानों की यही धारणा है कि वेदों में ईश्वर के सम्बन्ध में कोई परिष्कृत विचार नहीं हैं। उनके अनुयायी संस्कृत का वैज्ञानिक अध्ययन करने वाले अनेक भारतीय विद्वान् भी ऐसे ही विचार रखते हैं। भारतीय विद्वानों (सायणाचार्य-आदि) की एक और परम्परा है जो वेदों में साकार ईश्वर-मूर्तिपूजा आदि का प्रतिपादन मानते हैं। कतिपय विद्वान् ऐसे भी हैं जो वेदों को केवल यज्ञपरक मानते हैं। इस प्रकार वेदों के ईश्वर के बारे में विद्वानों की अनेक धारणायें हैं। उन्हें देखकर हमें एक ग्रामीण कथा का स्मरण हो आता है। एक बार किसी गांव में एक हाथी पहुँच गया। कुछ अंधे वहां आ गए और उसका विचित्र वर्णन सुनकर उसे टटोल-टटोल कर देखने लगे। जब देख चुके तो उनसे पूछा गया कि क्या देखा? यह जानवर कैसा है? तब उन्होंने हाथी के जिस-जिस अंग को टटोल कर देखा था,

उसी के अनुसार उसका वर्णन कर दिया। किसी ने उसका अनुमान सूंड़ से लगाया, किसी ने पैरों से, किसी ने पेट से और किसी ने पूंछ से। न तो सबके वर्णन पूरी तरह ठीक थे और न आपस में मिलते-जुलते थे। वेदों के ईश्वर के बारे में भी लोगों की कुछ ऐसी ही धारणाएं हैं। हम इस लेख में इन धारणाओं की निर्मूलता सिद्ध करने की चेष्टा करेंगे और वेदों के ईश्वर का वास्तविक रूप दिखाने का यत्न करेंगे।

सबसे पहिली बात यह है कि वेदों में ईश्वर का सबसे पुराना वर्णन है। वैदिक धर्मावलम्बी वेदों को अपौरुषेय और सृष्टि के आरम्भ में प्रकट होने वाला मानते हैं उनके मत से तो वे सबसे प्राचीन पुस्तकें हैं ही, परन्तु अन्य विद्वानों के मत में भी ऋग्वेद संसार की सबसे प्राचीन पुस्तक है। इस लिये उसमें प्रतिपादित ईश्वर का वर्णन भी संसार का सबसे प्राचीन वर्णन है। यह कम महत्त्व की बात नहीं। गंगोत्री का महत्त्व गंगा की धार से कम नहीं। कई दृष्टियों से अधिक ही है। ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में दावा किया है "यह निश्चय है कि जितनी विद्या और मत भूगोल में फैले हैं वे सब आर्यावर्त्त देश से ही प्रचरित हुए हैं।"

इसमें संकेत की हुई अन्य विद्याओं के बारे में भले ही वाद-विवाद के लिये अवसर हो, परन्तु जहाँ तक धर्म का सम्बन्ध है, वाद-विवाद के लिये कोई अवकाश नहीं। ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं जिनसे यह बात स्वतः सिद्ध-सी हो जाती है कि संसार के सब बड़े-बड़े धर्मों के मूल सिद्धान्त तथा ईश्वर सम्बन्धी मूल धारणायें वेदों से या भारत से ही प्रचलित हुई हैं। संसार के छः बड़े धर्मों में वैदिक धर्म सबसे पुराना है। उसके बाद जरदुस्त का धर्म (या पारसी धर्म) है। डा० हाग उसका समय ईसा से २५०० वर्ष पूर्व मानते हैं।× पारसी मत की धार्मिक पुस्तक जिन्द अवस्ता में वेदों के मन्त्र यों के यों ही दिये हैं, उनमें केवल जलवायु के भिन्न होने के कारण होने वाले ध्वनियों के अन्तर हैं। उदाहरण के लिये वेद का मन्त्र—

"तम् अमवन्तं यजतम् शूरं धामसु शविष्ठम्। मित्रं यजे होत्राभ्यः।"

अवस्ता में इस प्रकार है—

"तम् अमवन्त एम् सूरम् दामोहू शविस्तम्। मित्रम् यजे जोथ्राभ्यो।"

वेद का देवता 'असुर्मेधा" आवस्ता में 'अहूरमज्दा' के रूप में है। वेद के छन्दों का प्रयोग अवस्ता में किया गया है। अग्नि और यज्ञोपवीत (कुस्ति) का अवस्ता में वही महत्त्वपूर्ण स्थान है। अवस्ता में भी चार वर्णों का वर्णन है। वेद के देवता इन्द्र, मित्र आदि का उसमें उल्लेख है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पारसी मत पर वैदिक धर्म की पूरी छाप है इसी प्रकार की छाप बाद में उत्पन्न हुए हैं। यहूदी, बुद्ध, ईसाई और इस्लाम मतों पर भी है। इन सब के मुख्य-मुख्य धार्मिक सिद्धान्त वैदिक धर्म के सिद्धान्तों पर आश्रित हैं।

×Hang's Essays. P. 136

एशिया माइनर के बोगाजकोई स्थान पर भूमि की खुदाई करते हुए इस शती के प्रारम्भ में एक जर्मन विद्वान् एक पत्थर मिला था, को प्राचीन काल में रहने वाली हिताइत और मितानी नामक जातियों की पारस्परिक सन्धि का वर्णन है। उसमें इन्द्र और मित्र देवताओं को साक्षी बनाकर भविष्यमें न लड़ने की प्रतिज्ञा की गई है। देवताओं के नामों का रूप वहां की भाषा में है, पर वे हैं इन्द्र और मित्र ही। इस पत्थर का समय ईसा से १४०० वर्ष पूर्व कूता गया है। इसका अभिप्राय यही है कि उस समय वेद के देवताओं के नाम ईरान होते हुए वहाँ पहुंच चुके थे और वहाँ प्रचलित थे।

प्रो० मैक्समूलर ने अपनी पुस्तक 'इण्डिया : ह्वाट् केन इट टीच अस' में लिखा है कि यदि उनसे पूछा जावे कि उनकी सम्मति में उन्नीसवीं शती की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण खोज कौनसी है, तो वे उसे चार शब्दों में कहेंगे—द्यौः=Leus; (जूस) द्यौष्पितर=Jupitor (जूपिटर)। अर्थात् वैदिक शब्द "द्यौष्पितर" और ग्रीक शब्द Leus एक ही हैं और वैदिक शब्द "द्यौष्तिर" और लेटिन शब्द Gupitor एक ही है। उनका कहना है कि ये शब्द आपस के घनिष्ठ सम्बन्ध को प्रकट करते हैं। यह सभी मानते हैं कि वैदिक संस्कृत ग्रीक और लेटिन से पुरानी है। इससे क्या यह सिद्ध नहीं होता कि वेद के 'द्यौ' और 'द्यौष्पितर' चलते-चलते ग्रीस और रोम में पहुँचे और वहाँ उनका वह रूप हो गया। योरोप और अमेरिका की भाषाओं में अनेक शब्द ऐसे हैं, जिनका संस्कृत से घनिष्ठ साम्य है। उनके लिये निःसन्देह कहा जा सकता है कि वे संस्कृत से ही लिये गये अथवा संस्कृत जानने वालों के सम्पर्क में आने पर वहाँ पहुँचे।

इसी प्रकार यदि हम भारतवर्ष के पूर्व और दक्षिण की ओर चलें तो एशिया के दक्षिण-पूर्व के अनेक देशों और प्रशान्त महासागर में फैले हुए द्वीपों के अनेक देवी-देवताओं के नाम, धार्मिक रीति-रिवाज, सामाजिक प्रथायें और व्यक्तियों के नाम, वैदिक संज्ञाओं, प्राचीन भारत की प्रथाओं और नामों के रूपान्तर मात्र हैं। जावा, बोर्नियों में विजयादशमी जैसा त्यौहार अब भी मनाया जाता है। कम्बोडिया, स्याम, इण्डोनेशिया में व्यक्तियों के नाम संस्कृत के अपभ्रंश मात्र हैं। इससे स्पष्ट है कि कभी इन स्थानों पर वैदिक सभ्यता, संस्कृति आदि का बोलबाला था। इसके विपरीत भारतवर्ष में अन्य किसी देश की प्राचीन संस्कृति और सभ्यता के चिह्न नहीं मिलते। यदि कोई बातें हैं भी तो आधुनिक काल की हैं। अभिप्राय यही है कि वेदों के ईश्वर या देवताओं के वर्णन से पहिले और कोई वर्णन उपलब्ध नहीं है और भारत के चारों ओर के धर्म-सम्बन्धी विचारों, भावनाओं, ईश्वर-सम्बन्धी धारणाओं का उद्गम वेदों या उनके आधार पर बनी पुस्तकों से है।

दूसरी बात यह है कि वेद में ईश्वर का शुद्धतम और पूर्णतम वर्णन है। यह हो सकता है कि विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य के शरीर, बुद्धि, मन, रहन-सहन, ज्ञान आदि में विकास हुआ हो और यह भी हो सकता है कि भारत के बाहर के दार्शनिकों और विचारकों ने बहुत सी ऐसी गुत्थियों को सुलझाया हो, जिन्हें भारत के विद्वान् न सुलझा सके हों, यह भी हो सकता है कि प्राचीन भारत में अनेक विद्याओं एवं विज्ञानों का वैज्ञानिक तथा तारतम्यपूर्ण विवेचन न हुआ हो और यह भी हो सकता है कि भौतिक विज्ञानों में आज इतनी उन्नति हो गई है जितनी

पहिले कभी न थी, पर यह सत्य है कि वेदों में ईश्वर की जिन विशेषताओं का वर्णन कर दिया गया अथवा ईश्वर का जो शुद्धरूप दे दिया गया उसमें आजतक मनुष्य के मस्तिष्क ने कुछ भी नहीं जोड़ा। यह ठीक है कि बाद में चलने वाले धर्मों ने ईश्वर को नाना रूप दिये, जिनमें अनेक वेद से भिन्न हैं, उलटे भी हैं, पर निराकार, शुद्ध ईश्वर का जो रूप वेदों में दे दिया गया उसमें किसी ने कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं जोड़ी, व्याख्या करने में भले ही अन्तर हो गया हो। उदाहरण के लिये वेदों ने ईश्वर को सर्वव्यापक (Omnipresent) 'सर्वज्ञ' (Omniseient), 'सर्वशक्तिमान्' (Omnipotent) बताया। इन तीनों गुणों को एकमात्र परमात्मा की विशेषता (Differentia), ऐसे गुण जो केवल परमात्मा में ही पाये जाते हैं, अन्य कहीं-नहीं, बताया। संसार के किसी भी आस्तिक धर्म या दर्शन में परमात्मा का इससे बढ़कर कोई गुण या विशेषता नहीं बतायी। निराकार परमात्मा के वर्णन की इन्हीं शब्दों में इतिश्री हो जाती है और यह वेदों ने ही कर दी थी। आर्यसमाज के दूसरे+ नियम में बताई गयीं ईश्वर की विशेषतायें वेदों में दिये ईश्वरके रूप पर ही आधारित हैं। यहां सब गुणों के सम्बन्ध में वेदों के उद्धरण न देकर उपर्युक्त तीन बड़ी विशेषताओं के बताने वाले मन्त्रों का देना अप्रासंगिक न होगा।

ईश्वर सर्वव्यापक है—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भ अन्तः स एव जातः सजनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥ यजु० ३२।४

अर्थात् वह परमात्मदेव सब दिशाओं में है, सबसे पहिले था, सबके अन्दर है। वह सब ओर देखने वाला पैदा हुए और पैदा होने वालों के सब ओर है।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य अस्य बाह्यतः ॥ यजु० ४०।५

अर्थात् वह ईश्वर इसके अन्दर और बाहर है।

स पर्यगात् शुक्रमकायम्......। यजु० ४०।८

अर्थात् वह परमात्मा सृष्टि क सब ओर पहुँचा हुआ है। इत्यादि।

यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश......।

जो देव अग्नि म है, जो जल में है और जो सारी सृष्टि में समाया हुआ है।......

ईश्वर सर्वज्ञ है —

सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात्। संख्याता अस्य निमिषो जनानां अक्षानीव श्वघ्नी निमिनोति तानि ॥ अथर्व० ४।१६।६

+ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।

अर्थात् द्युलोक और पृथ्वीलोक के बीच में जो कुछ है और जो कुछ उससे परे है संसार का स्वामी ईश्वर सबको देखता है। लोगों का पलक मारना उसका गिना हुआ है । जैसे खेलने वाला अपने पासों को गिनता है।

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् । द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ।। अथर्व. ४।१६।२

अर्थात् जो कोई प्राणी बैठा हुआ है, जो चलता है, जो ठगता है, जो नीच कर्म करता है और जो कोई दो एकान्त में बैठकर सलाह-मशवरा करते हैं तीसरा राजा वरुण वह सब कुछ जानता है।

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।......

जो परमात्मा भूत, भविष्य और सब का अधिष्ठाता है।......

ईश्वर सर्वशक्तिमान् है—

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव । य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। ऋक्० १०।१२१।३

अर्थात् जो ईश्वर अपने बड़प्पन से सांस लेने वाले और पलक मारने वाले इस सारे संसार का एकमात्र स्वामी है। जो दो पैर वालों और चार पैर वालों का ईश्वर है, उसी सुखस्वरूप देव की हम लोग पूजा करें।

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं० । यजु० २५।१८

अर्थात् जंगम और स्थावर के स्वामी उस ईश्वर को (हम लोग रक्षा के लिये पुकारते हैं।)

यहां केवल दिग्दर्शन कराया गया है। परमात्मा की उपर्युक्त तीन विशेषताओं को बताने वाले और अनेक मन्त्र हैं। इसी प्रकार परमात्मा के गुणों—निराकार, अनादि, अनन्त आदि को प्रतिपादित करने वाले बहुत से मन्त्र हैं। यहां सबका देना कठिन होगा। हमारा अभिप्राय केवल यही जताने से है कि वेदों में परमात्मा के पूर्ण और शुद्धतम रूप का वर्णन है।

इसके अतिरिक्त अनेक विद्वान् इस चक्कर में भी पड़े हुए हैं कि वेद में एक नहीं अनेक ईश्वरों का वर्णन है। उनकी इस धारणा का मूल इस बात में दीखता है कि वेद में अनेक देवताओं के नाम हैं, जैसे अग्नि, इन्द्र, वरुण, विष्णु, मित्र आदि। वेद में इन सबकी स्तुति हैं, इन सबका वर्णन है। पर जैसा ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में लिखा है। वेद में ये सब ईश्वर के ही नाम हैं। ईश्वर की विभिन्न विशेषताओं को दृष्टि में रखकर उसको इन नामों से पुकारा गया है। वह ज्ञानस्वरूप है, सबको दिखाने वाला है इसलिये उसे 'अग्नि' कहते हैं; वह ऐश्वर्य सम्पन्न है इसलिये उसे 'इन्द्र' कहते हैं। आदि। पुराणों में तो बाद में इनके अलग-अलग देवता होने की कल्पना की गई। वेदों में ऐसा नहीं है। वेदों में तो स्पष्ट शब्दों में बताया गया है कि ईश्वर एक है, उसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। जैसे—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।। ऋ० १। ६४।१

इसमें स्पष्ट बताया गया है कि वह एक है, पर विद्वान् लोग उसको अनेक नामों से पुकारते हैं। वही अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि है।

अथर्ववेद के तेरहवें काण्ड के द्वितीय सूक्त के मन्त्रों में बड़े बल के साथ बताया है कि ईश्वर एक ही है। जैसे—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। य एतं देवमेकवृतं वेद ॥ न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ॥

इसी प्रकार यजुर्वेद के अध्याय १३ के मन्त्र ४ में स्पष्ट बताया है कि संसार का स्वामी एक ही था—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ॥

इस वेद वाक्य में भी बताया है कि परमात्मा है तो एक ही पर कवि लोग अनेकों की कल्पना कर लेते हैं।

समझ में नहीं आता कि वेदों में एक ईश्वर का इतना स्पष्ट प्रतिपादन होते हुये वेदों में बहुदेवतावाद की कल्पना कैसे की गई। इस भ्रम का एक कारण 'देव' या 'देवता' के वास्तविक अर्थ को न समझना हो सकता है। जब दव शब्द का अर्थ निरुक्त में स्पष्ट रूप से बता दिया गया+ फिर उसमें विकल्प का अवकाश कहां। अस्तु, इस विषय में अधिक लिखना अप्रासंगिक हो सकता है।

किन्हीं-किन्हीं धर्मों में ईश्वर को पिता बताया गया है और उन धर्मों के अनुयायी गर्व के साथ इस बात को कहते हैं। वेदों में भी ईश्वर को प्राणियों का पिता बताया गया है। उदाहरणार्थ,

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतंक्रतो बभूविथ। अधा ते सुम्नमीमहे ॥ ऋक्० ८।९८।११

वह ईश्वर हमारा पिता और प्रिय सम्बन्धी है।

स नो बन्धुर्जनिता० यजु० ३२।१०

वही हमारा बन्धु और उत्पन्न करने वाला (पिता) है। इसी बात को और बल के साथ स्पष्ट रूप से कहा है—

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नम्भुवना यन्त्यन्या ॥ ऋक् १०।८२।३

अर्थात् जो हमारा पिता, हमारा बनाने वाला, जो संसार का रचयिता, सब ब्रह्माण्डों को जानने वाला, अनेक देवताओं के नाम एक ही है—....। परमात्मा के रूप का इससे अधिक स्पष्ट वर्णन कम स्थानों पर मिल सकता है।

वेदों में वर्णित ईश्वर तथा अन्य धर्मों में वर्णित ईश्वर में एक और बड़ा अन्तर है। वेदों में ईश्वर से हमारा सीधा सम्बन्ध है; ईश्वर तक पहुंचने के लियेस्वयं ईश्वर का कृपापात्र बनने

+देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा। निरुक्त ७।१६

के लिये किसी अन्य माध्यम की आवश्कता नही, जैसी कि इस्लाम अथवा ईसाई मत में है। वहां हजरत मुहम्मद और हजरत ईसा पर ईमान लाना ही अनिवार्य है। परन्तु वेद के अनुसार मनुष्य जीवन के चरम लक्ष्य (मुक्ति) तक पहुँचने के लिये परमेश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य पर अन्धा विश्वास नहीं करना होता। यजुर्वेद का मन्त्र इस बात को स्पष्ट करके कहता है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।

तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय ।।

अर्थात् मैं सूर्य के समान प्रकाश-पुञ्ज उस पुरुष (ईश्वर) को जानता हूँ। उस ही को जानकर भक्त मृत्यु को पार करता है, मुक्ति तक पहुँचने के लिये अन्य कोई मार्ग नहीं है। इसमें 'एव' (ही) शब्द अन्य किसी माध्यम अथवा मार्ग का निराकरण कर देता है।

वेद के ईश्वर की एक और विशेषता है। वेद के ईश्वर का सारे ब्रह्माण्ड में एकछत्र राज्य है। उससे बढ़कर तो क्या बराबर की भी अन्य कोई शक्ति नहीं। बाद के धर्मों में ईश्वर की प्रतिद्वन्द्विता में एक और शक्ति आ खड़ी होती है। यहूदी मत, ईसाईयत और इस्लाम में उसका नाम 'शैतान' है तथा पारसीमत में उसका नाम 'अंगिरामैन्यू' है। वहां पर उसकी शक्ति ईश्वर की शक्ति से कुछ ही कम है। वह ईश्वर का मुकाबला करता है। ईश्वर के विरोधी उसकी शरण लेते हैं। पर वेदों में ऐसी कोई स्थिति नहीं। एकेश्वरवाद के लिये एकमात्र ईश्वर की सत्ता सबसे बढ़कर होनी चाहिये, जैसा वेदों में है।

उपसंहार के रूप में हम कह सकते हैं कि वेदों में संसार का सबसे प्रथम ईश्वर का वर्णन है। उनमें ईश्वर का पूर्ण और शुद्धतम रूप दिया हुआ है। अन्य मतों में ईश्वरसम्बन्धी विचार सीधे या इधर-उधर होकर वहीं से पहुँचे और वहां जाकर बदल गये या विकृत होगये।

श्री पं. गंगाप्रसाद जी उपाध्याय
जीवन परिचय,
अभिनन्दन तथा प्रशस्तियां

पूज्य उपाध्यायजी ने अपनी लेखनी और वाणी द्वारा, वैदिक साहित्य-प्रसार और आर्य-सिद्धान्तों के प्रचार के लिये जो प्रशंसनीय प्रयत्न किये हैं और संस्कृत, आर्यभाषा तथा अंग्रेजी में ग्रन्थ-रत्न भेंट किये हैं, उनके लिये आर्य जनता और साहित्य-संसार आपका सदैव ऋणी रहेगा। विद्वद्वर उपाध्याय जी के ग्रंथों से साहित्य-समाज की महान् गौरव-वृद्धि हुई है। आपने देववाणी संस्कृत में भी काव्यमयी रचना की हैं। परम प्रभु परमात्मा से प्रार्थना है कि वह कविवर श्रद्धेय उपाध्याय जी को दीर्घ आयुष्य प्रदान करे, जिससे वे साहित्य और समाज की उत्तरोत्तर निरन्तर सेवा करते रहें।

हरिशंकर शर्मा
प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तरप्रदेश

श्री पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय जी के जीवन की झांकी

प्रिंसिपल महेन्द्रप्रताप शास्त्री, बड़ौत

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम. ए. का नाम आर्यजगत् में बड़े आदर, श्रद्धा और भक्ति से लिया जाता है। जीवन भर आपने आर्यसमाज की सेवा की है। आप हिन्दी और अंग्रेजी भाषा के प्रौढ़ वक्ता एवं लेखक हैं। कठिन से कठिन दार्शनिक विषय को सरलता से रखने में आप सिद्धहस्त हैं। आप की वक्तृता शक्ति जनता को मोह लेती है। लेखन के रूप में आप की अद्भुत प्रतिभा है। हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी, संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित हैं। लेखन शैली उनकी सरल, साफ-सुथरी पांडित्यपूर्ण है। साहित्यिक भाषा उनकी लेखनी से भागीरथी से समान बहती रहती है। तर्क और युक्ति उनके सभी दार्शनिक साहित्य की आधार शिला है। उर्दू में सफलता के साथ शायरी करते हैं। संस्कृत में सफलरूप से कविता कर चुके हैं। सभा संचालन में बड़े दक्ष हैं। अपनी नीति का विचार-पूर्ण निर्माण करते हैं और अपने विचारों को निर्भीकता के बोल कर या लिख कर प्रकट करते हैं। अध्यवसाय आपके जीवन का अद्भुत गुण है। त्याग और तपस्या आप का स्वभाव है। निराशावादी नहीं हैं। किसी भी कार्य में जुटते हैं तो पूर्ण आशा के साथ प्रयत्नशील रहते हैं। व्यवहार में अत्यन्त मधुर तथा सरल हैं।

जन्म एवं प्रारम्भिक परिचय—

उपाध्याय जी का जन्म ६ सितम्बर १८८१ ई० तदनुसार भाद्रपद शुक्ल १३, सम्वत् १९३८ वि० मंगलवार को लगभग १२ बजे दोपहर को नदरई ग्राम (जिला एटा-उत्तर प्रदेश) में हुआ था। यह ग्राम काली नदी के किनारे स्थित है और यहाँ पर अंग्रेजी शासन के समय में एक दर्शनीय पुल का निर्माण हुआ था जिसकी विशेषता यह थी कि नदी को काटती हुई एक नहर बन गई थी। यहाँ पर भीमसेन का एक मन्दिर है, जिसमें एक बड़ा घंटा रक्खा है, जिसको भीमसेन बर्मा की लड़ाई में जीत कर लाए थे। आपके बाबा का नाम था श्री फूलचन्द, पिता का नाम श्री कुंजबिहारी लाल, माता का नाम श्रीमती गोविन्दी था।

बाबा का देहान्त हो चुका था, दुर्भाग्यवश पिता का भी २८ वर्ष की अवस्था में देहावसान

हो गया। इस समय उपाध्याय जी की अवस्था केवल १० वर्ष की थी। एक छोटा भाई था और एक बहिन। पिता के मरने से सारे परिवार के भरण-पोषण का भार विधवा माता पर आ पड़ा। बड़ी विषम स्थिति आ गई, पर धैर्यशीला माँ ने साहस न छोड़ा, वे शिक्षिता वर्तमान अर्थों में न थीं पर उन्होंने बड़ी दूरदर्शिता तथा धैर्य के साथ जीवन बिताया। थोड़ी सी खेती थी जिसकी आय अधिक न थी। जो दो-चार आभूषण थे वे भी क्रमशः महाजन के यहां पहुंच गए।

सन् १८८७ में आपकी पट्टी पुजवाई गई जैसी कि उस समय प्रथा थी। फिर एक मौलवी साहब आने लगे। उनसे फारसी पढ़ना आरम्भ किया। सादी का करीमा, मामुकीमां पढ़ा। 'दस्तूर सिबियां' और खालिकबारी पढ़ाई गई। जब नदरई से मरकरा ग्राम लौट घर आए तो प्राइमरी स्कूल में भर्ती हो गए। कुछ दिन शिक्षा पाई थी कि पिता का देहान्त हो गया। अब एक सम्बन्धी आप को तहसीली स्कूल एटे में भर्ती कर आये। यहां उर्दू और हिन्दी मिडिल की शिक्षा दी जाती थी। बोर्डिंग हाउस में रहने लगे। मां के पास धन न था। किसी प्रकार ३॥) मासिक देती। २) में सूखे भोजन का प्रबन्ध होता। आठ आने फीस लगती। न घी मिलता, न दूध; किसी प्रकार सूखी दाल-रोटी पर जीवन बीतता। पर विद्याध्ययन के लिए रुचि थी। धुन थी किसी भी तरह शिक्षा मिले। घर था ६ मील दूर। प्रति शनिवार छः मील पैदल चलकर घर पहुंचते जहां कि विधवा माता आपकी प्रतीक्षा करती होती। कभी-कभी अस्वाब भी सिर पर लाद कर आते। सोमवार को अँधेरे में ही चल कर स्कूल सूर्योदय तक पहुँच जाते। मां पूछती—"बेटा अँधेरे में डर तो नहीं लगता"–उत्तर देते "नहीं मां! मैं तो सीधे चला जाता हूं। डर कैसे लगे।" मां बड़ा प्यार करती थी और उपाध्याय जी भी बड़ी भक्ति करते थे। एक बार मां बीमार पड़ी तो एटे से दौड़े आए। गाँव आकर ताऊ जी जो हिकमत करते थे उनको दिखाया। उन्होंने नाड़ी देखकर दवा लिखी। पर दवा के लिए तो एटे जाना था। ६ मील पैदल गए और ६ मील पैदल आये। १२ मील की यात्रा तीन घंटे में समाप्त की और दवा दोपहर के पहले ही पिला दी।

१८६५ ई० में आपने मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण की और प्रान्त भर में आपका स्थान चौथा था। उस समय आपकी अवस्था १४ वर्ष की थी पर उर्दू के काव्य आतिश, मीर, गालिब, जौक आदि के दीवान पढ़ डाले थे। उन दिनों हिन्दी का तो प्रचार बहुत कम था। मिडिल पास होते ही मामा ने कहा कि पटवारीगिरी की परीक्षा दे डालो। प्रार्थना पत्र दे दिया पर तीन रुपये फीस का प्रबन्ध न हो सका। सौभाग्यवश आपके ताऊ के लड़के श्री राधादामोदर बुलन्दशहर की कलक्ट्री में कापीनवीस थे। वे बड़े सज्जन थे। उन्होंने पत्र लिखा "मेरी उत्कट इच्छा है कि तुम्हें पढाऊं। तुम मेरे पास चले आओ।" आप जाकर अंग्रेजी पढ़ने लगे। अंग्रेजी मिडिल में भी सरकार से वजीफा मिला और आप अलीगढ़ के हाई स्कूल में पहुंच गए।

आर्यसमाज की ओर—

१८९८ तक आप सनातनी विचारधारा के थे। खड़ाऊं पहनते, नहाते, गणेश जी की पूजा करते। हुक्का पिया करते। बोर्डिंग के सभी लड़के पीते थे और जो भी नया विद्यार्थी आता उनका शिष्य हो जाता। जब आर्य समाज से संसर्ग हुआ तो संध्या सीखी और यह निश्चय हुआ कि तम्बाकू छोड़ी जाय। इसको छोड़ने के लिए पान खाना आरम्भ किया। इस प्रकार एक से दौलत लग गई। पर एक दिन दृढ़ता के साथ दोनों को छोड़ दिया। बोर्डिंग के लड़कों ने हंसी उड़ाई। पर उसका कुछ प्रभाव न पड़ा। अब भी छोटेलाल भार्गव के संसर्ग में आये। उन्होंने वैदिक आश्रम खोला और उसमें व्याख्यान और शिक्षा देने लगे। आर्यसामाजिक जीवन का यहीं से आरम्भ हुआ। श्री छोटेलाल भार्गव की दी गई शिक्षाएँ सफल हुईं और आर्यसमाज के प्रति आपकी अगाढ़ श्रद्धा आरम्भ हो गई।

सरकारी नौकरी—

१९०१ में मैट्रीकुलेशन में सफल हुए। इच्छा थी कि आगे और पढ़ा जाय, पर पारिवारिक जीवन के उत्तरदायित्व बढ़ गए थे। माता, स्त्री, स्त्री के भाई, अपने छोटे भाई का पालन करना था। प्रयाग के टीचर्स ट्रेनिंग कालेज में २ वर्ष अध्यापन किया। परीक्षा में सफल आने के कारण बिजनौर में ४०) रुपये पर सरकारी नौकरी १९०४ में लग गई। यहीं पर आपके दो पुत्र उत्पन्न हुए। समय संघर्षमय था। परिवार बड़ा तथा आय कम। ट्यूशन करके काम चलता। अपना अध्ययन भी करना था और समाज सेवा भी। पर हृदय में उत्साह था और ईश्वर की कृपा का सहारा। १९०६ में बारबंकी को (जो लखनऊ के पास है) तबादला हो गया। १९०८ से १९१७ तक आप इसी स्थान पर रहे। बाराबंकी का आर्यसमाज मंदिर आपके उद्योग तथा मित्रों के सहारे बना। यहीं पर रहते हुए आपने एफ०ए०,बी०ए उत्तीर्ण किया और १९१८ ई० में अंग्रेजी में एम. ए. किया। नगर तथा जिले में प्रचार चलता रहा। उस समय महात्मा नारायण प्रसाद जी (महात्मा नारायण स्वामी) गुरुकुल वृन्दावन के मुख्याधिष्ठाता थे। उनकी प्रेरणा पर आपने ग्रीष्मावकाश का समय कुछ वर्षों तक गुरुकुल में ही व्यतीत किया और अंग्रेजी की शिक्षा देते रहे।

सामाजिक कुरीतियों से मुठभेड़—

सामाजिक कुरीतियां बड़ी प्रबल हैं। लेशमात्र भी इधर से उधर हो जाय तो बवन्डर खड़ा हो जाता है। आरम्भ से ही अपने परिवार की धारा इधर से बदली। परिवार में बड़ियाँ नहीं बनती थीं। श्री उपाध्याय जी ने माता जी को समझाया कि बनाओ, कोई अनिष्ट न होगा। माता जी ने चिंतित हृदय से बड़ियां बनाई। जब वर्ष कुशल से बीता तो पुत्र की बातों पर

विश्वास बढ़ गया। ग्रहण पड़ा। माँ ने कहा कि "भोजन ग्रहण से पहले कर लो।" आपने माता जी को समझाया कि ग्रहण का तो भौगोलिक आधार है। आपने १९०४ में अपनी पत्नी श्रीमती कलादेवी का उपनयन संस्कार किया। सनातनी ही नहीं आर्यजगत में भी तूफान उठा। पंडितों ने कहा कि स्त्रियों का उपनयन न होना चाहिए। आपने पंडितों की शंकाओं को निराधार सिद्ध किया। सन् १९१७ में आपने एक और पग बढ़ाया। विधवा विवाह समाज में प्रचलित न था। आपने अपने छोटे भाई पं सत्यव्रत, बी०ए०,एल० टी० को तैयार किया और उनका बाल विधवा से विवाह करा दिया। जाति भर में तूफान उठ खड़ा हुआ। कुछ मित्र आपके साथ थे। सभा बुलाकर आपको जाति से बहिष्कृत करने का प्रयत्न किया गया। सम्बन्धियों से बायकाट कराया गया। पर आप अपने कार्य पर दृढ़ रहे। कालान्तर में सब आन्दोलन समाप्त हो गया।

सरकारी नौकरी से त्यागपत्र

सरकारी नौकरी करते हुए भी उपाध्याय जी ने अपने आर्य समाजिक कार्य में कोई शिथिलता न आने दी। बड़ी निर्भीकता से अपना कार्य करते। उत्सवों पर सभापति बनते, व्याख्यान देते, शास्त्रार्थ करते। कई बार आपके मुख्याध्यापक सनातनी विचार के मिले। उन्होंने प्रतिबन्ध लगाने चाहे, पर आपने निर्भीकता के साथ कह दिया "मेरे अपने धार्मिक विचार हैं और किसी को क्या अधिकार कि मेरे धार्मिक अधिकारों पर कुठाराघात करे।" स्कूल के काम में कभी त्रुटि न आने पाती थी। इस कारण अनेक बार अधिकारियों से आपकी शिकायत की गई पर उसका कोई फल न निकला। इन्सपेक्टर निरीक्षण करने आते, अपनी रिपोर्ट में आपकी अध्यापन शैली की प्रशंसा कर जाते।

पर यह सब होते हुए भी सरकारी नौकरी बन्धन प्रतीत होती और आपका स्वतंत्र आत्मा इस बन्धन से अपने को मुक्त कराना चाहता था। साथ साथ आप उस अवसर की भी प्रतीक्षा कर रहे थे कि आपके जीवन का एक-एक क्षण आर्यसमाज के कार्य में लगे। १९१७ में आप प्रतापगढ़ आ गए। यहाँ आपको डी०ए०वी० हाई स्कूल, प्रयाग का निमंत्रण मिला। श्री रमाकान्त जी आदि ने प्रयाग में डी० ए० बी० हाई स्कूल खोला था। मैट्रिकुलेशन के लिए मान्यता मिली थी। लोगों की इच्छा थी कि आप प्रधानाध्यापक का कार्य संभाल लें। आपने यह अवसर देखा और सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। मित्रों ने कहा कि १४ वर्ष आप सरकारी नौकरी कर चुके हैं और हेडमास्टरी का अवसर भी शीघ्र आने वाला है, आप नौकरी क्यों छोड़ते हैं। कुछ दिन काम करके पेंशन ले लीजियेगा। आपके हेडमास्टर ने भी समझाया, पर आप अपने निश्चय पर दृढ़ रहे और १२५) मासिक पर हेडमास्टर होकर आ गए।

डी. ए. वी. हाई स्कूल प्रयाग

१९१८ में आप प्रयाग आये थे और १९३६ ई० तक निरन्तर डी०ए०वी० स्कूल की सेवा

करते रहे। जिस समय आप आये थे स्कूल पर १५ हजार का कर्ज था। आपके निरन्तर प्रयत्न से स्कूल का कर्ज उतर गया। भवन के कई कमरे नये बने, जमीन ली गई। स्कूल की रजत-जयन्ती बड़ी धूमधाम से मनाई गई। विद्यार्थियों की संख्या बढ़ी और स्कूल का गौरव बढ़ा। आर्य समाज चौक के प्रधान हुए। जिले में प्रचार का कार्य सुदृढ़ किया। आर्य कन्या पाठशाला के मन्त्री रहे। जिस समय आप मैनेजर हुए पाठशाला हिन्दी मिडिल थी। कुछ वर्षों के प्रयत्न से इसको हाईस्कूल की मान्यता मिल गई। इसके अतिरिक्त सेवा समिति, अनाथालय आदि से आपका सम्बन्ध रहा। सन् १९१९ में आर्य प्रतिनिधि सभा का अधिवेशन प्रयाग में हुआ। आप उसके उपमंत्री बनाये गये और सभा का कार्यालय आगरा से उठकर प्रयाग में आ गया। १९३१ में आपको "आस्तिकवाद" पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला। १९३८ में झांसी में होने वाली 'दर्शन परिषद्' के सभापति चुने गये। हिन्दी साहित्य सम्मेलन से इसके उपरान्त भी सम्बन्ध रहा। महिला विद्यापीठ प्रयाग के निर्माण के समय आप उसके सदस्य रहे। इस प्रकार डी० ए०वी हाई स्कूल की अध्यक्षता करते हुए आप नगर तथा प्रान्त की प्रगतिशील संस्थाओं के कार्यों में सहयोग देते रहे।

हैदराबाद सत्याग्रह

हैदराबाद राज्य में आर्य और हिन्दुओं पर घोर अत्याचार होने लगे तो आर्यों ने शोलापुर में २५ दिसम्बर १९३८ को आर्य कांग्रेस बुलाई। इसके सभापति थे श्री आणे जी। इस कांग्रेस ने निश्चय किया कि सत्याग्रह आरम्भ कर दिया जाय। श्री उपाध्याय जी इस कांग्रेस में सहस्रों आर्यो की तरह सम्मिलित हुए थे। कांग्रेस समाप्त ई तो आप विदा लेने महात्मा नारायण स्वामी के पास गए और कहा "जब मेरी सेवाओं की आवश्यकता हो तो आप आदेश दे दें।" स्वामी जी ने पूछा—"क्या आपको अवकाश है। आपने कहा—अवकाश तो नहीं है, परन्तु यदि ऐसे काम के लिए श्रीमुख से आदेश होगा तो अवकाश निकाला ही जायेगा।" नागपुर होते हुए जो प्रयाग पहुँचे तो महात्मा जी का कार्ड मिला। "तुम्हारी जरूरत है। तुम फौरन चले आओ।" पत्र पाते ही आपने स्कूल में अवैतनिक छुट्टी के लिए अर्जी दे दी और शोलापुर को चल दिए। श्री महात्मा नारायण स्वामी जी, स्वामी स्वतन्त्रतानन्द जी, तथा दो एक संन्यासी एक मकान लेकर डटे थे। कार्यालय में कई सहायकों की आवश्यकता थी। उपाध्याय जी का अब सारा समय कार्यालय के कार्य में लगने लगा। सत्याग्रह आरम्भ हो गया। जत्थे पर जत्थे जाने लगे। महात्मा नारायण स्वाभी जी महाराज जेल गए सूचना विभाग का सारा कार्य आपके आधीन था। लेख, खबरें और तार लिखे जाते और भारत के सभी स्थानों को भेजे जाते। २५ फरवरी १९३९ के रहबरे डक्कन समाचार पत्र पर निजाम साहब की एक गज़ल छपी।

बन्द नाकूस हुआ, सुनके नदाय तकबीर
जलजला आ ही गया सिलसिले जुन्नार पै भी।

अर्थात् मस्जिदों में मुसलमानों की अल्लाह अकबर की आवाज सुनकर हिन्दुओं के दिल दहल गये। उनके मंदिरों के शंख बन्द हो गए और उनके जनेऊ शरीर की कंपकंपी के कारण हिल उठे।

यह पद्य हैदराबाद के निजाम उस्मान अली साहेब की मनोवृत्ति का द्योतक था। इनके उत्तर में श्री उपाध्याय जी ने यह नज्म लिखी—

तीन धागें थे फ़कत सूत के कच्चे लेकिन,
बाजी जुन्नार ने ली हैदरी तलवार पै भी।

वास्तव में उपाध्याय जी की भविष्य वाणी ठीक निकली। तीन-चार मास में ही निजाम की सरकार की तलवार कुंठित प्रतीत होने लगी। यह उत्तर आपने महात्मा खुशालचन्द (वर्तमान श्री आनन्द स्वामी) को सुनाया। उनको बहुत पसन्द आया और उन्होंने फौरन समाचार पत्रों में भेज दिया।

उपाध्याय जी जनवरी से मई तक शोलापुर में रहे। उनका काम था पत्र-व्यवहार करना, समाचार-पत्रों और आर्यसमाज की सत्याग्रह की प्रगति से सुविज्ञ रखना। प्रतिरोधी लेखकों का उत्तर देना। निजाम सरकार से निकले पंम्फलेंटों तथा फर्मानों की आलोचना करना और पुस्तकें छपवाने के लिए दिल्ली भेजना। मई मास में आप से हैडक्वाट्र्स से दिल्ली में रहने को कहा गया जिससे मंत्री श्री सुधाकर जी का हाथ बटा सकें। जून मास में आप हैदराबाद भेजे गए कि जाकर मूल फर्मानों और पत्रों की उपलब्धि करें। अंग्रेज सरकार जब निजाम से पूछती तो वे कुछ का कुछ उत्तर दे देते। इसलिए मूल फर्मान सरकार के सामने रखने आवश्यक थे। महात्मा गांधी जी से जब कहा गया कि निजाम साहब स्वयं कवितायें लिखकर भड़काते हैं तो उनको भी विश्वास न हुआ। लोग हैदराबाद दौड़ गए कि 'रहबरे दकन' का वह पर्चा जिसमें यह कविता छपी है मिल जाय, पर हैदराबाद में न मिली। अकस्मात् उपाध्याय जी को याद आई कि एक प्रति को प्रयाग ले गए थे। शायद वहां मिल जाय। आप प्रयाग आए और वह अंक मिल गया। उसका फोटो बनवाया गया। ब्लाक भी बना।

सत्याग्रह खूब जोरों पर चल रहा था। ऐसी अवस्था में निजाम सरकार के अधिकारियों से फर्माट प्राप्त करना सरल कार्य न था। पर अब आप सम्वाददाता बनकर दिल्ली से चले। हैदराबाद के पब्लिसिटी विभाग से मिलें। वे समझते थे कि दिल्ली से सम्वाददाता आया है। वे सम्वाददाता के प्रति उदासीन कैसे होते। इस प्रकार बहुत सा साहित्य मिला। उन्होंने बताया

कि आर्य लोग किस प्रकार झूठा प्रोपेगेंडा करते हैं। व उपाध्याय जी ने उनसे पूछा कि "यह तो बताइये कि आप की जेलों में जो मर जाते हैं उनकी लाशों पर घावों के निशान क्यों मिलते हैं ?" उसका उत्तर मिला "अजी हम तो रोगियों की भरसक चिकित्सा करते हैं, अच्छे से अच्छे डाक्टर उनको देखते हैं, पर जब आर्य लोगों को मृतकों की लाशें वापिस दी जाती हैं तो वह चाकू से घाव करके फोटो ले लेते हैं।"

इस प्रकार सम्वाददाता के रूप में आप हैदराबाद में घूमे और सैंकड़ों चित्र मन्दिरों और मस्जिदों के लेकर आए। मस्जिदें अच्छी अवस्था में थीं। मन्दिर फूटे थे और उनको बनवाने की आज्ञा न थी। मस्जिदों पर झंडे लहरा रहे थे, मन्दिरों पर झंडे फहराने की आज्ञा न थी। इसी प्रकार भग्न मूर्तियों की फोटों लेकर उपाध्याय जी दिल्ली पहुंचे। चित्रों के ब्लाक बनवाए गए।

जुलाई मास में डी० ए० वी० हाई स्कूल छुट्टियों के उपरान्त खुलना था। उसमें जाना आवश्यक था। पर श्री देशबन्धु गुप्त ने कहा कि ऐसी अवस्था में आपको छोड़ा नहीं जा सकता। उपाध्याय जी ने नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और दिल्ली चले आए।

जो सामग्री आप ले गए थे उससे पांडुलिपि बनाकर महात्मा गांधी को दिखाई गई। सरकार के प्रमुख अधिकारियों को दो गई। इग्लैंड की पार्लियामेंट में जब सत्याग्रह के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे गए तो उपाध्याय जी ने जेल में बलिदान हुए व्यक्तियों के चित्र एकत्रित करके इग्लैंड भेजे। निजाम की सरकार अपने धन के मद में झूठा प्रोपगेंडा करती और धन के बल पर लोगों के मुंह बन्द करना चाहती थी। पर आर्यसमाज के प्रोपगेंडे के सामने वह नहीं ठहर सकी। भारत के वाइसराय के पास एक प्रार्थना पत्र (memorandum) भी भेजा गया था जिसमें देश के प्रमुख नेताओं के हस्ताक्षर थे। इसके सम्बन्ध में भी उपाध्याय जी नेताओं से मिले। महात्मा मालवीय जी को जो रुग्ण थे, काश्मीर जाकर स्थिति बताई। इस प्रकार श्री उपाध्याय जी की सेवायें बहुमुखी थीं।

सौभाग्यवश ८ अगस्त १९३९ को निज़ाम राज्य में आर्यसमाज को विजय मिली। २२ अगस्त को सत्याग्रह नेता दिल्ली आए। सत्याग्रह तो बन्द हो गया। उसका एक विस्तृत वृत्तान्त श्री उपाध्याय जी ने सभा की ओर से लिखा, परन्तु निजाम राज्य के अनुरोध पर उस वृत्तान्त का प्रकाशन करना सभा ने स्थगित कर दिया।

सार्वदेशिक सभा ने यह निश्चय किया कि निजाम राज्य में आर्यसमाज का कार्य ठोस रूप से किया जाय। इसके लिए एक उपदेशक विद्यालय शोलापुर में खोला गया। भाई बन्सीलाल को प्रबन्धक नियत किया गया। राज्य भर से उत्साही नवयुवक छांट कर लिए गए जिनको शिक्षा दी जा सके। श्री उपाध्याय जी अब शोलापुर आकर उसका प्रबन्ध करने लगे। राजगुरु श्री

धुरेन्द्र शास्त्री एवं श्री गोपदेव जी के सहयोग से आपने उपदेशक विद्यालय की वर्ष भर देख भाल की।

दक्षिण भारत में प्रचार

उपदेशक विद्यालय के आचार्य की हैसियत से उपाध्याय जी शोलापुर में रहे। इसी क्रम में वे अक्तूबर मास में मद्रास आए और वहां दो मास तक प्रचार कार्य में लगे रहे। मद्रास में श्री केशवदेव जी ज्ञानी, श्री बी० एम० शर्मा आदि पहले से कार्य करते थे। दिवाली का उत्सव मनाया गया। आपके व्याख्यान अंग्रेजी में होते रहे। मंगलौर, कालीकट, कारीकल, उडूपी, अनीक्यूल्य, कोचीन, एलेप, ट्रावनकोर की राजधानी त्रिवेन्द्रम, कुमारी अन्तरीप, रामेश्वरम्, धनुषकोटि आदि में आप प्रचारार्थ गए। इसी बीच आप को तार मिला कि आपके अनुज श्री पं० सत्यव्रत बी० ए० एल० टी का देहान्त हो गया है। आप प्रयाग आए। दो सप्ताह बाद फिर कार्यक्षेत्र में चले गए। आपने अब दक्षिण प्रान्त में प्रतिनिधि सभा के निर्माण का निश्चय किया। १९४० में हिन्दू महासभा का अधिवेशन मदुरा में था। इसी अवसर पर आपने दक्षिण प्रान्तीय आर्य सम्मेलन का आयोजन किया। महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज ने सभापति का आसन ग्रहण किया। वीर सावरकर, लाला नारायणदत्त, महाशय कृष्ण आदि नेता भी सम्मलित हुए। इस प्रकार दक्षिण में प्रचार का एक क्रम बना।

उत्तर प्रदेशीय आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान

आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ उपाध्याय जी का सम्बन्ध १९१७ से हुआ जब आप अन्तरंग के सदस्य बनाए गए थे। आप उपमंत्री भी रहे और अपके समय में सभा का कार्यालय प्रयाग में रहा। इसके उपरांत अनेक पदों पर रहे। जब शोलापुर विद्यालय चल रहा था तो राजगुरु जी ने अपना त्यागपत्र दे दिया और अन्तरंग ने आपको प्रधान पद लेने को बाध्य किया, पर उपाध्याय जी ने स्वीकार न किया। १९४१ में पुनः बल देने पर आपने अपनी स्वीकृति देदी। प्रांत का सारा भार आपके कन्धों पर आ पड़ा।

आर्य प्रतिनिधि सभा का १९३९ से पूर्व कोई अपना भवन न था। इस वर्ष पं० रूपचन्द्र शर्मा ने लखनऊ में एक कोठी सभा के लिए ३७०००) रुपए में खरीद ली थी। जब उपाध्याय जी प्रधान हुए तो इस कोठी पर पौने अठारह हजार रुपया ऋण था। पर आप यह विश्वास करते थे कि प्रांतीय सभा का कार्यालय एक स्थान पर केन्द्रित हो जाय और लखनऊ प्रान्त की राजधानी थी अतः उसका यहीं होना अधिक उचित था। पर प्रश्न था कि ऋण कैसे दिया जाय। कुछ व्यापार-निपुण व्यक्तियों ने सलाह दी कि कोठी के ५१०००) मिल रहे हैं इसको बेच दिया जाय। पर उपाध्याय जी राजी न हुए। श्री राजबहादुर जी सभा लेखक को लेकर निकल पड़े। गांव-गांव

और नगर-नगर में मांगते फिरे। जब चार वर्ष उपरांत प्रधान पद छोड़ा तो पूरा कर्ज अदा हो चुका था। इसके अतिरिक्त ७०००) कोष में जमा था। आपने उपदेशक सम्मेलन निमंत्रित किया, जिस में प्रचार को शैली और कार्यप्रणाली पर विचार-विनमय होते रहे। प्रान्त का कार्य बड़ी उत्तम रीति से चलता रहा। यह सब उपाध्याय जी की प्रतिभा का परिचायक था। चार वर्ष के उपरान्त भी लोग आपको प्रधान पद देना चाहते थे, आपने स्वीकार नहीं किया। आप इस सिद्धान्त के पोषक थे कि एक व्यक्ति को चार वर्ष से अधिक एक पद पर नहीं रहना चाहिये।

शाहपुरा में

सन् १९४४ में मित्रों का आग्रह हुआ कि आप शाहपुरा में जाकर शाहपुराधीश के पौत्र की शिक्षा का भार स्वीकार कर लें। इस समम शाहपुरा राज्य के दीवान श्री मदनमोहन जी सेठ थे। उनका तो विशेष आग्रह था। यह सोच कर कि वहां जाने से आर्यसमाज को लाभ ही होगा, आपने जाना स्वीकार किया। आप १८ मास शाहपुरा में शिक्षा का कार्य करते रहे। फिर अवसर पाते ही चले आये। शाहपुरा के राज्य परिवार ने पंडित जी को बड़े आदर से रखा और शाहपुराधीश तो सदा उनको स्मरण करते रहे।

सार्वदेशिक सभा का मन्त्रित्व

जब आप शाहपुरा में थे तो श्री घनश्यामसिंह जी गुप्त का पत्र मिला—"सिन्ध में सत्याग्रह होने वाला है। फौरन चले आओ।" उपाध्याय जी ने लिखा। "मैं तैयार हूँ।" पर सिंध की अवस्था और हैदराबाद की अवस्था में भेद है।" २८ नवम्बर १९४९ में आप दिल्ली लौट आए और सार्वदेशिक सभा के मंत्री का पद संभाल लिया। महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज सत्याग्रह के सार्वधिकारी बनाए गये। उनकी ८० वर्ष की अवस्था थी। उनका पत्र मिला—"मैं शीघ्र सत्याग्रह के लिये कराची जाने वाला हूं। सभा के कार्यालय के लेखक श्री प्रेमचन्द से कहो कि सिंध जाने को तैयार हो जाय।" श्री स्वामी जी के जाने का प्रबन्ध कर दिया। पर सत्याग्रह से लौटते ही स्वामी जी की दशा चिन्तनीय हो गई। महाशय कृष्ण जी लाहौर ले गये। श्री उपाध्याय जी लाहौर गये। वहां आदेश हुआ कि पटने में स्वामीजी के इलाज का प्रबन्ध करो। परन्तु पटने के डाक्टरों ने लाहौर के विशेषज्ञों की रिपोर्ट पर कह दिया कि अब क्या होना है। बरेली में उनका देहावसान हो गया। उनको सुविधा पहुंचाने के विचार से उपाध्याय जी बरेली म मिलें। देहावसान परे भी बटेंली पहुंचे।

सार्वदेशिक सभा के मंत्रित्व का कार्य लगभग ५ वर्ष तक करते रहे। प्रथय वर्ष महात्मा नारायण स्वामी जी प्रधान रहे। दूसरे वर्ष उनकी बीमारी के कारण श्री मदनमोहन सेठ कार्यकर्ता प्रधान रहे। दो वर्ष श्री इन्द्रजी प्रधान रहे। इन सब महानुभावों का सहयोग मिलता रहा

श्री राजगुरु धुरेन्द्र शास्त्री, श्री नारायणदत्त जी ठेकेदार सदा सत्परामर्श देते रहें। सब सज्जनों का श्री उपाध्याय जी पर पूरा विश्वास था। वे समझते थे कि जो कुछ उपाध्याय जी करते हैं वह ठीक ही होगा, अतः किसी भी कार्य में बाधा न मिली। जो भी प्रस्ताव रखा वह ठुकराया नहीं गया।

इस मंत्रित्व काल की कुछ विशेषतायें निम्नस्थ हैं :—

(१) सार्वदेशिक प्रकाशन लिमिटेड की स्थापना—आप का विचार था कि आर्यसमाज का एक दैनिक पत्र दिल्ली से निकाला जाय। इस संस्था की योजना बन भी गई थी। लाला नारायणदत्त ने विशेष उत्साह दिखाया। दो लाख जमा हो गया था। एक भूमि पटौदी हाउस के निकट दरियागंज में खरीदी गई। प्रेस बना, 'पुण्य भूमि' नामक पत्र निकाला गया। बाद में कुछ पुस्तकें भी छपीं।

(२) दयानन्द पुरस्कार निधि—श्री उपाध्याय जी की अभिलाषा हुई कि जिस प्रकार हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से पुरस्कार दिए जाते हैं, उसी प्रकार सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा के आधीन 'दयानन्द पुरस्कार निधि' की स्थापना की जाय जिसकी ओर से एक पुरस्कार आर्य साहित्यकार को मिल सके। इस निधि में ५७०००) जमा हो गए। उसका कार्य चल रहा है।

(३) हिन्दू कोड बिल—इसी काल में हिन्दू कोड बिल का निर्माण हुआ। इस विषय पर आर्यसमाजियों में भी ऐक्य न था। कुछ इसके पक्ष में थे, कुछ विरोधी। इस सम्बन्ध में श्री उपाध्याय जी अपने विचार निर्भीकता पूर्वक प्रकट करते रहे। आपका विचार था कि आर्यसमाज एक सुधार संस्था है। इसलिए इसको सुधार कार्य में किसी भी प्रकार पीछे न रहना चाहिए।

दक्षिणी अफ्रीका में ६ मास—

भारतवर्ष के सभी प्रमुख भागों में श्री उपाध्याय जी प्रचार कर चुके थे। अब यह प्रबल इच्छा जागृत हुई कि विदेशों में जाकर ऋषि-ऋण से उऋण हुआ जाय। आप इस प्रकार के अवसर की प्रतीक्षा में थे। अक्तूबर १९४९ में नैटाल (दक्षिणी अफ्रीका) की आर्य प्रतिनिधि सभा ने सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा से प्रार्थना की कि फरवरी १९५० में होने वाली रजत जयन्ती के अवसर पर आपको भेज दें। आपने उस अवसर से लाभ उठाना चाहा और स्वीकारी भेज दी। ११ नवम्बर को आप ट्रावनकोर गए हुये थे, दिल्ली से आदेश मिला कि फौरन आइए। अफ्रीका से मार्ग-व्यय आगया था और आप ८ दिसम्बर १९४ को बम्बई से अफ्रीका के लिए चल दिए।

जहाज पर लम्बा सफर था। एक उर्दू की कविता लिख डाली—

वतन से दूर कहीं से कहीं चले आए।
नई जमी पै नए आसमां तले आए॥

खुदा के बन्दों को क्या दूर क्या नजदीक।
जहां कहीं भी वह आए वहाँ भले आए ॥

अभी तो उम्र की किश्ती का ठीक है अन्दाज
बखैर पर हुये जितने मरहले आये हैं।

उसी का बहर है, किश्ती उसी की, लंगर भी
उसी के फैज से इस कदर चले आये ॥

है कुछ तो राज कि हस्ती हमारी है कायम।
अगर्चे लाखों ही दुनिया में जलजले आये ॥

कराची होता हुआ जहाज एक सप्ताह में मोम्बासा पहुँचा। आर्य भाइयों ने स्वागत किया। हिन्दू समाज की ओर से व्याख्यान हुआ। जंजीबार से दारुसलाम आये। कुँवर आर्य कन्या पाठशाला में व्याख्यान दिया। ३० दिसम्बर को जहाज डर्बन के बन्दरगाह पर खड़ा हुआ। श्री सत्यदेव जी मंत्री तथा बीसियों सदस्य स्वागत के लिये आये थे। वैदिक धर्म की जय होने लगी। डर्बन में आपके ठहरने का प्रबन्ध डा० एन० पी० देसाई के यहां किया गया था। आप उच्च कोटि के डाक्टर हैं। १२४ दिन तक उनका आतिथ्य स्वीकार करना पड़ा। वे और उनकी धर्मपत्नी सदा यह ध्यान रखते थे कि किसी प्रकार का कष्ट न हो और घर का सा प्रबन्ध हो सके।

२ जनवरी १६५० को डर्बन में आपके स्वागतार्थ सभा हुई। डर्बन में अंग्रेजी में आपके ६ व्याख्यानों की योजना की गई। विशेषता यह थी कि प्रत्येक व्याख्यान में एक प्रतिष्ठित विद्वान् सभापति के लिये चुना गया।

(१) ६ जनवरी—धर्मों का समन्वय—सभापति श्री मौरिस बेब।
(२) १० जनवरी—ईश्वर जीव प्रकृति सभपति—डाक्टर मैबेल पामर एम० ए०।
(३) १२ जनवरी—भारत के धार्मिक सुधारों के आन्दोलनों का इतिहास-सभापति डा० देसाई
(४) १६ जनवरी—सायंस और धर्म—सभापति डाक्टर एलन टेलर।
(५) १८ जनवरी—उपनिषदों के धार्मिक विचार—सभापति श्री एस० एल० सिंह।
(६) १६ जनवरी–जीवन का मुख्य ध्येय सभापति श्रीमती ए० एम० जी मेटम, डिप्टी मेयर।

इन्हीं दिनों आपके दस और व्याख्यान भिन्न-भिन्न विषयों पर डर्बन में हुये। जितने भी व्याख्यान दिये गये सब में विशेषता थी। विषयों का चयन प्रबन्ध करने वालों के हाथ में था। आपको विषय दे दिया जाता। जब प्रातः भ्रमणार्थ निकलते उसी समय में व्याख्यान की रूपरेखा बना लेते। जिन सभाओं में अंग्रेज और भारतीय दोनों होते उनमें पूर्व और पश्चिम के सम्मिलन पर बल दिया जाता।

नेटाल के अन्य नगरों में प्रचार की दृष्टि से आपका कार्यक्रम बनाया गया। पीटर मरिट्स-वर्ग, लेडी स्मिथ, डनहौजर, न्यूकासिल, डंडी, ग्लैनको आदि स्थानों में आठ व्याख्यान हुये।

२९ जनवरी को डर्बन में पहुंच गये। ३० जनवरी को गांधी दिवस के अवसर पर डर्बन में व्याख्यान हुये।

अब मध्य नेटाल में प्रचार आरम्भ हुआ। प्लेसिसलेअर, मौएटपैंटिज, पेंटिक आदि में ६ व्याख्यान हुये।

इस प्रकार प्रचार करते हुये १५ फरवरी १९५० का दिन आया जब आर्य प्रतिनिधि सभा की रजत जयन्ती होनी थी। १५ फरवरी से २६ फरवरी तक पूरे १२ दिन जयन्ती मनाई गई। २६ फरवरी को श्री आर० बोधासिंह प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा नैटाल ने नये भवन की नींव डाली और दस हजार पौंड देने का वचन दिया। २५ फरवरी को सर्व धर्म सम्मेलन था। जयन्ती के अवसर पर आपने १० व्याख्यान दिये। इसके अतिरिक्त डर्बन विश्वविद्यालय, थियासोफीकल सोसाइटी (यूरोपियन संस्था), वाई० एम० सी० ए० (यूरोपीयन संस्था) में भी व्याख्यान दिये।

आपका पासपोर्ट ३० मार्च तक के लिये था। मित्रों के अनुरोध से पासपोर्ट की अवधि बढ़ा दी गई और ट्रांस्वाल और केपकोलोनी में यात्रा करने की अनुमति मिल गई। रेल से जोहान्सबर्ग, फिर कार से प्रिटोरिया गये। वायुयान से किम्बरले, केपटाउन, पोर्ट एलिजबेथ, ईस्ट लएडन आदि में व्याख्यान देकर पाँच सप्ताह में डर्बन लौट आये। यदि वायुयान का साधन न मिलता तो इतनी लम्बी यात्रा समाप्त न होती।

एक सप्ताह अब और डर्बन में रहना था। विदाई का रोचक प्रोग्राम बना। कई सहभोज दिये गये और विदाई की सभायें हुईं। ३० अप्रैल को डर्बन में एक सार्वजनिक सभा की गई। विदाई में १०१ पौंड अर्थात् लगभग १३००) रुपये निजी उपयोग के लिये दिये गये। सनातन धर्म-सभा ने १५ गिन्नियां दीं। उपाध्याय जी ने यह सब सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा को भेंट कर दिया कि इस धन से दक्षिणी अफ्रीका वालों के लिये साहित्य तैयार किया जाय। ३ मई को सार्वजनिक भोज दिया गया। ४ मई को २ बजे पश्चात् करंजा जहाज पर पहुंचे। ५ मई को १० बजे आर्य भाई-बहिनों ने आपको विदाई दी। जहाज चल पड़ा।

दक्षिण-पूर्व ऐशिया की यात्रा—

आर्यसमाज मांडले (बर्मा) के मंत्री श्री शादीलाल जी ने श्री उपाध्याय जी को निमंत्रण दिया। इस अवसर को भी आपने हाथ से न जाने दिया। १२ दिसम्बर को ७ बजे कलकत्ते से हवाई जहाज पर चले और दोपहर होते-होते रंगून पहुँच गये। हवाई अड्डे पर डा० ओम्प्रकाश तथा अन्य आर्य भाई स्वागतार्थ आ गये थे। रंगून के आर्य भाइयों ने उपाध्याय जी को दिसम्बर-भर अपने यहाँ ही रहने को बाध्य किया। श्रीमती लुम्बा के ऊपर, जो आर्यसमाज रंगून की प्रधान थीं, भोजन, निवास का भार पड़ा। २७ दिसम्बर को रंगून विश्वविद्यालय की बर्मा-भारत-संस्कृति-समिति का अधिवेशन होने वाला था। डा० ओम्प्रकाश ने अनुरोध किया कि इस अवसर पर पंडित जी का व्याख्यान हो। व्याख्यान का विषय था A bird's eyeview of Vedic Philosoply"। कुछ व्याख्यान आर्यसमाज मंदिर रंगून में हुए। २१ दिसम्बर १९५१ को आपके

श्री पं० गङ्गाप्रसाद जी उपाध्याय, एम. ए.
बैंकाक के भारतीयों की एक सभा में भाषण देते हुए ।
बैंकाक स्थित भारतीय राजदूत श्री कृपलानी भी उपस्थित हैं

श्री पं० गङ्गाप्रसाद जी उपाध्याय, एम. ए.,
दक्षिण अफ्रीका की एक सभा में भाषण देते हुए

स्वागत में एक बड़ी चायपार्टी दी गई जिसमें कई सौ सज्जनों ने भाग लिया, जिनमें भारत के राजदूत, जस्टिस ऊ तई मौंग बर्मा के चीफ जस्टिस, ह्यूमेनीटेरियन लीग के मंत्री ऊसान ल्विन, अमरीका के अर्थ विशेषज्ञ मिस्टर सोमबर्ग भी थे। अंग्रेजी में व्याख्यान हुआ। अखिल ब्रह्मदेशीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, रामकृष्ण मठ, मारवाडी युवक समाज, ह्यूमेनिटेरियन लीग में व्याख्यान होते रहे।

३० दिसम्बर को हवाई जहाज से आप मांडले आये। आप श्रीरामलाल गुलाठी के स्थान पर ठहराये गये। समाज मन्दिर विशाल बना है उसी में व्याख्यान होते रहे। २७ जनवरी को मांडले के प्रसिद्ध एडवोकेट ऊ खिन मांडले के घर पर व्याख्यान हुआ। आपके प्रभाव से बर्मा-भारत-कल्चर लाज की स्थापना की गई।

२८ जनवरी को आप रंगून लौट आये। अखिल बर्मा हिन्दी साहित्य सम्मेलन का वार्षिकोत्सव ४-५ फरवरी को मनाया गया। २ फरवरी को अखिल वर्मा इंडियन कांग्रेस का उत्सव था। इन दोनों में आपके व्याख्यान हुए।

६ फरवरी को रंगून से लाशो गये। यहाँ पर आपका व्याख्यान हुआ। सभापति का आसन लाशो के मेयर ऊ बा ई ने ग्रहण किया। कुछ मुसलमानों ने व्याख्यान सुनना चाहा। उनके लिये व्याख्यान का विषय रक्खा गया "आध्यात्मिक दुःख ही सब दुखों का मूल है।"

१५ फरवरी से २४ तक आप मांडले में रहे। २४ फरवरी को बैंकाक (स्याम) के लिये चल दिये। रंगून आये, पासपोर्ट ठीक कराया और ३ मार्च को थाइलैंड की राजधानी बंगाल में आगये। समाज के मंत्री तथा प्रधान हवाई अड्डे पर स्वागतार्थ मिले। आप २२ मार्च तक बैंकाक में रहे। फिर सिंगापुर के लिये प्रस्थान किया। थाई-भारत-कलचर लाज के हिन्दू हाई स्कूल के हाल में व्याख्यान होते रहे। ९ मार्च को आर्यसमाज में व्याख्यान हुआ। १२ मार्च को होली के उत्सव में सम्मिलित हुये। आर्य भाइयों का आग्रह था कि सिंगापुर में दो मास रहा जाय पर मांडले का उत्सव १८ अप्रैल को था जिसमें ब्रह्मदेशीय आर्यसभाओं के प्रतिनिधियों को निमंत्रित किया गया था। १० अप्रैल से १८ मई तक आप मांडले में रहे और सदा आपके व्याख्यान होते रहे।

इस यात्रा में श्री उपाध्याय जी के उद्योग से काफी समाज का प्रचार बढ़ा। आर्यसमाजियों में उत्साह आया और धर्मप्रचार में उनकी रुचि बढ़ी।

चीनी तथा बर्मी सत्यार्थप्रकाश—

श्री उपाध्याय जी ने निश्चय किया कि विदेशी भाषाओं में सत्यार्थप्रकाश के संस्करण निकाले जायें। दिल्ली के श्री गोविन्दराम जी ने सहायता देने का वचन दिया। प्रयाग विश्वविद्यालय के चीनी भाषा के प्रोफेसर डा० चाऊ को आपने यह कार्य सौंपा। सत्यार्थप्रकाश का अनुवाद हुआ, चीनी संस्करण छपकर तैयार होगया।

दुर्भाग्यवश गोविन्दराम का देहावसान हो गया। इससे बड़ी अड़चन पड़ी। बनारस के श्री कित्तिमा ने बर्मी भाषा में अनुवाद करना प्रारम्भ कर दिया था। उनको रुपया देना था। सौभाग्य

से यह अनुवाद पूरा हो गया है और इसका प्रकाशन रंगून की आर्यसमाज कर रही है। आपका विचार था कि पांडीचरी जाकर फ्रेंच में अनुवाद कराया जाय। पर यकायक आप रुग्ण हो गये, श्रीमती कला देवी जी की अवस्था शोचनीय हो गई। काम रुक गया।

श्री उपाध्याय जी का जीवन वृत्त अधूरा रह जायगा। यदि इसमें उनकी धर्मपरायण पत्नी श्रीमती कलादेवी का उल्लेख न किया जाय। अधिक शिक्षा न पाकर भी उन्होंने जीवन भर बड़े धैर्य और त्याग से कार्य किया। श्री उपाध्याय जी के मार्ग में वे सदा सहायक ही रहीं। आर्यसमाज में उनकी अपार भक्ति है। आपने ३५००) प्रयाग के आर्यसमाज मन्दिर चौक के निर्माण में दिये हैं। आपने डी० ए० वी० हाई स्कूल में १०००) का दान दिया है। आर्य कन्या पाठशाला की आप ११ वर्ष तक मंत्राणी रहीं। आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश की कई वर्षों तक सदस्या रहीं हैं। स्त्री समाज अनुसूइया प्रयाग की आप बीस वर्षों से प्रधान हैं।

उपाध्याय जी का परिवार—

उपाध्याय जी का एक बड़ा परिवार है। ४ पुत्र, एक पुत्री, ४ पुत्रवधुएं, १ जामाता, ८ पौत्र, ४ पौत्रियां, १ दौहित्री, १ दौहित्र, १ पौत्रवधू तथा एक प्रपौत्री है। परिवार के सदस्यों की संख्या ही अधिक नहीं है, उपाध्याय जी ने उन्हें अधिक से अधिक गुणी बनाने का यत्न किया है। सबसे बड़े पुत्र डा० सत्यप्रकाश, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में रसायन शास्त्र के प्राध्यापक, विद्वत्ता, सरलता आदि गुणों से युक्त सज्जन हैं। वे हिन्दी के एक अच्छे लेखक एवं रसायन शास्त्र के माने हुए विद्वान् हैं। दूसरे पुत्र श्री विश्वप्रकाश आर्य समाज के अच्छे कार्यकर्त्ता हैं। तीसरे पुत्र श्री श्रीप्रकाश दयानन्द कालेज, कानपुर में प्राध्यापक हैं और अच्छे सामाजिक कार्यकर्त्ता हैं। सबसे बड़ी पुत्र-वधू श्रीमती रमा देवी जी, पी० एच० डी० आर्य कन्या इण्टर कालेज प्रयाग की प्रिंसिपल हैं। अन्य सदस्य भी अपने-अपने कार्यक्षेत्र में विशेष स्थान रखते हैं। इस प्रकार के शिक्षा, सामाजिक सेवा, लेखन कला आदि विशेषताओं से पूर्ण सदस्वों वाले कम परिवार होंगे। कहने की आवश्यकता नहीं कि सबका श्रेय श्री उपाध्याय जी और उनकी धर्मशीला पत्नी श्रीमती कलावती देवी जी को है। इसमें कोई अत्युक्ति नहीं कि लौकिक और पारलौकिक दोनों दृष्टियों से उपाध्याय जी का एक सफल जीवन है और वह बहुतों के लिए आदर्श का काम कर सकता है।

—:—
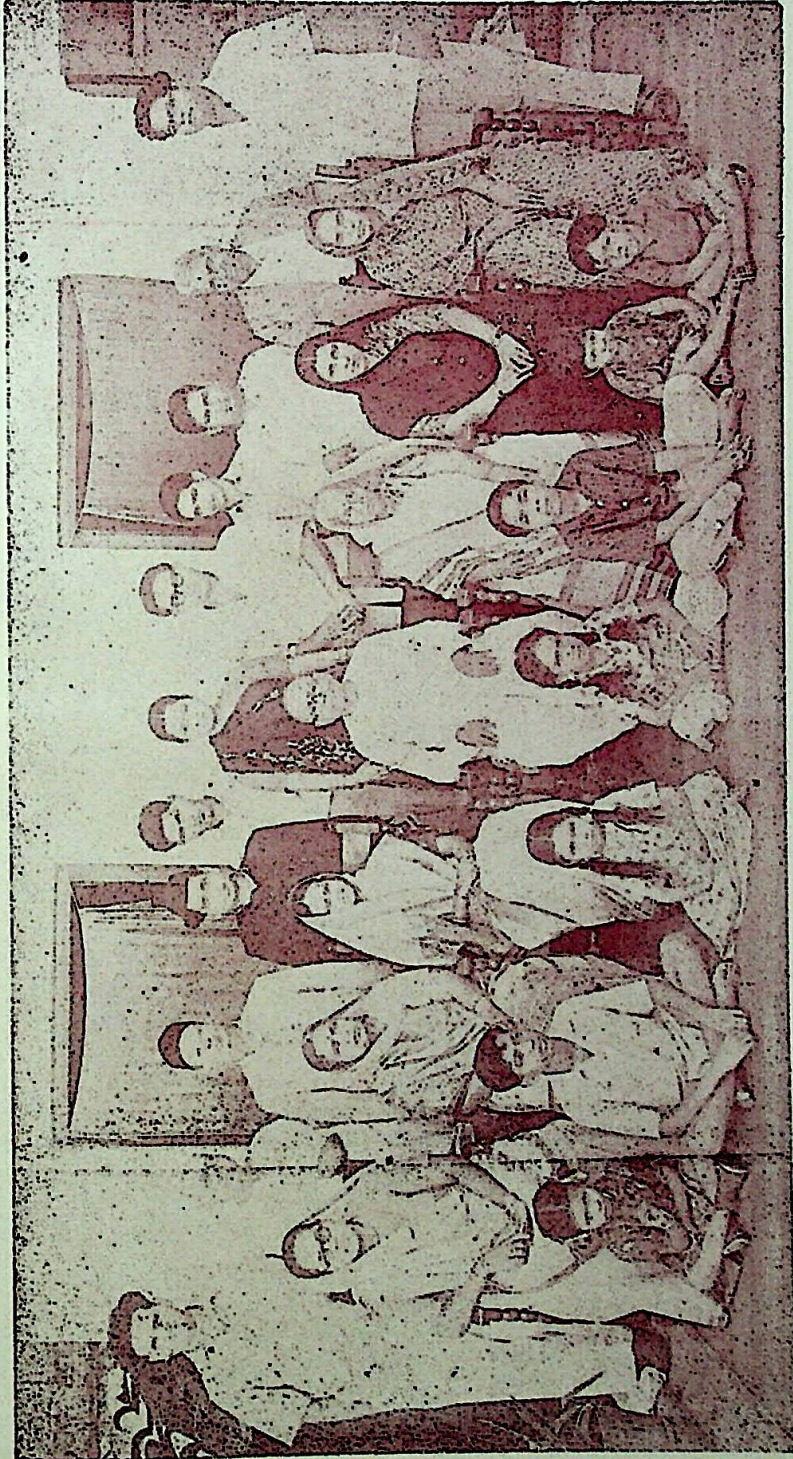
श्री पं० गङ्गाप्रसाद जी उपाध्याय, एम. ए. अपने परिवार के साथ

श्री पं० गङ्गाप्रसाद जी उपाध्याय, एम. ए.
तथा उनकी पत्नी श्रीमती कलावती देवी जी।

जिन्हें मैंने ५० वर्ष तक पास की आँखों से देखा

डा० विद्याभूषण विभु एम. ए., डी. फिल.

प्रजापति के उपदेशात्मक तीनों 'द' (दया, दान, दमन) का समन्वय जिस व्यक्ति के जीवन में हो वही महापुरुष या महात्मा कहलाने का अधिकारी है। विगत जीवन के पर्यालोचन से आदरणीय श्री पं० गङ्गाप्रसाद उपाध्याय जी के जीवन में इन तीनों गुणों का समुच्चय देखने को मिलता है। दयालुता उनके स्वभाव का एक अङ्ग ही बन गई है। जीवन के आरम्भ में पितृहीनताजन्य अर्थ-कष्टों तथा अन्य संकटों को दीर्घकाल तक उन्होंने स्वयं झेला है। जीवन के संघर्षों का सामना किया है। इसलिए वे दूसरों का दुख-दर्द अनुभव करते हैं। उनके जीवन के तीन पहलू दिखलाई देते हैं—शिक्षक, प्रचारक, सुधारक तथा लेखक। पूज्य उपाध्याय जी के जीवन-सम्बन्धी कुछ संस्मरणों का उल्लेख अत्यन्त रोचक होगा।

उनकी कोमल प्रकृति एवं सरल स्वभाव के कारण बहुत से व्यक्ति उनसे अनुचित लाभ उठाते देखे गये। एक विद्यार्थी अपनी फीस के लिए रुपये मांग रहा है, तो दूसरा पुस्तकों के लिए याचना कर रहा है। एक अन्य व्यक्ति अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए कुछ धन उधार ले रहा है। अल्पपरिचित व्यक्ति भी बहुधा निराश लौटते नहीं देखा गया। जो आता कभी खाली हाथ न लौटता। लेकिन ऐसे बहुत ही कम लोग दिखलाई पड़े जो ऋण को चुकाने आये हों। समाज के नेता होने के कारण अक्सर मनुष्य उनसे धन सम्बन्धी सहायता लेने आ पहुँचते थे। स्कूल को मैं प्रायः उनके साथ ही जाया करता था, मार्ग में किसी भिक्षुक ने हाथ फैलाया तो वे उसे कुछ न कुछ अवश्य दे देते थे। एक बार मैंने उनसे जिज्ञासा की—इन भिक्षुकों को देने से क्या लाभ? ये धन का दुरुपयोग करते हैं। वे बोले—असली और नकली जरूरतमन्द की पहचान तो कठिन है, लेकिन क्या मालूम कौन-सी उसकी जरूरत मेरी इस अल्प सहायता से पूरी हो जाय। इस दूरदर्शी अनुभव-पूर्ण उत्तर ने मुझे सदा के लिए चुप कर दिया। 'इस पैसे से न जाने कौन सा उसका काम सध जाय' यह सारगर्भित वाक्य मेरे कानों में अब भी गूँजता रहता है। इन छोटी-छोटी घटनाओं के अतिरिक्त कभी-कभी तो ऐसे सज्जन भी देखने में आये जो अपने बच्चों को इनके यहाँ रख गये। कुछ महीने तक तो वे खर्च देते रहे, बाद को हाथ खींच बैठ गये। वर्षों तक उपाध्याय जी को ही उनका खर्च

चलाना पड़ा। इस प्रकार की अनेक घटनाओं से उनके हृदय की उदारता, विशालता तथा सभ्यता व्यक्त होती है।

उनके लोकप्रिय जीवन ने डी० ए० वी० हाई स्कूल प्रयाग को सर्वप्रिय बना दिया था। यही कारण था कि दूर-दूर से विद्यार्थी आकर इस स्कूल में दाखिल होते थे। यहाँ तक कि अनेक छात्र सी० पी० से भी यहाँ पढ़ने भेजे जाते थे। अनेक उद्दण्ड तथा उद्धत विद्यार्थी इनके आदर्श जीवन के संसर्ग में आकर सरल स्वभाव के बन गये। मुझे याद है कि एक विद्यार्थी जिस स्कूल में जाता वहां के अध्यापकों से लड़ बैठता। इसलिए वह स्कूल से निकाल दिया जाता। थोड़े दिनों में वह इतना बदनाम हो गया कि कोई स्कूल भी उसे लेने को तैयार न हुआ। उसके पिता शिक्षा विभाग में क्लर्क थे और उपाध्याय जी के परिचित थे। वे परेशान होकर उपाध्याय जी से आकर मिले। उपाध्याय जी ने उस लड़के को समझा-बुझाकर स्कूल में दाखिल कर लिया। अध्यापकों में सनसनी मच गई कि एक बदमाश लड़का स्कूल में आ गया है। लड़कों के भी कान खड़े हो गये। नौकर भी घबराने लगे। सब कोई उसे संदेह की दृष्टि से देखने लगे। उपाध्याय जी ने सबको समझा दिया कि डरने को कोई बात नहीं है। वह विद्यार्थी उपाध्याय जी के प्रभाव से इतना सीधा हो गया कि कई वर्ष तक स्कूल में रहने पर भी किसी को कभी कोई शिकायत करने का मौका नहीं दिया। आजकल वह व्यक्ति प्रयाग के एक कनवेंट (अंग्रेजी) स्कूल में सफल अध्यापक है। एक दिन पुलिस विभाग के उच्चपदाधिकारी कप्तान श्री देशराज ने पूर्व छात्रों (Old boys) के समारोह में सभापति के आसन से भाषण देते हुए बतलाया कि मैं जो कुछ उन्नति कर सका हूँ उसका पूरा श्रेय पूज्य उपाध्याय जी को है। आठवीं कक्षा से मिशन स्कूल ने मेरा निर्वासन (Restication) कर दिया था। मेरे पिताजी जो खुफिया पुलिस के इन्सपेक्टर थे सब हैडमास्टरों से मिलते फिरे। परन्तु एजुकेशन इंसपेक्टर के भय से मुझे स्कूल में लेने को कोई राजी न हुआ। अंत में वे किसी के बतलाने पर उपाध्याय जी से मिले और अपनी लाचारी की सब कहानी कह सुनाई तो उन्होंने आश्वासन दिया कि मैं यथाशक्ति कोशिश करूंगा। २, ३ दिन बाद मेरा नाम स्कूल में लिख लिया गया। मेरी संपूर्ण भावी जीवनचर्या (Career) वहीं समाप्त हो गई होती यदि उपाध्याय जी के आशीर्वाद और कृपा मुझे न प्राप्त हुए होते। इस प्रकार अनेक नवयुवकों के जीवन सुधारने में उपाध्याय जी समर्थ हुए।

उनकी सहायता तथा उदारता छात्रों तक ही सीमित नहीं रही। अध्यापकों और नौकरों पर भी वे स्नेह पूर्ण उदार दृष्टि रखते थे। मौलवी मुहम्मद मतीन उर्दू-फारसी के अध्यापक थे। अंगरेजों के शासन काल में वे नेशनलिस्ट थे। सरकार के विरुद्ध शेरें पढ़ने के कारण उनका नाम विरोधी लिस्ट में आ गया था। उपाध्याय जी ने यह देखकर कि एक योग्य होनहार नवयुवक है। अपने स्कूल में उन्हें नियुक्त कर लिया। वर्षों तक इंसपेक्टर का दफ्तर पीछे पड़ा रहा कि मौलवी मुहम्मद मतीन को स्कूल से निकाल से निकाल दिया जाय, लेकिन निर्भीक उपाध्याय जी सदैव ही उनको बचाते रहे। इसका ही यह परिणाम था कि उक्त मौ० साहब उपाध्याय जी के लिए जान तक देने

को तैयार रहते थे। असहयोग के दिनों में मौलवी साहब ने कई बार इसका प्रमाण दिया। एक अन्य अध्यापक के विषय में एक सज्जन ने शिकायत की कि अमुक अध्यापक आप के यहां सदा गड़बड़ी करता रहता है। उसे स्कूल से निकाल क्यों न दिया जाय। उपाध्याय जी ने तुरन्त उत्तर दिया कि जब ईश्वर मेरे अनेक दुर्गुणों और दोषों की क्षमा करता रहता है तो क्या मैं उक्त अध्यापक के इस छोटे से अवगुण की भी उपेक्षा नहीं कर सकता। कैसे आस्तिक भाव से भरा उत्तर है। इसे सुनकर वह व्यक्ति चुप हो गया। जब कभी इंस्पेक्टर के दफ्तर, प्रबन्ध कमेटी या छात्रों के संरक्षकों से शिकायत-पत्र आते थे तो सुधार की दृष्टि से उस अध्यापक को उसकी वास्तविक त्रुटियों को बताते हुए सदा उसकी मान-मर्यादा की रक्षा करते थे।

उपाध्याय जी का यह सिद्धान्त रहा है कि कहने से करना अच्छा है। जब कभी नौकर स्कूल के कमरों की सफाई करने में प्रमाद करते तो वे क्लर्क को झाड़ू लाने का आदेश देते और नौकर से झाड़ू लेकर स्वयं साफ करने लगते। सारे स्कूल में तहलका मच जाता और सब नौकर सहमते हुए चुपचाप सफाई करने में जुट जाते। मैंने देखा कि जुरमाने की अपेक्षा इसका प्रभाव नौकरों पर गहरा पड़ा।

इस व्यापक सदयता से श्री शंकराचार्य की यह उक्ति स्मरण हो आती है—

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जन-नहेतुनान्यानपि तारयन्तः॥
अयं स्वभावः स्वत एव यत्पर-श्रमापनोदप्रवणं महात्मनाम्।
सुधांशुरेष स्वयमर्ककर्कश-प्रभाभितप्तामवति क्षितिं किल॥

महापुरुष स्वभाव से ही वसंत ऋतु तथा चंद्रमा के सदृश परहित निरत रहते हैं।

उनका कहना है कि दो पैसे की कलम से ही मैंने हजारों रुपये कमाये। इस गाढी कमाई को उन्होंने दान और भोग दोनों ही में व्यय किया। स्थानीय तथा बाहरी अनेक संस्थाओं की उन्होंने धन से सहायता की। प्रयाग का आर्यमन्दिर उनके दान का ही प्रमाण है। स्कूल में जब धन की बड़ी क्षति (Deficit) हो जाती तो वे कभी-कभी अपना कई मास का वेतन छोड़ देते थे। स्कूल उनके प्राणों से अधिक प्यारा था। उसकी उन्नति के लिए वे सब कुछ करने को उद्यत रहते थे।

उपाध्याय जी का यह जीवन बड़ा संयमशील रहा है। नाना स्वभाव के मनुष्यों से उनका सम्बन्ध रहा। उद्दीप्त क्रोध को भी वे पी जाते देखे गये। लोभ उनको छू तक नहीं गया। सरकारी नौकरी से त्याग पत्र देकर डी० ए० वी० हाई स्कूल में आये थे और अवधि से पहले ही नौकरी छोड़ कर शोलापुर से हैदराबाद सत्याग्रह का सुचारु रूप से संचालक करने लगे। घरेलू जीवन कमल-पत्रवत् रहा। इन्द्रिय-निग्रह तथा वशीभूत मन के कारण सामयिक फैशन का कोई दुर्व्यसन उन पर अपना स्वायत्त न जमा सका। सिद्धान्त के इतने दृढ़संकल्प रहे कि जनता या मित्रों के विरोध पक्ष में होते हुए भी वे कभी अपने अटल विश्वास से विचलित नहीं हुए। इसी निस्पृह तथा निस्वार्थ

भावना से प्रतिनिधि सभा तथा सार्वदेशिक सभा में भी कभी प्रस्ताव का कभी-कभी प्रबल विरोध कर दिया करते थे। विद्वानों में मतभेद होना स्वभाविक ही है, परन्तु विचार-स्वातंत्र्य के होते हुए भी उन्होंने सामाजिक अनुशासन को कभी भंग नहीं किया।

इस व्यक्तिगत आदर्श-जीवन के अतिरिक्त उपाध्याय जी का मिशनरी जीवन भी परमोज्ज्वल एवं अनुकरणीय रहा है। हर घड़ी उनको धर्म-प्रचार तथा प्रसार की चिंता बनी रहती है। भयंकर गर्मी, कड़ा जाड़ा या शारीरिक कष्ट प्रचार के लिए जाने से उन्हें रोक नहीं सकता। उनके प्रवचनों, लेखों और ग्रन्थों का ध्येय विशेषतः धर्म-प्रचार ही रहा है। देश-विदेश में भी वे वैदिक संदेश दे आये हैं। प्राचीन अन्ध-रूढ़ियों का उन्मूलन करने के लिए समाज-सुधार के अनेक काम उन्होंने पहले अपने घर से ही आरम्भ किये जिसके कारण उनको जाति से बहिष्कृत भी होना पड़ा। ४०,५० वर्ष पहले लोगों का आर्यसमाज के प्रति विशेष विद्वेष रहा। वे गांवों में धर्म-प्रचार के लिए जाते तो कभी कभी न केवल तिरस्कृत ही होते बल्कि बैठने तक को स्थान न मिलता। कभी-कभी तो पिटने तक की नौबत आ जाती थी।

उपाध्याय जी का साहित्यिक जीवन भी अनुपमेय है। स्थूल रूप से उसे शैक्षिक, धार्मिक तथा दार्शनिक इन तीन क्षेत्रों में विभक्त किया जा सकता है। शिक्षा संबंधी उन्होंने अनेक उपयोगी पुस्तकें लिखीं। धर्म-प्रचार का इतना प्रचुर भंडार शायद ही किसी लेखक ने दिया हो। इनके ट्रैक्टों की संख्या लाखों तक पहुंच गई है। वे दर्शन-शास्त्र के आचार्य हैं। हिन्दी को उनकी सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण देन अमूल्य मौलिक दार्शनिक ग्रन्थों की है। वे एक सिद्ध लेखक हैं। प्रत्येक ऋतु में, प्रत्येक विषय में उनकी लेखनी अबाधरूप से चलती रहती है। शारीरिक कष्ट या मानसिक व्यथा या अनाहूत आगंतुकों या मित्रों की बातचीत उनके लिखने में कोई बाधा नहीं डालनी देखी गई। श्रम से वे कभी थकते नहीं। इसी अध्यवसाय के कारण वे विशालकाय ग्रन्थ लिखने में समर्थ हुए हैं। हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी, संस्कृत इन चारों भाषाओं में उन्होंने खूब लिखा है।

उनकी ग्राह्य शक्ति तथा व्यंजना दोनों ही अत्यन्त प्रबल हैं। शैली इतनी सरल और सरस होती है कि कम पढ़ा व्यक्ति भी उनके सुन्दर भावों को भली भांति समझ सकता है। उर्दू और संस्कृत की कविता में उनकी सूझ बूझ तथा कल्पना के निराले नमूने देखने को मिलते हैं। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा सरकार से कई ग्रन्थों पर उनको पुरस्कार भी मिल चुके हैं। आजकल वे जैमिनी कृत "पूर्वमीमांसा" दर्शन का हिन्दी अनुवाद कर रहे हैं।

कृत्रिमता से उनको रुचि नहीं। पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन उनका एक सा है। बाहरी और भीतरी में कोई अन्तर नहीं। जो कहते हैं वही करते हैं। उनकी वाणी तथा पाणि में पूर्णरूपेण अक्षुण्ण सामञ्जस्य देखा जाता है। आजकल के अनेक बहुरूपिया नेताओं की सी न तो उनको 'जैसी बहे बयारि पीठि तब तैसी दीजै' वाली वायु व्यंजक-विहंग (Weather Cock) प्रवृत्ति पसन्द है, न 'जैसा देश वैसा भेष' वाली वकवृत्ति और क्षण क्षण रंग बदलने वाली शरदा-प्रकृति।

उपाध्याय जी बाल्यकाल से ही वैदिक संस्कृति के अभिपोषक रहे हैं। स्वदेशी तथा स्वदेश में अनुराग रखते हुए भी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को नहीं भूलते। आत्मनिर्भरता, आस्तिकता, स्वाध्यायप्रियता, व्युत्पन्नमतित्व, विनोद, त्याग तपस्या आदि जो गुण मैंने अपने बचपन में उनमें देखे थे, अपने ६५वें वर्ष में भी वही दैवी सम्पत्ति उनके पास दिखाई दे रही है। ऐसे ही महापुरुषों से देश तथा समाज का कल्याण हो सकता है। उन्हीं के लिए कहा गया है—

'कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुंधरा पुण्यवती च तेन'

उनके ही जन्म से कुल पवित्र होता है, माता सच्ची पुत्रवती होती है और पृथ्वी धन्य होती है।

अर्चना के फूल

—श्री 'कुसुमाकर' साहित्यरत्न,

आर्य संस्कृति के उपासक ! आपका शतवार वन्दन !
मेदिनी पर आर्य गौरव गान की 'गंगा' बहाई ।
मान-मर्यादा हिमोचल से मचलती मुस्कराई ।
मानसोदधि में उठी व्यापक विकल अविकल तरङ्गें ।
दिव्य पुण्य 'प्रसाद' से परितृप्ति की उमंगी उमङ्गें ।
दृढ़ तपस्वी, मनु-मनस्वी, वीर वर्चस्वी, तपोधन !
पा 'दया-आनन्द' की वर दीप्ति उन्नत भाल चमका।
'द्वैत' में 'अद्वैत' का मधुमय मिलन साकार दमका।
पा गया अस्तित्व 'जीवात्मा' प्रबल प्रतिभा पसारे।
'मैं' बना 'भगवान् मेरा' कल 'कलानिधि' के सहारे।
वेद की वीणा लिए जागृत किया नव सृष्टि का कन।
मंजु मेधावी, विचारक, दार्शनिक, तार्किक अनेरे।
चारु 'जीवन-चक्र' के चालक चतुर अचपल चितेरे ।
सत्य पक्षों के विधाता, नीति-निर्णायक, प्रणेता ।
व्योम वैदिक विधु समुज्ज्वल, वादी-वादों के विजेता।
बन गए कल्माष-ग्रीवों के विरुध-नाशक-प्रभञ्जन !
'जीव'-'ईश्वर' प्रिय 'प्रकृति' की गुत्थियाँ सुलझा चुके हो
ब्रह्म सत् है, जग असत्, निस्सारता समझा चुके हो।
वेदना 'वैधव्य' पर दृग्-वारि भी बरसा चुके हो।
ऋषि मनोरथ के सु-रथ पर बैठ कर हर्षा चुके हो।
हे प्रभो ! युग-युग रहें निर्भ्रान्त जीवन-पथ-प्रदर्शन ।।

श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय के साहित्य की संक्षिप्त रूपरेखा

श्री विश्वप्रकाश बी. ए., एल. एल. बी., प्रधान आर्यसमाज चौक प्रयाग

उपाध्याय जी का साहित्य आकार और प्रकार दोनों में महत्त्वपूर्ण है। कम लेखक इतना और इतने विषयों पर लिखने में सफल हुए हैं। यह स्वाभाविक ही है कि लेखनी उठाने से पहिले लिखने की योग्यता प्राप्त करते। पण्डितों से मिलने और स्वाध्याय करने की प्रवृत्ति आपमें विद्यार्थी जीवन से ही थी। एण्ट्रेन्स उत्तीर्ण करने के बाद ही आप पं० कृपाराम शर्मा (स्वा० दर्शनानन्द जी), पं० गणपति शर्मा, पं० नन्दकिशोर देव आदि के संसर्ग में आये, जिससे आपको स्वाध्याय, लेखन और भाषण को प्रेरणा मिली। उर्दू, फारसी के विद्यार्थी होते हुए भी आर्यसमाज के संसर्ग में आकर टूटी-फूटी नागरी लिपि में लिखने लगे। प्रयाग के टीचर्स ट्रेनिंग कालेज में श्री प्रेमचन्द जी के सम्पर्क में आये। श्री प्रेमचन्द जी उर्दू में लिखा करते थे—आपका नाम था 'धनपतराय'। दोनों की मैत्री यहीं से प्रारम्भ हुई।

उपाध्याय जी ने पहिला लेख "थियोसौफिकल सोसायटी" पर लिखा जो १९०२ में आर्यमित्र में छपा और इस प्रकार जो लेखनी १९०२ में उठी वह आजतक बड़ी प्रबल गति से चल रही है। उन दिनों जालन्धर से 'आर्य मुसाफिर' नामक साप्ताहिक पत्र निकलता था। इसके सम्पादक थे श्री महात्मा मुंशीराम जी, बाद में मुन्शी वजीरचन्द जी पर इसका भार रहा। मुंशी जी के प्रोत्साहन से बराबर लेख निकला करते। कभी वेद मंत्रों की व्याख्या होती, कभी शंका समाधान होता, कभी आर्यसमाज के ऊपर किये गये आक्षेपों का उत्तर रहता।

लाहौर से Arya patrika नामक पत्र आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के तत्वावधान में निकलता था। इसमें सर्वप्रथम लेख १९०४ में Yoga made Easy (योग की साधारण क्रियायें) पर निकला। सन् १९०४ में मेरी माता जी का उपनयन संस्कार हुआ इसके विरोध में आर्यपत्रिका में लेख निकले। लोगों का विचार था कि स्त्रियों का उपनयन नहीं होना चाहिये। इसपर आपने अंग्रेजी में इसके पक्ष में लेख निकाला। इस प्रकार उर्दू और अंग्रेजी दोनों में ही लेख निकलते रहे।

सन् १९०७ में एक विशेष घटना हुई। विदेशी चीनी के विरुद्ध विचारधारा चल निकली थी। आपने एक लेख बिजनौर से निकलने वाले पत्र 'सहीफा' में दे दिया। लेख छपते ही आग लग

गई। एक सरकारी नौकर का यह साहस। कलक्टर वाइल्ड नामक अंग्रेज था। उसने चट से नोट लिया। लेखक से कड़ाई के साथ उत्तर माँगा गया। यह प्रतीत हुआ कि इतनी कठिनाई से नौकरी लगी और वह भी जाना चाहती है। कलक्टर ने सर्विस बुक में लिख दिया "इसने ऐसा गर्हित लेख छपवाया है। मैं इसको इस योग्य नहीं समझता कि बालकों की शिक्षा का काम इसको दिया जाय।" डाइरेक्टर को भी शिकायत कर दी। समय प्रबल थे क्योंकि देश में अग्नि लगी थी। लाला लाजपतराय और तिलक नजरबन्द हो चुके थे। यह लिखने के लिये कि विदेशी चीनी हड्डी से साफ की जाती है, नौकरी पर आ बीती। हैडमास्टर महोदय ने नोट दिया कि लेखक का विचार अंग्रेज शासन से सम्बन्ध नहीं रखता। केवल साधारणतया लिख दिया। कलेक्टर के यहाँ पेशी हुई। भगवान् की दया से नौकरी बच गई, नहीं तो कठिन समस्या उपस्थित हो जाती।

सन् १६०७ आपने पहला ट्रैक्ट छपवाया जिसका शीर्षक था 'विवाह और रंडियाँ।' इस स्थान पर आपने नवीन प्रणाली हिन्दी व्याकरण लिखा। इसको इंडियन प्रेस ने प्रकाशित किया। इस समय आपका तबादला बाराबंकी को होगया था। लोगों का कर्जा होगया। इस घटना का आपने एक लेख द्वारा "माधुरी" पत्रिका में स्पष्टीकरण किया "ईश्वर का अदृश्य हाथ"। इंडिया प्रेस ने २००) दिये और कालान्तर में इसी पुस्तक से हजारों ही पैदा किये। पर एक साहित्यकार कुली के लिये यह रकम बहुत बड़ी थी। विशेषकर जब आवश्यकता हो तो १) का मूल्य सैंकड़ों हो जाता है।

बाराबंकी में आकर आर्यसमाज प्रचार का क्रम चलता रहा। सरकारी कमटी होते हुए भी प्रचार में कमी न थी, निर्भीकता म उत्सवों पर सभापतित्व करते। कभी-कभी सनातनी विचार के हैडमास्टर आ गये। उन्होंने बन्धन लगाये पर स्कूल के कार्य में कभी कोई त्रुटि नहीं निकली। इन्स-पैक्टर आते तो अच्छे से अच्छा प्रमाणपत्र दे जाते और कार्य की प्रशंसा लिख कर ही जाते। पारि-वारिक संकट के कारण साहित्य सेवा निरन्तर होती रही। सन् १६०६ में 'बाल निबन्ध माला' नामक एक पुस्तिका लिखी। इण्डियन प्रेस ने २५ इसकी लिखाई दी। बाराबंकी में आने पर इंडियन प्रेस, प्रयाग के स्वामी चिन्तामणि घोष से परिचय हो गया था। वे बंगाली होते हुए भी हिन्दी भाषा के प्रसार में प्रयत्नशील थे और उपाध्याय जी की प्रतिभा को जान कर व कुछ न कुछ कार्य देते रहे। वे समझते थे कि एक छोटे से नगर में एक साहित्यकार कुली रहता है। हिन्दी शेक्सपियर के ६ भाग १६१० में निकले। एक पुस्तक २ मास में लिखी जाती, १५० पृष्ठ होते और उस पर दक्षिणा मिलती ५०)। पर साहित्यकार इसी राशि पर मस्त था। लेखक को तुष्टि होती है कि उसकी कृत्ति प्रकाशित हो गई और परिवार पालन के लिये कुछ पैसे मिल गये। अपने समय में यह ग्रन्थ अनूठा था। इसके अनेकों संस्करण निकले। इसके उपरान्त १६१८ तक "पशु-पक्षी" नामक माला लिखी गई। इसके १४ भाग थे। इसकी सामग्री बंगला भाषा में और अंग्रेजी में थी। अतः आपने बंगला भाषा पढ़नी आरम्भ की और इतना ज्ञान हो गया था कि साधारण पुस्तक पढ़ और समझ सकते थे। दुर्भाग्यवश यह माला प्रकाशित न हो पाई। युद्ध छिड़ गया था और प्रकाशन के व्यय बढ़ गये थे। इसी बीच इन्डियन प्रेस के स्वामी चिन्तामणि घोष का देहावसान हो गया। उनके सुपुत्रों ने यत्न किया पर सफल न हुये। इसके अंश समय-समय पर सरस्वती में निकला करते थे। आर्यसमाज

के साहित्य में यहाँ आपने कई अंग्रेजी ट्रैक्ट लिखे Rationalism, Deities, sandatan Dharma No 1.2। बाराबंकी में कोई प्रेस न था। ये सभी ट्रैक्ट लखनऊ में छपे। अपना पैसा लगाया, थोड़े से ही दाम पर बिके होंगे। यहीं पर रहकर आपने हिन्दी व्याकरण नवीन प्रणाली पर लिखी। इस पर नागरी प्रचारिणी सभा से १५०) और सरकार से ७४१) पुरस्कार मिला। समाचार पत्रों में आपके लेख हिन्दी और उर्दू में निकलते रहे। अध्ययन में गति होती गई। संस्कृत पढ़ने में प्रयत्नशील रहे। मैट्रिकुलेशन पास करके नौकरी कर ली था। एफ० ए०, बी०ए०, और एम० ए० प्राइवेट बाराबंकी में ही पास किये। परिवार का पालन, स्कूल के अतिरिक्त ट्यूशन करना, पुस्तकें लिखना, आर्यसमाज का कार्य करना, फिर बाराबंकी ऐसे छोटे नगर में रहकर परीक्षा की तैयारी करना, कितना कठिन कार्य है। इसको सभी समझ सकते हैं। मैट्रीकुलेशन में उर्दू-फारसी पढ़ते रहे, बी० ए० की परीक्षा में संस्कृत और दर्शन विषय लिया। कितनी विचित्रता है।

१९१८ ई० में आप प्रतापगढ़ आये। प्रबल इच्छा हुई कि सरकारी नौकरी को छोड़ा जाय, पेंशन का लालच था। पर नैतिकता ने विजय पाई और सरकारी नौकरी से इस्तीफा देकर दयानन्द हाई स्कूल की मुख्याध्यापकी १२५) पर स्वीकार की। इस प्रकार मानसिक दासता की इतिश्री हो गई।

१९१८ ई० में प्रयाग में रहकर साहित्य प्रतिभा ने करवट बदली। आपने "अंग्रेज जाति का इतिहास" नामक ४५० पृष्ठ की पुस्तक लिखी। इसका प्रकाशन ज्ञानमण्डल काशी ने किया। अपने समय का यह प्रमुख प्रकाशन था।

सन् १९२० ई० में आपने एक खोज सम्बन्धी ग्रन्थ ३५० पृष्ठ का लिखा। "विधवा विवाह मीमांसा।" इसमें वेद, स्मृति, के पुष्कल उदाहरण दिये। इस विषय पर कुछ ट्रैक्ट आर्यजगत् में निकले थे, पर ऐसे ग्रन्थ की विशेष आवश्यकता थी। ग्रन्थ तो निकल गया, पर इसके प्रकाशन का प्रश्न था, क्योंकि छपवाने में १०००) रुपये के लगभग व्यय होता। पुस्तक लिखी पड़ी रही। इसी बीच श्री रामरूप सहगल ने 'चाँद' नामक एक समाज-सुधार की पत्रिका प्रकाशित की थी। इसमें आपके लेख छपते थे। सहगल जी इस पुस्तक को ले गये। लेखक को २००) इस बड़ी पुस्तक का पुरस्कार मिला। पर सन्तोष यह रहा कि चाँद कार्यालय ने इसके कई संस्करण निकाले, पुस्तक बहुत सुन्दर प्रकाशित की और विधवा-विवाह का खूब प्रचार किया।

प्रयाग में ईसाइयों की नार्थ इन्डिया ट्रैक्ट बुक सोसाइटी नामक संस्था है। इसका विशाल भवन बना है। इसको देख कर उपाध्याय जी के हृदय में यह लालसा उत्पन्न हुई कि क्या आर्यसमाज की ऐसी संस्था नहीं खोली जा सकती। हृदय ने कहा 'क्यों संभव नहीं।' इधर सोचना था, उधर आरम्भ हो गया। आपने ट्रैक्ट लिखे। पहला ट्रैक्ट था 'ईश्वर और उसकी पूजा।' यह लिखा गया और २००० प्रतियाँ प्रकाशित हुईं। कुछ मित्रों को लिखा, उन्होंने कहा कि १००० प्रतियाँ ले लेंगे। २) सैकड़ा मूल्य था। और)॥ प्रति। छः-सात ग्राहक बन गए। अपने उत्तरदायित्व पर प्रकाशन आरम्भ हुआ। जो पैसे आते प्रेस को दे दिये जाते। इनके भेजने का कार्य घर पर

होता। हम सब लोग बन्डल बांधते और डाकखाने पहुँचाते। इस प्रकार छपाई के अतिरिक्त और कुछ व्यय न होता। प्रकाशक था ट्रैक्ट विभाग आर्य समाज चौक, प्रयाग। यह उसकी सम्पत्ति थी। लाभ उसका था। घाटे में अपना उत्तरदायित्व था। इस प्रकार के ट्रैक्टों की बड़ी आवश्यकता थी। लोग प्रचार करना चाहते थे। पर उनके पास सस्ती पुस्तकें न थीं।

आरम्भ के ट्रैक्टों में एक विचारधारा काम कर रही थी, जहां तक हो ऋषि के वचन ही उद्धृत किए जायें। इस प्रकार १-७ संख्या तक ट्रैक्ट स्वामी जी की पुस्तकों में से छांट कर लिखे गये। निस्वार्थ भावना से कार्य आरम्भ हुआ। धीरे-धीरे प्रचार बढ़ने लगा। पहले नवीन प्रकाशन पर शक्ति लगती थी, बाद को ट्रैक्टों का संस्करण समाप्त हो जाता और नवीन संस्करण छपता। चार वर्ष में ही २० के लगभग ट्रैक्ट निकले और ४ लाख प्रतियां छप चुकी थीं। काम बढ़ा तो आर्य-समाज चौक में एक उपसभा का निर्माण हुआ और १९२४ ई० से यह कार्य उसी उपसभा द्वारा संचालित होने लगा। सन् १९२४ में दयानन्द जन्म शताब्दी के अवसर पर पूज्य महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज ने कई विज्ञप्तियों में इन ट्रैक्टों की उपयोगिता का उल्लेख किया और देशभर में इस अवसर पर ट्रैक्ट वितरण करके प्रचार किया गया। सामयिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए कुछ ट्रैक्ट लिखे गए। श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने शुद्धि का बिगुल बजा दिया। लाखों की संख्या में मुसलमान शुद्ध हो गए। 'हमारे बिछुड़े भाई' इसी समय का ट्रैक्ट है। अब तक ट्रैक्ट १६ पृष्ठ में थे। ये सिद्धान्त, सम्बन्धी थे। यह निश्चय हुआ कि सामयिक लहर को पुष्टि देने के लिए कुछ ८ पृष्ठ के ट्रैक्ट लिखे जायें। १६ पृष्ठों की प्रथम माला हुई। ८ पृष्ठों की द्वितीय माला। हिन्दुओ जागो, हिन्दू स्त्रियों की लूट के कारण, हिन्दू धर्म का नाश, हिन्दू जाति की रक्षा के उपाय, मस्जिद के सामने बाजा, स्वामी श्रद्धानन्द का बलिदान; ऐसे ही ट्रैक्ट थे। आदि हिन्दुओं का प्रश्न उठा तो आदि हिन्दू सभा क्या है ? आदि हिन्दू कौन है ? निकले। शारदा एक्ट पास होने पर 'शारदा एक्ट क्या है ?' प्रकाशित हुआ।

जल्दी ही तृतीय माला अंग्रेजी की निकाली गई। इसमें १६ पृष्ठ के १३ ट्रैक्ट छपे।

ट्रैक्टों के प्रकाशन का क्रम निरन्तर चलता रहा। इसका श्रेय उपाध्याय जी के अतिरिक्त श्री रामदीन वैश्य, श्री रामाधार जी, श्री दरबारीलाल जी को विशेष रूप से है। ४० लाख तक तो हिसाब चला। उसके उपरान्त न जाने कितने लाख निकल चुके हैं। अब कागज का मूल्य अधिक हो जाने से मूल्य ५) सैकड़ा और -) प्रति है। इन ट्रैक्टों की अनेक विशेषतायें हैं—भाषा सरल तथा शुद्ध साहित्यिक है, युक्ति और प्रमाण ज्ञानवर्द्धक हैं। इस बात का यत्न किया गया है कि अधिक से अधिक सामग्री दी जा सके, ऐसी शब्दावली का प्रयोग नहीं किया गया जो असभ्यता-सूचक हो, या किसी के दिल को खटके। इसी सफलता के कारण इस समय तक ६७ ट्रैक्ट प्रथममाला १६ पेजी, २३ ट्रैक्ट द्वितीय माला ८ पेजी, १३ ट्रैक्ट तृतीय माला के १६ पृष्ठों के अंग्रेजी में। कुछ ट्रैक्ट उर्दू में भी प्रकाशित हुये, परन्तु चलन कम होने से क्रम आगे न बढ़ा। जब उपाध्याय जी

कोल्हापुर में जाकर कुछ काल के लिए रहे तो कई ट्रैक्टों का मराठी में अनुवाद हुआ। तामिल, तेलगू और बगला में भी कई ट्रैक्टों के अनुवाद प्रकाशित हुए।

दयानन्द जन्म शताब्दी पर महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज की प्रेरणा से कुछ साहित्य प्रकाशित हुआ। १९२३ में उपाध्याय जी ने आर्यसमाज नामक एक वृहद ग्रन्थ का लिखना आरम्भ किया था। इसमें ऋषि दयानन्द की जीवनी लिखी जा चुकी थी। जब महात्मा जी का पत्र आया कि शताब्दी के लिए कोई पुस्तक लिखी जाय तो आपने शीघ्रता के साथ आर्यसमाज के कार्य को बढ़ा कर यह ग्रन्थ तैयार कर दिया। यह संस्करण हाथो-हाथ निकल गया। बाद में कई संस्करण निकले। इसमें चित्र भी थे। आर्यसमाज के कार्य की रूप-रेखा थी।

१९२५ में आप ने सर्वदर्शन संग्रह नामक पुस्तक लिखी। यह पुस्तक संस्कृत में थी और कहा जाता था कि इसके लेखक स्वामी शंकराचार्य हैं। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का अच्छा वर्णन है। इसका हिन्दी में आपने अनुवाद किया। प्रयाग से 'विद्वान्' नामक मासिक पत्रिका निकलती थी। उसमें क्रमशः यह पुस्तक छपती रही और उसी से Reprint होती रही। बाद में यह संस्करण समाप्त हो गया और पुनः प्रकाशन करना पड़ा।

१९२५ में एक और घटना हुई। राजाराम हाई स्कूल कोल्हापुर का प्रबन्ध कोल्हापुर नरेश ने आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश को सौंप दिया था। मित्रों का आग्रह हुआ कि आप कोल्हापुर जाकर स्कूल के आचार्य का पद ग्रहण कर लें। इसमें कठिनाई थी, क्योंकि दयानन्द स्कूल प्रयाग का प्रबन्ध होना था। फिर प्रयाग में अपना घर बन चुका था और परिवार को ले जाना कठिन था। यहां पर रह कर १९२६ में आपने अपना अमूल्य ग्रन्थ 'आस्तिकवाद' लिखा जिसने आपकी ख्याति में चारचाँद और लगा दिए। अभी तक प्रायः आपकी शक्ति ट्रैक्टों में ही सलग्न हुई थी। सिद्धान्त सम्बन्धी यह ४१४ पृष्ठ का बृहद् ग्रन्थ पहला ग्रन्थ था जिसको देखकर आपके वृहद् अध्ययन का परिचय मिला। इस प्रकार के ग्रन्थ की आवश्यकता इसलिये और भी थी क्योंकि शिक्षित विद्यार्थी समुदाय ईश्वर की सत्ता में संदेह करने लगा था। यह ग्रन्थ एक वर्ष में लिखा गया। संयोग से आप कोल्हापुर से प्रयाग लौट आये। इस ग्रन्थ के छपवाने में १०००) लगता। समस्या हुई कि यह धन कहाँ से आवे। संसार में न जाने कितने ही प्रतिभाशाली लेखक पुस्तकें रच देते हैं, पर उनके प्रकाशन का समय ही नहीं आता। यह पुस्तक भी अलमारी के अन्दर बन्द पड़ी रही। अन्त में साहस किया कि कहीं से भी धन का प्रबन्ध किया जाय जिससे पुस्तक जनता के हाथ में पहुंच सके। पुस्तक छपकर आ गई। महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज ने एक लम्बी भूमिका लिखी। श्री पूज्य महात्मा हंसराज जी पुस्तक को देख कर उछल पड़े। उन्होंने लिखा "मेरी तीव्र इच्छा है कि हमारे नवयुवक आपकी रची हुई पुस्तक को पढ़ कर अपने जीवन-केन्द्र को स्थिर और सुखदायक बनावें।" माधुरी, आर्यमित्र, दैनिक अंग्रेजी लीडर आदि अनेक पत्र-पत्रिकाओं ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की और लेखक की विद्वत्ता पर प्रकाश डाला। पर इससे क्या होता है। अपने देश में विद्वत्ता और प्रतिभा का क्या महत्त्व है। अनेक शताब्दियों

से विदेशियों से पदाक्रान्त होते हुए अपनी आत्मा की आवाज धीमी हो गई है। भारतीय लेखक तो अध्ययन करे, खोज करे, मनन करके पुस्तक लिखे, पर उसके परिश्रम का कौन मूल्यांकन कर सकता है। जब पुस्तक तैयार हो जावे तो उसके प्रकाशन के लिए कर्जा ले, स्वयं विज्ञापन करे और पुस्तक की पैकिंग करे। पुस्तक छपाई में इकट्ठा धन लग जाता है। यदि भाग्यवश एक-दो पुस्तक बिक भी गई तो वह धन तरकारी खरीदने में लग गया। पुस्तक की मांग साधारण हुई। प्रशसा अधिक हुई। कुछ मित्रों ने मुफ्त पुस्तक की याचना की। कुछ संस्थाओं ने लिखा कि आपकी पुस्तक का सस्था में होना आवश्यक है, अतः दान दे सकें तो अच्छा होगा। हमारे देश में कुछ सस्थाओं ने पत्र छापकर रख लिये हैं और जब कहीं किसी पुस्तक की समालोचना पढ़ी, चट से एक पत्र डाल दिया। बेचारे लेखक के दिल की कठिनाइयों का अनुमान किसको करना है।

इस प्रकार अवस्था चलती रही। दास देश की एक प्रवृत्ति का उल्लेख और कर देना आवश्यक है। महाकवि रवीन्द्र नाथ की पुस्तक "गीतांजलि" बंगला भाषा में छपी। साहित्य-जगत् में कोई लहर न आई। उसी ग्रन्थ पर जब 'नोबिल पुरस्कार' मिला तब तो सब की जिह्वा पर रवी बाबू' 'रवी बाबू' था। ठीक यही दशा 'आस्तिकवाद' ग्रन्थ के साथ भी हुई। जब १९३१ में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने कलकत्ता अधिवेशन में १२००) का मगला प्रसाद, पुरस्कार भेंट किया तो हिन्दी-जगत् में और आर्य-जगत् में एक बार फिर "आस्तिकवाद" की याद आई। लोगों ने ग्रंथ मंगाया। एक संस्करण समाप्त हुआ। दूसरा सस्ता संस्करण निकाला गया और ऐसे गूढ़ ग्रंथ की कई हजार प्रतियाँ निकलीं। अब तो कई संस्करण निकल चुके हैं और उच्च दार्शनिक कोटि का यह ग्रन्थ माना जाता है। जब उपाध्याय जी बीमार होकर दिल्ली आपरेशन के लिए गये तो हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक प्रो० रामदास गौड़ ने लिखा था—"आप पर ईश्वर की बड़ी कृपा रहेगी क्योंकि इस युग में किसी ने ईश्वर की इतनी वकालत नहीं की जितनी आपने।"

आस्तिकवाद के उपरान्त आपका दूसरा विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ निकला "अद्वैतवाद"। उपाध्याय जी को दर्शन से प्रेम रहा है। आपने अंग्रेजी में १९१२ में एम० ए० पास किया था। १९२१ में आपने निश्चय किया कि 'दर्शन" में एम० ए० पास किया जाय। १९२३ में "दर्शन" में एम० ए० हो गये। आपने "शांकर भाष्य" विषय लिया। इस प्रकार शंकर को समीप से अध्ययन करने का अवसर मिल गया। अद्वैतवाद' में शंकर तथा अन्य अद्वैतवादियों की आलोचना लिखी गई। शंकर ऐसे महान् दार्शनिक की भूलभुलइयों को समझना तथा उसके वाग्जाल में फंस न जाना प्रतिभा का ही कार्य है। विद्वत्ता के विचार से यह ग्रन्थ 'आस्तिकवाद' से किसी प्रकार कम न था। पुस्तक लिखकर तैयार हो गई, पर इसके प्रकाशन में भी वही कठिनाइयाँ थीं। आपके पूर्व परिचित मित्र, हिन्दी भाषा के गौरव श्री प्रेमचन्द जी ने "माधुरी" नामक सुप्रसिद्ध पत्रिका का सम्पादन अपने हाथ में लिया था। उन्होंने पूछा कि कोई पुस्तक पड़ी है। उपाध्याय जी ने "अद्वैतवाद" की पांडुलिपि देदी। 'माधुरी' में आरम्भिक-आरम्भिक लेख छपे। लोगों ने प्रशंसा की, पर जब 'शंकर' के सिद्धान्तों की आलोचना छपी तब तो सनातन

मंडली में तूफान आ गया। "माधुरी" नामक पत्रिका में जिसके स्वामी इस विचार के हों उसमें 'शंकर' का खंडन छपे। उपाध्याय जी के उत्तर में एक लेख छापा गया जिसमें युक्तियों का आधार कम था—शंकर के गौरव की मीमांसा अधिक थी। लिखा गया कि 'सूर्य' पर आघात किया गया। यह उत्तर छापकर लेखक को उत्तर देने की मनाही थी और भविष्य में यह निश्चय था कि यह ग्रन्थ या ऐसे लेखों का प्रकाशन बन्द। अद्वैतवाद भी फिर साहस करके सन् १९२७ में छपा।

सन् १९२८ में वैदिक विवाह पद्धति और १९३० में वैदिक उपनयन पद्धति अपने अनुज पं० सत्यव्रत उपाध्याय बी० ए० एल० टी० के सहयोग से प्रकाशित हुईं। इनका उद्देश्य यह था कि सरल रूप में दोनों पद्धतियाँ छाप दी जायें जिससे साधारण व्यक्ति भी ये संस्कार करा सके।

सन् १९३० में शंकर, रामानुज, दयानन्द' नामक पुस्तिका लिखी गई। इसमें तीन प्रसिद्ध दार्शनिकों के सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन है।

सन् १९३० में कला प्रेस खुला। इस प्रकार प्रकाशन में कुछ सरलता हुई। आर्यसमाज के साहित्य पर कोई प्रेस चल नहीं सकता। उद्देश्य तो यह था कि बाहर का काम करके प्रेस चले और जो लाभ हो उससे समय-समय आर्यसमाज का साहित्य निकलता रहे। १९३१ में उपाध्याय जी ने अपने द्वितीय पुत्र श्री विश्वप्रकाश बी० ए०, एल०एल० बी० के सहयोग से 'वेदोदय' नामक मासिक-पत्र निकाला। इसकी खूब ख्याति हुई। समय-समय पर अनेक विशेषांक निकले। पर इसके प्रकाशन में आर्थिक दृष्टि से लाभ न हुआ। फिर भी ५ वर्ष तक प्रकाशन होता रहा, फिर लगभग ४०००) घाटा सहने पर इसको बन्द कर देना पड़ा।

१९३३ में तीसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ "जीवात्मा" तैयार हुआ और अजमेर की "दयानन्द निर्वाण अर्द्ध शताब्दी" पर इसका प्रकाशन हुआ। जीवात्मा से सम्बन्ध रखने वाली दार्शनिक सामग्री इसमें संगृहीत है। महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज ने इसकी बड़ी प्रशंसा की।

सन् १९३१ में 'राममोहन राय, केशवचंद्र सेन, दयानन्द' तीन सुधारकों का तुलनात्मक अध्ययन है। १९५२ में 'धम्मपद' नामक पुस्तक का अनुवाद किया और एक विद्वत्तपूर्वक भूमिका लिखी, इसमें महात्मा बुद्ध के उपदेश हैं। १९३६ में 'बौद्धिक मणिमाला' निकली। इसमें वेद मंत्रों की सुन्दर व्याख्या है। १९३६ में मनुस्मृति का एक नवीन संस्करण निकाला। इसकी विशेषता एक लम्बी भूमिका है जिसमें यह विवेचन किया गया है कि मनुस्मृति में प्रक्षेपों को जानने की क्या कसौटी है। जो श्लोक प्रक्षेप समझे गये उनको इस सस्करण से निकाल दिया गया है। यह शुद्ध संस्करण है। फुटनोट में मनुस्मृति के भिन्न २ पाठभेदों को दिया गया है जो इस समय उपलब्ध हैं। १९३८ में 'महिला व्यवहार चन्द्रिका' स्त्रियोपयोगी ग्रन्थ लिखा।

इस समय तक हिन्दी में कुछ साहित्य बन चुका था। पर अंग्रेजी में सर्वथा अभाव था। विदेशों में भेजने के लिए पुस्तकें न थीं। श्री उपाध्याय जी ने कुछ ट्रैक्ट अंग्रेजी भाषा मे ट्रैक्ट विभाग आर्य समाज चौक प्रयाग की ओर से निकाले थे। अब उन्होंने Religious Renaissance Series नामक एक पुस्तक माला स्थापित कर प्रकाशित करने का निश्चय किया। १९३९ में

इस माला का प्रथम पुष्प Reason and Religion प्रकाशित हुआ। इस माला के दो संस्करण छपते थे, एक सस्ता संस्करण साधारण कागज पर, दूसरा अच्छा संस्करण अच्छे कागज पर सजिल्द। इस माला में निम्न पुस्तकें अब तक निकली है :—

१ Reason and Religion
२ Swami Dayanand's Contribution to Hindu Society
३ I & my God
४ The origin, scope and mission of Arya Samaj
५ Worhsip
६ Humanitarian Diet
७ Christianity in India
८ Superstition
९ Marriage and Married Life

इनमें से Marriage and Married life को छोड़ कर जो डाक्टर सत्यप्रकाश की लिखी हैं, शेष सब आपकी लिखी हुई हैं। इसका निर्माण काल १९३९ से १९४२ तक है। विदेशों में इस पुस्तक माला से बड़ा प्रचार हुआ।

सन् १९४० में ईशोपानषद् का अनुवाद तथा व्याख्या प्रकाशित हुई। १९४३ में भगवत् कथा प्रकाशितहुई। इसमें युक्ति-प्रमाण सहित सात व्याख्यानों की रूपरेखा है। इसके आधार पर कोई भी व्याख्यान दे सकता है। उपनिषदों के पुष्कल प्रमाण हैं। १९४६ में 'हम क्या खावें, घास या मांस' प्रकाशित हुई। वृक्षों में जीव है या नहीं, इस विषय पर लेखक की युक्तियाँ बड़ी प्रबल हैं।

सन् १९४६ में सत्यार्थप्रकाश का एक अंग्रेजी संस्करण आपने महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज की प्रेरणा से निकाला। यह वह समय था जब सत्यार्थप्रकाश के ऊपर तीव्र प्रहार हो रहे थे और ऋषि दयानन्द के पवित्र ग्रन्थ को जब्त कराने की चेष्टा हो रही थी। इसके पूर्व जो सत्यार्थप्रकाश के अनुवाद अंग्रेजी में हुये थे वे भावानुवाद थे। शुद्ध अनुवाद न थे। यह अंग्रेजी संस्करण उपाध्याय जी की अनुपम देन है।

सन् १९४७ में एक शुद्ध ग्रन्थ शांकर भाष्यालोचन' निकला। उसमें शांकर मत की तीव्र आलोचना को गई है। यह बड़ा ग्रन्थ है और लेखक की अपूर्व विद्वत्ता तथा प्रतिभा का द्योतक है। श्री स्वामी आत्मानन्द जी महाराज ने इसकी प्रशंसा की।

सन् १९४७ में एक अपूर्व कृति प्रकाशित हुई, 'आर्य स्मृति' छन्दोबद्ध संस्कृत है। हिन्दी में भी अर्थ दिया गया है। आर्यसमाज के जो सिद्धांत हैं उनका सुन्दर विवेचन है। १९४९ में आपने अंग्रेजी भाषा में, वैदिक संस्कृति पर एक और बड़ा ग्रन्थ लिखा 'Vedic Culture', इसका प्रकाशन सार्वदेशिक सभा ने किया। ग्रन्थ की उपयोगिता पर ५००) अमृतधारा पुरस्कार आपको मिला।

उसको भी आपने सार्वदेशिक सभा को दे दिया। १६५० में 'कम्युनिज्म' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इसमें कम्युनिज्म के सिद्धान्तों की आलोचना की गई और वैदिक संस्कृति को दृष्टि में रख कर उसकी कमियां दिखाई गईं। उत्तरप्रदेशाय सरकार ने ५००) पुरस्कार इस पर दिया।

एतरेय और शतपथ ग्रन्थों के अनुवाद भी आपने पूर्ण किए। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने एतरेय ब्राह्मण का भाष्य १६५० में प्रकाशित किया। शतपथ ब्राह्मण में कई हजार पृष्ठ हैं। यह भी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पास है, पर अभी तक प्रकाशित नहीं हो पाया।

१६५० में आर्य प्रतिनिधि सभा नैटाल की रजत जयन्ती पर आपको दक्षिणी अफ्रीका से निमंत्रण मिला। आपने दक्षिणी अफ्रीका के व्याख्यान अनेकों नगरों में व्याख्यान दिये। आपके हिन्दी और अंग्रेजी भाषा में हुये। कई मास वैदिक धर्म का प्रचार करके भारत में लौटे। आपको विदाई में १०१ पौंड मिले थे, लौटने पर आपने सार्वदेशिक सभा को यह धन दे दिया जिससे कि दक्षिणी अफ्रीका वालों के लाभ के लिये साहित्यिक माला प्रकाशित होती रहे। इसी माला में

1. Life after Death.
2. Catechism on Hinduism
3. सनातन धर्म और आर्य समाज
4. मुक्ति से पुनरावृत्ति

प्रकाशित हुये।

सन् १६५० में आपने 'आर्योदय' काव्य प्रकाशित किया। यह ग्रन्थ संस्कृत कविता में है और इस बात का द्योतक है कि आपको संस्कृत भाषा पर कितना आधिपत्य है। प्रथम भाग में वैदिक काल से लेकर ऋषि दयानन्द के आगमन तक संस्कृत छन्दोमय भाषा में भारतवर्ष का इतिहास है।

श्री के० एम० मुन्शी, डाक्टर सम्पूर्णानन्द, विहार के तत्कालीन राज्यपाल श्री अणे, हालेंड के प्रो० नोगेल, जर्मनी के प्रो० ग्लेसेनाप्प आदि ने पुस्तक पर अत्यधिक प्रशंसात्मक भाव प्रकट किये हैं।

दूसरे भाग में ऋषिदयानन्द का आद्योपान्त संस्कृत पद्यों में जीवन वृत्त है।

१६५३-५४ में आपने 'विश्व प्रचार सीरीज' निकाली जिसमें ६ लघुपुस्तिकायें निकलीं। इनकी प्रतियाँ दक्षिणी पूर्वी अफ्रिका, बर्मा, सिंगापुर, बैंकाक को भेजी गईं।

१६५४ में उपाध्याय जी का अपूर्व गन्थ Philosoply of Dayananda लिखा गया। यह बड़े साइज के ५०० पृष्ठों में है और यह संस्करण विदेशों के योग्य बहुत ही सुन्दर निकाला गया है। संसार भर के सुप्रसिद्ध दार्शनिकों ने उसके बारे में अच्छी सम्मत्तियां दी हैं।

इसी वर्ष आपने 'जीवन चक्र' नाम से अपनी आत्मकथा लिखी। यह एक वृहद् ग्रन्थ है, ५०० पृष्ठ का। भाषा, भाव, के विचार से उत्कृष्ट ग्रन्थ है। उत्तर प्रदेश की सरकार ने ५००) पुरस्कार

इस ग्रन्थ पर दिया है। गौतम बुद्ध की जयन्ती पर आपने अंग्रेजी में "Social Reconstruction by Budha and Dayanand नामक ग्रन्थ लिखा। इसकी कई हजार प्रतियाँ जयन्ती पर आने वाले यात्रियों को अर्पित की गईं।

श्री उपाध्याय के ग्रन्थों की संक्षिप्त रूपरेखा ऊपर दी गई है। यह पूर्ण नहीं है। इसके अतिरिक्त अप्रकाशित ग्रन्थों के कई पुलन्दे बाँध-बाँध कर रखते जाते हैं। उपाध्याय जी का कहना है कि मेरा काम तो लिखना है। प्रकाशित होना तो भगवान् के हाथ है। इस प्रकार उनके प्रकाशित व अप्रकाशित ग्रन्थों की पृष्ठ संख्या २ लाख के लगभग ठहरती है। ५० वर्ष में २ लाख पृष्ठ संख्या। गणना के अनुसार ४०० पृष्ठ प्रति वर्ष। फिर ग्रन्थ दर्शन संबंधी हैं। जिसमें एक-एक पंक्ति मनन और अध्ययन के उपरान्त लिखी जाती है।

इससे आर्यजगत् लेखक की अपूर्व प्रतिभा, अध्यवसाय का थोड़ा सा अनुमान लग सकता है। अस्वस्थ होते हुये, नेत्रों की ज्योति मन्द पड़ने पर भी यही धुन है कि कुछ और हो जाय। ऋषि के ऋण का कुछ अंश अदा किया जा सके।

उपाध्याय जी द्वारा लिखित ट्रैक्ट प्रथम माला १६ पृष्ठ हिन्दी, पृष्ठों का योग १०७२

क्र० सं०	किताबों की सूची	क्र० सं०	किताबों की सूची
१	ईश्वर और उसकी पूजा	१४	हमारे स्वामी
२	हमारे बच्चों की शिक्षा	१५	ईसाई मत की आलोचना
३	प्राचीन आर्यावर्त्त	१६	कुम्भ माहात्म्य
४	हमारे धर्मशास्त्र	१७	देवी देवता
५	हमारा धर्म	१८	धार्मिक भूल भुलैया
६	घर की देवी	१९	जिन्दा लाश
७	राजा और प्रजा	२०	हमारा भोजन
८	हमारी देश सेवा	२१	दलितोद्धार
९	हमारे बिछुड़े भाई	२२	वैदिक सन्ध्या
१०	सच्ची बात	२३	हवन विधि
११	हमारा संगठन	२४	प्रार्थना भजन
१२	मुसलमानी मत की आलोचना	२५	वैदिक प्रार्थना
१३	रामभक्ति का रहस्य	२६	वेदोपदेश
		२७	मूर्ति पूजा
		२८	अवतार
		२९	आर्य समाज क्या है ?

क्र० सं०	किताबों की सूची	क्र० सं०	किताबों की सूची
३०	जीव रक्षा	४८	अद्भुत चमत्कार
३१	नशा	४९	पितृयज्ञ
३२	अछूतों का प्रश्न	५०	लोग क्या कहते हैं ?
३३	ब्रह्मचर्य	५१	स्वामी दयानन्द की सूक्तियाँ
३४	हमारा बनाने वाला	५२	ईश्वर और जीव का सम्बन्ध
३५	संस्कार	५३	पंचयज्ञ महिमा
३६	आनन्द का स्रोत	५४	वेदों में ईश्वर का स्वरूप
३७	हिन्दुओं के साथ विश्वासघात	५५	धर्म से होने वाली कल्पित हानियाँ
३८	स्वामी दयानन्द की दो भारी भूलें	५६	भेड़िया धसान
३९	हिन्दू जाति का भयंकर भ्रम	५७	आर्य समाज की सार्वजनिकता
४०	मुसलमान भाईयों के सोचने योग्य बातें	५८	यज्ञ के सामान्य वैदिक मंत्र
		५९	त्रैतवाद
४१	दलित जातियाँ और नया प्रश्न	६०	ईसाई मत की समीक्षा खुदा का बेटा
४२	कलियुग	६१	तुम कौन हो ?
४३	ग्रहण	६२	तुम्हारी भाषा क्या है ?
४४	साधु सन्यासी	६३	तुम्हारा धर्म क्या है ?
४५	जीव क्या है	६४	शुद्धि पद्धति
४६	गुरु माहात्म्य	६५	मुर्दा क्यों जलाना चाहिए ?
४७	पुनर्जन्म	६६	गाजी मिया की पूजा

द्वितीय माला ८ पृष्ठ हिन्दी, पृष्ठों का योग १८४

१	मौलवी साहब और जगतसिंह	१३	स्वामी दयानन्द का बलिदान
२	हिन्दू स्त्रियों की लूट का कारण	१४	हिन्दुओं पर एक नई आफत
३	हिन्दुओ जागो	१५	आदि हिन्दू सभा क्या है ?
४	हिन्दू धर्म का नाश	१६	आदि हिन्दू कौन है ?
५	हिन्दू जाति की रक्षा के उपाय	१७	शारदा एक्ट क्या ?
६	दान की दुर्गति	१८	आर्य समाज के साप्ताहिक अधिवेशन का अंतिम पाठ
७	विधवायें और देश का नाश		
८	दहेज	१९	डा० अम्बेडकर की धमकी
९	दुखदायी दुर्व्यसन	२०	हिन्दू संगठन का मूलमंत्र
१०	मसजिद के सामने बाजा	२१	आर्य गीतावली
११	हिन्दू मुसलमानों में मेल का प्रश्न	२२	आर्य समाज के साप्ताहिक सत्संग
१२	हिन्दुओं का हिन्दुओं के साथ अन्याय	२३	शिवलिंग पूजा पर शास्त्रार्थ

तृतीय माला १६ पृष्ठ अंग्रेजी, पृष्ठों का योग २०८

1. The Arya Samaj Introduced.
2. The Vedic conception of God.
3. The five great sacrifices of the Aryas.
4. The claims of the Arya Samaj.
5. The Between man and God.
6. The great Bug-bear.
7. The Vedic View of Life.
8. Vedie Womanhood.
9. Shuddhi.
10. The Arya Samaj and Hinduism.
11. The Arya Samaj and Depressed classess.
12. The Arya Samaj & Christanity.
13. The Arya Samaj & Mohammadans.

धर्म शिक्षा पद्धति : १. लड़कों के लिये १० भाग।
२. लड़कियों के लिये १० भाग।

उपाध्याय साहित्य

सन्	पुस्तकों का नाम	पृष्ठ संख्या
१६०७	नवीन हिन्दी व्याकरण	१५०
१६०८	बाल निबन्ध माला	१२५
१६१०	हिन्दी शेक्सपीयर ६ भाग	१२००
१६१३	१७ जीव जन्तु १४ भाग, अप्रकाशित	२१००
१६१८	अंग्रेज जाति का इतिहास	४५०
१६२०	विधवा विवाह मीमांसा	३५०
१६२३	आर्य समाज	२००
१६२५	सर्वदर्शन संग्रह	१७५
१६२६	आस्तिकवाद	४१४
१६२७	अद्वैतवाद	४५२
१६२८	वैदिक विवाह पद्धति	८०
१६३०	शंकर, रामानुज, दयानन्द	४८
	वैदिक उपनयन पद्धति	३२
१६३१	राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र और दयानन्द	१२२
१६३२	धर्मपद	१६०
१६३३	जीवात्मा	४६८
१६३६	मनुस्मृति भूमिका भाष्य	६८०
१६३६	वैदिक मणिमाला	६०
१६३८	महिला विवाह चंद्रिका	१७५
1939	Reason & Religion	156
	Swami Dayanand's Contribution to Hindu Solidaritry	168
	I & my god	168
१६४०	ईशोपनिषद्	१२८
	Origin, mission & Scope of Arya Samaj	184
	Worship	190
	शतपथ ब्राह्मण, अनुवाद अप्रकाशित	२५००
1041	Christianity in India.	170
	Superstition.	148

1943	Marriage & married life	212
	Agnihotra.	32
१९४३	भगवत कथा	१५६
१९४६	हम क्या खावें घास या मांस ?	१८०
	Light of Truth (English Translation-of Satyarth Prakasha)	850
१९४७	शांकर भाष्यालोचन	३६०
	Landmarks of Swami Dayanand's Teachings.	88
	आर्य स्मृति	२००
1942	Vedic Culture.	300
१९५०	कम्युनिज्म	२२०
	एतरेय ब्राह्मण भाष्य	५८०
	Life after death	136
	Catechism on Hinduism.	68
	सनातन धर्म और आर्य समाज	६०
	आर्योदय काव्यम् पूर्वार्द्ध	२३६
	उत्तरार्द्ध	२३४
१९५१	आर्य समाज की नीति	३२
	मुक्ति पुनरावृत्ति	५०
	सरल संध्या विधि	८४
1953	Aryasamaj a World movement.	16
	The Sage of modern time.	20
	The Vades.	32
1954	Yajnas or Sacrifice.	24
	The World as we view it.	20
	Devas in the Vedas.	16
1954	Hindu ! Wake up !	16
	Dayananda & State.	32
	If I become a Christian.	20
	धर्म सुधा सार	१४४
	जीवन चक्र	५००
	Outline of Dayanandian philosophy (अप्रकाशित)	

अभी विवरण प्राप्त नहीं हैं ।

1955
1956
1957
1958
1959

नोट :—ऊपर दी हुई सूची में से अनेक ग्रन्थों के गुजराती, मराठी, बंगाली, तामिल, तेलगू, कन्नड़ व अंग्रेजी अनुवाद छप चुके हैं।

प्रसाद-पञ्चक

—कविवर प्रणव शास्त्री, फीरोजाबाद

'श्रीप्रकाश'१ पा जो न विश्व२ में इतराता है।
पंचम स्वर में राग त्याग के जो गाता है॥
डिगे न जो कर्त्तव्य 'कला'३ के उच्च वरण में।
तत्पर जो स्वाध्याय सुधा के संरक्षण में॥१॥
गंगोदक शुचिज्ञान राशि का निर्मल निर्भर।
गाता जो सिद्धांत साम संगीत मनोहर॥
प्रबल युक्ति, प्रामाण्य प्रमा की झड़ी लगादे।
सावन की घनश्याम धरा पर बोध बहादे॥२॥
दर्शन के आलोक लोक का जो है प्राणी।
जीवन४ चक्र प्रकाशित गति जिसकी कल्याणी॥
उसका युग युग तक वन्दन अभिनन्दन होवे।
पाकर दर्प न हो दर्पण सा तन मन होवे॥३॥
ध्यान धारणा औ समाधि की सुन्दर सरगम।
यम वीणा प्रर नियम तार झङ्कार मनोरम॥
चित्र चरित्रों से मन मन्दिर शोभा वाले।
राष्ट्र अर्चना-दीप जगें जन में उजियाले॥४॥
युगाधार युग-परिवर्त्तन में तत्क्षण तन्मय।
होवें ये उद्घोष तमस से "ज्योतिर्गमय"॥
जागेआस्ति कवाद५ भावना कुङ्कुम फूले।
'आर्योदय' ५ हो "प्रणव" धरा संस्कृति में झूले॥५॥

---

१ सत्यप्रकाश, २ विश्वप्रकाश, श्रीप्रकाश, श्री उपाध्याय के पुत्र। ३ धर्मपत्नी कलावती देवी जी। ४-५-६ प्रसिद्ध ग्रन्थ।

Mahamahopadhyaya Dr. P. K. Acharya

(I. E. S. Rtd.) M. A. Ph. D., D. Lit.

I cordially offer my felicitations to Shri Ganga Prasad Upadhyaya M. A. May God grant him a life of 100 years. As a distinguished scholar, author of numerous works and reformer his name and fame will survive. His leadership of the U. P. Arya Samaj is sure to bear fruits. He has fully justified the title of Upadhyaya. His example is creditably being followed by his distinguished son, Shri Satya Prakash and his numerous followers.

Prof. A. C. Banerji

M. A.. I. E. S. (Retd.) Viec-Chancellar Allahabad University.

I have great plersure in sending my sincerest congratulations and heartiest felicitations to Shri Pt. Ganga Prasad Upadhyaya. A renouwned scholar and philospher as he is, he is also a great social reformer and a prominent leader of one of the most progressive religious movements of India—Arya Samaj. He has written many valuable books in Hindi and English on religious, historical and social subjects and is actively connected with various religious, literary, and educational organisations. I pray to God that he may be spared long to serve our people and our country.

Hon'ble Mr. Shankar Saran

Ex. Judge Allahabad High Court and Ex: Custodian General of Indla

President, Iswar Saran Ashram Allahabad.

Amongst the true servants of Arya Samaj, I know few men who have devoted their lives so whole-heartedly and so selflessly as Shri Ganga Prasad Upadhyaya, Secretary International Aryan League. He put to shame by his energy and enthusiasm men much younger in age than this veteran worker. May he live long to serve the cause to which he is utterly devoted.

प्रो० एम. सी. देव भूतपूर्व अध्यक्ष अंग्रेजी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय

Pandit Ganga Prasad Upadhyaya has served the cause of Education in its many aspects, as a teacher, as a builder of a famous institution, as a worker in the cause of social uplift, and the propagation of Vedic ideals.

Dr. Narian Prasad Asthana

Advocate High court,

EX—Advocate Genral, U. P.,

EX—Vice chancellor, Agra univercity.

The name of Shri Ganga Prasad Upadhyaya is a house-hold word in Arya Samaj circles I came in contact with Shri Upadhyaya when he was a Head Master of the local D. A. V. School. It was through his administrative capacity and deep learning that the School began to enjoy a high reputation amongst Educational Institutions of Allahabad.

He laid the foundation for the future prosperity of the School. His services to the cause of education have been varied and highly appreciable. His work in propagating the vital principles of Arya Samaj by numerous lectures and vast literature which he has produced, and his English translation of the Swami Daya Nand's Satyarth Prakash and land marks in the history of the Arya Samaj. Shri Ganga Prasad Upadhyaya has toured foreign lands for the purpose of popularising the creed of Arya Samaj and has bren successful in his efforts. He has occupied high positions in the Arya Samaj heirarchy and has as the President of the Arya Prati..idhi Sabha rendered signals service to its cause.

Happily Shri Ganga Prasad Upadhyaya is still amongst us and we all wish him a long life for the service of the country and usefulness to the cause of education.

Bombay Governor's Camp
May 25, 1959.

I note that friends are presenting a Commemoration Volume to Pandit Ganga Prasad Upadhpaya. I send my best wishes for the success of the Volume, and for long life, health and happiness to Pahditji.

I am,
Yours sincerely
(Sri Prakasa)

Bhopal
The 18th March, 1959

I have had the pleasure and privilage of knowing Shriman Ganga Prasad Upadhyaya for very many years. He was Principal of the D, A. V. High School at Allahabad for over 20 years. Throughout his life, he has taken the keenest interest in the social welfare and advancement of the people. His has been a life well-spent in the service of the community. He has upheld, by precept and by example, our ancient way of living and high standard of life.

I wish he may continue to have many more years of peace, rest and relaxation,

(Kailash Nath Katju)

Vice President India New Delhi
14 March, 1959.

I hope Shri Ganga Prasad Upadhyaya will continue his good work in the future.

Yours faithfully
(S. Radhakrishnan)

उपाध्याय जी साहित्यकार के रूप में

श्री पं० भवानी लाल 'भारतीय' एम. ए. सिद्धांत वाचस्पति,
अध्यक्ष हिन्दीविभाग, राजकीय बहुउद्देश्यीय विद्यालय, जोधपुर

आर्यसमाज के दार्शनिक सिद्धांत को पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय ने अपने गम्भीर एवं विवेचन पूर्ण ग्रन्थों के द्वारा जिस प्रकार स्पष्ट किया है वह अद्वितीय है। आज हम यह अनुभव कर रहे हैं कि वैदिक त्रैतवाद की दार्शनिक विचारधारा को विश्व के सम्मुख अत्यन्त विद्वत्ता एवं युक्तिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने की आवश्यकता है, परन्तु यह कार्य सरल नहीं है। यदि शंकराचार्य को वाचस्पति मिश्र जैसे टीकाकार नहीं मिले होते तो इसमें सन्देह है कि अद्वैतवाद की विचारसरणि को इतना बल मिलता। इसी प्रकार ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक मत का विशदीकरण उपाध्याय जी की रचनाओं के द्वारा हुआ है, जिस की संक्षिप्त विवेचना हम प्रस्तुत लेख में करेंगे।

उपाध्याय जी की सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त रचना 'आस्तिकवाद' है जिस पर लेखक को हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से १२००) रु० का मंगलाप्रसाद पारितोषिक सन् १९३१ में मिला। हमारा यह निश्चित अनुभव है कि आर्यसमाज की साहित्यिक कृतियों का समाज के बाहर के क्षेत्र में बहुत कम पठन-पाठन और आदर होता है। परन्तु उपाध्याय जी की कुछ रचनायें इसकी अपवाद समझी जानी चाहियें। आस्तिकवाद को हम इसी श्रेणी में लेते हैं। इस ग्रन्थ में लेखक ने ऋषि दयानन्द एवं अन्य प्राचीन ऋषियों तथा वैदिक शास्त्रों द्वारा अनुमोदित ईश्वर की सत्ता और उस के स्वरूप का दार्शनिक युक्तिपूर्ण विवेचन किया है। लेखक ने ईश्वर की सत्ता की सिद्धि में जो युक्तियां दी हैं वे अत्यन्त प्रभावशाली एवं धार्मिक हैं। प्रसंगानुसार अद्वैतवाद आदि उन दार्शनिक मतों की भी समीक्षा की गई है जो जीव और ईश्वर में अभेद मानते हैं। उपाध्याय जी ने आस्तिक वाद में ईसाई लेखक Flint की Theism नामक पुस्तक को बहुतायत से उद्धृत किया है, परन्तु वे ईसाई मत द्वारा प्रतिपादित ईश्वरवाद की समीक्षा करने से भी नहीं चूके हैं।

उपाध्याय जी की दूसरी प्रसिद्ध रचना 'जीवात्मा' है। इस में अध्यात्मसम्बन्धी (metaphysical) समस्याओं का विशद और गम्भीर विवेचन है। यथा स्थान पाश्चात्य मतों को उद्धृत करते हुये जीव की सत्ता और उसके स्वरूप पर विचार किया गया है। हिन्दी भाषा में इससे पूर्व इस विषय पर महात्मा नारायण स्वामी लिखित 'आत्मदर्शन' नामक पुस्तक के अतिरिक्त और कोई ग्रंथ नहीं था और उक्त पुस्तक में भी विभिन्न देशों और मतों में पाये जाने वाले जीवात्मा

सम्बन्धी विचारों का इतना जटिल वर्णन था कि वह एक सामान्य पाठक के लिये दुर्बोध बन गया था। उपाध्याय जी का विवेचन सरस, सुबोध और मनोरंजक है,

अपने दार्शनिक ग्रन्थों में उपाध्याय जी का यह प्रयत्न रहा है कि महर्षि दयानन्द प्रतिपादित वैदिक त्रैतवादी दर्शन को स्पष्ट करें और उसकी सत्यता को वैज्ञानिक एवं युक्तिपूर्ण ढंग से सिद्ध करें। इसी उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर उन्हें नवीन वेदान्त की समीक्षा का गुरुतर भार उठाना पड़ा क्योंकि जब तक शांकर मत का निरास नहीं हो जाता तब तक त्रैतवाद को जनमानस में दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित करना कठिन हो जाता है। उपाध्याय जी का 'अद्वैतवाद' ग्रन्थ इसी ओर एक महत्त्वपूर्ण कदम है। आवश्यकता इस बात की है कि इस ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद कराया जाय और डा० राधाकृष्णन तथा श्री राजगोपालाचारी जैसे उन सभी वेदान्ती दार्शनिकों के हाथों में पहुँचाया जाय जो वेदान्त केसरी की गर्जना सुनकर चकित हो गये हैं और शंकराचार्य की प्रतिभा से हतप्रभ होकर वैदिक त्रैतवादी दर्शन के रहस्य को समझने में असमर्थ हो रहे हैं।

'अद्वैतवाद' में इस मत के मूल प्रवर्तक शंकर के दादा गुरु गौडपादाचार्य की माण्डूक्य-कारिकाओं की विस्तृत समीक्षा की गई है। साथ ही यह भी बतलाया गया है। कि शंकर ने जगत् को मिथ्या सिद्ध करने के लिये जो युक्तियाँ दी हैं वे कितनी निर्बल और हेत्वाभासों से पूर्ण हैं? केवल 'बड़े आदमियों की बड़ी गलती' कह कर ही इनकी उपेक्षा नहीं की जासकती। लेखक ने परिश्रमपूर्वक यह भी सिद्ध किया है कि जिस माया का सहारा लेकर शंकर विश्व प्रपंच की व्याख्या करने का दम भरते हैं। उस माया का शंकर द्वारा समझा हुआ अर्थ किसी प्राचीन ग्रंथ में उपलब्ध नहीं होता। श्वेताश्वतर उपनिषद् में 'माया' को प्रकृति कहा है जो जगत् का उपादान कारण है। ऐसी दशा में शारीरिक सूत्रों की मनमानी व्याख्या कर शंकर चाहे अपने मत का प्रतिपादन भले ही करलें परन्तु सूत्रकार का मौलिक मन्तव्य तो उससे सर्वथा भिन्न ही है।

उपाध्याय जी की साहित्य रचना केवल हिन्दी तक ही सीमित नहीं रही। वे दार्शनिक विषयों पर अंग्रेजी में भी उतने ही अधिकार पूर्ण ढ़ंग से लेखनी चलाते हैं जितनी हिन्दी में। I and my God (मैं और मेरा भगवान्) Worship, Swami Dayanand's contribution to Hindu Solidariey और Reason and Religion जैसे अनेक ग्रन्थों की रचना उन्होंने एक ग्रंथमाला के रूप में कई वर्ष पूर्व की थी। मैं और मेरा भगवान् उपाध्याय जी की एक अपूर्व कृति है इसमें नवीन वेदान्त के 'तत्त्वमसि' आदि तथाकथित महावाक्यों की वास्तविक प्रसंगानुकूल व्याख्या की गई है और उनका मूल अभिप्राय बताया है। साथ ही शंकर और रामानुज के वेदाँत का आलोचनात्मक विवेचन भी है। अन्त में 'कुछ लुभावने हेत्वाभास, शीर्षक अध्याय में स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ आदि आधुनिक वेदान्तियों के भावुकतापूर्ण वाक्यों को उद्धृत कर उनकी मार्मिक टीका की गई है। वस्तुतः रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द के द्वारा वमर्तान युग में जो अद्वैतमत का प्रचार हुआ है, उसका समाधान करने का वृहद् कार्य तो वैदिक दार्शनिकों को अभी करना ही है।

उपाध्याय जी ने 'शाङ्करभाष्यालोचन' के रूप में दार्शनिक साहित्य को एक अपूर्व भेंट दी

है। साधारणतया यह समझा जाता है। कि वेदान्तदर्शन के शाङ्करभाष्य में दार्शनिक-विवेचन पराकाष्ठा पर पहुँच गया है जिससे आगे दार्शनिक मस्तिष्क के लिये और कोई उड़ान भरना शेष नहीं रहता। साथ ही वेदान्त के शंकर द्वारा प्रतिपादित स्वरूप को सर्वोत्कृष्ट और अखण्डनीय समझा जाता है। वस्तुतः शंकर जैसे दार्शनिक मूर्धन्य और सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त आचार्य के सिद्धांत को चुनौती देना एक बड़े साहस का काम है। इसे तो सर्वतंत्र स्वतंत्र आचार्यवर दयानन्द का शिष्य ही कर सकता है, और हम यह बड़े गौरव के साथ कह सकते हैं कि उपाध्याय जी ने इस कार्य को बखूबी किया है।

जीव-ब्रह्म के ऐक्य और संसार के मिथ्यात्व को सिद्ध करने के लिये शंकराचार्य ने जिन-जिन दृष्टान्तों का सहारा लिया है उनकी निस्सारता उपाध्याय जी ने बड़े बलपूर्वक प्रतिपादित की है। उन्होंने तो यहां तक लिखा है कि शंकर का युग अंधविश्वास और जड़ता का युग था जिसमें इन्द्र-जाल (Magic) आदि की सत्यता पर लोगों को विश्वास था। वर्तमान युग की वैज्ञानिक विचार-धारा जादू टोने की धारणाओं को मिथ्या विश्वास समझती है; अतः शंकर का गंधर्वनगर आदि के दृष्टान्तों से जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध करना युक्तिविरुद्ध है।

हाल ही में उपाध्याय जी ने Philosophy of Dayanand नामक एक वृहद् ग्रन्थ अंग्रेजी भाषा में लिखा है कि। इसमें ऋषि दयानन्द के दार्शनिक चिन्तन की अत्यन्त विशद रूप में व्याख्या की गई है। महर्षि दयानन्द के सुधारक और धर्माचार्य के रूप को तो जनता ने भली भाँति समझ लिया, परन्तु उन्होंने संसारके समक्ष एक ठोस, व्यावहारिक और यथार्थ दर्शन भी प्रस्तुत किया है, इसे अभी लोग स्वीकार नहीं कर पाये हैं। ऐसी स्थिति में हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम ऋषि के दार्शनिक मत को संसार के समक्ष उपस्थित करें। ऐसा करने से ही ऋषि के अपूर्व दार्शनिक दृष्टिकोण को लोग जान सकेंगे। उपाध्याय जी ने उपर्युक्त ग्रन्थ की रचना इसी उद्देश्य से की। इसमें ज्ञानप्राप्ति के साधन, ईश्वर, जीव, प्रकृत्ति, सृष्टि रचना आदि के विषय में महर्षि के विचारों को तो व्यक्त किया ही गया है, साथ हीं उनके द्वारा प्रतिपादित आचार शास्त्र (Ethics) तथा उनके समाज एवं राष्ट्र सम्बन्धी विचारों की भी विशद विवेचना की गई है। दयानन्द के दर्शन को समझने के लिये इस ग्रन्थ की उपयोगिता निर्विवाद है।

दर्शन के अतिरिक्त भी उपाध्याय जी की उर्वर लेखनी से अनेक ग्रन्थरत्न प्रसूत हो चुके हैं। ऐतरेय ब्राह्मण का हिन्दी अनुवाद वे एक विद्वत्तापूर्ण भूमिका सहित हिन्दी साहित्य-सम्मेलन से प्रकाशित करा चुके हैं। अभी उन्होंने 'सायण और दयानन्द' के वेद-भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया और अब वे मीमांसा-दर्शन पर एक पुस्तक लिख रहे हैं।

उपाध्याय जी आयु की दृष्टि से पर्याप्त वृद्ध हो चुके हैं परन्तु उनका प्रत्येक क्षण आर्य-साहित्य की अभिवृद्धि के लिये चिन्तन में ही व्यय होता है। उन्होंने लेखक को एक पत्र में लिखा—'साहित्य की दृष्टि से आर्यसमाज की भूमि उर्वरा नहीं है।' क्या यह हमारे लिये कलंक की बात नहीं है। जिस समय उपाध्याय जी Philosophy of Dayanand लिख रहे थे, उस समय

लेखक ने एक पत्र द्वारा उनसे निवेदन किया था कि षड्दर्शन समन्वय का जो सूत्र ऋषि दयानन्द की कृपा से हमें प्राप्त हुआ है उसे विशद रूप से प्रस्तुत करने के लिए एक ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता हैं जिसमें उन सभी शंकाओं का समाधान करने की चेष्टा की जाय जो आज तक पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वानों ने षड्दर्शनों के परस्पर विरोध को प्रदर्शित करने के लिए की है। उदाहरणत: सांख्य को अनीश्वरवादी घोषित करना, वेद के पौरुषेयत्व और अपौरुषेयत्व के विषय में न्याय और मीमांसा का मत, मीमांसा में पशुवध विषयक निर्देश, वेदान्त द्वारा सांख्य, न्याय, योग, वैशेषिक और मीमांसा का खण्डन आदि।

ये और ऐसी ही अन्य अनेक समस्यायें दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियों के समक्ष आती हैं। दर्शन के सूत्र ग्रन्थों की रचना के पश्चात् इन विविध दार्शनिक मतों को लेकर पश्चिमी पंडितों और विद्वानों ने जो एक अथाह ग्रन्थ राशि का निर्माण किया है, उसके कारण षड्दर्शनों का वास्तविक स्वरूप लुप्त हो गया है। ऋषि दयानन्द का दृष्टिकोण समन्वयवादी था। उन्होंने सभी आस्तिक दर्शनों की सत्यता को स्वीकार किया और वेद के प्रति आस्थावान् होने के कारण उनको सम्मान्य घोषित किया। अब आवश्यकता इस बात की है कि महर्षि द्वारा प्रदत्त इस समन्वय सूत्र की विस्तृत व्याख्या की जाकर वैदिक दर्शनों को एक-दूसरे का पूरक होने का उद्घोष किया जाय। यह कार्य उपाध्याय जी जैसे महामनीषी के द्वारा ही सम्भव है। मेरी समझ में यही उनके साहित्य निर्माण रूपी महायज्ञ की पूर्णाहुति होगी और आर्यसमाज के भावी इतिहासकार उनका एक महान् साहित्यकार के रूप में युगों तक अभिनन्दन करेंगे।

हम यह जानते हैं कि यदि उपाध्याय जी दयानन्द दर्शन की विशद व्याख्या का गुरुतर भार अपने कंधों पर न लेकर अन्य किसी विषय पर अपनी लेखनी चलाते तो वे अपनी अपूर्व प्रतिभा और अपने कृतित्व के बल पर राष्ट्रभाषा हिन्दी के लेखकों में अग्रणी होने के साथ-साथ प्रभूत द्रव्योपार्जन भी कर लेते, परन्तु अपने आचार्य के चरणों में साहित्यरूपी गुरु दक्षिणा अर्पित करना ही उन्होंने अपना ध्येय समझा। सरस्वती के इस वरदपुत्र, दार्शनिक मूर्धन्य को हम अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उनके शतायु होने की कामना करते हैं।

—श्री भगवानदास एम. ए. प्रिंसिपल, चण्डीगढ़

मैं तो आर्य-समाज की एक सम्प्रदाय न मानकर एक संस्था भी नहीं मानता। इन शब्दों से तो आर्यसमाजी विचार-धारा सीमित हो जाती है। मैं तो आर्यसमाज को एक आंदोलन तथा वातावरण मानता हूँ। आज बहुत से आर्यसमाजी भाई संस्था-वाद के चक्कर में पड़कर आर्यसमाज को निर्बल कर रहे हैं। यही कारण है की नवयुवक आर्यसमाज में उतने नहीं आ रहे जितना आर्यसमाजके कार्य को आगे बढ़ाने के लिए चाहिए। मैं तो मुट्ठीभर नेताओंके चरणों में बैठा अथवा उनके लेख पढ़े। वह थे पुराने आर्यसमाजी जिनके अथक परिश्रम तथा त्याग से आर्यसमाज की छाप संसार पर लगी। उन नेताओं में से जिन के विचारों ने मुझे आकर्षित किया उनमें से पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय भी हैं। इस लिए मैं भी अपनी ओर से यह भावना पुष्प उनके चरणों में भेंट करता हूँ।

—डा० प्रेमदत्त शास्त्री, फीरोजाबाद

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर अविस्मरणीम साहित्य के प्रणेता पं० गंगाप्रसाद जी से आर्य जगत् सुपरिचिन है। इस युग में क्या धार्मिक, क्या सामाजिक, क्या चारित्रिक और राजनैतिक जितनी भी उत्कृष्ट प्रवृत्तियाँ चलीं और चल रही हैं उन सभी के सम्बन्ध में उपाध्याय जी ने इतना लिखा है जो आगामी समय में किसी भी लेखक को लिखना असम्भव नहीं तो दुरूह अवश्य है।

उपाध्याय जी आर्यसमाज के उन चमकते सितारों में से हैं जो अपनी पूर्ण ज्योति और आभा के साथ चमकते रहे हैं। आर्यसमाज के सम्पर्क से उनका और उनके सम्पर्क से आर्यसमाज का गौरव बढ़ा है। उनके आर्य जीवन में अदम्य सत्यप्रियता, निर्भीकता, निस्वार्थभावना, त्यागशक्ति, और कठोर संयम एवं दुर्लभ सुजनता की भावना देखी जाती है।

—प्रो० हरिदत्त शास्त्री एम० ए०, पी० एच० डी०, दयानन्द कालेज, कानपुर

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए० उन विद्वद्रत्नों में से हैं, जिन पर कोई भी समाज उचित गर्व कर सकता है। उपाध्याय जी के जीवन के दो प्रधान लक्ष्य रहे हैं—शिक्षाप्रसार और वैदिक धर्म-प्रचार। आपके जीवन का प्रारम्भ सरकारी शिक्षा-विभाग के अध्यापक पद से प्रारंभ हुआ। फिर आप सरकारी सेवा त्यागकर धर्म प्रचारक की भावना से डी० ए० वी० हाई स्कूल प्रयाग के मुख्याध्यापक पद पर प्रतिष्ठित हुये और बड़ी योग्यता तथा तत्परता के साथ कार्य किया। इस पद से अवकाश ग्रहण करके तो आपने सारा जीवन ही आर्यसमाज के लिये अर्पित कर दिया। कई वर्षों तक आप 'उत्तर प्रदेशीय आर्य प्रतिनिधि-सभा' के प्रधान रहे और ग्राम-ग्राम घूमे। आपके लेख और भाषण दोनों ही कलापूर्ण होते हैं। उपाध्याय जी एक देश के नहीं, एक दिशा के नहीं एक दर्शन के नहीं, एक भाषा के नहीं, सर्वदेश, सर्वदिशा, सर्वदर्शन, सर्व भाषा के पारखी, पण्डित परिज्ञाता और परिच्छेत्ता हैं। आपने आर्यसमाज, हिंदी साहित्य, व संस्कृत साहित्य को बहुत कुछ दिया है। आपकी विनयशीलता और सहृदयता भुलाई नहीं जासकी। माताजी (उपाध्याय जी की धर्मपत्नी) का अतिथि सेवाव्रत तथा धर्म-प्रेम चिरस्मरणीय व अनुकरणीय है। आज उनके अभिनन्दन में आर्य जगत् ही अपना अभिनन्दन स्वयं कर रहा है। यह न करना एक अपराध था, क्योंकि महाकवि कालिदास ने स्पष्ट ही लिखा कि:—

प्रति बध्नाति हि श्रेयः,
पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ॥

गेहुआं रंग, नाटा शरीर, विशाल मस्तक, गम्भीर एवं प्रकाशमय चेहरे को देखकर आर्य गंगाप्रसाद जी का स्मरण होता है। साथ ही वृद्धावस्था में भी यौवन की सी स्फूर्ति के कारण उनके सदाचारपूर्ण जीवन की ओर सहसा ध्यान आकर्षित होता है।

आर्य गंगाप्रसाद जी से मिलकर उनके आर्यत्व से प्रभावित हुए बिना रह सकना असम्भव

है। इसका मुख्य कारण यह है कि उन्होंने जीवन भर अनवरत सांस्कृतिक साधना की है। और समाज-सेवा की वेदि पर अपने समस्त सुखों का बलिदान भी किया है। उन्होंने देश-विदेशों का भ्रमण करके अनुभव प्राप्त किया है और अपने प्राचीन विचारों में भी समयानुसार संशोधन करते रहे हैं।

वे सिद्धहस्त, पुरस्कृत एवं सम्मानित लेखक तथा वक्ता तो हैं ही, किन्तु उनके चरित्र का सबसे बड़ा गुण उनकी सहृदयता है। विपक्षियों के समक्ष अपने विचारों को रखते समय भी वे पर्याप्त सहृदय बने रहते हैं। यही कारण है कि उनकी उक्तियां सभी पर जादू का सा प्रभाव डालती हैं।

उनके चरित्र में नैतिकता एवं आस्तिकता का मणिकाञ्चन संयोग है। उनके चरित्र की महानता के आधार पर उनकी गणना इस युग के ऋषियों में की जानी चाहिए।

आपने देश और जाति को जो प्रकाश प्रदान किया है वह आप जैसे व्यक्तियों के ही योग्य है। हमारी यही शुभकामना है कि आप दीर्घजीवी हों और राष्ट्र की सेवा में सतत संलग्न हो।

—श्री श्यामकुमार आचार्य, आगरा

सर्वप्रथमहं पं० उपाध्याय महाभागमभिनन्दामि। स प्रायः अशीति-वर्ष-देशीयः। आर्यविद्वत्सु एकः दिग्गजोविद्वान् महारथः, येन प्रायः ५० वर्षाणि यावत् आर्यसमाजस्य महती सेवा कृता, तथा इदानीं चापि करोति यथावसरं। अनेन महाभागेन न केवलं भारतेवर्षे, वेदादिसच्छास्त्राणां, आर्यसमाजस्य मुख्य-सिद्धान्तानां, प्रचारः भाषणादि लेखनादि-माध्यमेन कृतः, अपितु विदेशेषु अपि स महानुभावः ऋषिदयानन्दस्य 'संदेशं' लोक-कल्याणाय नीतवान्। आंग्ल-हिन्दी भाषायाः तु पंडितः स अस्ति एव, परन्तु संस्कृतस्य अपि एकः महापडितो विद्यते। स महानुभावः वेदानाम् अपि मर्मज्ञः।

—पं. नरेन्द्र जी, हैदराबाद

तीन धागे थे फकत सूत के कच्चे लेकिन।
बाजी जुनंनार ने ली हैदरी तलवार पै भी॥

यह उर्दू का पद आज भी हैदराबाद राज्य भर में और अब कहना चाहिये आन्ध्र-प्रदेश भर में खूब प्रचारित है, यह एक विचित्र तथा प्रखर और बहुत अंशों में व्यंग्योक्ति है। यों देखा जाये तो ऊपर-ऊपर इस उक्ति में कोई गहनता नहीं, पर यही गहनता का विषय है, अपने आप में कितना विरल तथा विलक्षण सा लगता है; जब कोई जाने कि इसके रचयिता स्वयं आदरणीय श्री गंगा-प्रसाद उपाध्याय हैं, उनकी विद्वत्ता, ज्ञानगरिमा और मनस्विता के विषय में आखिर क्या कहूँ ?

सोचता हूं आज हम उपाध्याय जी के समकालीन जो हैं और यह उपरोक्त पद जो है, सबके सब स्वतः आत्मसात् से हैं और यही उपाध्याय जी की पृष्ठभूमि का एक ज्वलन्त प्रतीक चिह्न है…… मैं स्पष्ट करूँ, हम उपाध्याय जी के समकालीन लोग और यह उपरोक्त उर्दू पद ·· जो ऊपर-ऊपर बहुत हल्का है—उनके लिए उदाहरण रूप है——और स्पष्ट करूँ, 'हम' से मेरा

अभिप्राय है, जिन लोगों के सामने जिन लोगों के लिए उपाध्याय जी लिखते हैं और जिन लोगों के लिए उपाध्याय जी का जीवन अपने समूचे आपे के साथ, एक मिशन बन गया है, वे लोग और यह उपरोक्त पद तो आर्य-संस्कृति के प्रति उपाध्याय जी की प्रखर, उत्कृष्ट और ज्वलन्त अग्नि का प्रतीक मात्र है।

इस उर्दू पद के विषय में इतना बताना आवश्यक होगा कि यह पद उपाध्याय जी ने ही हैदराबाद के आर्य सत्याग्रह के चलते हुए दिनों में, कदाचित् सन् १९३९ में रचा था और यही पद आगे जाकर हमारे सत्याग्रह की एक मन्त्र-समिधा के रूप में प्रयुक्त हुआ है और अभी भी इसे कोई विस्मृत नहीं कर सका है।

हैदराबाद का आर्य-सत्याग्रह समूचे आर्यसमाज के इतिहास में कदाचित् सर्वाधिक आन्दोलनकारी घटना है और मेरे विचार में बहुत ही कम लोग इस बात को जानते होंगे कि उपाध्याय जी का हमारे इस सत्याग्रह-संग्राम से कैसा, कितना निष्ठापूर्ण सम्बन्ध रहा है। यह सत्य है कि उपाध्याय जी ने इस सत्याग्रह-संग्राम में कोई जेल नहीं भोगी और यह भी सत्य है कि उपाध्याय जी आर्यसमाज के ही क्या अन्य किसी भी संस्था के किसी आन्दोलन में भी जेल नहीं गये; अथवा यों भी कह लीजिये कि वे किन्हीं भी आन्दोलनों में सक्रियरूप में आगे नहीं आये, भले ही उनकी सहानुभूति सब आन्दोलनों के प्रति बहुत अंशों तक रही हो······और इस प्रकार की एक धारणा भी उपाध्याय जी के प्रति आर्यसामाजिक जगत् में फैली हुई है कि वे कैसे आर्य हैं? कर्मठता उनमें कहाँ है? आर्य नेता होते हुए भी, वे अवसर पर चुप रहे अथवा पता नहीं, कहां अदृश्य से रहे। पर, आग्रहतम भाव से निवेदन करूँ, उपाध्याय जी के प्रति यह सब धारणा न केवल अपने आप में ही भ्रान्त है अपितु तथ्यों से भी नितान्त भ्रामक है। उदाहरण रूप में मेरे सामने हैदराबाद के आर्य-सत्याग्रह का पूरा चित्र अपनी समस्त पृष्ठ भूमियों के साथ है। स्पष्टतः ही उपाध्याय जी इस सत्याग्रह में जेल नहीं गये, उन्होंने कोई जोशीला भड़कीला कदम नहीं उठाया और न ही उनका नाम इधर-उधर चर्चा के साथ सुनाई दिया। पर वास्तविकता यह है कि उपाध्याय जी ने शोलापुर के प्रमुख सत्याग्रह शिविर में बैठकर जो कार्यालयीय व्यवस्था सम्भाली वह अपने आप में किसी भी आन्दोलन से कम महत्त्वपूर्ण कैसे हो सकती है? उन्हें इस सत्याग्रह के प्रति न केवल बौद्धिक सहानुभूति थी, अपितु इसके लिए उन्होंने अपने आप को किस उत्कट और तपःपूत निष्ठा से अर्पित भी कर डाला था।

उपर्युक्त प्रकरण इस स्थान का अभिलक्ष्य नहीं है, केवल प्रसंगवश और बाध्य होकर ऐसा कुछ कहना पड़ा। उपाध्याय जी के जीवन का एक एक परिच्छेद आर्य-मनीषी का प्रतिमानित प्रतीक है।

उपाध्याय जी, उनका समूचा परिवार और उनकी एक-एक गति समग्र रूप में परिनिष्ठित, सौम्य और शालीन है। वे उपाध्याय जी ···प्रक्रियाजन उद्वेगों से रहित, सांसारिक द्वन्द्वों से दूर एक आस्थापूरित जीवन को अपने अस्तित्व, व्यक्तित्व और कृतित्व में सतत भाव से संजोये हुए हैं

और वे इस स्थल पर अन्ततः अडिग, अचल हैं। कोई कुछ कहे, सुने, उनके प्रति धारणा बनाये, इसका महत्त्व ही क्या ? महत्त्व तो वस्तुतः यह है कि उन्होंने जीवन में ज्ञान और आस्था, दोनों को आत्मसात् कर डाला है और यह बात अपने आप में एक अक्षुण्ण महत्त्व की बात है।

और आज, इस अवसर पर मैं तो यहाँ तक कहने का साहस करूँगा कि उपाध्याय जी ने ज्ञान और आस्था को अपने व्यक्तित्व और कृतित्व में इतना एकाकार कर लिया है, इतना आत्मसात् कर लिया है कि आज, इस वैषम्य और तुमुल संघर्ष के युग में, ज्ञान और सत्य के अन्वेषण और सृजन के प्रति उनकी आस्था, उनसे ही अनुप्राणित होती है। ये उससे नहीं। मेरी यह बात प्रत्येक उस वचस्वी व्यक्तित्व के लिए है जो अपने व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों में ज्ञान और आस्था को सरल, सौम्य भाव से आत्मसात् कर चुका है···और ऐसे मनस्वी आज के इस ऐसे संसार में बिल्कुल नगण्य हैं।

उपाध्याय जी अस्सी साल के हो रहे हैं, वे दीर्घावधि से ज्ञान जैसे सर्वोपरि माध्यम से आर्य समाज की सेवा कर रहे हैं, पर आज जो यह उनका अभिनन्दन आयोजन है, इसमें कम से कम एक भावना तो सन्निहित है. वह है उनके प्रति, उनके कृतित्व और व्यक्तित्व के प्रति हमारा, हम सब आर्यसमाजियों की आभारजन्य आस्था और उसकी एक अभिव्यक्ति-मात्र।

किन्तु उपाध्याय जी के जीवन में जो भी प्रतिध्वनित है, उसका यदि हम सब अनुसरण कर पायें, उससे अपने आपको आलोकित कर पायें, यही स्थिति उनके प्रति हमारी यथार्थ आस्था का अभिनन्दन होगी।

—सुरेशचन्द्र वेदालंकार एम० ए० एल० टी०, डी० बी० कालेज, गोरखपुर

सोवियत रूस के महानतम कवि बोरिस का पिता उससे कहा करता था "बोरिया अपनी कला में तुम अपना ईमान कभी न खोना। फिर तुम्हारे कट्टर से कट्टर दुश्मन तुम्हारा कुछ न बिगाड़ सकेंगे।"··· पेसेनिन और मायकावस्की के बाद जब वही अकेला ऐसा रूसी कवि बचा, जिसका विदेशों में भी प्रचुर सम्मान था, तब उस पर सोवियत आलोचकों ने आरोप लगाया कि वह समकालीन राजनीतिक पार्टी के आदेश के अनुसार नहीं लिखता। उसकी कविता सबसे अलग, बिल्कुल अलग है। उसने शान्त भाव से कहा—"और मेरी इन पसलियों का क्या करोगे ? इनके नीचे मेरा हृदय भी तो सबसे अलग है।"

जब मैं उपाध्याय जी के साहित्य और उनकी बातचीत पर विचार करता हूं तो मुझे भी लगता है कि सचमुच लेखन कला के होते हुए भी ऋषि दयानन्द की प्रेरणा से प्राप्त पसलियों के नीचे का उनका हृदय भी तो सबसे अलग है। यही कारण है कि इन्होंने साहित्य के क्षेत्र में वह अमर कार्य किया है कि जिसे भले ही आज के लोग महत्व न दें, आगे आने वाली पीढ़ियां उन्हें याद करेंगी।

उपाध्याय जी ऐसे साहित्यिक हैं जिन्होंने इस अतीन्द्रियता की आंखों को चौंका देने वाली प्रभावशाली वेगधारा में किसी भी शर्त पर बहना पसंन्द नहीं किया है और इस शर्त पर जीवित रहना उन्हें स्वीकार है कि वे अपनी पसलियों के नीचे स्पन्दित हृदय की दीर्घसूत्री परिचालना में

किसी अल्पसूत्री मरीचिका का बन्धन नहीं बँधने देंगे। हृदय का जीवन ही अन्तिम और प्रथम जीवन है। हृदय की मृत्यु ही आत्मा को कुंठित कर देती है। इसीलिए उपाध्याय जी ने उदात्त आर्य साहित्य के निमाण का मार्ग अपनाया। उपाध्याय जी को मैं सनातन भारतीय संस्कृति का प्रहरी मानता हूं जिन्होंने प्राचीन विचारधारा को हिन्दी साहित्य में रख दिया है। हिन्दी गद्य में उपाध्याय जी का महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु इससे भी बढ़कर आर्यसमाज को जीवित रखने का बड़ा भारी श्रेय उपाध्याय जी को है। बौद्ध धर्म की स्थापना ठीक है कि बुद्ध भगवान् ने की। परन्तु बौद्ध धर्म को जीवित करने का श्रेय अश्वघोष इत्यादि साहित्यकों को ही है। इसी प्रकार आर्यसमाज के साहित्य के एकमात्र निर्माता उपाध्याय जी शतायु हों यही हमारी भगवान् से प्रार्थना है।

—श्री उमेशचन्द्र स्नातक एम. ए. सम्पादक 'आर्यमित्र'

श्रद्धेय उपाध्याय जी, आर्यसमाज की द्वितीय पीढ़ी के उन आदर्श, कर्तव्यपरायण धर्मनिष्ठ आर्यों में अन्यतम है जिनकी वाणी का एक-एक शब्द, प्रगति का एक-एक पग आर्यत्व को साकार स्वरूप प्रदान कर रहा है। ओजस्विनी वाणी और अजस्र लेखनी के द्वारा आपने आर्यसमाज की महान् सेवा कर अपने अध्यात्म गुरु महर्षि दयानन्द के ऋषि ऋण से उऋण होने का जो सफल प्रयास किया है वह युग-युग तक आर्य जगत् को प्रेरणा देता रहेगा।

श्री उपाध्याय जी अपने जीवन के स्वयं निर्माता हैं। प्रारम्भिक दैवी और आर्थिक संकटों से संघर्ष करते हुए उनकी प्रखर मेधा ने महर्षि दयानन्द के संदेश में जीवन-ज्योति की आभा पायी और एक बार अध्यात्मगुरु का वरण कर अपनी जीवननौका को गुरु के आदर्शों के लिए समर्पित कर दिया। भवसागर के आर्थिक, सामाजिक संघर्षों में ऋषि का सन्देश ही उनका सम्बल रहा है। आदर्शों के लिये संघर्ष जीवन की उनकी कहानी आज उन्हें हमारे मध्य एक आदर्श ऋषि, मनस्वी और वैदिक ज्योति के प्रकाश स्तम्भ के रूप में प्रस्तुत कर रही है।

आर्यमित्र के साथ उपाध्याय जी का बन्धुत्वमय सम्बन्ध और सम्पर्क रहा है, उनकी लेखनी ने आर्यमित्र की आत्मा के स्वरूप को एक कलाकार के रूप में स्पष्ट और उद्भासित करने का जो अथक अनवरत प्रयत्न किया है, आर्य विद्वानों के लिये वह सदैव आदर्श रहेगा।

आर्यसमाज के सन्देश प्रसार के लिये साहित्य की आवश्यकता और महत्ता पर न केवल आपने बल ही दिया है अपितु अपनी शाश्वत लेखनी से आर्य साहित्य की अभिवृद्धि ही उन्होंने अपने जीवन का धर्म बना लिया है।

आर्यसमाज के सार्वभौम स्वरूप की व्याख्या और उसके निर्माण में उपाध्याय जी का आत्मार्पण भावी पीढ़ियों के लिये प्रकाशस्तम्भ का कार्य करता रहेगा। आर्यसमाज को सम्प्रदायिकता, रूढ़िवाद और लौकिक त्रुटियों से असम्पृक्त और समुज्ज्वल रखने का आपकी दिव्य प्रतिभा ने जो महान् कार्य किया है, आर्यसमाज का शीर्ष नेतृत्व उस दृष्टिकोण से सदैव पथप्रदर्शन प्राप्त कर सकेगा।

आर्यत्व की साधना में रत इस साधक कर्मयोगी की सेवाओं के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना हम सबका पावन कर्तव्य है। "आर्यमित्र" परिवार अपने लेखक और अभिन्नतम मित्र उपाध्याय जी के अभिनन्दन में सम्मिलित हो आनन्द विभोर हो रहा है, और सम्पूर्ण परिवार एक स्वर से अपने सखा मार्गदर्शक मनीषी के दीर्घायु की मगल कामनायें करता है। प्रभु सरस्वती और समाज के वरद-पुत्र उपाध्याय जी को चिरायु करे, जिससे वे आर्यसमाज की सेवा और पथप्रदर्शन में सहायक बने रहें।

—धर्मदेवो विद्यामार्तण्डः

१. यः शेमुषीमान् सुपरिश्रमी च
सुसेविका यस्य तु लेखनीयम्।
रत्नान्यनेकानि ददन्नरेभ्यो
गङ्गाप्रसादाख्यबुधोऽभिनन्द्यः ॥

२. अद्वैतवादास्तिकवादजीव—
श्रीशङ्करालोचन इत्यभिख्यान्।
ग्रन्थांस्तथान्यान् रचयन् सुचारून्
गङ्गाप्रसादाख्यबुधोऽभिनन्द्यः ॥

३. विचारको यः प्रथितः स्वतन्त्रः
स्वीयान् विचारान् अभयो व्यनक्ति।
श्रद्धासुमेधाद्भुतयोगमूर्तिः,
गङ्गाप्रसादाख्यबुधोऽभिनन्द्यः ॥

४. यः सार्वदेशिकसभाशुभकार्यदर्शी
धर्मप्रचारनिरतोऽविरतं बभूव।
वृद्धोऽपि यो नवयुवेव चकार कार्यं
गङ्गाप्रसादमतिमान् स सदाभिनन्द्यः ॥

५. यस्मिन् मदो न विबुधेऽस्ति गुणाकरेऽपि
प्रीतिं समैरवरजैरिह यः करोति।
हीनश्छलेन नितरां सरलो मरालो
गङ्गाप्रसादमतिमान् स सदाभिनन्द्यः ॥

६. दीर्घं वयः कीर्तिमरोगितां च
दिव्यां सुशक्तिं प्रददातु देवः।
समाजसेवां विदधत्प्रशस्तां
जीव्यादुपाध्यायवरः सुशान्त्या ॥

—श्री ठा० श्रीनाथ सिंह जी, सम्पादक [दीदी], प्रधान मन्त्री अखिल भारतीय पत्रकार लेखक संघ

श्रीमान् उपाध्याय जी जैसे साधक, दृढ़व्रती, निर्भीक, समाजनिर्माता हमारे देश में इने-गिने ही हैं। प्रसिद्धि की चाहना से दूर जोखिमों की ओर से सर्वथा उदासीन होकर उन्होंने हमारे सामने सच्चे आर्य का आदर्श चरित उपस्थित किया है। इलाहाबाद ही नहीं, संयुक्त प्रान्त और अखिल भारत में वे आर्यसमाज के महान् स्तम्भ के रूप में पूजनीय हैं।

—श्री डा० रामकुमार वर्मा, एम. ए. पी., एच. डी., अध्यक्ष हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय

उपाध्याय जी ने भारतीय संस्कृति के उत्थान में जो योग दिया है वह चिरस्मरणीय रहेगा। उपाध्याय जी हमारे देश की विभूति हैं। मेरी मंगल कामना है कि वे शतायु होकर हमारे देश की कीर्ति के प्रतीक बनें।

—प्रो० धीरेन्द्र वर्मा एम. ए. डी. लिट्., भूतपूर्व अध्यक्ष हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय

उपाध्याय जी ने साहित्य तथा समाज की असाधारण सेवा की है। ईश्वर से प्रार्थना है कि वे दीर्घजीवी हों और इसी प्रकार आगे की पीढ़ियों का पथ प्रदर्शन करते रहें।

—डा० गोरख प्रसाद डी० एस० सी०, प्रयाग विश्वविद्यालय

उपाध्याय जी ने शिक्षा, साहित्य तथा धर्म की जो सेवा की है वह लोकविदित है।

Prof. A. C. Mukerji M. A. retd. Dean of the faculty of Arts and head of the Philosophy Dept. Allahabad Unversity:—

I have always looked upon him .as one of those Indians whose life has been dedicated to a very useful type of much needed work in Iudia, and have entertained great respect for his amiable character, temperament and pleasant personality. May he live long to serve the country and inspire the younger generation.

—हिन्दी भाषा के सुप्रसिद्ध कवि डा० हरिवंशराय 'बच्चन'

पूज्यास्पद श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय मेरे पिता के तुल्य हैं। उनसे मैंने बहुत कुछ सीखा है और अब भी सीख रहा हूं। भगवान् उन्हें चिरायु करें कि वे अपने अनुभव, अध्ययन और मनन का प्रसाद हमें बहुत काल तक बांटते रहें।

—स्व० श्री पं० रामदत्त जी शुक्ल एम० ए० एडवोकेट, भूतपूर्व मन्त्री, आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश

श्री उपाध्याय जी आर्यसमाज जगत् के उन इने-गिने संस्कार और शिक्षा सम्पन्न विशिष्ट व्यक्तियों में से एक हैं कि जिनकी आस्था, कर्मण्यता, वाणी एवं लेखनी से आर्य जीवन प्रेरणा जैसे महान् कार्य में साधारण जनों को विशेष स्फूर्ति प्राप्त हुई।

—स्व० श्री मदनमोहन सेठ, कार्यकर्त्ता प्रधान, आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश

वैदिक धर्म सेवियों में पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय का अक्षुण्ण स्थान है। वैदिक साहित्य के उन इने-गिने सृष्टि-कर्त्ताओं की परम्परा में उनकी गणना है जो समकालीन तथा उत्तरकालीन पीढ़ियों को अपने ठोस ज्ञान से सदा प्रेरित करते रहेंगे।

—आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता स्व० श्री चाँदकरण शारदा, अजमेर

श्रीमान् गङ्गाप्रसाद जी जो आर्यसमाज की एवं हिन्दी साहित्य की अनेक वर्षों से निरन्तर सेवा करते आ रहे हैं, उसके लिये समस्त आर्य जगत् एवं हिन्दी जगत् उनका आभारी रहेगा।

—श्री रघुनाथ प्रसाद जी पाठक

श्री उपाध्याय जी साहित्यिक अभिरुचि के विशिष्ट साहित्यकार हैं। उनको लिखने की अनुपम क्षमता प्राप्त है। वे बड़े-बड़े ग्रन्थ कुछ दिनों में और छोटे-छोटे ट्रैक्ट कुछ घंटों में ही लिख देते हैं। उनकी कृतियों में मौलिकता रहती है। उनकी शैली अपने ढंग की है। विषय को बड़े अच्छे ढग से समझाया जाता है। लिखते समय या उसके पश्चात् दोबारा नहीं पढ़ते। उन्होंने बहुत अधिक साहित्य प्रदान किया है।

इस प्रसंग में पूज्या माता कलावती देवी की चर्चा न करना एक प्रकार का अन्याय होगा। वे वात्सल्य और सौजन्य की साक्षात् मूर्ति हैं। उनके व्यवहार में शायद ही नारी-सुलभ त्रुटियां देख पड़ी हों। श्री उपाध्याय जी के जीवन को आर्यसमाज के लिये देन बनाने में उनका भाग सर्वोपरि है। हमारे हृदय पर उनके वात्सल्य की जो रेखाएँ खिंची हैं, वे अमिट हैं।

—आचार्य नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ, ज्वालापुर

उपाध्याय जी से मेरा मिलना कम ही होता रहा है। कभी महाविद्यालय में मिले, कभी वृन्दावन में, कभी लखनऊ में, कभी प्रयाग में, कभी किसी समाज के उत्सव में—बस, पर आर्यमित्र में हम दोनों सैंकड़ों बार मिले होंगे। कभी उन्होंने मुझे प्रेमपूर्वक नोंचा और कभी मैंने भी नोंचा पर जहाँ तक हो सका परस्पर बचकर ही चले। श्री उपाध्याय जी, अपनी विचारधारा के अनुसार न किसी की बात सहते हैं और न किसी को बख्शते हैं। कभी-कभी आर्यसमाज को भी सुना जाते हैं—

यह हुई लेखक गंगाप्रसाद उपाध्याय की बात। पुस्तक लेखक, ग्रन्थ लेखक, अनुवादक उपाध्याय जी की शैली गम्भीर है। लिखने में, अनुवाद में सिद्धहस्त हैं, क्या हिन्दी में, क्या अंग्रेजी में। उर्दू के ग्रन्थ तो हमने देखे नहीं, पर हैं उपाध्याय जी उर्दू में भी मौलाना—संस्कृत भाषा में भी आपने अच्छी प्रगति की है। आपके छोटे-छोटे अनुष्टुप छन्दों की रचनायें मैंने देखी हैं। उससे आपके संस्कृत ज्ञान का परिचय मिलता है।

आर्यसमाज के क्षेत्र के अतिरिक्त आप हिन्दी-साहित्य सम्मेलन प्रयाग के भी महारथी रहे। आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान की हैसियत से आपने उत्तरप्रदेश की प्रतिनिधि सभा की नारायण भवन के रूप में प्राण प्रतिष्ठा की। आपकी विशेष विशेषता यह है कि आपके रोम-रोम में आर्य-समाज के परमाणु कूट-कूट कर भरे हुये हैं। उपाध्याय जैसे लगन के धुनके दस पांच व्यक्ति भी आर्यसमाज में हो जायें, तो आर्यसमाज को किसी बात का भय नहीं रह सकता। उपाध्याय जी वैसे स्वाभाव से कोमल हृदय के लोग हैं। भावावेश के लोग हैं। उपाध्याय जी स्वयम्भू नेता हैं। लेखनी क धनी होने के कारण आपने लेखनी के बल पर ही नेत्तृत्व प्राप्त किया है—जहां आप इतने बड़े लिक्खाड़ हैं वहां आप बोलने में बड़े गम्भीर हैं—वक्त तो नहीं—एक विचारक की तरह बोलते हैं। मानो आप जज की तरह अपना निर्णय बोल रहे हैं।

—राजर्षि बाबू पुरुषोत्तम दास टंडन

श्री पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय की सेवायें देश एवं हिन्दी के प्रति अमूल्य हैं। वे सत्य के सच्चे अनुयायी रहे और सत्य का प्रकाश उनके जीवन का मुख्य कार्य रहा है। वे ठीक अर्थों में सत्यप्रकाश के पिता है। मेरा उनके प्रति बहुत ही आदर है। मेरी अभिलाषा है कि वे दीर्घ-जीवी हों"।

—श्री लाल बहादुर शास्त्री वाणिज्य व उद्योगमन्त्री, भारत सरकार

श्री गंगाप्रसाद जी को मैं बहुत समय से जानता हूं। उनकी गणना उच्च-कोटि के विद्वानों में है। जीवन उनका सरल तथा त्यागमय रहा है। विश्वास है वे अपना सार्वजनिक कार्य और समाज की सेवा पूर्ववत् करते रहेंगे। मेरी हार्दिक शुभकामनायें।

—श्री मोहनलाल गौतम मन्त्री उत्तरप्रदेश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का आयोजन किया जा रहा है।

उपाध्याय जी का जीवन सेवा कार्यों से ओतप्रोत है। उनके जीवन के विभिन्न पहलुओं पर इस ग्रंथ में जो चर्चा की जायगी उससे वर्तमान तथा भावी पीढ़ी सत्कार्यों के लिये प्रेरणा प्राप्त करेगी ऐसी मुझे आशा है।

मैं उनके दीर्घ जीवन की कामना करते हुए अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं।

—आचार्य रामानन्द शास्त्री, विहार

माननीय उपाध्याय जी !

सादर सप्रेम नमस्ते !

मुझे यह जान कर अति प्रसन्नता हुई कि उत्तर प्रदेशीय सभा आपका अभिनन्दन करने जा रही है। मैं भी उन लोगों में हूं' "जिसने आपके साहित्य से प्रेरणा लेकर आर्यसमाज में प्रवेश किया" अतः मैं भी अपनी श्रद्धांजलि निम्न लिखित श्लोकों को भेज रहा हूँ। कृपया स्वीकार करें—

दयानन्द ऋषेः वाणी
भूमौ वीजेव संश्रिता।
त्वया गंगाप्रसादेन
प्ररोहिता विभाति नः ॥१॥

तर्कैः वाक्यैश्च भाषाभिः
पुस्तकैः खलु वैदिकैः।
त्वया गंगाप्रसादेन
ऋषेः कीर्तिः प्रसारिता ॥२॥

सरला मधुरा हृद्या
द्विज कलरवैः युता।
श्रुति पीयूष धाराभिः
लोके वहति ते गिरा ॥३॥

यशसा वपुषा शुभ्रः
पुत्रैः पौत्रैश्च वेष्टितः।
ख्यापयन् वैदिकीं वीथिम्,
त्वं जीव शरदः शतम् ॥४॥

डा० बाबूराम सक्सेना अध्यक्ष संस्कृत विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, भूतपूर्व प्रधान, आर्यप्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश—

आर्यसमाज में मंडनात्मक साहित्य का अभाव था। श्री उपाध्याय जी ने आर्यसमाज के लिये मंडनात्मक साहित्य लिखकर इस कमी को पूर्ण किया है। आर्य साहित्य में आपका स्थान अद्वितीय है। आप तर्कशास्त्र पर आधारित सुन्दर से सुन्दर कविता संस्कृत में करते हैं। आप कठिन से कठिन ग्रन्थियों को सहज में ही सुलझाने में अत्यन्त सिद्ध हस्त है। वास्तव में आप अत्यन्त व्यावहारिक पुरुष है।

—श्री शंकरदयालु जी सम्पादक "भारत" दैनिक, प्रयाग

वास्तव में उपाध्याय जी ने गीता के "स्वधर्मे निधनं श्रेयः" की उक्ति को अपने जीवन में चरितार्थ किया है। समाज की रूढ़ियों और विषमताओं के मिटाने के लिये आपने वैदिक संस्कृति

के सच्चे मार्ग का अनुभव किया। प्रारम्भ से लेकर उनकी सेवाओं का जो अनन्त क्रम चला, वह अविस्मरणीय है। दैवी सम्पत्ति से परिपूर्ण साहित्य तथा आपका व्यावहारिक जीवन इनके स्वाध्याय से ही आसुरी वृत्तियों का हनन कर सकेंगे।

आपकी सेवाओं का मूल्यांकन करना असम्भव है। सत्य का प्रकाश आपके साहित्य के पृष्ठ-पृष्ठ पर मिलेगा। हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि आप चिरायु हों तथा आपकी लेखनी अबाध गति से चलती रहे।

—अक्षयकुमारी शास्त्री

मैं अनेक वर्षों से श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय और उनकी पत्नी श्रीमती कलादेवी जी से परिचित रही हूं और सदा से दोनों को एक आदर्श आर्य-दम्पती समझती रही हूं। श्री उपाध्याय जी की आर्य समाज के लिये की गयी सेवायें सर्वविदित हैं। उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य आर्य-समाज के कार्य को बढ़ाना रहा है और इसमें उन्हें सफलता मिली है। पर, मैं यह भी अनुभव करती हूं कि यदि उन्हें माता कलादेवीजी का सहयोग और आदर्श पत्नीत्व न मिला होता तो वे शायद अपने कार्य में इतने सफल न हो पाते। माता जी ने एक आदर्श नारी की भाँति ही अपने पति का साथ दिया है और अपने आपको उनकी सच्ची अनुगामिनी बनाने का यत्न किया है। इसलिये मैं श्री उपाध्याय जी के साथ माता कलादेबी जी का भी अभिनन्दन करती हूं और दोनों को श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित करती हूं।

—पंडित ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु वाराणसी

श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय को मैं लगभग २५ वर्ष से जानता हूं। नाम और कार्य का परिचय तो बहुत दिन से है। लेखन विषय में इन्होंने आर्यसमाज की बड़ी सेवा की है। किन्हीं विषयों में आप के विचारों से सभी विद्वान् चाहे सहमत न हों, पर यह निर्विवाद है कि आप वैदिक धर्म और आर्यसमाज में हृदय से निष्ठावान् और इसके सच्चे सेवक हैं। आप का परिवार सच्चा आर्य परि-वार है। आपकी विचारधारा बहुत परिमार्जित है। आर्यसमाज को ऐसे कर्मनिष्ठ नेता और विद्वान् के विचारों से अवश्य लाभ उठाना चाहिये। आर्यसमाज का परम गौरव है कि इसे ऐसे विचारशील विद्वान् प्राप्त हैं। इनकी लेखनशक्ति तथा साहस को देख कर तो मैं आश्चर्यचकित हूं।

—श्री महेशचन्द्र, मन्त्री आर्यसमाज सासनी

आर्य जगत् द्वारा श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय, एम० ए० का अभिनन्दन हर्ष एवं गौरव का विषय है। उनकी सार्वजनिक, सामाजिक और साहित्यक सेवाएँ आर्यजगत् में युग युगान्तरों तक विस्मृत नहीं की सकतीं। उनको अभिनन्दन आर्यों के लिये प्रेरणामूलक होगा।'

—विश्वबन्धु. शास्त्री एम. ए. एम. ओ. एल.

आप का पत्र मिला, धन्यवाद। यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश की ओर से आर्यजगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का आयोजन किया जा रहा है।

वर्तमान भारत के नव निर्माण में आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती का स्थान अत्यन्त महत्वयुक्त है। उनकी विचार-धारा के साहित्य, भाषण और सार्वजनिक कार्यों द्वारा व्यापक रूप से प्रसारित करने में उपाध्याय जी ने जो ठोस और दीर्घकालीन सेवायें की हैं, वे वस्तुतः महान् हैं, और महान् होने से सर्वथा अभिनन्दनीय भी। साहित्य और समाज की विशिष्ट सेवा करने वाले ऐसे विद्वानों का अभिनन्दन-समारोह आर्यसमाज की परिधि के अन्दर ही नहीं, उसके बाहर भी निःसन्देह प्रेरणाप्रद और अनुकरणीय होगा। इस अभिनन्दन द्वारा उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता का प्रकाशन तो होगा ही, साथ में यह कार्य आने वाली पीढ़ियों के लिये भी ,उत्साहवर्धक बना रहेगा।

—नाथ शरण श्रीवास्तव एम० ए० साहित्यरत्न

दीपक तेरा बुझ न सकेगा जलता सदा रहेगा।
विश्व-गगन की मोह-रात्रि में सदा प्रकाश करेगा॥
मनोयोग से इसे जलाया,
मन का कल्मष दूर भगाया,
हटा सभी भय दूर सभी में पौरुष-ज्योति भरेगा।
दीपक तेरा बुझ न सकेगा जलता सदा रहेगा॥
विश्व-गगन के............

वर्ण भेद औ जाति श्रेष्ठता,
निज स्वार्थों में पड़ी मनुजता,
—की खाई को पाट सभी में समता भाव भरेगा।
दीपक तेरा बुझ न सकेगा जलता सदा रहेगा॥
विश्व-गगन के............

देश द्रोहिता, परनिन्दा को,
आत्म प्रशंसा के फंदे को,
हटा, काटकर, प्रेम भाव से राष्ट्र भक्ति भरेगा।
दीपक तेरा बुझ न सकेगा जलता सदा रहेगा॥
विश्व-गगन के............

तन सुख में जो पड़े हुए हैं,
जिसे मान सच अड़े हुए हैं,
भोगवाद के उपासकों में विरक्त भाव भरेगा।
दीपक तेरा बुझ न सकेगा जलता सदा रहेगा॥
विश्व-गगन के............

अपने ही तिल-तिलकर जलकर,
त्याग तपस्या का बल दे कर,
सही अर्थ में तममय पथ ज्योतिर्मयी करेगा।
दीपक तेरा बुझ न सकेगा जलता रदा रहेगा ।।
विश्व गगन के..........—

—श्री हरिनन्दन मिश्र आयुर्वेदाचार्य फिरोजाबाद

वैदिक साहित्य गगन में यों नक्षत्र निरे
पर उपाध्याय जी ध्रुव तारे से चमक रहे।
पौरुष-पारस की पावन प्रतिमा से छूकर
विद्वन् मीनारों पर सोने से दमक रहे ।।
उपदेशों से अनुपम अमृत वर्षा करते
कलियाँ खिल जातीं आप जहाँ आ जाते हैं।
दर्शन जब देते दृढ़तर-"दर्शन" के ज्ञानी
प्रत्यक्ष मनुज "गंगा"-"प्रसाद" पा जाते हैं ।।
अपनी अंगुली से खोले श्रुतियों के द्वारे
उपनिषदों की गहराई में भी उतर गये।
मानवता के मँजुल मर्मों का पुट पाकर
जगती-जीवन में तपे निराले निखर गये ।।
जनता लेती पुण्य-प्रेरणा नव-कृतियों से
और जागती रही राष्ट्र में आर्य-भावना।
चिरजीवी हों आप-आपकी यश गाथाएँ
परम पिता परमेश्वर से है यही—कामना ।।

—माता लक्ष्मीदेवी जी, आचार्या, कन्यागुरुकुल हाथरस

श्री गंगाप्रसाद जी उपाध्याय एम० ए० का जीवन आर्यसमाज की एक विभूति है। उपाध्याय जी ने अपने जीवन को विद्यार्थी काल से ही जिस आदर्श सांचे में ढाला है और उनमें आर्यसमाज के लिये जो लगन और कर्त्तव्यपरायणता रही है उससे सभी लोग परिचित हैं। उपाध्याय जी ने वैदिक साहित्य का जो विकास किया वह उनके जीवन की बहुत बड़ी सम्पत्ति है और आर्यसमाज को उनकी दुर्लभ स्थायी देन है। उनके साहित्य से देश-विदेश सर्वत्र आर्यसमाज का यश फैला है।

उपाध्याय जी ने अपनी विचारधारा को अपने तक ही सीमित न रख अपने सम्पूर्ण परिवार को

आर्य विचारधारा में ओतप्रोत बना दिया है। उपाध्याय जी की पत्नी पुत्र-पुत्रियें, पुत्र बधुएं सभी समाज-सेवा और शिक्षा विकास में उन्हीं की भांति संलग्न हैं। उनका परिवार एक आदर्श आर्य परिवार का उदाहरण बना हुआ है। इस प्रकार उपाध्याय जी ने आदर्श और व्यवहार की एकता वाले स्मरणीय नेतृत्व को साकार रूप प्रदान करने का सफल प्रयत्न किया है।

वैदिक आश्रम अलीगढ़ के निर्माता, और डी० ए० वी० स्कूल इलाहाबाद के प्रधानाध्यापक के रूप में आपकी सेवायें सदैव स्मरणीय रहेंगी। सार्वदेशिक सभा के तत्वावधान में हैदराबाद सत्याग्रह के सक्रिय कार्यकर्ता, शोलापुर उपदेशक विद्यालय के आचार्य, दक्षिण भारत, वर्मा, सिंगापुर, स्याम और अफ्रीका आदि में वैदिक मिश्नरी के रूप में कार्य उनके जीवन की ऐसी विशिष्ट घटनायें हैं जो आर्यसमाज के मिशन व महर्षि दयानन्द के सन्देश प्रसारण के प्रति उनकी अटूट श्रद्धा का परिचय देती हैं। आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के प्रधान व सार्वदेशिक आ० प्र०नि० सभा देहली के प्रधान मन्त्री के रूप में उनकी संघटन शक्ति और नीति निर्देशन सम्बन्धी सेवायें सदैव भावी कार्यकर्ताओं को प्रेरणा देती रहेंगी।

कन्या गुरुकुल के साथ श्री उपाध्याय जी व श्रीमती कलादेवी जी का घनिष्ठ एवं निकटतम सम्पर्क रहा है। संस्था को उनका आशीर्वाद प्राप्त है। आर्यसमाज की वाणी और लेखनी के अग्रदूत श्रद्धेय उपाध्याय जी शतायु हों और अपनी सेवाओं एवं विचारों से हम सब का मार्गदर्शन करते रहें, यही प्रभु से प्रार्थना है।

ब्रह्मदेश के आर्य नर-नारी

ओम्प्रकाश साहित्यरत्न

श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय एम० ए० ब्रह्मदेश में जनवरी ५२ में पधारे—तथा कुल ६, ७ मास में ही उन्होंने इस देश में अच्छी जागृति उत्पन्न कर दी। इस थोड़े से समय में उन्होंने रंगून, मांएडले, लाश्यो, भोगोक आदि स्थानों में भ्रमण कर वैदिक धर्म का प्रचार किया। इन स्थानों में आर्यसमाजों को जागृत कर नये उत्साह से कार्य करने को प्रोत्साहित किया।

अप्रैल ५२ में माण्डले शहर में ब्रह्मदेश के प्रमुख स्थानों के आर्यों को एकत्र कर प्रतिनिधि सभा को पुनर्गठन किया। इन सारे कार्यों के लिए हम ब्रह्मदेश वासी उनके सदा आभारी रहेंगे। उनकी प्रेरणा से शिथिलता से चलता हुआ कार्य प्रगति को प्राप्त हुआ।

अपने रंगून प्रवास में उन्होंने कहा कि "ब्रह्मदेश में आर्यसमाज को स्थापित हुए तथा कार्य करते ६० वर्ष हो गये। परन्तु आप लोगों ने अभी तक "सत्यार्थप्रकाश का भी बर्मी अनुवाद नहीं छपवाया।" हमने युद्ध पूर्व जो कुछ प्रयास हुआ था—उसकी सूचना उन्हें दी—उनका आदेश हुआ कि अब नये सिरे से कार्य होना चाहिये। हमने बचन दे दिये परन्तु उसके बाद फिर अकर्मण्य हो गये। परन्तु पं० जी हार मानने वाले नहीं थे। उनके पत्र पर पत्र इस सम्बन्ध में आते रहे। और देश में भी वे इस कार्य को सम्पन्न करने के साधन ढूंढ़ने लगे।

नवम्बर सन् ५५ के पत्र में उन्होंने लिखा—"मैं तीन वर्षों से यत्न कर रहा हूं—कि सत्यार्थ-प्रकाश के प्रथम १० समुल्लासों का बर्मी भाषा में अनुवाद हो जाय। अब दिल्ली के एक सज्जन (स्वामी गोविन्दराम) ने सहायता देने का वचन दिया है। मैं कल सारनाथ गया था उन कितिसा जी (अनुवादक) से यह तय हुआ है कि २०००) में वे अनुवाद कर देंगे। इन २०००) का हम प्रबन्ध कर देंगे। "छपाई तो रंगून में ही हो सकेगी उसके लिए आप लोग प्रयत्न कीजिये।" इस कार्य के लिये उन्होंने कितने चक्कर दिल्ली, प्रयाग और सारनाथ के लगाये। और कितना पत्र-व्यवहार किया, उसका लेखा करना असम्भव है। इस ७८ वर्ष) वृद्धावस्था में—इतना परिश्रम !! अनुवाद जून ५७ में पूर्ण हुआ और उसका छपना सितम्बर ५७ में आरम्भ हो गया। इस बीच उनके पत्र सदा ही आते रहे—कि कार्य कितना हो गया है ?

"मैं अपने जीवन काल में बर्मी सत्यार्थप्रकाश देख लेना चाहता हूँ।"

अब इस मास दिसम्बर ५९ में छपाई पूर्ण हो गई है। देर का कारण था कि छपने पर प्रूफ देखने के लिये प्रारम्भ में फर्मे वाराणसी भेजे जाते रहे—तथा लगभग ३०० नये अक्षर (टाइप) ढालने पड़े—

उनकी प्रेरणा से ही यह कार्य पूरा हो सका है। बर्मी सत्यार्थप्रकाश के अनुवाद पर २०००) की धन राशि श्री गोविन्दराम जी के निधन हो जाने के कारण पूरी न प्राप्त हो सकी और मंत्री को पहले तो अपने पास से लगभग ८००) देने पड़े। छपाई के लिये १५०० प्रति का व्यय ६०००) बर्मा में व्यय हुआ। यह कार्य सम्पन्न न होता यदि उन्हीं का विचार, प्रेरणा, प्रोत्साहन तथा बार-बार अनुरोध न होता। बर्मी सत्यार्थप्रकाश के अनुवाद और प्रकाशन का सारा श्रेय पूज्य पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय का है।

उन्हों ने समय-समय पर अपने अन्य प्रकाशन, ट्रैक्ट, तथा Philosophy of Dayananda तथा Buddha and Dayananda आदि गम्भीर ग्रन्थ भी प्रचारार्थ निःशुल्क भेजे हैं। इस प्रकार से ब्रह्मदेश युद्धोत्तर वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के कार्य में पूज्य पं० जी का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है।

इस शुभ अवसर पर हम ब्रह्मदेश निवासी सब आर्य नर नारी पूज्य श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय एम० ए० का हृदय से नतमस्तक हो, अभिनन्दन करते हैं तथा ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वे उन्हें दीर्घायु दें जिससे उनके अनुभव, उनकी विद्वत्ता उनकी प्रेरणा पाकर आर्य जगत् और भी अग्रसर हो।

कृतज्ञता प्रकाशनम्

(१)

मरीचिभिर्भान्ति मरीचिमालिनः,
प्रभाविता रेणलवा यथा भृशम् ।
अयं जनो मित्रगणाभिनन्दितः
महीयते प्रेमवशंवदस्तथा ॥

(२)

यशो दयानन्दमहामुनेर्महत्
प्रभासयद् भाति जगत् त्रयीमिमाम् ।
अपेक्षते क्षुद्रजनान् न मादृक्षान्
प्रभाकरो मार्तिकदीप भामिव ॥

(३)

पुराग्निवायू च रविस्तथाङ्गिराः ।
गुरोर्गुरूणां परमान् सधस्थतः ॥
समाप्य गंगां शुभवेदलक्षणा
मवातरन् लोकहिताय भूतले ॥

(४)

चिरन्तनी विश्वविकासकारिणी
यदावरुद्धा श्रुति-वारि-वाहिनी ।
तपांसि संतप्य गुरोर्निदेशतः
पुनर्दयानन्द उदाजदुग्रधीः ॥

(५)

प्रसादरूपेण तदम्बुबिन्दवः
क्वचित् कथंचिच्च ममास्यमाप्नुवन् ।
त एव संस्कृत्य कृतेर्ममाकृतिम्
समुत्किरन्तीव महर्षिसद्यशः, ॥

(६)

ऋणादृषीणामनृणः कथं भवे—
न्नेषेति चिन्ता स्म दुनोति मानसम्,
निधेर्गुरूणां विधिवत् प्रयोगतः,
विमोचनं मे भवितेति निश्चयः ।

(७)

सुहृज्जनानामनुकम्पया मनाक्
समुत्सहे वक्तुमिमां कृतज्ञताम् ।
उच्चूर्णयन्तो भ्रमजालशृंखलाः,
भूयास्म सर्वे श्रुति-मार्ग-गामिनः ॥
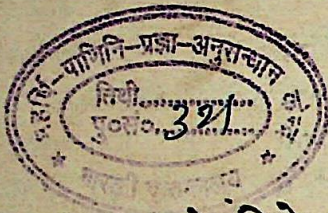
अभिनन्दन ग्रन्थ के लिये आर्थिक सहायता देने वाले सज्जनों की सूची—

४००) श्री मन्त्री जी जिला आर्य उपप्रतिनिधि सभा, मेरठ, द्वारा श्री विश्वम्भर सहाय प्रेमी।
२५०) श्री महात्मा आनन्दभिक्षु जी वानप्रस्थ द्वारा
१५०) श्री लालसिंह जी, बाजीदपुर (मेरठ) द्वारा
१००) श्री महेन्द्रसिंह जी, बाजीदपुर (मेरठ) द्वारा
२०२) श्री मुन्शीलाल जी, प्रधान आर्यसमाज, टटीरी (मेरठ) द्वारा
२००) श्री सुखवीरसिंह शास्त्री, मन्त्री क्षत्रीय वेद प्रचार मण्डल, बड़ौत द्वारा
२५) श्री मुंशीसिंह जी, ग्राम खेड़ी करमू (मुजफ्फरनगर)
२५) श्री शान्तिस्वरूप जी, जय इन्जिनियरिंग वर्क्स, देहली
१५) आर्यसमाज, देहारादून
१५) आर्यसमाज, चौक प्रयाग
१५) आर्यसमाज कांठ (मुरादाबाद)
१५) स्त्री आर्यसमाज अत्रिसुइया, प्रयाग
१५) श्री ब्रजवासीलाल आर्य, रानी नागल, पो० मानपुर (जि० मुरादाबाद)
१५) श्री कर्मचन्द जी, उत्तरीय रेलवे क्लेम्स इन्सपेक्टर, चन्दौसी
१५) श्रीमती सत्यवती देवी क्षत्रिय, ध० प० डा० केशवदेवसिंह, मन्त्री आ० स० फीरोजाबाद
१५ श्री अमनसिंह सूबेदार ग्राम बावली (मेरठ)
१५) श्री बहादुरसिंह, प्रधान आर्यसमाज बावली (मेरठ)
१५) श्री मनिराम जी, ग्राम आदर्श नंगला (मेरठ)
१५) श्रीमती अतर कुंवरी ध० प० चौ० दलीपसिंह जी, बड़ौत (मेरठ)
१५) प्रिंसिपल माधवसिंह जी, बड़ौत (मेरठ)
१५) श्री अर्जुनसिंह जी, प्रधान आर्यसमाज बड़ौत (मेरठ)
१५) श्री पद्मसिंह जी, कासिमपुर खेड़ी (मेरठ)
१५) कैप्टेन घासीराम जी, प्रधान क्षत्रीय वेद प्रचार मण्डल, बड़ौत (मेरठ)
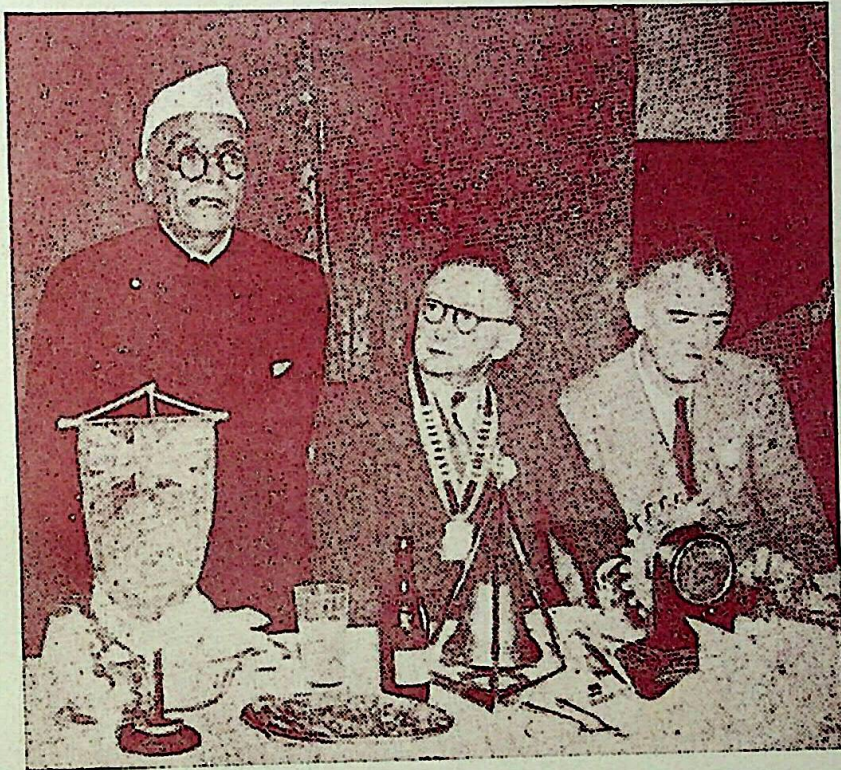
श्री पं० गङ्गाप्रसाद जी उपाध्याय, एम. ए.,
ईस्ट लन्दन (दक्षिण अफ्रीका) के यंगमैन्स रोटरी
क्लब में भाषण देते हुए ।

दक्षिण अफ्रीका के पोर्ट एलिजाबेथ हवाई अड्डे पर
उपाध्याय जी का स्वागत ।